व्यष्टि अर्थशास्त्र एवं भारत की आर्थिक समस्याएं

(Micro Economics and Indian Economic Problems)

Paper-1

(बी. ए.-प्रथम) अर्थशास्त्र

(B. A. – I) Economics

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

इकाई 1: परिचयः अर्थशास्त्र का स्वरूप तथा क्षेत्र 5

इकाई 2: विभिन्न बाजार स्थितियों में साधन कीमत निर्धारण 222

इकाई 3: भारत अर्थव्यवस्था की आधारभूत विशेषताएंः समस्याएं एवं योजनाएं 311

इकाई 4: भारतीय कृषि एवं औद्योगिक स्वरूप 391

(B.A. – I) Economics

Micro Economics and Indian Economic Problems

Paper-1

M. Marks : 90
Time : 3 Hrs.

Note: *The question paper will carry a maximum of 90 marks and it will consist of 9 question out of which the candidate would be required to attempt any five questions. Each question will carry 18 marks in all. The first question will be compulsory and it will include 10 objective type questions (10 marks) and 4 short, definitional type questions (8 marks) uniformly spread over Part-A only. The remaining eight questions will include 2 questions from each of the four units and the candidate will be required to attempt the one question from each unit.*

UNIT-I

Introduction: Nature and scope of economics, choice as an economic problem.
Consumer's Behaviour; Utility-Cardinal and ordinal approaches; Indifference curve;
Consumer's equilibrium (Hicks and Slutsky); Elasticity of demand-price, Income and cross;
Consumer's surplus.
Theory of production and costs: Production decisions; Production function; Iso-quant; Law of variable proportions; Returns to scale; Economics of scale, Different concepts of costs and their interrelations.

UNIT-II

Market structure and Commodity Pricing: Market forme-perfect and imperfect markets, Equilibrium of a firm-perfect competition, monopoly and price discrimination, Measures of Monopoly power; Monopolistic competition. Factor, pricing; Marginal productivity theory of distribution.

UNIT-III

Basic features; Problems and Planning in India: Characteristics of Indian economy; Problems of poverty; Inequality and unemployment; Objectives of planning in Indian achievements and failures; New Economics Reforms: A basic idea.

UNIT-IV

Indian Agriculture, Nature and Importance: Trends in Agricultural production and productivity, Factors determining productivity; Rural credit, Agricultural marketing.

Industry; Industrial development during the planning period, New Industrial policy, Growth and problems of small scale industries.

इकाई-1

परिचय : अर्थशास्त्र का स्वरूप तथा क्षेत्र
(Introduction: Nature and Scope of Economics)

जब एडम स्मिथ की पुस्तक 'An Enquiry into the Nature and Causes of Wealth of Nations' प्रकाशित हई थी तो उसके साथ ही अर्थशास्त्र का जन्म भी हुआ था। इस पुस्तक के प्रकाशन के लगभग एक शताब्दी तक इस नए विज्ञान को 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था' के नाम से सम्बोधित किया गया यद्यपि इस दौरान कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसे नए-नए नाम देने के प्रयास भी किए थे। उदाहरणार्थ, ह्वेटले ने इसे 'Catallactics' अथवा 'विनिमय का विज्ञान' की संज्ञा दी, हार्न ने से 'Plutology' अथवा 'धन का विज्ञान' कहकर पुकारा और ईग्राम ने इसको 'chrematistics' अथवा 'धनोपार्जन का विज्ञान' कहकर सम्बोधित किया था। किन्तु इन प्रयासों के बावजूद 19वीं शताब्दी के मध्य तक इस विज्ञान का प्रारम्भिक नाम राजनीतिक अर्थव्यवस्था बराबर प्रचलित रहा। इसके बाद उपरानत इसे 'अर्थशास्त्र' का नया नाम दिया गया। अर्थशास्त्र की अनेक परिभाषाएं हमें उपलब्ध हैं, लेकिन इनमें से कोई भी ऐसी परिभाषा नहीं जिसे पूर्णतः दोषमुक्त कहा जा सके। अन्य अर्थ में प्रत्येक परिभाषा में कोई न कोई कमी है। विभिन्न परिभाषाओं को हम चार शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित कर सकते हैं-

1. 'धन' प्रधान परिभाषाएं
2. 'कल्याण' प्रधान परिभाषाएं
3. 'दुर्लभता' प्रधान परिभाषाएं
4. 'विकास' केन्द्रित परिभाषाएं

'धन' प्रधान परिभाषाएं (Wealth Definition)

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को 'धन का विज्ञान' कहकर परिभाषित किया। अर्थशास्त्र के पिता एडम स्मिथ ने अपनी विख्यात पुस्तक का नाम 'राष्ट्रों के धन के स्वरूप तथा कारणों की खोज' रखा। उनके अनुसार, ''अर्थशास्त्र राष्ट्रों के धन के स्वरूप तथा कारणों की खोज करता है।'' इसी प्रकार फ्रान्सीसी लेखक जे.बी.से. के अनुसार ''अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो धन की विवचेना करता है।'' अमेरिकी अर्थशास्त्री वाकर के अनुसार, ''अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जो धन से सम्बन्धित है।''

उपरोक्त विचारधारा के अर्थशास्त्र का अध्ययन विषय धन है, यह अठारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक चलती रही।

धन सम्बन्धी परिभाषाओं की आलोचनाएं

धन संबंधी परिभाषाएं दोषपूर्ण थी। अतएव इनकी तीव्र आलोचनाएं हुई। आलोचनाओं के प्रमुख स्तम्भ निम्नलिखित हैं:

1. इस परिभाषा के अनुसार मानव गौण हो जाता है और सम्पत्ति प्रथम हो जाती है। जबकि प्रथम स्थान मानव कल्याण को दिया जाना चाहिए। धन को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण मानव कल्याण की उपेक्षा होने लगी। यूरोप के उद्योगपतियों ने केवल धन को केन्द्र मानकर मजदूरों स्त्रीयों और बच्चों को कम मजदूरी देकर उनका शोषण आरम्भ कर दिया। इसकी बुद्विजीवियों में शेषर्पूण प्रतिक्रिया हुई। कुछ विद्वानों ने अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्रियों की खूब आलोचना की विलियम मौरिस चार्ल्स डिकेन्स, जान इस्किन आदि ने, कुबेर का ग्रन्थ, और रोटी मक्खन का विज्ञान कहकर निन्दा की।
2. **अर्थशास्त्र का सीमित एवं संकूचित क्षेत्रः**- इस परिभाषा में धन शब्द का अर्थ बहुत संकुचित कर दिया गया है। इसीसे अर्थशास्त्र का क्षेत्र भी संकुचित हो जाता है धन सिर्फ भौतिक पदार्थ नहीं है इसमें कुछ ऐसी संवाएँ भी सम्मिलित है जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इस परिभाषा के आधार पर तो एक सेवानिव त व्यक्ति अर्थशास्त्र के अध्ययन में शामिल नहीं होता लेकिन माँग का नियम, प्रतिस्थापन नियम तो उस पर लागू होते हैं।
3. **अर्थ-मानव की कल्पना** - यह परिभाषा 'अर्थ-मानव' की धारणा पर आधारित है जो वास्तविकता के विपरीत है। 'साधारण' मनुष्य जिसका अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है, 'अर्थ-मानव' से कहीं भिन्न होता है। 'अर्थ-मानव' तो नैतिक औचित्य को त्यागकर सदैव विशुद्ध आर्थिक द ष्टिकोण से ही प्रेरित होता है, उस पर अन्य प्रेरणाओं का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु साधारण मनुष्य कई प्रकार की प्रेरणाओं, जैसे दया, धर्म, राजनीति इत्यादि से प्रभावित होता है। अतएव 'अर्थ-मानव' वास्तविक नहीं है और इस पर आधारित अर्थशास्त्र की परिभाषा दोषपूर्ण ही होगी।

इन आलोचनाओं के कारण 19वीं शताब्दी के अन्त में 'धन' सम्बन्धी परिभाषा को त्याग दिया गया।

'कल्याण' प्रधान परिभाषाएं (Wealfare Approaches)

उन्होंने 'धन' की अपेक्षा 'मानव कल्याण' को अधिक बल देते हुए अर्थशास्त्र की परिभाषा के स्वरूप को ही बदल देने वाने डाक्टर मार्शल पहले अर्थशास्त्री थे। निस्सन्देह, 'धन' अब भी महत्त्वपूर्ण समझा जाता था किन्तु अब उसका स्थान गौण हो गया और प्रथम स्थान मानव-कल्याण को दिया जाने लगा था। डॉ. मार्शल ने स्पष्टतः कहा कि 'धन' मानव के लिए है न कि 'मानव' धन के लिए अर्थात्, धन साध्य नहीं वरन् साधन है। अर्थशास्त्र का उद्देश्य तो 'मानव-कल्याण' में व द्धि करना है। धन गौण है, प्रथम स्थान तो मानव ही है। डॉ. मार्शल के शब्दों में, ''यह (अर्थशास्त्र) एक ओर 'धन' का अध्ययन करता है और दूसरी ओर उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह 'मानव' के अध्ययन का एक भाग है।'' अतएव उन्होंने मानव-कल्याण को ध्यान में रखते हुए जो परिभाषा दी है:-

''राजनीतिक अर्थव्यवस्था अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय के सम्बन्ध में मानव-जाति का अध्ययन है। यह व्यक्तिगत एवं सामाजिक क्रियाओं के उस भाग का परीक्षण करता है जिसका विशेष सम्बन्ध जीवन में कल्याण अथवा सुख से सम्बद्ध भौतिक पदार्थों की प्राप्ति एवं उपभोग से है।''

डॉ. मार्शल की परिभाषा का विश्लेषण

प्रधानतः, अर्थशास्त्र मानव का अध्ययन करता है। द्वितीय, यह मानव-जीवन के आर्थिक पहलू का अध्ययन करता है। मानव जीवन के कई पहलू होते हैं, जैसे-सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक एवं आर्थिक। स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का मानव जीवन के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक पहलुओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थशास्त्र तो विशुद्धतः मानव-जीवन के आर्थिक पहलू से ही सम्बन्धित है। किन्तु एक व्यक्ति के जीवन का आर्थिक पहलू क्या होता है? स्पष्टतः आर्थिक पहलू से अभिप्राय इस तथ्य से है कि वह व्यक्ति अपनी आय कैसे कमाता है और उसे कैसे व्यय करता है। त तीयतः अर्थशास्त्र मानव-कल्याण का नहीं, बल्कि उसके केवल एक भाग अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र आर्थिक अथवा भौतिक कल्याण का ही अध्ययन करता है। इसी कारण इस परिभाषा को कल्याणवादी परिभाषा भी कहा जाता है।

डॉ. मार्शल के अतिरिक्त और भी कई विख्यात अर्थशास्त्री हुए हैं जिन्होंने अर्थशास्त्र की कल्याणवादी परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं। प्रो. केनन के शब्दों में, ''राजनैतिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य उन सामान्य कारणों की व्याख्या करना है जिन पर मानव का भौतिक कल्याण निर्भर रहता है।'' प्रो. पीगू के कथनानुसार, ''अर्थशास्त्र में आर्थिक कल्याण, सामाजिक कल्याण के उस भाग से है जिसे प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः मुद्रा के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।'' उन्होने इस बात पर बल दिया कि अर्थशास्त्र में आर्थिक हित का अध्ययन किया जाता है। यह धारणा अर्थशास्त्र को एक व्यावहारिक विज्ञान (Applied Science) के रूप में प्रकट करता है।

अभी हाल ही में अमरीकी अर्थशास्त्री प्रो. असीमाकोपश्लास ने अर्थशास्त्र की कल्याण सम्बन्धी परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है: ''अर्थशास्त्र वह विषय है जो समाज में व्यक्तियों एवं वर्गों के भौतिक कल्याण से सम्बन्धित होता है।''

कल्याण सम्बन्धी परिभाषाओं की आलोचनाएं

यद्यपि कल्याणवादी परिभाषा का प्रतिपादन डॉ. मार्शल एवं प्रो. पीगू जैसे सुविख्यात अर्थशास्त्रियों ने किया है तथापि यह परिभाषा पूर्णतः दोषमुक्त नहीं है। विगत कुछ वर्षों से इस परिभाषा की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गई है।

1. **अर्थशास्त्र के क्षेत्र को सीमित करना** - प्रो. रॉबिन्स के अनुसार, अर्थशास्त्र की कल्याणवादी परिभाषा अत्यंत संकुचित है क्योंकि इसमें केवल भौतिक वस्तुओं का ही समावेश है और अभौतिक वस्तुओं की उपेक्षा कर दी गई है। अतः यह परिभाषा बहुत ही असन्तोषजनक है। भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं के बीच की सीमा को वास्तविक जीवन में स्पष्टतः अंकित नहीं किया जा सकता है। भौतिक एवं अभौतिक वस्तुएँ परस्पर इस तरह जुड़ी हुई हैं कि उनको एक-दूसरे से प थक् करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। हमारे दैनिक जीवन में बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो हमारी आग्रहपूर्ण आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करती है और मात्रा में सीमित भी है, लेकिन

किसी भी अर्थ में उन्हें भौतिक वस्तुएँ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, डाक्टरों, वकीलों, अध्यापकों इत्यादि की सेवाएं भी हैं जो मात्रा में सीमित होती है और मानव कल्याण में व द्धि करती है, लेकिन फिर भी उनमें भौतिकता नाम की कोई चीज नहीं होती (अर्थात् वे अभौतिक होती है)। अतः प्रो. रॉबिन्स के अनुसार, अर्थशास्त्रियों को भौतिकता के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए, बल्कि उन सभी पदार्थो को (चाहे वे भौतिक हों अथवा अभौतिक) जो मात्रा में सीमित हैं और मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करते हैं, अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री में सम्मिलित करना चाहिए।

2. **अर्थशास्त्र के अध्ययन को केवल भौतिक साधनों तक सीमित करना** - प्रो. रॉबिन्स ने कल्याणकारी अर्थशास्त्रियों की परिभाषा में एक और अन्य त्रुटि भी बतायी है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार, अर्थशास्त्र केवल भौतिक कल्याण के कारणों की व्याख्या करता है, जबकि विचित्र बात यह है कि इनकी एक अभौतिक परिभाषा प्रस्तुत की है। उन्होंने एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित उत्पादक एवं अनुत्पादक श्रम के बीच के अन्तर को अस्वीकार कर दिया है और इस अन्तर को अवास्तविक बताया है। उन्होंने अपनी ओर से उत्पादक एवं अनुत्पादक श्रम के बीच एक नया अन्तर प्रस्तुत किया है। इस अन्तर के अनुसार समाज के कुछ सदस्यों, जैसे-अध्यापकों, वकीलों, डॉक्टरों और गायकों का श्रम तो उत्पादक है और इसी नाते वह अर्थशास्त्र का अविच्छिन्न अंग हैं। स्पष्ट है कि इन सदस्यों की सेवाएं अभौतिक है लेकिन फिर भी उन्हें अर्थशास्त्र का अविच्छिन्न अंग माना जाता है।

3. **अर्थशास्त्र का भौतिक कल्याण से सम्बन्ध स्थापित करना मिथ्या है** - कल्याणवादी अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र और भौतिक कल्याण के बीच जो सम्बन्ध स्थापित किया है, प्रो. रॉबिन्स ने उसकी भी ओलाचना की है। उनके कथनानुसार अर्थशास्त्र का भौतिक कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थशास्त्र तो बहुत सी ऐसी क्रियाओं का अध्ययन करता है जिनका भौतिक कल्याण से दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता। जो लोग नशीली वस्तुओं (जैसे शराब, अफीम आदि) का निर्माण करते हैं उनकी ये क्रियाएं निश्चय ही आर्थिक क्रियाएं क्या ये क्रियाएं भौतिक कल्याण में व द्धि करती है? कदापि नहीं। लेकिन फिर भी अर्थशास्त्री इन क्रियाओं का अध्ययन करते हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध दुर्लभ वस्तुओं के उत्पादन एवं वितरण से है। इन्हीं के माध्यम से मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इस प्रकार, कल्याणवादी अर्थशास्त्रियों की उक्त परिभाषा अन्तर्विरोधी प्रतीत होती है।

   प्रो. केनन के अनुसार, 'युद्ध की राजनीतिक अर्थव्यवस्था' का विचार निश्चय ही विरोधाभास है। उनका यह तर्क उचित प्रतीत होता है कि चूँकि युद्ध भौतिक कल्याण में व द्धि नहीं करता और अर्थशास्त्र केवल भौतिक कल्याण से ही सम्बन्धित है, अतः युद्ध अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री नहीं बन सकता।

   कल्णावादी अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को जो 'भौतिक कल्याण' का विचार प्रदान किया है, वह वास्तव में अन्तर्विरोधी एवं अस्थिर विचार है।

4. **परिमाणात्मक रुप में भौतिक कल्याण को मापना सम्भव नहीं** - 'कल्याणवादी' परिभाषा की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि भौतिक कल्याण को परिमाणात्मक रूप से मापना सम्भव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रो. पीगू मुद्रा को भौतिक कल्याण के मापने का साधन मानते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या मुद्रा

भौतिक कल्याण को सन्तोषजनक ढंग से माप सकती है? कदापि नहीं। यदि दो व्यक्ति किसी एक वस्तु के लिए समान कीमत चुकाते हैं तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उन दोनों व्यक्तियों को उस वस्तु के उपभोग से 'समान' उपयोगिता एवं 'समान' कल्याण प्राप्त होता है। सम्भव है कि इन दोनों में से एक व्यक्ति धनी हो और दूसरा गरीब। स्पष्टतः इन दोनों व्यक्तियों को वस्तु के उपभोग से जो उपयोगिताएं प्राप्त होती हैं, वे समान नहीं हो सकतीं।

5. **अर्थशास्त्र विशुद्ध रुप से सामाजिक विज्ञान नही है -** 'कल्याणवादी' परिभाषा की आलोचना इस कारण भी की जा सकती है कि यह परिभाषा अर्थशास्त्र को विशुद्धतः एक सामाजिक विज्ञान बना देती है। दूसरे शब्दों में, यदि इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाए तो अर्थशास्त्र मानव का सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करेगा। ऐसी परिस्थिति में अर्थशास्त्र केवल उन्हीं व्यक्तियों की क्रियाओं का अध्ययन करेगा जो समाज के सदस्य हैं और समाज में विचरण करते हैं, अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान के रूप में उन व्यक्तियों की समस्याओं का अध्ययन नहीं करेगा जो शेष समाज से प थक् हो गये हैं। ऐसी परिस्थिति में रॉबिन्स क्रूसो अथवा हिमालयवासी साधु-संन्यासी की क्रियाएं अर्थशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र से बाहर रहेंगी, क्योंकि ये दोनों ही व्यक्ति समाज की सदस्यता से विमुक्त हो चुके हैं। 'कल्याणवादी' परिभाषा में इस प्रकार का विचार निश्चयात्मक रूप से निहित है। लेकिन क्या हम इस विचार को स्वीकार कर सकते हैं? नहीं। प्रो. रॉबिन्स के कथनानुसार अर्थशास्त्र के आधारमूलक नियम रॉबिन्सन क्रूसो अथवा हिमालयवासी साधु-सन्यासी पर भी ठीक उसी प्रकार लागू होते हैं जिस प्रकार वे समाज के नियमित सदस्यों पर लागू हैं। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र का प्रतिस्थापन-नियम एक मूलभूत नियम है जो समाज और समाज से बाहर वालो सब पर लागू होता है।

6. **परिभाषा विश्लेषणात्मक न होकर वर्गात्मक है -** अन्ततः प्रो. रॉबिन्सन ने 'कल्याणवादी' परिभाषा की इस आधार पर भी आलोचना की है कि यह परिभाषा विश्लेषणात्मक न होकर वर्गात्मक है। 'कल्याणवादी' अर्थशास्त्र के अनुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मानवीय क्रियाओं के एक निश्चित वर्ग से है, न कि प्रत्येक क्रिया के एक निश्चित पहलू से। इस प्रकार 'कल्याणवादी' अर्थशास्त्री समस्त मानवीय क्रियाओं को दो वर्गों में विभाजित करते हैं - (1) आर्थिक क्रियाएं और (2) गैर-आर्थिक क्रियाएं। लेकिन मानव-क्रियांओं के इस वर्गीकरण को प्रो. रॉबिन्सन 'तर्कहीन' एवं 'अवैज्ञानिक' कहकर अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि आर्थिक क्रिया का गैर-आर्थिक पहलू भी हो सकता है। अतः मानव -क्रियाओं का कोई कठोर वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। मानव-क्रियाओं का ऐसा वर्गीकरण करने के बजाए अर्थशास्त्रियों को इनके एक निश्चित पहलू पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। वह कौन-सा पहलू है? प्रो. राबिन्सन के अनुसार, अर्थशास्त्रियों को मानव-क्रियाओं के उस पहलू पर ध्यान देना चाहिए जो साधनों की दुर्लभता से प्रभावित होता है।

इन आलोचनाओं के कारण प्रो. रॉबिन्स ने 'कल्याणवादी' परिभाषा को अस्वीकार कर दिया है। इसके स्थान पर उन्होंने एक नयी परिभाषा का निर्माण किया है। उनका दावा है कि उनके द्वारा प्रस्तुत परिभाषा उपर्युक्त सभी दोषों एवं आलोचनाओं से सर्वथा मुक्त है। चूंकि प्रो. रॉबिन्स की परिभाषा 'उद्देश्यों' की तुलना में 'साधनों की दुर्लभता' पर अधिक बल देती है, इसीलिए आर्थिक साहित्य में इसे 'दुर्लभता' परिभाषा की संज्ञा दी जाती है।

दुर्लभता अथवा सीमितता' प्रधान परिभाषाएं

सन् 1932 में प्रो. रॉबिन्स की महान् पुस्तक An Essay on the Nature and Significance of Economic Science के प्रकाशन के उपरान्त अर्थशास्त्रियों में अर्थशास्त्र की परिभाषा के सम्बन्ध में एक नया विवाद उत्पन्न हो गया था। इस पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व तो ऐसा प्रतीत होता था कि डॉ. मार्शल ने परिभाषा की समस्या का स्थायी तौर पर समाधान ही कर दिया था। सन् 1932 से पूर्व जितने भी बड़े-बड़े अर्थशास्त्री हुए उन सभी ने डॉ. मार्शल की परिभाषा को लगभग पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया था। लेकिन प्रो. रॉबिन्स की पुस्तक के परिणामस्वरूप अर्थशास्त्र की पुरानी एवं परम्परागत परिभाषा में अर्थशास्त्रियों का विश्वास अब डगमगाने लगा। वे इस परिभाषा को सन्देहात्मक द ष्टि से देखने लगे। प्रो. रॉबिन्स की परिभाषा इस प्रकार है-

''अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो लक्ष्यों तथा उनके सीमित एवं वैकल्पिक उपयोगों वाले साधनों के परस्पर सम्बन्धों के रूप में मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है।''

इस परिभाषा में तीन मूल तत्त्व पाये जाते हैं। अर्थशास्त्र का समूचा ढांचा इन तीनों तत्त्वों पर ही आधारित है। ये तीनों तत्त्व हैं - उद्देश्य, दुर्लभ साधन, एवं वैकल्पिक उपयोग।

1. **उद्देश्य** - उद्देश्य से यहां अभिप्राय है मानवीय आवश्यकताओं से। जैसा कि हम अपने अनुभव से जानते हैं, हमारी आवश्यकताएं असीमित हैं। यदि किसी एक आवश्यकता को सन्तुष्ट किया जाता है तो दूसरी उठ खड़ी होती है। आवश्यकताओं की इस अनेकता के कारण हम अपनी सभी आवश्यकताओं को पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं कर सकते। चूंकि वे असीमित होती है, इसलिए हमें अधिक आग्रहपूर्ण और कम आग्रहपूर्ण आवश्यकताओं के बीच चयन करना पड़ता है।

2. **दुर्लभ साधन** - यद्यपि आवश्यकताएं असंख्य हैं लेकिन उन्हें सन्तुष्ट करने के उपलब्ध साधन अत्यन्त सीमित होते हैं। चूंकि अधिकांश वस्तुओं की पूर्ति उनकी माँग की तुलना में दुर्लभ होती है, इसीलिए तो आर्थिक समस्या उत्पन्न होती है। प्रो. मिल्टन फ्रीडमेन के अनुसार, ''यदि साधन दुर्लभ न होते तो आर्थिक समस्या ही न होती। तब तो विश्व निर्वाण की स्थिति में होता।''

   'दुर्लभता' शब्द को हम सापेक्ष अर्थ में ले रहे है, निरपेक्ष अर्थ में नहीं। 'दुर्लभ' पूर्ति से ही कोई वस्तु दुर्लभ नहीं हो जाती। मान लीजिए, किसी वस्तु की पूर्ति कम है लेकिन उसकी माँग बिल्कुल नहीं है। क्या ऐसी वस्तु को हम 'दुर्लभ' कहेंगे? कदापि नहीं। जैसा कि प्रो. रॉबिन्स ने कहा है, गन्दे अण्डे यद्यपि अच्छे अण्डों की तुलना में संख्या में कम होते हैं लेकिन उन्हें 'दुर्लभ' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गन्दे अण्डों की कुछ भी माँग नहीं होती। इस प्रकार यदि उनकी माँग को ध्यान में रखा जाए तो गन्दे अण्डे 'दुर्लभ' नहीं कहे जा सकते। इसके विपरीत, यद्यपि विश्व की मण्डियों में करोड़ों टन खाद्यान्न उपलब्ध है लेकिन फिर भी खाद्यान्न 'दुर्लभ' ही कहे जाते हैं, क्योंकि उनकी माँग उनकी पूर्ति की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। अतः किसी वस्तु की 'दुर्लभता' अथवा 'प्रचुरता' वस्तु की माँग को ध्यान में रखकर ही निश्चित की जाती है।

3. **दुर्लभ साधनों के वैकल्पिक उपयोग** - प्रो. रॉबिन्स की परिभाषा का तीसरा तत्त्व यह है कि उपलब्ध दुर्लभ साधनों के वैकल्पिक उपयोग होने चाहिए। यदि किसी वस्तु

> को एक ही उपयोग में लाया जा सकता है तो उसके उपयोग के बारे में कोई आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं होगी। लेकिन वास्तविक जीवन में किसी वस्तु का कोई एक उपयोग न होकर उसके अनेक उपयोग होते हैं। उस वस्तु की कुल माँग इतनी अधिक हो जाती है कि वर्तमान पूर्ति उसे सन्तुष्ट करने में अपर्याप्त सिद्ध होती है। परिणामतः वह वस्तु आर्थिक महत्त्व की हो जाती है।

प्रो. रॉबिन्स की परिभाषा में यह बात भी निहित है कि वस्तु के वैकल्पिक उपयोग समान महत्त्व के होने चाहिए अर्थात् उनमें महत्त्व का अन्तर होना चाहिए। कुछ उपयोग कम और कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण होने चाहिए। यदि सभी उपयोग समान महत्त्व के होंगे तो यह चयन करना कठिन हो जाएगा कि अमुक वस्तु को किस विशेष उपयोग में लगाया जाए।

स्पष्ट है कि आर्थिक समस्या तब तक उत्पन्न नहीं होगी जब तक उपर्युक्त तीनों शर्तें पूरी नहीं होतीं। उद्देश्यों की अनेकता अथवा साधनों की दुर्लभता अथवा दुर्लभ साधनों के वैकल्पिक उपयोगों को प थक् -प थक् रूप में लेने पर आर्थिक समस्या कभी उत्पन्न नहीं होती। आर्थिक समस्या तो तभी उत्पन्न होती है जब इन तीनों शर्तों को एक साथ ही समय पर पूरा किया जाए।

आर्थिक विश्लेषण में 'अवसर' लागत अथवा 'विस्थापन' लागत धारणा एक महत्त्वपूर्ण धारणा समझी जाती है। यह धारणा ''उद्देश्यों की अनेकता'' एवं ''साधनों की स्वल्पता'' का प्रत्यक्ष परिणाम है। चूँकि 'उद्देश्य' असंख्या और 'साधन' सीमित होते हैं, अतएव व्यक्तियों एवं राष्ट्रों के लिए चयन करना अनिवार्य हो जाता है। यदि हम किसी एक विकल्प को अपनाते हैं तो हमें दूसरे विकल्प का परित्याग करना पड़ता है। मान लीजिए किसी व्यक्ति की जेब में दो रुपए का नोट है। इससे वह व्यक्ति या तो सिनेमा देख सकता है या कोई अखिल भारती क्रिकेट मैच देख सकता है, लेकिन दो रुपए से वह दोनों का आनन्द नहीं ले सकता। यदि वह सिनेमा देखता है तो सिनेमा देखने की 'अवसर' अथवा 'विस्थापन' लागत क्रिकेट मैच होगी। इसके विपरीत, यदि वह क्रिकेट मैच देखता है तो क्रिकेट मैच की 'अवसर' अथवा 'विस्थापन' लागत सिनेमा होगी। इस प्रकार किसी वस्तु की 'अवसर' लागत वह वस्तु होती है जिसका उस वस्तु की प्राप्ति के लिए परित्याग किया जाता है।

ये परिभाषा इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें चयन महत्त्वपूर्ण है। चयन इसलिए क्योंकि हमारे उद्देश्य तो असंख्य होते है। लेकिन हमारे साधन सीमित मात्रा में होते हैं, अतः हमें चयन करना ही पड़ता है चयन की समस्या, वास्तव में एक सार्वभौमिक समस्या है। प्रो. एरिक रोल के अनुसार चयन की समस्या सभी प्रकार के समाज एवं समुदायों में उत्पन्न होती है। रॉबिन्सन क्रूसों को भी इस समस्या का सामना करना पड़ा था। केन्द्रीय अफ्रीका की जंगली एवं असभ्य जातियों को भी इस समस्या से जूझना पड़ता है। आधुनिक पूंजीवादी अमरीका एवं साम्यवादी रूस में भी यह समस्या उत्पन्न होती है। चयन की समस्या सार्वभौमिक ही नहीं, बल्कि सार्वकालिक भी है। मध्यकालीन एवं सामन्तवादी यूरोप में भी यह समस्या उठी थी। जब तक 'उद्देश्य' असंख्य और 'साधन' सीमित हैं, चयन की समस्या समाज में उठती ही रहेगी। प्रो. रोल के कथानुसार रॉबिन्स की परिभाषा के व्युत्पादित नियम सभी प्रकार के समुदायों पर लागू होते हैं। चयन के नियम गुरुत्वाकर्षण के नियमों की भांति सभी प्रकार के समुदायों पर क्रियाशील होते हैं।

''भौतिक कल्याणवाद' पर आधारित इस परिभाषा ने अर्थशास्त्र की सारी संरचना को धराशायी कर दिया है। इसके स्थान पर प्रो. रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र की एक नवीन संगठन का निर्माण किया है। इसकी दो आधारशिलाएं हैं (1) उद्देश्यों की अनेकता, और (2) साधनों की

दुर्लभता। यह परिभाषा सार्वभौमिक है यह सभी देशों में लागू होती है। पूंजीवाद अमरीका तथा साम्यवादी रूस दोनों पर प्रो. मेकफाई रॉबिन्स की परिभाषा से अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। उनका कहना है कि रॉबिन्स की परिभाषा अन्तिम है। इस विषय पर और कुछ कहने की गुंजाइश नहीं है।

'दुर्लभता' परिभाषा का मुख्य लाभ यह है कि इसने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को स्पष्ट रूप से सीमांकन कर दिया है। इस परिभाषा ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र के चारों ओर एक दीवार-सी खड़ी कर दी है। इस चारदीवारी के कारण अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बारे में अब कोई सन्देह नहीं रह गया है। अर्थशास्त्र का क्षेत्र अब पूर्णतः स्पष्ट हो गया है। यदि उद्देश्यों की अनेकता एवं साधनों की दुर्लभता के परिणामस्वरूप कोई समस्या उत्पन्न होती है तो निश्चय ही वह समस्या आर्थिक समस्या होगी और उसका अध्ययन एवं विश्लेषण अर्थशास्त्र का विषय होगा। इस परिभाषा के परिणामस्वरूप अर्थशास्त्र अब एक प्रतिष्ठित विज्ञान बन गया है। इस 'दुर्लभता' परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र का उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उद्देश्य चाहे अच्छे हों अथवा बुरे, अर्थशास्त्री उनका चयन नहीं करते। अतएव प्रो. रॉबिन्स के कथनानुसार अर्थशास्त्र में उद्देश्यों का अध्ययन नहीं किया जाता। अर्थशास्त्री तो केवल ऐसी परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं जिनमें उद्देश्य 'अनेक' एवं साधन 'दुर्लभ' होते हैं। वे किसी भी देश में उद्देश्यों का चयन नहीं करते हैं और न ही वे उद्देश्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर अपना मत व्यक्त करते हैं।

प्रो० राबिन्स की विचारधारा का समर्थन करने वालों में प्रो० फिलिप विकस्टीड, वान मिसेज, डॉ० स्ट्रिग्ल, सेमुएलसन, कोहन, शॉन फेल्ड, मैक्सवैबर आदि थे जिन्होनें उससे मिलते-जुलते विचारों की अभिव्यक्ति की।

दुर्लभता सम्बन्धी परिभाषाओं की आलोचनाएं

'कल्याणवादी' परिभाषा की भांति 'दुर्लभता' परिभाषा भी आलोचना रहित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से वर्तमान अर्थशास्त्री प्रो. रॉबिन्स के अनुयायी हैं लेकिन निश्चय ही कुछ विख्यात अर्थशास्त्री ऐसे भी हैं जो प्रो. रॉबिन्स की परिभाषा की कटु आलोचना करते हैं। जिनमें कैनन, क्लार्क, रैक्सफोर्ड, प्रो० ऐमान, ए०एल० मैक्फाई, वूटन, फेगर तथा राबर्टसन थे।

1. **कल्याण की परिभाषा में दुलर्भता का अप्रत्यक्ष विचार निहित -** आलोचकों का कहना है कि प्रो. रॉबिन्स 'कल्याणवादी' परिभाषा का तो इतना तीव्र विरोध करते हैं लेकिन यह नहीं समझते कि 'कल्याणवाद' की धारणा स्वयं उनकी अपनी परिभाषा में भी सन्निहित है। 'दुर्लभता' परिभाषा में अधिकतम सन्तुष्टि का विचार निश्चय ही सन्निहित है। इस परिभाषा के अनुसार 'अनेक' उद्देश्य एवं 'दुर्लभ' साधनों के बीच समायोजन इस ढंग से किया जाना चाहिए कि व्यक्ति अथवा राष्ट्र को अधिकतम लाभ अथवा कल्याण की प्राप्ति हो सके।

2. **उद्देश्यों के प्रति तटस्थता -** श्रीमती बारबरा वूटन, सर विलियम बैवरिज, प्रो. डरबिन तथा प्रो. फ्रेजर जैसे सुविख्यात मार्शलवादी अर्थशास्त्री उद्देश्यों के प्रति प्रो. रॉबिन्स के तटस्थ रवैये को तनिक भी पसन्द नहीं करते। उनका कहना है कि अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक अध्ययन के लिए प्रो. रॉबिन्स की 'दुर्लभता' परिभाषा अत्यन्त संकुचित सिद्ध हुई है। इसने अनावश्यक रूप में अर्थशास्त्र को संकीर्ण बना दिया है। उपर्युक्त मार्क्शवादी अर्थशास्त्री किसी भी दशा में अर्थशास्त्र को आचारशास्त्र से

प थक् नहीं करना चाहते, जबकि प्रो. रॉबिन्स अर्थशास्त्र एवं आचारशास्त्र के बीच एक ऊँची दीवार खड़ी करना चाहते हैं।

3. **अर्थशास्त्र केवल विशुद्ध विज्ञान ही नहीं** - आलोचकों का कहना है कि यदि हम प्रो. रॉबिन्स की 'दुर्लभता' परिभाषा को स्वीकार कर लेते हैं तो अर्थशास्त्र निश्चय ही एक विशुद्ध विज्ञान बन जाएगा। ऐसी परिस्थिति में अर्थशास्त्र केवल आर्थिक नियमों का निर्माण मात्र करेगा, व्यावहारिकता से इसका सम्बन्ध पूर्णतः नष्ट हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र का विशुद्ध विज्ञान व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में हमारी तनिक भी सहायता नहीं करेगा। इससे अर्थशास्त्र का भारी अहित होगा। आलोचकों के कथनानुसार अर्थशास्त्रियों का कर्तव्य केवल उपकरणों (यन्त्रों) का निर्माण करना ही नहीं, बल्कि उनका प्रयोग करना भी है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में श्रीमती बारबरा वूटन ने यह शिकायत की है कि अर्थशास्त्री अपना अधिकांश समय सैद्धान्तिक उपकरणों के निर्माण मात्र में व्यय कर देते हैं, उन उपकरणों का व्यावहारिक प्रयोग करने में वे कुछ भी समय नहीं लगाते। वास्तव में यह बहुत ही खोजजनक बात हैं व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में अर्थशास्त्रियों को निश्चय ही अपना सहयोग देना चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनकी कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती है। यह उल्लेखनीय है कि प्रो. रॉबिन्स अपनी पुस्तक Economic Planning and International Order में स्वयं आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के सुझाव प्रस्तुत करते हैं। ऐसा करने से अर्थशास्त्र का विशुद्ध रूप निश्चय ही समाप्त हो जाता है। वास्तव में, यदि कोई सामाजिक विज्ञान व्यावहारिक समस्याओं का समाधान नहीं करता तो उसके अस्तित्त्व का कोई औचित्य ही नहीं रहता। इस द ष्टिकोण से 'दुर्लभता' परिभाषा संकीर्ण प्रतीत होती है।

4. **आर्थिक समस्या केवल दुर्लभता के कारण ही नहीं अपितु प्रचुरता के कारण भी** - प्रो. रॉबिन्स के कथनानुसार आर्थिक समस्या सदैव 'दुर्लभता' के कारण उत्पन्न होती है : किन्तु आलोचकों का कहना है कि आर्थिक समस्या 'प्रचुरता' के परिणामस्वरूप भी उत्पन्न हो सकती है। जैसा कि विदित है, सन् 1930 की महान् मन्दी के दौरान विभिन्न देशों में आर्थिक समस्याएँ 'दुर्लभता' के कारण नहीं, बल्कि वस्तुओं की 'प्रचुरता' अथवा उनके अति उत्पादन के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुई थीं।

5. **परिभाषा का स्थैतिक द ष्टिकोण**- जैसा कि आलोचकों ने बताया है, प्रो. रॉबिन्स की परिभाषा का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह स्थैतिक प्रकृति की है। इसी कारण इसे पर्याप्त नहीं माना जाता है। आलोचकों के कथनानुसार रॉबिन्स ने 'दुर्लभता समस्या' के प्रति पूर्णतया स्थैतिक द ष्टिकोण अपनाया है। इस परिभाषा के अनुसार दुर्लभ साधनों तथा साध्यों में किसी प्रकार का कोई भी परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं है। वास्तव में एक प्रावैगिक समस्या के प्रति रॉबिन्स का यह द ष्टिकोण अत्यन्त स्थैतिक प्रतीत होता है। हमारे गतिशील समाज में साधनों एवं साध्यों दोनों में ही परिवर्तन सम्भव हो सकते हैं। सत्य तो यह है कि कालान्तर में साध्यों के परिवर्तित होने की बड़ी सम्भावना रहती है। इनके साथ-साथ साधनों की भी व द्धि तथा उनका विकास होता रहता है। दुर्भाग्य से रॉबिन्स की परिभाषा 'दुर्लभता' समस्या के इस पहलू की उपेक्षा कर देती है।

6. **आर्थिक विकास के सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं** - रॉबिन्स ने अपनी परिभाषा में आर्थिक विकास के सिद्धान्तों की घोर उपेक्षा की है। यदि देखा जाए तो आधुनिक

जगत में, विशेष रूप में अल्पविकसित तथा विकसित अर्थव्यवस्थाओं की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने की है अर्थात् देश की राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय तथा रोजगार के स्तर में व द्धि करने की है जिसकी रॉबिन्स ने घोर उपेक्षा की।

7. **बेरोजगारी की समस्या का कोई समाधान नहीं** - रॉबिन्स की परिभाषा में बेरोजगारी की समस्या की कोई व्याख्या नहीं की गई है जो आज के युग की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर समस्या है। आज मानव-शक्ति असीम मात्रा में उपलब्ध है न कि दुर्लभता में। इसके विपरीत अर्थशास्त्र, रॉबिन्स के अनुसार, दुर्लभता का अध्ययन है।

8. **बहुत संकुचित एवं बहुत व्यापक द ष्टिकोण** - राबर्टसन के अनुसार, ''रॉबिन्स की परिभाषा एक साथ बहुत संकुचित तथा बहुत व्यापक है।'' यह अत्यन्त संकुचित तो इसलिए है क्योंकि यह संगठनात्मक दोषों को सम्मिलित नहीं करती है जिससे साधन निष्क्रिय हो जाते हैं। दूसरी ओर यह बहुत व्यापक इसलिए है कि दुर्लभ साधनों को दिए गए लक्ष्यों में विभाजित करने की समस्या ऐसी है जो उन क्षेत्रों में भी उत्पन्न हो सकती है जो अर्थशास्त्र के अधिकार क्षेत्र के बाहर है। हो सकता है कि परीक्षा में छात्र के पेन की स्याही समाप्त हो जाने पर, खेल के मैदान में किसी खिलाड़ी के घायल हो जाने पर, युद्ध के मैदान में कमाण्डर की म त्यु हो जाने पर, दुर्लभ साधनों की समस्या का सामना करना पड़ जाए। इस प्रकार प्रो. रॉबिन्स की दुर्लभता-स्थापना अनार्थिक समस्याओं पर भी लागू हो सकती है और अर्थशास्त्र के क्षेत्र को बहुत व्यापक बना देती है।

विकास केन्द्रित परिभाषाएं
(Development Centred Definitions)

रॉबिन्स की परिभाषा अपने सीमित क्षेत्र में आर्थिक विकास की महत्त्वपूर्ण समस्या को सम्मिलित नहीं करती और एक प्रावैगिक समस्या के प्रति पूर्णतया स्थैतिक रुख अपनाती है। हाल ही के वर्षो में प्रो. सैम्युएलसन द्वारा प्रस्तुत अपनी परिभाषा में रॉबिन्स की परिभाषा के अन्तर्निहित दोष अथवा कमी को दूर करने का प्रयास किया गया है। सैम्युएलसन की परिभाषा का सबसे बड़ा गुण यह है कि कालान्तर में 'साधनों' एवं 'साध्यों' में होने वाले गतिशील परिवर्तनों को यह परिभाषा पूर्ण मान्यता देती है। अतः इसे 'विकासोन्मुखी' परिभाषा कहना सर्वथा उचित ही है। सैम्युएलसन की परिभाषा निम्नवत् है :

''अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि व्यक्ति और समाज अनेक प्रयोगों में लगाए जा सकने वाले उत्पादन के सीमित साधनों का चुनाव, एक समयावधि में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में लगाने एवं उनको समाज में विभिन्न व्यक्तियों और समूहों में उपभोग हेतु वर्तमान तथा भविष्य में बांटने के लिए किस प्रकार करते हैं; ऐसा वे चाहे मुद्रा का प्रयोग करके करें अथवा इसके बिना करें।''

उपर्युक्त परिभाषा की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं-

1. रॉबिन्स और सैम्युएलसन के बीच बहुत कुछ समानता पाई जाती है। रॉबिन्स की भाँति सैम्युएलसन मे भी असीमित साध्यों के प्रति सीमित साधनों की समस्या पर

बल दिया है। साधन सीमित ही नहीं है, बल्कि उन्हें वैकल्पिक प्रयोगों में भी लगाया जा सकता है।

2. जहाँ राबिन्स की परिभाषा स्थैतिक है वहीं सैम्युएलसन की परिभाषा 'समय' के समावेश से प्रावैगिक बन गई है। इस बात की पुष्टि परिभाषा का गहन अध्ययन करने से हो जाती है। सैम्युएलसन की परिभाषा में निम्न वाक्यांशों का प्रयोग किया गया है : ''एक समयावधि में विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन'' तथा ''उनका वर्तमान एवं भविष्य में वितरण''। ये वाक्यांश समय-तत्त्व से ही सम्बन्धित है। इनसे परिभाषा का प्रावैगिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। सैम्युएलसन की परिभाषा के अनुसार विकास की समस्या स्वतः ही अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित हो जाती है। बस इसी कारण सैम्युएलसन की परिभाषा रॉबिन्स की परिभाषा से श्रेष्ठ है।

3. सैम्युएलसन की परिभाषा केवल प्रावैगिक ही नहीं है, बल्कि इसका क्षेत्र भी रॉबिन्स की परिभाषा की अपेक्षा अधिक विस्त त है। यह परिभाषा एक ऐसी अर्थव्यवस्था पर भी लागू होती है जिसमें वस्तु-विनिमय प्रणाली का प्रचलन होता है। (स्मरण रहे इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में मुद्रा का पूर्ण अभाव होता है।) यह कहना सही नहीं है कि चुनाव अथवा किफायत की समस्या केवल मौद्रिक अर्थव्यवसथा में ही उत्पन्न होती है। वस्तु-विनिमय प्रणाली वाली अर्थव्यवस्था में भी दुर्लभता की समस्या उत्पन्न होती है। इसमें भी साध्यों की तुलना में साधन सीमित होते हैं। अतः सैम्युएलसन की परिभाषा वस्तु-विनिमय प्रणाली वाली अर्थव्यवस्था पर भी उसी तरह लागू होती है जिस तरह यह मौद्रिक अर्थव्यवस्था पर क्रियाशील होती है।

4. सैम्युएलसन की परिभाषा की मुख्य बात यह है कि चुनाव की समस्या का उसके प्रावैगिक रूप में उल्लेख करती है। चुनाव की समस्या वर्तमान से ही नहीं बल्कि भविष्य से भी सम्बन्धित होती है। जैसा कि हम जानते है, मानवीय आवश्यकताएं कभी भी स्थिर अथवा स्थैतिक नहीं होतीं। कालान्तर में उनका स्वरूप बदलता रहता है। केवल उनका स्वरूप नहीं बदलता, बल्कि उनकी संख्या में भी निरन्तर व द्धि होती रहती है। आस्वादों, अभिरुचियों एवं फैशनों में होने वाले परिवर्तन मानवीय आवश्यकताओं के स्वरूप को ही बदल देते हैं। मानवीय आवश्यकताओं के व द्धि के परिणामस्वरूप उन्हें सन्तुष्ट करने हेतु आवश्यक साधनों में भी आनुपातिक व द्धि करनी पड़ती है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो आर्थिक साधन पिछड़ जाएंगे। अतः अर्थशास्त्र का स्वरूप निवार्यतः प्रावैगिक हो जाता है। यही कारण है कि समाज की बदलती एवं बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थशास्त्रियों को साधनों, आय, उत्पादन एवं रोजगार की व द्धि पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। अतः अर्थशास्त्र असीमित साध्यों के सन्दर्भ में सीमित साधनों के आबंटन तथा आय, उत्पादन, रोजगार एवं आर्थिक विकास के निर्धारकों का अध्ययन है। वास्वत में, यही अर्थशास्त्र की सही परिभाषा है।

श्री. के. जी. सेठ के अनुसार, ''अर्थशास्त्र उस मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है जिसका सम्बन्ध साध्यों के संदर्भ में परिवर्तनों एवं विकास से होता है।

निष्कर्षतः - सभी परिभाषाओं में से सैम्युएलसन की परिभाषा सबसे अधिक सन्तोषजनक है। यह परिभाषा चुनाव की समस्या को उसके प्रावैगिक रूप से व्यक्त करती है। आय, उत्पादन, रोजगार एवं आर्थिक विकास आदि की समस्याओं को अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित करके

यह परिभाषा उसके क्षेत्र को विस्त त कर देती है। यही नहीं, सैम्युएलसन की प्रदत्त यह परिभाषा सार्वभौमिक भी है। यह सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं-अतीतकालीन, वर्तमान एवं भावी अर्थव्यवस्थाओं पर समान रूप में लागू होती है। यह परिभाषा वैचारिक मतभेदों से भी परे है क्योंकि यह पूंजीवादी, मिश्रित, समाजवादी एवं साम्यवादी सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं पर क्रियाशील होती है। चूँकि अपने प्रावैगिक स्वरूप में चुनाव की समस्या सभी प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं में उत्पन्न होती है, अतः इस परिभाषा का सार्वभौमिक महत्त्व है। वास्तव, में सैम्युएलसन की यह परिभाषा सभी परिभाषाओं में से सर्वाधिक स्वीकार्य है। अर्थशास्त्र का क्षेत्र कभी भी सम्पूर्ण एवं अन्तिम नहीं होता। कालान्तर में इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। यहां तक कि अर्थशास्त्र की 'विकास' परिभाषा का स्थान भी भविष्य में कोई अन्य परिभाषा ले सकती है।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Economics)

अर्थशास्त्र का विषय-क्षेत्र भी वाद-विवाद का ही विषय है। अर्थशास्त्र के विषय-क्षेत्र की विवेचना करते समय हमें यह बताना होगा कि अर्थशास्त्र विज्ञान है अथवा कला - क्या अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान? क्या आर्थिक विषयों के बारे में अर्थशास्त्री अपना नैतिक द ष्टिकोण प्रस्तुत कर सकते हैं? यह अभी भी वाद-विवाद का विषय बना हुआ है।

अर्थशास्त्र-विज्ञान के रूप में
(Economics – As a Science)

अर्थशास्त्र 'विज्ञान' है या नहीं - इसका निर्णय करने से पूर्व हमें यह भली भांति समझ लेना चाहिए कि 'विज्ञान' से अभिप्राय क्या है। विज्ञान मानव-ज्ञान का एक क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित भण्डार है जो कारण तथा परिणाम के पारस्परिक सम्बन्ध की खोज करता है। स्मरण रहे कि विज्ञान केवल तथ्यों का समूह नहीं होता। प्रो. पोइनकेयर के शब्दों में, ''जिस प्रकार मकान पत्थरों से बनता है, ठीक उसी तरह विज्ञान तथ्यों से निर्मित होता है; लेकिन जिस प्रकार पत्थरों के ढेर मात्र से मकान नहीं बन जाता, ठीक उसी तरह केवल तथ्यों के समूह से विज्ञान का निर्माण नहीं हो जाता।'' दूसरे शब्दों में विज्ञान का निर्माण करने के लिए हमें तथ्यों का क्रमबद्ध रूप से संग्रह, वर्गीकरण तथा विश्लेषण करना चाहिए। विज्ञान की उक्त परिभाषा को अर्थशास्त्र पर लागू करते हुए हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अर्थशास्त्र भी मानव-ज्ञान की वह शाखा है जिसमें तथ्यों का क्रमबद्ध रूप से संग्रह, वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है। इस द ष्टिकोण से अर्थशास्त्र पूर्णरूपेण एक विज्ञान है : विज्ञान की एक अन्य विशेषता यह है कि इसकी विषय-सामग्री मापनीय होनी चाहिए। कुछ वैज्ञानिक तो मापनीयता पर बहुत जोर देते हैं। लॉर्ड केलविन ने एक बार कहा था कि ''जब आप अपने विषय को मापकर संख्यात्मक आंकड़ों में व्यक्त करते हैं तो निश्चय ही आप उसे समझते हैं, लेकिन जब आप विषय को मापने और संख्यात्मक आंकड़ों में व्यक्त करने में असमर्थ रहते हैं तो उसके बारे में आपकी जानकारी अपर्याप्त और असन्तोषजनक ही होती है। आइए, अब हम देखें कि अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री कहां तक मापनीय है। जैसा कि सर्वविदित है, अर्थशास्त्री के पास मौद्रिक मापदण्ड है जिसकी सहायता से वह व्यक्तिगत एवं व्यापारिक उद्देश्यों को माप सकता है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि अर्थशास्त्र को - 'विज्ञान' का प्रतिष्ठित दर्जा (स्तर) इसलिए नहीं दिया जा सकता क्योंकि अर्थशास्त्रियों में एकमत का अभाव रहता है। वास्तव में, श्रीमती बारबरा वूटन का अर्थशास्त्र के विरुद्ध यही एक मुख्य आरोप है। उनके कथनानुसार, ''यदि किसी स्थान पर छः अर्थशास्त्री एकत्रित होते है।'' तो वहां उनके सात मत होंगे। अर्थात् एक अर्थशास्त्री ऐसा भी होगा जिसके एक ही विषय पर दो मत होंगे। क्या ऐसी परिस्थिति में अर्थशास्त्र को विज्ञान कहना उचित होगा? इसमें सन्देह नहीं कि आधारमूलक समस्याओं पर भी अर्थशास्त्रियों में मतैक्य का अभाव है। लेकिन इसी कारण अर्थशास्त्र को 'विज्ञान' के दर्जे से वंचित रखना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

कुछ अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को विज्ञान के प्रतिष्ठित दर्जे से इस आधार पर वंचित रखना चाहते हैं कि यह शास्त्र रसायनशास्त्र एवं भौतिकशास्त्र की भांति भावी घटनाओं की सही-सही भविष्यवाणी नहीं कर सकता। यह सत्य है कि भौतिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों की भांति अर्थशास्त्र भावी घटनाओं की सही भविष्यवाणी नहीं कर सकता। यह भी सत्य है कि अर्थशास्त्र द्वारा प्रस्तुत भविष्यवाणियां बहुधा मिथ्या सिद्ध हुई हैं। लेकिन इसके लिए हम अर्थशास्त्र अथवा अर्थशास्त्रियों को दोषी नहीं ठहरा सकते और न ही इस आधार पर हम अर्थशास्त्र को 'विज्ञान' के दर्जे से वंचित रख सकते हैं। अर्थशास्त्र भावी घटनाओं की सही भविष्यवाणी करने में इसलिए असमर्थ है क्योंकि इसमें असंख्य जटिल तत्त्वों का अध्ययन करना पड़ता है। इनमें से कुछ तत्त्व तो ऐसे हैं जिनके बारे में भविष्यवाणी की ही नहीं जा सकती। अर्थशास्त्र मानव से भी जुड़ा है, और उसका व्यवहार स्वतंत्र है इस बारे में भविष्यवाणी नहीं हो सकती उदाहरणार्थ, लॉर्ड कीन्स ने सन् 1930 में भविष्यवाणी की थी कि न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेंज पर कीमतों की गिरावट शीघ्र ही समाप्त हो जाएगी और उसके उपरान्त अमरीका का तेजी से औद्योगिकीकरण होगा। किन्तु यह भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई। कीमतें गिरती चली गयी। अमरीका सहित समूचा विश्व महान मन्दी के गड्डे में जा गिरा। लेकिन प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या अर्थशास्त्र को 'विज्ञान' के दर्जे से वंचित रखने के लिए उक्त आधार उचित है? यदि यह आधार उचित है तो मौसम विज्ञान को भी 'विज्ञान' नहीं माना जा सकता क्योंकि ऋतु संबंधी भविष्यवाणियां अक्सर गलत सिद्ध होती हैं। क्या हम इसी आधार पर मौसम विज्ञान को 'विज्ञान' के दर्जे से वंचित रख सकते हैं? कदापि नहीं। वास्तविकता तो यह है कि ऋतु-भविष्यवाणियों की अपेक्षा आर्थिक भविष्यवाणियाँ अधिक विश्वसनीय होती है। भावी तूफानों की अपेक्षा भावी आर्थिक मन्दी के बारे में अधिक विश्वसनीय भविष्यवाणी की जा सकती है। अतः मानव-ज्ञान की किसी शाखा को 'विज्ञान' के दर्जे से इस कारण वंचित नहीं रखना चाहिए कि उसमें सही-सही भविष्यवाणी करने की सामर्थ्य का होना 'विज्ञान' की कोई आवश्यक विशेषता नहीं है। इसके बिना भी मानव-ज्ञान की कोई भी शाखा 'विज्ञान' का दर्जा प्राप्त कर सकती है यदि इसमें अन्य विशेषताएं पाई जाती हैं।

हमारे विचार में अर्थशास्त्र 'विज्ञान' कहलाने का पूर्ण अधिकारी है। जो लोग अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप को चुनौती देते हैं वे मानो मूर्खो के स्वर्ग में विचरण कर रहे हैं।

अर्थशास्त्र-कला के रूप में
(Economics – As An Art)

'कला' भी 'विज्ञान' की भांति ज्ञान का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध भण्डार है। लेकिन 'कला' में एक विशेषता होती है जो 'विज्ञान' में नहीं पाई जाती। 'कला' सदैव निश्चित नियमों का

निर्माण करती है और विशिष्ट हल प्रस्तुत करती है। जैसा कि प्रो. जे. एम. केंज ने कहा है, ''कला वह प्रणाली है जो किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नियम सुझाती है। कला का उद्देश्य ऐसे नियमों का निर्माण करना है जिन्हें तुरन्त व्यावहारिक नीति पर लागू किया जा सके। 'विज्ञान' तो केवल 'सैद्धांतिक' ही होता है जबकि 'कला' सदैव 'व्यावहारिक' होती है। प्रो. कौसा के शब्दों में, ''विज्ञान हमें सैद्धान्तिक ज्ञान की शिक्षा देता है जबकि कला हमें व्यावहारिक क्रियाओं का प्रशिक्षण प्रदान करती है। संक्षेप में, विज्ञान केवल व्याख्या ही करता है जबकि कला लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नियमों का प्रतिपादन करती है।'' इस परिभाषा को यदि अर्थशास्त्र पर लागू किया जाए तो हम देखेंगे कि यह 'कला' भी है। अर्थशास्त्र की अनेक शाखांए हैं जो आर्थिक समस्याओं का समाधान करने में हमें व्यावहारिक मार्गदर्शन प्रदान करती है। उपभोग का प्रतिस्थापन नियम हमें यह बताता है कि अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि कैसे प्राप्त कर सकते हैं। अतः अर्थशास्त्र 'विज्ञान' एवं 'कला' दोनों ही है। इसे केवल 'विज्ञान' अथवा केवल 'कला' कहना उचित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अर्थशास्त्री इसे केवल 'विज्ञान' ही मानते हैं। उनका कहना है कि उसे केवल विज्ञान मानकर ही हम इसके वैज्ञानिक स्वरूप का निर्माण कर सकते है। 'विज्ञान' के साथ-साथ यदि हम इसे 'कला' भी मान लेते है तो विज्ञान स्वरुप में बाधाएँ आ सकती है। अर्थशास्त्र का कलात्मक रुप भी अधूरा हो सकता है लेकिन प्रो. कौसा के शब्दों में, ''विज्ञान को कला और कला को विज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।''

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विज्ञान और कला एक दूसरे के पूरक हैं। किसी बात का क्रमबद्ध ज्ञान तो विज्ञान है और व्यावहारिक समस्याओं को हल करने के लिए उस ज्ञान का क्रमबद्ध उपयोग कला है। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि अर्थशास्त्र को 'विज्ञान' तथा 'कला' दोनों एक साथ मान लिया जाए। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का भी यही मत है।

अर्थशास्त्र–विशुद्ध एवं व्यावहारिक
(Economics – Pure And Practical)

कुछ अर्थशास्त्री अर्थ-विज्ञान को 'विज्ञान' तथा 'कला' एक साथ न मानकर इसे दो वर्गों में विभाजित करते हैं - (1) विशुद्ध अर्थशास्त्र और (2) व्यावहारिक अर्थशास्त्र। वास्तव में, डॉ. मार्शल ने ही सर्वप्रथम यह भेद किया था। आजकल तो विशुद्ध अर्थशास्त्र एवं व्यावहारिक अर्थशास्त्र का यह वर्गीकरण बहुत ही लोकप्रिय हो चुका है। हमारे विचार में यह वर्गीकरण अर्थशास्त्र के विज्ञान एवं कला के पुराने वर्गीकरण से अधिक वैज्ञानिक है। इससे अर्थशास्त्र को समझने में अपेक्षाकृत अधिक सुविधा रहती है। दूसरे, अन्य विज्ञानों में भी तो ऐसा ही वर्गीकरण किया जाता है। प्रो. बई के शब्दों में, ''विशुद्ध विज्ञान तो उपकरणों की व्यवस्था है। व्यावहारिक विज्ञान उन उपकरणों की सहायता से समस्याओं का समाधान करता है। दोनों एक दूसरे के पूरक है। विशुद्ध विज्ञान का स्थान प्रथम और व्यवहारिक विज्ञान का स्थान दूसरा है। विशुद्ध विज्ञान के बिना व्यावहारिक विज्ञान का काम चल नहीं सकता।

पिछले कुछ वर्षो में अर्थशास्त्रियों ने व्यावहारिक अर्थशास्त्र के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया है। ब्रिटेन एवं अमरीका में व्यावहारिक अर्थशास्त्र पर अनेक पुस्तकें छपी है। व्यावहारिक अर्थशास्त्र की यह लोकप्रियता शायद उस रॉबिन्सवाद की प्रतिक्रिया है जो अर्थशास्त्र को केवल विशुद्ध विज्ञान ही मानता है। युवा पीढ़ी के अर्थशास्त्री अब अपना ध्यान अधिकाधिक व्यावहारिक अर्थशास्त्र पर ही केन्द्रित कर रहे है। इसके साथ ही वे वर्तमान सामाजिक

समस्याओं का समाधान करने का प्रयास भी कर रहे हैं। वस्तुतः व्यावहारिक अर्थशास्त्र आज विशुद्ध अर्थशास्त्र से भी अधिक लोकप्रिय बन गया है। प्रो. जॅर्ज स्टिगलर के अनुसार सैद्धान्तिक अर्थशास्त्री वह होता है जो अपने कुल व्यावसायिक समय का आधे से अधिक भाग आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित सिद्धान्तों के निर्माण में लगाता है।

अर्थशास्त्र—सकारात्मक एवं आदर्शक विज्ञान के रूप में

यह विवादस्पद विषय है कि अर्थशास्त्र सकारात्मक विज्ञान सकारात्मक है या आदर्शक सभी इस बात पर सहमत हैं कि अर्थशास्त्र सकारात्मक विज्ञान है। लेकिन क्या अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान भी है - इस विषय पर अर्थशास्त्रियों में निश्चित मतभेद है। यह मतभेद शायद उतना ही पुराना है जितना कि अर्थशास्त्र स्वयं। अतीत काल में इस विषय पर भारी विवाद चला था और अर्थशास्त्री दो स्पष्ट सम्प्रदायों में विभाजित हो गए थे। ब्रिटेन के क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का विचार था कि अर्थशास्त्र विशुद्धतः एक सकारात्मक विज्ञान है और अर्थशास्त्रियों को आर्थिक विषयों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर टीका टिप्पणी करने का कोई अधिकार नहीं है। इसके विपरीत, जर्मनी के ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों का सुनिश्चित मत था कि किसी भी दशा में अर्थशास्त्र अपने आपको आचारशास्त्र से प थक् नहीं कर सकता अर्थात् अर्थशास्त्रियों को आर्थिक विषयों के औचित्य एवं अनौचित्य पर अपना मत व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार है।

उक्त विवाद को भली भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले 'सकारात्मक' एवं 'आदर्शक' विज्ञानों के अर्थ जानने का प्रयास करें। प्रो. जे. एन. कीन्स ने इन दोनों के अन्तर को व्यक्त करते हुए कहा है कि ''सकारात्मक विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान का भण्डार है जो इस बात की व्याख्या करता है कि वस्तुएँ कैसी हैं; आदर्शक विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान का वह भण्डार है जो इस बात की व्याख्या करता है कि वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए। सकारात्मक विज्ञान का सम्बन्ध वास्तविक स्थिति से होता है, आदर्शक विज्ञान का सम्बन्ध आदर्श स्थिति से होता है। सकारात्मक विज्ञान का उद्देश्य नियमों की स्थापना करना है; आदर्शक विज्ञान का उद्देश्य आदर्शो का निर्माण करना है।''

दूसरे शब्दों में, 'सकारात्मक' विज्ञान वस्तुओं के वर्तमान स्वरूप की ही व्यवस्था करता है; यह वस्तुओं के कारणों एवं उनके परिणामों की ही विवेचना करता है, किन्तु उद्देश्यों के प्रति यह पूर्णतः तटस्थ रहता है। यह उद्देश्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर कुछ भी मत व्यक्त नहीं करता। वास्तव में, नैतिकता से इसे कोई सरोकार नहीं है। इसके विपरीत, आदर्शक विज्ञान तो इस बात की व्याख्या करता है कि वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए। आदर्शक विज्ञान उद्देश्यों की नैतिकता अथवा अनैतिकता पर अपनामत व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार रखता है। 'सकारात्मक' तथा 'आदर्शक' विज्ञानों के बीच के अन्तर को उदाहरणों द्वारा और भी अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। ब्याज की दर कैसे निर्धारित होती है? कौन-सी शक्तियां हैं जो इसे प्रभावित करती हैं? यदि इस विषय के सम्बन्ध में हम कोई जांच करें तो निश्चय ही इस प्रकार की जांच सकारात्मक अर्थशास्त्र में सम्मिलित की जाएगी। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की जांच वस्तुओं के वर्तमान स्वरूप से ही सम्बन्धित होती है। ब्याज की उचित दर क्या होनी चाहिए। यदि इस विषय के सम्बन्ध में कोई जांच की जाती है तो निश्चय ही वह जांच आदर्श विज्ञान का अभिन्न अंग होगी। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की जांच वस्तुओं के आदर्शक स्वरूप से सम्बन्धित होती है। ब्याज की उचित दर की विवेचना करते समय हम आचारशास्त्र की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें नैतिकता के विचार को निश्चय ही ध्यान में रखना है। स्मरण रहे कि आदर्शक विज्ञान अपने आपको नैतिकता से प थक् नहीं

कर सकता। इसे प्रत्येक विषय पर नैतिक द ष्टिकोण से विचार करना पड़ता है। इसके विपरीत, सकारात्मक विज्ञान के लिए नैतिक द ष्टिकोण आवश्यक नहीं है। यह तो अपने आपको आचारशास्त्र से पूर्णतः प थक् कर देता है। मिल्टन प्राफइडमैन के अनुसार सकारात्मक अर्थशास्त्र हमें यह बतलाता है कि आर्थिक समस्या का समाधान कैसे किया जाए। इसके विपरीत, आदर्शक अर्थशास्त्र हमें यह बतलाता है कि आर्थिक समस्या का हल कैसा होना चाहिए। सकारात्मक कथन तथ्यों पर आधारित होता है। इसके विपरीत, आदर्शक कथन में आदर्शक मूल्यों का समावेश भी किया जाता है।

ब्रिटेन का क्लासिकल सम्प्रदाय आर्थिक विश्लेषण को आचारशास्त्र से पूर्णतः अलग रखने के पक्ष में था। इसके विपरीत जर्मनी का ऐतिहासिक सम्प्रदाय अर्थशास्त्र को आचारशास्त्र से सम्बद्ध करने पर निरन्तर जोर देता था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उक्त विवाद की तीव्रता कुछ कम हो गई थी। किन्तु सन् 1932 में प्रो. रॉबिन्स ने "An Essay on the Nature and Significance of Economic Science" नामक पुस्तक को प्रकाशित करके यह विवाद को पुनजीवित कर दिया था। स्मरण रहे, प्रो. रॉबिन्स विशुद्ध तर्कवाद तथा सकारात्मक अर्थशास्त्र के कट्टर समर्थक हैं। अर्थशास्त्र के विषय-क्षेत्र तथा उसकी अध्ययन विधि से सम्बन्धित उनके विचार बिल्कुल वैसे ही हैं जैसे कि प्राचीन ब्रिटिश क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के थे। उनमें तनिक भी अन्तर नहीं है। रॉबिन्सवाद मानो एक पुरानी शराब है जिसे नयी बोतलों में भर दिया गया है। रॉबिन्स के अनुयायी अर्थशास्त्र का सकारात्मक स्वरूप बनाए रखना चाहते हैं। वे निम्नलिखित आधारों पर इसका समर्थन करते हैं -

1. अर्थशास्त्र में दो प्रकार की जांच हो सकती है। प्रथम वस्तुएँ कैसी हैं? दूसरे, वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए? प्रो. रॉबिन्स के अनुयायियों का कहना है कि यदि इन दोनों प्रकार की जांचों को जोड़ दिया जाए तो ऐसा करने से जांचकर्ता भ्रम में पड़ जाएगा उनके कथनानुसार यदि इन दोनों प्रकार की जांच को प थक् नहीं किया जाता तो अर्थशास्त्र का वैज्ञानिक आधार ही समाप्त हो जाएगा। उदाहरणार्थ, ब्याज की दर कैसी निर्धारित होगी? यदि इस विषय पर विचार करते समय हम यह भी सोचने लगें कि ब्याज की उचित दर क्या होनी चाहिए तो इससे हमारे विषय के अध्ययन में अनावश्यक बाधा पड़ेगी। अतः इन दोनों प्रकार की जांच को अलग ही रखा जाए तो अच्छा होगा। दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र के सकारात्मक स्वरूप को स्वतन्त्र बनाए रखा जाना चाहिए।

2. रॉबिन्सवादी अर्थशास्त्रियों का विचाार है कि यदि अर्थशास्त्र को विशुद्ध सकारात्मक विज्ञान नहीं माना जाता तो निश्चय ही इसकी प्रगति खतरे में पड़ जाएगी। वस्तुएँ कैसी हैं? - जहाँ तक इस जांच का सम्बन्ध है अर्थशास्त्रियों में कोई मतभेद नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार की जांच पूर्णतः तथ्यों पर आधारित होती है और तथ्यों के बारे में मतभेद नहीं हुआ करते। वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए? इस पर मतभेद हो सकता है क्योंकि वांछनीयता का प्रश्न आ जाता है

3. रॉबिन्सवादियों का तीसरा तर्क यह है कि यदि अर्थशास्त्री सैद्धान्तिक (वस्तुएँ कैसी हैं) तथा व्यावहारिक (वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए) दोनों प्रकार की जांच का विलीनीकरण कर देता है तो इससे जनता के गुमराह हो जाने की सम्भावना बढ़ जाएगी। यदि अर्थशास्त्री विशुद्ध सैद्धान्तिक नियम का प्रतिपादन करता है तो इस बात की आशंका है कि कहीं जनता उसे व्यावहारिक मार्गदर्शन में असफल न समझ बैठे। जनता द्वारा इस प्रकार का निर्वाचन करना अप्राकृतिक नहीं होगा जब तक कि

अर्थशास्त्री अपने नियमों तथा सूत्रों के बीच स्पष्ट भेद नहीं करता। अर्थशास्त्री निश्चित रूप में ऐसा भेद करके ही जनता में फैले संभ्रम को दूर कर सकता है।

क्लासिकल एवं नव-क्लासिकल अर्थशास्त्रियों को सकारात्मक अर्थशास्त्र के प्रति असीमित अनुराग था। ब्रिटिश अर्थशास्त्री सीनियर ने तो यहां तक कह दिया था कि ''अर्थशास्त्री को परामर्श का एक शब्द भी कहने का अधिकार नहीं' प्रो. रॉबिन्स ने उद्देश्यों के प्रति प्राचीन क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की तटस्थता का पुनः समर्थन कर दिया है उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि उद्देश्यों की वांछनीयता अथवा अवांछनीयता से अर्थशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके शब्दों में, ''अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सुनिश्चित तथ्यों से है जबकि आचारशास्त्र का सम्बन्ध मूल्यों एवं अधिबन्धनाओं से हैं ये दोनों शास्त्र एक दूसरे से प थक् हैं।''

लेकिन वर्तमान अर्थशास्त्रियों में बहुत से ऐसे हैं जो अर्थशास्त्र एवं आचारशास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। उनके अनुसार अर्थशास्त्री को अपने निष्कर्षो के औचित्य अथवा अनौचित्य पर टिप्पणी करने का पूर्ण अधिकार है। प्रो. हॉट्रे ने तो यहां तक कह दिया है कि ''अर्थशास्त्र एवं आचारशास्त्र को प थक् नहीं किया जा सकता।'' प्रो. फ्रेजर का कहना है कि ''अर्थशास्त्र केवल मूल्य सिद्धान्त अथवा सन्तुलन-विश्लेषण ही नहीं, बल्कि कुछ और भी है। दूसरे शब्दों में इसे नैतिकता से प थक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का अर्थशास्त्र नितान्त काल्पनिक होगा अथवा गैर वैज्ञानिक होगा। गैर-मनोवैज्ञानिक अर्थशास्त्र तो हैमलेट के उस नाटक की भांति होगा जिसमें हैमलेट की कोई भूमिका ही नहीं। अर्थात् मनोविज्ञान के बिना अर्थशास्त्र किसी काम का नहीं। प्रो. पॉल स्ट्रीटन भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि अर्थशास्त्रियों को नैतिक द ष्टिकोण अपनाने में संकोच नहीं करना चाहिए अन्यथा उनका विज्ञान कोरा औपचारिक तर्कवाद ही बनकर रह जाएगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदर्शक अर्थशास्त्र का पक्ष काफी सुद ढ़ है। इसके अलावा, यदि हम चाहें तो भी अर्थशास्त्र को पूर्णतः सकारात्मक नहीं बना सकते। आखिर अर्थशास्त्री भी तो रक्त और मांस का ही बना हुआ है। वह भी आवेश एवं पक्षपात से विमुक्त नहीं है। वह कितना ही द ढ़ प्रयास क्यों न करे, निजी सम्पत्ति संस्था अथवा आदर्श आर्थिक प्रणाली जैसे विषयों की विवेचना करते समय वह आवेश एवं पक्षपात से पिण्ड नहीं छुड़ा सकता अर्थात् उसके आवेश तथा पक्षपात का निश्चय ही उसके अध्ययन पर प्रभाव पड़ेगा। अध्ययन करते समय वह अपने व्यक्तित्त्व को ताक में नहीं रख सकता। उसके निजी विचारों का निश्चय ही इसके निष्कर्षो पर प्रभाव पड़ेगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि अर्थशास्त्र में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक जांच के परिणामों का विलीनीकरण कर दिया जाए। 'वस्तुएँ कैसी हैं?' अथवा 'वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए?' - इन दोनों प्रकार की जांच के परिणामों को यथासम्भव प थक् ही रखना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र का विषय-क्षेत्र कितना व्यापक एवं विस्त त है। सारांशतः अर्थशास्त्र के क्षेत्र में निम्नलिखित शाखाओं को सम्मिलित किया जा सकता है-

1. **सकारात्मक अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक सिद्धान्त अथवा आर्थिक विश्लेषण -** वस्तुएँ कैसी हैं? इस विषय का अध्ययन सकारात्मक अर्थशास्त्र में किया जाता है। इस प्रकार, सकारात्मक अर्थशास्त्र में हम आर्थिक नियमों एवं सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं।

2. **नैतिक अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक सिद्धान्त अथवा आर्थिक उद्देश्यों का अध्ययन** - वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए? - इस विषय का अध्ययन आदर्शक अर्थशास्त्र में किया जाता है।

3. **व्यावहारिक अर्थशास्त्र** - इसमें हम उन विधियों एवं साधनों का अध्ययन करते हैं जिनके माध्यम से आर्थिक उद्देश्यों को व्यवहार में परिणत किया जाता है।

4. **आर्थिक इतिहास** - जैसा कि प्रो. जे. एम. कीन्स ने कहा है, ''आर्थिक इतिहास अतीतकालीन आर्थिक घटनाओं का अध्ययन है। इसमें अतीतकाल में होने वाली आर्थिक प्रगति का क्रमबद्ध अध्ययन करते हैं''

5. **आर्थिक विचारों का इतिहास** - प्रो. शुम्पीटर के अनुसार अर्थशास्त्र की इस शाखा में आर्थिक घटनाओं को समझने हेतु मानव द्वारा अतीतकाल में किए गए बौद्धिक प्रयासों का अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दों में इसमें आर्थिक चिन्तन के विश्लेषणात्मक अथवा वैज्ञानिक पहलूओं का अध्ययन किया जाता है। वास्तव में, यह अर्थ-विज्ञान के विकास के इतिहास का अध्ययन है।

आर्थिक समस्याएं
(Economic Problems)

परिचय

एक अर्थव्यवस्था का सम्बन्ध किसी क्षेत्र अथवा देश में कार्यरत आर्थिक प्रणाली से होता है। जॉन हिक्स के अनुसार, 'एक अर्थव्यवस्था का सम्बन्ध श्रमिकों अथवा उत्पादकों के व्यापक सहयोग से होता है जिसके अन्तर्गत वे वही कुछ बनाते तथा करते हैं जैसा उपभोक्ता चाहते हैं।'' इस प्रकार यह उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के बीच परस्पर आदान-प्रदान की व्यवस्था है। एक अर्थव्यवस्था में अनेक अंग एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़े होते हैं तथा आश्रित होते हैं जिस प्रकार कि एक जीव अथवा पौधो की कोशिकाओं का अन्तर्सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार भोजन, पाचन तथा विकास जीवित प्राणियों के लिए आवश्यक प्रक्रियाएं हैं, उसी प्रकार उत्पादन, उपभोग तथा विकास अर्थव्यवस्था की आवश्यकता क्रियाएं हैं, भले ही इसमें विशिष्टीकरण की जटिलताएं निहित हों और अर्थव्यवस्थाओं में संगठनात्मक विषमताएं हों।

माइक्रो अर्थशास्त्र, यह यह अध्ययन करता है कि साधनों की न्यूनतम अथवा दुर्लभता के बावजूद व्यक्ति तथा व्यवसाय किस प्रकार अपने आपको यथासम्भव सन्तुष्ट तथा सम्पन्न कर पाते हैं तथा उनके द्वारा किए गए निर्णयों का बाजार तथा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रक्रिया में अनेक मूल समस्याओं का सामना होता है।

प्रमुख समस्याएं

एक अर्थव्यवस्था की प्रमुख अथवा केन्द्रीय समस्याएं दो मुख्य कारणों से उत्पन्न होती है - उद्देश्यों अथवा आवश्यकताओं की बहुलता तथा साधनों की दुर्लभता। यदि साधन असीमित होते तो सम्भवतः कोई आर्थिक समस्या न होती। परन्तु यथार्थ यह है कि लक्ष्य अथवा उद्देश्य अनन्त है जबकि उनको पूरा करने के साधन सीमित है। इससे प्रत्येक अर्थव्यवस्था को निम्नलिखित प्रमुख समस्याओं का सामना करना होता हैः (1) कौन-सी वस्तुओं का और कितना उत्पादन करना है? (2) कैसे उत्पादन करना है? (3) किसके लिए उत्पादन करना

है? (4) साधनों के उपयोग में कितनी दक्षता है? (5) क्या साधनों का पूर्ण प्रयोग हो रहा है? (6) आर्थिक विकास की गति क्या है?

1. कौन-सी वस्तुओं का और कितनी मात्रा में उत्पादन करना है ? किसी भी अर्थव्यवस्था को मुख्य निर्णय यह करना होता है कि किन वस्तुओं का और कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाए। यदि आर्थिक साधन असीमित होते तो इस प्रकार के निर्णय की कोई आवश्यकता नहीं थी। परन्तु वास्तविकता यह है कि आर्थिक साधन सीमित हैं और उनका वैकल्पिक प्रयोग सम्भव है। इससे साधनों के आबंटन की समस्या उत्पन्न होती है। इसलिए अर्थव्यवस्था में यह निर्णय करना आवश्यक हो जाता है कि सीमित साधनों का प्रयोग किन वस्तुओं के उत्पादन के लिए किया जाए। यह स्पष्ट है कि यह निर्णय करते समय अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाए। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व हिटलर ने जर्मनी के लोगों से पूछा था कि वे 'बन्दूकें चाहते हैं अथवा मक्खन'? से सीमित साधनों लोग युद्ध लड़ सकते थे अथवा आराम का जीवन प्राप्त कर सकते थे। परन्तु दोनों चीजें बन्दूक तथा मक्खन एक साथ प्राप्त नहीं किया जा सकता था। इसी प्रकार प्रत्येक देश यह निश्चित करता है कि किन वस्तुओं का तथा कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाएगा और इसी के अनुसार अपने सीमित साधनों का आबंटन करता है।

   'उत्पादन क्या होगा' की समस्या का हल विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में अलग-अलग तरीके से किया जाता है। एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में निर्णय स्वतन्त्र बाजार प्रणाली अथवा कीमत प्रक्रिया के द्वारा किया जाता है जिसका आधार उपभोक्ता द्वारा की गई माँग का स्वरूप तथा आकार है। सभी निर्णय विभिन्न वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों को ध्यान में रखकर किए जाते हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय नियोजन अधिकार सत्ता द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि किन वस्तुओं का तथा कितना उत्पादन किया जाएगा। आर्थिक सिद्धान्त का वह भाग जिसमें वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों के निर्धारण तथा इसके आधार पर साधनों के आबंटन का अध्ययन किया जाता है, को कीमत सिद्धान्त कहा जाता है जोकि व्यष्टि अर्थशास्त्र (Micro Economics) की मुख्य विषय-सामग्री है।

2. उत्पादन कैसे किया जाए? जैसा कि हम जानते हैं, किसी वस्तु का उत्पादन करने की भिन्न-भिन्न तकनीक अथवा विधियां हैं। उत्पादन कैसे किया जाए का सम्बन्ध वस्तु के उत्पादन की तकनीक अथवा विधि से है। वस्तु उत्पादन की वैकल्पिक तकनीकों में से चुनाव करना अर्थव्यवस्था की एक समस्या है। उदाहरण के लिए, कपड़े का उत्पादन मिलों द्वारा स्वचालित करघों से किया जा सकता है अथवा छोटी इकाइयों द्वारा विद्युत-करघों से किया जा सकता है एक पूंजी सम्पन्न देश में कपड़े का उत्पादन बड़ी-बड़ी मिलों द्वारा किया जाएगा परन्तु एक ऐसा देश जिसमें पूंजी का अभाव है तथा श्रम अधिक मात्रा में उपलब्ध है, कपड़े का उत्पादन छोटी इकाइयों के द्वारा करघों के उपयोग से करना चाहेगा। इस प्रकार का निर्णय करते समय देश में उपलब्ध आर्थिक साधनों की सापेक्ष कीमतों को ध्यान में रखा जाता है। प्रायः उत्पादन की वह तकनीक चुनी जाती है जिसमें उत्पादन लागत कम-से-कम हो। एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कीमत-प्रक्रिया के द्वारा साधनों की सापेक्ष कीमतों का

निर्धारण होता है। दूसरी ओर समाजवादी अर्थव्यवस्था में साधनों की उपलब्ध मात्रा के आधार पर किया जाता है।

उत्पादन की किस तकनीक का चयन किया जाता है, इसका अध्ययन उत्पादन सिद्धान्त के अन्तर्गत किया जाता है जहाँ साधनों तथा उत्पादन के बीच भौतिक सम्बन्ध के अनुपात की विवेचना करते है।

3. किसके लिए उत्पादन किया जाए? इस समस्या का सम्बन्ध समाज के विभिन्न वर्गों के बीच उत्पादन की गई वस्तुओं के वितरण से है। उत्पादन के वितरण का सम्बन्ध लोगों की क्रय-शक्ति अथवा मौद्रिक आय से है। जिस वर्ग की आय जितनी अधिक होगी उसको उतना ही अधिक उत्पादन में हिस्सा प्राप्त होगा। वितरण में समानता का सिद्धान्त मान लेने पर प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसाार काम तथा उसकी आवश्यकताओं के अनुसार आय दी जाएगी। यह समाजवाद का सिद्धान्त है, परन्तु यह केवल एक आदर्श है। व्यावहारिक जीवन में, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी उत्पादकता अथवा उत्पादन में योगदान के आधार पर उत्पादन में हिस्सा प्राप्त होता है। पूंजीवाद अर्थव्यवस्थाओं में श्रमिकों की यह शिकायत रहती है कि उन्हें उनकी उत्पादकता से कम मजूदरी दी जाती है। दूसरी ओर, यदि पूर्ण समानता के आधार पर राष्ट्रीय उत्पादन तथा आय का वितरण किया जाए तो उद्यमकर्त्ताओं द्वारा अधिक उत्पादन तथा कार्य करने के लिए प्रोत्साहन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः प्रत्येक अर्थव्यवस्था को यह निर्णय करना होता है कि राष्ट्रीय आय के वितरण में कितनी समानता अथवा असमानता हो।

आर्थिक सिद्धान्त में वितरण का सिद्धान्त वास्तव में साधनों की कीमत-निर्धारण का सिद्धान्त है जोकि वस्तुओं के कीमत निर्धारण के सिद्धान्त का एक विस्त त अंग है।

4. क्या साधनों का प्रयोग कुशलता से हो रहा है? चूंकि साधन दुर्लभ तथा न्यून हैं, इसलिए उनका प्रयोग अधिकतम कुशलता से किया जाना चाहिए। यह प्रश्न उठाए जाने के बाद कि किन वस्तुओं का उत्पादन करना है तथा कैसे और फिर उत्पादक वस्तुओं का वितरण किस प्रकार किया जाना है, यह प्रश्न उठाया जाना स्वाभाविक है कि क्या वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण कुशलतापूर्वक हुआ है उत्पादन की कुशलता का मापदण्ड यह है कि साधनों का उत्पादन के लिए इस प्रकार प्रयोग किया जाए कि उनके विभिन्न वस्तुओं में पुनः आबंटन से किसी एक वस्तु के उत्पादन को बढ़ाना, बिना किसी अन्य उत्पादन को घटाए, असम्भव हो। इसी प्रकार, राष्ट्रीय उत्पादन का वितरण कुशल तब होता है जब व्यक्तियों में वस्तुओं के पुनर्वितरण से किसी व्यक्ति की सन्तुष्टि को किसी अन्य की सन्तुष्टि को घटाए बिना, बढ़ाया जाना असम्भव हो।

साधारणतया उत्पादन तथा वितरण की अकुशलताएं सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में पाई जाती हैं। इन अकुशलताओं को हटाने के लिए कुछ लागत उठानी पड़ती है। इनको हटाना तभी लाभपूर्ण होगा जब इनके देर होने से प्राप्त अतिरिक्त लाभ अथवा अतिरिक्त सन्तुष्टि इनके हटाने की लागत से अधिक है। आर्थिक सिद्धान्त का वह भाग जिसमें उत्पादन तथा वितरण की कुशलताओं तथा अकुशलताओं के सम्बन्ध में विवेचना की जाती है, कल्याणकारी अर्थशास्त्र कहलाता है।

यह समझ लेना आवश्यक है कि आर्थिक कुशलता में तीन प्रकार की कुशलताएं सम्मिलित होती हैं - (1) तकनीकी कुशलता, (2) आबंटन विषयक कुशलता तथा (3) उपभोग अथवा वितरण विषयक कुशलता। तकनीकी कुशलता की प्राप्ति ब हत् आर्थिक कुशलता का एक अंग है। आबंटन की द ष्टि से कुशलता तब पाई जाती है जब वस्तुओं के उत्पादन का ढांचा उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं तथा अधिमानों के अनुरूप होता है। उपभोग अथवा वितरण विषयक कुशलता की प्राप्ति तब होती है, जब आय वितरण दिया हुआ होने पर, किसी उपभोक्ता की सन्तुष्टि में व द्धि करना किसी अन्य की सन्तुष्टि घटाए बिना सम्भव न हो।

5. क्या समस्त साधनों का पूर्ण प्रयोग हो रहा है? यदि साधनों की दुर्लभता मूल आर्थिक समस्या है तो ये सोचा जा सकता है- कि अर्थव्यवस्था द्वारा समस्त उपलब्ध साधनों का पूर्ण प्रयोग किया जाता होगा, परन्तु व्यावहारिक स्थिति भिन्न है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उद्योग तथा व्यापार की स्थिति में निरन्तर उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। मन्दी की स्थिति में साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता तथा व्यापक बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न होती है। 1929-33 की अवधि में महान मन्दी की स्थिति को ध्यान में रखकर सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे. एम. कीन्स ने अपनी विख्यात पुस्तक "General Theory of Employment, Interest and Money" थी जोकि 1936 में प्रकाशित हुई। श्रमिकों में बेरोजगारी तथा उद्योग में बड़ी मात्रा में अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता का मुख्य कारण कीन्स ने कुल माँग की कमी बताया था। केन्स द्वारा प्रेरित आर्थिक सिद्धान्त की यह शाखा जिसमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन, रोजगार, राष्ट्रीय आय, कुल उपभोग तथा निवेश, सामान्य कीमत-स्तर तथा आर्थिक अस्थिरता आदि का अध्ययन किया जाता है, समष्टि अर्थशास्त्र (Macro Economics) कहलाती है। अर्थशास्त्र का अध्ययन अब सूक्ष्म तथा समष्टि रूपों में किया जाता है। समष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध साधनों के प्रयोग की स्थिति से है।

6. क्या अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता में व द्धि हो रही है? यह जानना आवश्यक है कि व्यवस्था की उत्पादन क्षमता में व द्धि हो रही है, स्थिर है अथवा घट रही है। यदि उत्पादन क्षमता बढ़ रही है तो कुल राष्ट्रीय उत्पादन में व द्धि होती है जोकि आर्थिक व द्धि का प्रतीक है। समष्टि अर्थशास्त्र (Macro Economics) के विकास से प्रेरित होकर आर्थिक विकास के सिद्धान्त को विकसित किया है। विकसित तथा विकासशील देशों में आर्थिक विकास की आवश्यकता और इच्छा से सम्बन्धित अर्थशास्त्रियों द्वारा विकास मॉडल प्रतिपादित किए गए हैं।

आर्थिक विकास के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय का कितना भाग बचाया जाता है तथा कितना निवेश किया जाता है। निवेश का अभिप्राय पूंजी-निर्माण की मात्रा से है। अर्थव्यवस्था में यह निर्णय करना भी है कि कुल निवेश का कितना भाग उपभोग पदार्थो के उत्पादन में तथा कितना भाग पूंजीगत पदार्थो के उत्पादन में लगाया जाए। इस प्रकार के निर्णय में वर्तमान और भविष्य के चयन की समस्या निहित है। पूंजीगत पदार्थो का उत्पादन बढ़ाने के लिए वर्तमान उपभोग के स्तर में कमी करना होता है। वर्तमान में पूंजीगत-पदार्थो का उत्पादन बढ़ाने से भविष्य में उपभोग-पदार्थो का उत्पादन बढ़ाना सम्भव होगा। इस प्रकार, अर्थव्यवस्था द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि उपभोग पदार्थो तथा पूंजीगत-पदार्थो के उत्पादन के बीच अनुपात क्या होगा। साथ ही यह भी निर्णय किया जाता

है कि साधनों का कितना उपयोग वर्तमान में किया जाए कितना भविष्य के लिए संरक्षित किया जाए। प्राकृतिक साधनों के उपयोग के सम्बन्ध में यह निर्णय अधिक आवश्यक है। आर्थिक विकास से उत्पन्न प्रदूषण जैसे दुष्प्रभावों पर भी विचार करना आवश्यक है। इन सभी विषयों का अध्ययन 'आर्थिक विकास के सिद्धान्त' के अन्तर्गत किया जाता है।

निष्कर्ष

एक अर्थव्यवस्था की उपरोक्त सभी मूल समस्याएं एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं तथा इनमें परस्पर-निर्भरता है। पहली तीन समस्याएं व्यष्टि अर्थशास्त्र की है। चौथी समस्या कल्याणकारी अर्थशास्त्र की है जोकि व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र दोनों से सम्बन्धित है। अन्तिम दो समस्याओं का सम्बन्ध पूर्णतया समष्टि अर्थशास्त्र से है। अर्थव्यवस्था की इन समस्याओं के बारे में अर्थशास्त्री एकमत नहीं है। सैम्युएलसन ने तीन, स्टिगलर ने चार, लैफ्टविच ने पांच तथा लिप्सी ने छः समस्याओं की विवेचना की है। यह समझ लेना आवश्यक है कि ये सभी समस्याएं साधनों की दुर्लभता तथा लक्ष्यों की अधिकता की मूल समस्या से उत्पन्न होती है और विकल्पों के चुनाव की समस्या की ओर ले जाती है। इन सभी समस्याओं का हल पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कीमत प्रक्रिया के द्वारा किया जाता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था में निर्णय केन्द्रीय नियोजन अधिकार सत्ता द्वारा किए जाते हैं।

उत्पादन सम्भावना वक्र
(Production Possibility Curve)

मितव्यता की समस्या अर्थशास्त्र की केन्द्रीय समस्या है। गैलब्रेथ के विचार में बहुमुखी उद्देश्य में साधन, दुर्लभ और सीमित है इसलिए ये समस्या आती है सैम्युएलसन ने मितव्ययता की व्याख्या उत्पादन सम्भावना वक्र की सहायता से की है। वास्तविकता यह है कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार तथा पूर्ण उत्पादन होने पर भी सीमित साधनों के कारण असीमित मात्रा में वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन सम्भव नहीं है।

उत्पादन सम्भावना वक्र के सम्बन्ध में तीन विशेष मान्यताएं उल्लेखनीय हैं - (1) अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार है तथा पूर्ण उत्पादन प्राप्त किया जा रहा है; (2) साधनों की उपलब्ध पूर्तियां स्थिर हैं परन्तु उनका विभिन्न उपयोगों में सीमित रूप में पुनः आबंटन सम्भव है, तथा (3) विश्लेषण की अवधि में तकनीक स्थिति में परिवर्तन नहीं होता है।

विश्लेषण की सरलता के लिए हम यह मान लेते हैं कि अर्थव्यवस्था में केवल दो वस्तुओं- X तथा Y का उत्पादन किया जा रहा है। X उपभोग-पदार्थ है तथा Y पूंजीगत पदार्थ। चूंकि अर्थव्यवस्था में उपलब्ध साधन सीमित हैं इसलिए इन दोनों वस्तुओं का उत्पादन सीमित मात्रा में किया जा सकता है। इसलिए अर्थव्यवस्था में यह निर्णय करना होगा कि इनमें से किस वस्तु का कितना उत्पादन किया जाए। यदि Y के उत्पादन में व द्धि करनी है तो X के उत्पादन में लगे साधनों में से कुछ को वहां से हटाना होगा। इसी प्रकार, X का उत्पादन बढ़ाने के लिए Y के उत्पादन में लगे साधनों में से कुछ को वहां से हटाना होगा। मितव्ययता की समस्या का सार यही है कि हम बिना एक वस्तु के उत्पादन को घटाए दूसरी वस्तु का अधिक उत्पादन प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

तालिका

उत्पादन सम्भावना अनुसूची

वस्तु	उत्पादन विकल्प				
	A	B	C	D	E
X	0	1	2	3	4
Y	10	9	7	4	0

स्पष्ट है कि A विकल्प के अन्तर्गत केवल Y वस्तु का उत्पादन किया जा रहा है तथा E विकल्प के अन्तर्गत केवल X वस्तु का उत्पादन किया जा रहा है। ये दोनों ही अवास्तविक स्थितियां हैं। एक अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन में उपभोग पदार्थ (X) तथा पूंजीगत पदार्थ (Y) एक निश्चित अनुपात में सम्मिलित होते हैं। A से E की ओर बढ़ने पर X का अधिक उत्पादन होता है जिसके लिए Y के उत्पादन में कमी होती है। इस विपरीत, E से A की ओर आने पर अर्थव्यवस्था द्वारा वर्तमान सन्तुष्टि का त्याग किया जाता है ताकि पूंजीगत पदार्थों के उत्पादन में व द्धि हो सके जिससे भविष्य में उपभोग के लिए अधिक उत्पादन करना सम्भव हो। इस प्रकार, पूर्ण रोजगार तथा पूर्ण उत्पादन की स्थिति में किसी समय पर Y वस्तु का अधिक उत्पादन करने पर X वस्तु के उत्पादन में कुछ कमी करनी होगी। चूंकि साधन सीमित हैं, इसलिए X तथा Y दोनों के उत्पादन में एक-साथ व द्धि सम्भव नहीं होगी।

तालिका को रेखाकृति में दर्शाया गया है। क्षैतिज अक्ष पर Y वस्तु की इकाइयां और समानान्तर अक्ष पर X वस्तु की इकाइयां ली गई हैं। यह वक्र दोनों वस्तुओं के A से E तक के विभिन्न सम्भावना संयोगों को प्रकट करता है। इस उत्पादन सम्भावना वक्र को रूपान्तरण वक्र भी कहते हैं। एक संयोग से दूसरे संयोग की ओर बढ़ने पर हम Y का रूपान्तरण X में करते हैं और इसके लिए हमें Y से साधन हटाकर X के उत्पादन में लगाने होते हैं। वक्र के भीतर कोई भी बिन्दु (जैसे U) इस ओर संकेत करता है कि साधनों का उचित उपयोग नहीं हो रहा है।

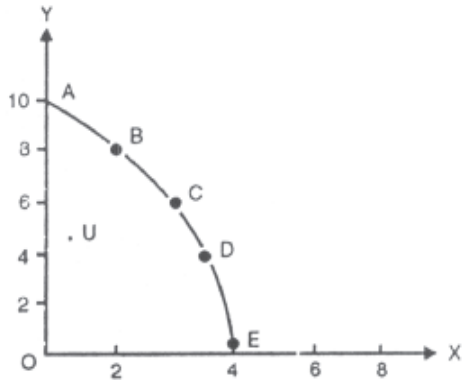

उत्पादन सम्भावना वक्र मूल बिन्दु के नतोदर होता है जिसका अभिप्राय यह है कि हम ज्यों-ज्यों बिन्दु B से C तथा D की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों उत्पादन सम्भावना वक्र पर रूपान्तरण की दर बढ़ती जाती है। सैम्युएलसन के अनुसार, ''पूर्ण रोजगार अर्थव्यवस्था में प्रतिस्थापन जीवन का नियम है। उत्पादन सम्भावना वक्र अथवा सीमान्त क्षेत्र समाज के चुनावों की व्यंजन सूची दर्शाता है।'' इससे इष्टतम उत्पादन-मिश्र का पता चलता है।

उत्पादन सम्भावना वक्र का बहुत व्यावहारिक महत्त्व है। रूस और अमेरिका के उत्पादन सम्भावना वक्रों की तुलना करने पर हम देखते हैं कि 1917 की क्रान्ति के बाद रूस ने पूंजीगत पदार्थों के उत्पादन को अधिक महत्त्व दिया जिससे उपभोग पदार्थों के उत्पादन में कमी हुई और रूस के लोगों का जीवन स्तर गिर गया। दूसरी ओर, अमेरिका एक औद्योगिक देश होने के कारण उपभोग पदार्थों के उत्पादन के लिए भी साधन लगा सका जिससे वहां के लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठ सका।

उत्पादन सम्भावना वक्र एक सरल वक्र है, परन्तु इससे अर्थशास्त्र की अनेक धारणाएं समझने में सहायता मिलती है। अर्थशास्त्र की परिभाषा के अनुसार सीमित साधनों के वैकल्पिक प्रयोगों को इसी के द्वारा दिखाया जाता है। किस वस्तु का अधिक उत्पादन होगा और किस वस्तु का कम, यह समाज द्वारा किए गए चुनाव पर निर्भर करेगा।

उत्पादन सम्भावना वक्र से हमें तीन मुख्य समस्याएं हल करने में सहायता मिलती है कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए? उत्पादन कैसे किया जाए? उत्पादन किसके लिए किया जाए?

किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है यह उत्पादन सम्भावना वक्र पर विभिन्न बिन्दुओं द्वारा दर्शाया जाता है। उत्पादन कैसे किया जाए? इसके लिए साधनों के कुशल उपयोग की आवश्यकता है। आर्थिक कुशलता के लिए आवश्यक है कि हम वक्र पर स्थित किसी बिन्दु पर ही उत्पादन करें, इसके भीतर नहीं। ''उत्पादन सम्भावना सीमा के भीतर होना आर्थिक कुशलता का अपराध है।'' उत्पादन किसके लिए किया जाता है, यह अकेले उत्पादन सम्भावना वक्र से पता नहीं चल पाता है। यदि हम यह देखें कि किसी अर्थव्यवस्था में बसे कम तथा कारें अधिक हैं तो हम निःसंकोच कह सकते हैं कि वहां आय तथा धन के वितरण में असमानता है।

अब हम देखेंगे कि किस प्रकार किसी देश में आर्थिक विकास उत्पादन सम्भावना वक्र को प्रभावित करता है। आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप किसी देश की उत्पादन क्षमता में व द्धि होती है जिससे उत्पादन सम्भावना वक्र दाहिनी ओर खिसक जाती है। तकनीक प्रगति का भी यही प्रभाव होगा। रेखाकृति में AE मूल रेखा आर्थिक विकास के कारण दाहिनी ओर खिसक कर GH हो जाती है जिस पर AE की तुलना में अधिक उत्पादन किया जाता है।

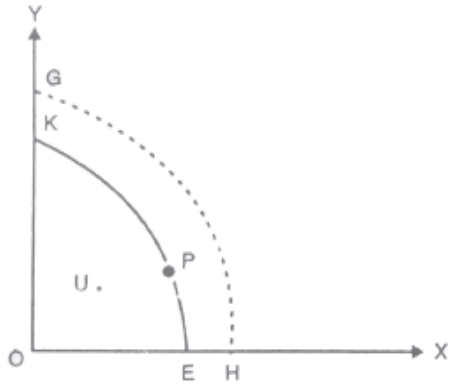

उत्पादन सम्भावना वक्र के भीतर U बिन्दु तथा वक्र पर स्थित P बिन्दु की तुलना करने पर हमें पता चलता है कि U बिन्दु पर साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हुआ है जिससे उत्पादन कम

है। U से P की ओर बढ़ने पर साधनों का पूर्ण उपयोग होता है तथा उत्पादन बढ़ जाता है। दूसरी ओर, उत्पादन सम्भावना वक्र AE से GH की ओर खिसकने का अर्थ यह है कि उत्पत्ति के साधनों की मात्रा में व द्धि हुई है जिससें वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा है। दोनों ही स्थितियों में उत्पादन बढ़ता है, परन्तु दोनों में अन्तर है। U से P की ओर बढ़ने का अर्थ है वर्तमान साधनों का पूर्ण उपयोग करना, जबकि AE से GH की ओर बढ़ने का अर्थ है साधनों की मात्रा में व द्धि होना। केन्स के रोजगार सिद्धान्त का सम्बन्ध पहली स्थिति से है, जबकि आर्थिक विकास का सिद्धान्त दूसरी स्थिति की विवेचना करता है।

जीवन के आधारभूत तथ्यों जैसे बेरोजगारी, प्रोद्योगिकीय प्रगति, आर्थिक व द्धि तथा आर्थिक कुशलता की समस्याओं की व्याख्या करने में उत्पादन सम्भावना वक्र बहुत महत्त्वपूर्ण है।

स्वतन्त्र बाज़ार व्यवस्था में समस्याओं का हल

स्वतन्त्र बाजार की व्यवस्था से अभिप्राय स्वतन्त्र उद्यम पूंजीवाद प्रणाली से है। अब हम यह देखेंगे कि पूंजीवादी व्यवस्था मूलभूत समस्याओं के हल से सम्बन्धित किस प्रकार निर्णय लेती है।

किन-किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए? यह निर्णय देश में रहने वाले उपभोक्ताओं द्वारा किया जाता है न किसी तानाश है द्वारा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रो. बेन्हम ने एक बार कहा था ''पूंजीवाद के अन्तर्गत उपभोक्ता राजा होता है।'' उत्पादन तो उसका सेवक मात्र है। उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिन्हें उपभोक्ता चाहता है। यदि उत्पादक उपभोक्ता की इच्छाओं, आवश्यकताओं एवं आस्वादों की अवहेलना कर अन्य वस्तुओं का उत्पादन करता है तो उसे ही हानि होगी क्योंकि उन्हें कोई खरीदेगा नहीं।

कैसे उत्पादन किया जाए अथवा किस तकनीक से उत्पादन किया जाए? ये निर्णय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उद्योगपति अथवा व्यवस्था भी करता है। प्रत्येक उद्योगपति अथवा व्यवसायी अधिकतम लाभ कमाना चाहता है और अधिकतम लाभ वह तभी कमा पाएगा जब उसकी लागत न्यूनतम होगी। अतएव वह ऐसी उत्पादन विधि अथवा तकनीक अपनाएगा जिससे लागत कम से कम बैठे। वह उत्पादन के विभिन्न साधनों का प्रयोग इस ढंग से करेगा कि उसकी लागत न्यूनतम हो। इस प्रकार पूंजीवाद के अन्तर्गत उत्पादन तकनीक का निर्धारण उद्योगपतियों तथा व्यवसायियों द्वारा किया जाता है।

उत्पादित माल का वितरण कैसे होता है ? - अब हमें यह देखना है कि स्वतन्त्र आर्थिक पूंजीवादी प्रणाली उत्पादित माल का वितरण कैसे करती है। हममें से अधिकांश अपनी आय या तो व्यावसायी बनकर कमाते हैं अथवा व्यवसायियों के लिए काम करके कमाते हैं। व्यवसायी लोग वस्तुओं एवं सेवाओं को बेचकर लाभ कमाते हैं। इस प्रकार व्यवसायियों की आय उपभोक्ताओं के निर्णयों का पालन करके अथवा न्यूनतम लागत वाले उत्पादन का संगठन करके कमाई जाती है।

व्यवसायियों एवं उद्योगपतियों के कर्मचारी भी अपनी आय लगभग इसी तरह कमाते हैं। श्रमिकों को इसलिए रखा जाता है क्योंकि वे वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में अपना अंशदान करते हैं। व्यवसायियों में श्रमिकों की सेवाओं को प्राप्त करने की होड़ इतनी जबरदस्त होती है कि मजदूरियां ऊपर उठने लगती है और एक अवस्था ऐसी आ पहुंचती है कि प्रत्येक श्रमिक को मजदूरी उसके द्वारा उत्पादित की गई वस्तु के बिक्री मूल्य में किए

गए अंशदान के अनुपात में मिलने लगती है। अतः पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की आय उसके द्वारा उत्पादन में किए गए अंशदान से निर्धारित होती है।

वर्तमान एवं भविष्य के बीच चयन कैसे किया जाता है? स्वतंत्र उद्यम पूंजीवादी प्रणाली के अन्तर्गत इस समस्या का समाधान भी बाजार-कीमत-यन्त्रावली के माध्यम द्वारा स्वतः ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक उपभोक्ता को यह निर्णय करना होता है कि वह अपनी मौद्रिक आय का कितना अंश उपभोक्ता वस्तुओं पर व्यय करे और कितना अंश भविष्य के लिए बचा ले। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता को व्यय एवं बचत के बीच अपनी आय का वितरण करना होता है। ऐसा करते समय उसे कीमत यन्त्रावली से मार्गदर्शन प्राप्त होता है। यदि ब्याज दर पर्याप्त ऊँची है (स्मरण रहे, ब्याज दर भी एक प्रकार की कीमत ही होती है) तो उपभोक्ता व्यय कम और बचत अधिक करेगा। इस प्रकार बाजार कीमत यन्त्रावली उपभोक्ता के चयन को सरल एवं सुविधाजनक बना देती है।

देश की आर्थिक प्रणाली को यह निर्णय भी लेना पड़ता है कि आर्थिक साधनों का कितना अंश वर्तमान में प्रयोग में लाया जाए और उनका कितना अंश भविष्य के लिए सुरक्षित रखा जाए। उदाहरणार्थ, भूमि के गर्भ में पड़े खनिज तेल का कितना अंश वर्तमान उपभोग हेतु बाहर निकाला जाए और कितना अंश भावी उपयोग के लिए भूमि में ही पड़े रहने दिया जाए। इसका चयन करने के लिए भी बाजार-कीमत-प्रणाली सहायक होती है। यदि बाजार में तेल की कीमतें लगातार बढ़ती चली जा रही हैं और भविष्य में और अधिक बढ़ने की सम्भावना है तो तेल को भूमि के गर्भ में ही पड़े रहने देना अधिक लाभदायक होगा। तेल-उत्पादक अरब देश इस समय इसी नीति का अनुसरण कर रहे हैं।

लेकिन स्वतन्त्र उद्यम पूंजीवादी प्रणाली में कभी-कभी सामरिक कारणों से मूल्यवान प्राकृतिक साधनों के प्रयोग को विशुद्धतया बाजार-कीमत-यन्त्रावली से शासित नहीं होने दिया जाता है। ऐसी स्थिति में राज्य हस्तक्षेप कर मूल्यवान साधनों के प्रयोग को नियमित एवं नियन्त्रित करता है।

पूंजीवाद प्रणाली की परस्पर निर्भरता (अर्थात परिवारों की आय व्यवसाय की ओर और व्यवसायों की आय पुनःपरिवारों की ओर)

पूंजीवाद प्रणाली से सभी आर्थिक निर्णय एक साथ किए जाते है। इसमें सभी तत्त्व एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। परम्परावलम्बन इस प्रणाली ''आर्थिक क्रियाओं का चक्राकार प्रवाह'' में देखने को मिलता है। ''आर्थिक क्रियाओं के चक्राकार प्रवाह'' की इस धारणा से क्या अभिप्राय है? पूंजीवादी प्रणाली में दो मूलभूत आर्थिक एजेन्सियां कार्यशील होती हैं - ये हैं परिवार तथा व्यवसाय। प्रत्येक एजेन्सी के दो स्पष्ट कार्य हैं। परिवार प्रथमतः साधन पूर्तिकर्ता होते हैं, अर्थात् वे व्यवसायी को विभिन्न प्रकार के साधन अथवा उत्पादन सेवाएं सप्लाई करते हैं। चूंकि व्यसायी उत्पादन के संगठनकर्ता होते हैं, इसलिए वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करने हेतु वे परिवारों की व्यवसायों से मौद्रिक आय प्राप्त करते हैं। ये आय तीन प्रकार की होती है - मजदूरियां, ब्याज तथा लाभ। इसके अलावा, परिवार उपभोक्ता अथवा व्यय इकाइयां भी होती हैं। वे अपनी आय को उन वस्तुओं एवं सेवाओं पर व्यय करते हैं जिनका उत्पादन व्यवसायों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार परिवारों की आय का एक बड़ा भाग पुनः व्यवसायों की ओर प्रवाहित होता है। व्यवसाय इस आय का प्रयोग पुनः परिवारों को उनकी

सेवाओं के बदले मजदूरियां, ब्याज एवं लाभ चुकाने में करते हैं। इस प्रकार यह ''चक्राकार प्रवाह'' निरन्तर जारी रहता है।

पूंजीवाद प्रणाली में प्रत्येक घटना दो-दो के सैंटों में होती है। जैसा कि हमने देखा इसमें दो आर्थिक एजेन्सियां हैं। प्रत्येक एजेन्सी के दो-दो प थक् कार्य हैं।

परिवार

1. साधन पूर्तिकर्ता
2. उपभोक्ता

व्यवसाय

1. उत्पादन संगठनकर्ता
2. विक्रेता

देश की अर्थव्यवस्था के भी पक्ष होते हैं। प्रत्येक पक्ष में दो प्रवाह होते हैं। आ-दा पक्ष के अन्तर्गत उत्पादक सेवाओं का प्रथम प्रवाह परिवारों (अथवा साधन पूर्तिकर्ताओं) की ओर से व्यवसायों (अथवा विक्रेताओं) की ओर से परिवारों अथवा उपभोक्ताओ की ओर होता है और इनके बदले वापसी में मौद्रिक भुगतानों का दूसरा प्रवाह परिवारों (अथवा उपभोक्ताओं) की ओर से व्यवसायों (अथवा विक्रेताओं) की ओर होता है। इस प्रकार परम्परावलम्बन पूंजीवादी प्रणाली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस जटिल परम्परावलम्बन को नकारातम्क द ष्टिकोण अपनाकर और भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। जब तक व्यवसायों को यह पता नहीं होता कि वे किन-किन वस्तुओं का उत्पादन करने जा रहे हैं और उन वस्तुओं के उत्पादन में काम आने वाले साधनों की कीमतें क्या हैं तब तक वे उन साधनों का क्रय नहीं कर सकते। जब तक व्यवसायों को विभिन्न उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतों की जानकारी नहीं होती तब तक वे उन वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर सकते। ये कीमतें तो उपभोक्ता के बीच प्रतिस्पर्धा से निर्धारित होती हैं, लेकिन उपभोक्ता स्वयं इन वस्तुओं को तब तक नहीं खरीद सकते जब तक उन्हें अपनी आय के बारे में जानकारी नहीं होती। यह जानकारी उन्हें तब तक प्राप्त नहीं होती जब तक कि उनके द्वारा प्रस्तुत की गई उत्पादक सेवाओं की कीमतें स्थापित नहीं हो जाती।

इस प्रकार इस चक्र का कोई प्रारम्भ बिन्दु नहीं है। प्रत्येक तत्त्व प्रत्येक अन्य तत्त्व पर निर्भर करता है। इस प्रकार ''आर्थिक क्रियाओं का चक्राकार प्रवाह'' पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के परम्परावलम्बन को अच्छे ढंग से व्यक्त करता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था की कार्यशीलता

आज के युग में विशुद्व पूँजीवाद मिलना कठिन है यहाँ तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका में भी नहीं, यद्यपि वह देश पूंजीवाद का गढ़ माना जाता है। लेकिन वहां पर विशुद्ध पूंजीवाद नहीं है। जो आर्थिक प्रणाली आजकल अधिकांश पूंजीवाद देशों में पाई जाती है, उसे मिश्रित अर्थव्यवस्था की संज्ञा दी जाती है। अमरीका में वास्तव में, मिश्रित अर्थव्यवस्था ही पाई जाती है। यही बात अन्य पूर्जीवादी देशों पर भी लागू होती है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। भारत की आर्थिक प्रणाली भी मिश्रित अर्थव्यवस्था ही कही जाएगी। मिश्रित अर्थव्यवस्था क्या होती है? यह एक ऐसी आर्थिक प्रणाली होती है जिसमें निजी उद्यम एवं सरकारी नियन्त्रण

तथा नियमन का सम्मिश्रण पाया जाता है। निजी उद्योगपति एवं व्यवसायी उद्योग-धन्धे एवं व्यवसाय स्थापित करने को स्वतन्त्र होते हैं, लेकिन सरकार यदि आवश्यक समझे तो उन पर नियन्त्रण कर सकती है अथवा देश की अर्थव्यवस्था के स्वस्थ संचालन हेतु उनका नियमन कर सकती है। यही नहीं, सरकार यदि चाहे तो अपनी ओर से उद्योग धंधे भी स्थापित कर सकती है। इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था में दो खण्ड होते हैं-(क) निजी खण्ड (ख) सार्वजनिक अथवा सरकारी खण्ड। निजी खण्ड में आर्थिक क्रियाएं बाजार कीमत यन्त्रावली से शासित होती हैं जबकि सरकारी खण्ड में उत्पादन सम्बन्धी निर्णय देश के योजना प्राधिकरण द्वारा लिए जाते हैं।

आज का पूँजीवाद मिश्रित अर्थव्यवस्था का है इसमें कई बदलाव आ गए हैं और प्रतिस्पर्धा पूरी तरह विशुद्व नहीं है अब तो अर्थव्यवस्था में एकाधिकार आ गया है, इसी से आर्थिक प्रणाली अपूर्ण है। इन्हीं अपूर्णताओं के कारण बाजार-कीमत यन्त्रावली सही ढंग से अपने कार्य सम्पन्न नहीं कर सकती है। सत्य तो यह है कि एकाधिकारी तत्त्व बाजार-कीमत-यन्त्रावली में हस्तक्षेप करके इसे अपने पक्ष में कर लेते हैं। अतः बाजार-कीमत-यन्त्रावली की कार्यशीलता अवरुद्ध हो जाती है और वह निवेशकर्ताओं, उद्यमियों एवं व्यवसायियों का सही-सही मार्गदर्शन नहीं कर सकती। आज किसी भी पूंजीवादी देश में कीमत यन्त्रावली सुचारु ढंग से काम नहीं कर रही है। यह सही संकेत नहीं दे रही है। परिणामतः आर्थिक साधनों का विभिन्न उद्योगों के बीच आबंटन सही नहीं हो रहा है, यहां तक कि कतिपय उद्योगों में मूल्यवान साधनों का दुरुपयोग हो रहा है। इस प्रकार की सभी विकृतियों को रोकने हेतु सरकार को नियन्त्रण एवं नियमन की नीति अपनानी पड़ती है, यहां तक कि सरकार स्वयं ऐसे उद्योग धन्धों को स्थापित करती है जिनमें निजी उद्योगपतियों की कोई रुचि नहीं होती, लेकिन देश की अर्थव्यवस्था के लिए इस प्रकार के उद्योग-धन्धे आवश्यक होते हैं। उदाहरणार्थ, जल-विद्युत के उत्पादन में कोई भी निजी उद्योगपति पूंजी लगाने के लिए तैयार नहीं होता है क्योंकि इससे उसे अधिक लाभ नहीं होता है वह भी दीर्घकाल में होता है। लेकिन जल विद्युत का विकास देश की अर्थव्यवस्था के लिए बहुत आवश्यक होता है। अतः इस प्रकार के उद्योग धन्धे केवल सरकार ही स्थापित कर सकती है। मिश्रित अर्थव्यवस्था सरकारीखण्ड का महत्त्वपूर्ण अंग है।

इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था उन चार समस्याओं (किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए, उत्पादन कैसे किया जाए अथवा उत्पादन तकनीक क्या हो, उत्पादित माल का वितरण कैसे हो तथा वर्तमान एवं भविष्य के बीच चयन कैसे किया जाए) का निराकरण दोनों खण्डों में अलग-अलग ढंग से होता है। निजी खण्ड में ये चार आर्थिक निर्णय सरकारी नियन्त्रण के अन्तर्गत निजी उद्यमियों द्वारा लिए जाते हैं जबकि सरकारी खण्ड में ये निर्णय सरकार द्वारा स्वयं लिए जाते हैं।

मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकार एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। निजी खण्ड के नियन्त्रण एवं नियमन तथा सरकारी खण्ड में उद्योग-धन्धे स्थापित करने के अलावा सरकार और भी कई प्रकार के कार्य सम्पन्न करती है। सरकार एकाधिकारी व्यवसायों पर नियंत्रण करती है, सार्वजनिक उपयोगिताओं के उत्पादन एवं कीमतों का नियमन करती है, एकाधिकारी श्रमिक संघों की गतिविधियों पर द ष्टि रखती है। सरकार व द्धजनों को व द्धावस्था पेंशन देती है, बेरोजगारों को अस्थायी भत्ते देती है। बीमारों एवं अपंगों को चिकित्सा सहायता देती है तथा अन्य प्रकार के कल्याणकारी कार्य करती है। सरकार ऐसी विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं का

उत्पादन करती है जो समाज के लिए आवश्यक होती है। सरकार व्यक्तियों के आर्थिक आचरण को नियमित करती है। यही नहीं सरकार उपभोक्ताओं को हानिकारक वस्तु (जैसे अफीम, गांजा इत्यादि) का सेवन नहीं करने देती। सरकार मिलावट रोकती है। फैक्टरी कानूनों को कड़ाई से क्रियान्वित करती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि सरकार देश में रोजगार बढ़ाती है, कीमतों में स्थिरता बनाए रखती है और आर्थिक विकास की गति को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकार बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

उपभोक्ता विश्लेषण व्यवहार
(Consumer's Behaviour Analysis)

उपभोक्ता व्यवहार सिद्धाँत को दो प्रकार से समझा जा सकता है

इसका एक पहलू है सामूहिक (aggregative) दूसरा है व्यय (expenditure) इस रुप को रोजगार में स्पष्ट रुप से समझेगें। यहाँ केवल व्यय पहलू को लिया जा रहा है। और व्यय पहलू के दो भाग है (i) सीमान्त उपयोगिता-विश्लेषण, और (ii) उदासीन वक्र-विश्लेषण। इस अध्याय में हम प्रथम विश्लेषण (सीमान्त उपयोगिता-विश्लेषण) का ही विवेचन करेंगे।

उपयोगिता का अर्थ
(Meaning of Utility)

उपयोगिता से अभिप्राय किसी वस्तु एवं सेवा की किसी मानवीय आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की शक्ति से होता है। उपयोगिता की धारणा, वास्तव में, एक आत्मनिष्ठ (subjective) अथवा अन्तर्दर्शी (introspective) धारणा है। यह धारणा व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं से सम्बन्धित है। इसका कोई रूप नहीं होता और न ही यह किसी भौतिक वस्तु में निहित रहती हैं उपयोगिता तो, वास्तव में, वस्तु के उपभोक्ता की मानसिक संरचना (mental make-up) पर निर्भर करती हैं। **जोन रॉबिन्सन** (Joan Robinson) के अनुसार, उपयोगिता वस्तु का वह गुण है जिनके कारण व्यक्ति इन्हें खरीदना चाहते हैं तथा यह तथ्य कि लोग वस्तुओं को खरीदना चाहते हैं, यह दर्शाता है कि उनमें उपयोगिता है। उदाहरणार्थ, हो सकता है कि 'A' नामक व्यक्ति नीले रंग की कंठबन्ध (necktie) पहनकर अत्यधिक सन्तुष्टि का अनुभव करता है, जबकि वहीं 'B' नामक व्यक्ति को बिल्कुल पसन्द नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए उसी वस्तु की विभिन्न उपयोगिताएं होती हैं। दूसरे, उपयोगिता को लाभदायकता (usefulness) के साथ समीकृत (equate) नहीं किया जा सकता। ये दोनों अलग-अलग हैं। हो सकता है कि अमुक वस्तु लाभदायक न हो लेकिन सम्भव है किसी व्यक्ति विशेष के लिए उसमें उपयोगिता हो। उदाहरणार्थ, स्वास्थ्य के लिए शराब हानिकारक होती है लेकिन एक शराबी के लिए उसमें अत्यधिक उपयोगिता होती है। तीसरे, 'उपयोगिता' शब्द का कोई नैतिक अथवा वैधानिक महत्त्व नहीं होता। बिना लाइसेन्स के बन्दूक रखना गैर-कानूनी है लेकिन उस डाकू के लिए बन्दूक की अत्यधिक उपयोगिता है जिसने पड़ोसी गाँव में डाका डालने की योजना बना रखी है।

उपयोगिता एवं सन्तुष्टि
(Utility and Satisfaction)

'उपयोगिता' एवं 'सन्तुष्टि' में भेद किया जाना चाहिए। उपयोगिता का अर्थ है 'प्रत्याशित उपयोगिता' (expected utility), जबकि सन्तुष्टि से अभिप्राय है 'प्राप्त-उपयोगिता' (realised

utility)। उपभोक्ता 'उपयोगिता' के बारे में उस समय विचार करता है जब वह किसी वस्तु को खरीदने की सोच रहा होता है लेकिन 'सन्तुष्टि' वह उस समय अनुभव करता है जब वह वस्तु का उपभोग कर चुका होता है। दूसरे शब्दों में, 'उपयोगिता' वास्तविक उपभोग पर निर्भर नहीं करती। किसी वस्तु की उपभोक्ता के लिए उसका उपभोग किए बिना भी 'उपयोगिता' हो सकती है, लेकिन उस वस्तु से उपभोक्ता को तब तक 'सन्तुष्टि' प्राप्त नहीं हो सकती जब तक वह उसका उपभोग नहीं कर लेता। इसके अतिरिक्त 'उपयोगिता' एवं 'संन्तुष्टि' के बीच कभी-कभी भयंकर खाई भी होती है उदाहरणार्थ, उपभोक्ता किसी वस्तु को खरीदते समय अत्यधिक 'उपयोगिता' प्राप्त करने की आशा करता है, लेकिन जब उसे खरीदकर वह उसका उपभोग करता है तो सम्भव है उससे उपलब्ध 'सन्तुष्टि' उसकी आकांक्षाओं के विपरीत कम ही निकले। अन्ततः 'उपयोगिता' को मापा जा सकता है यद्यपि यह मापन अप्रत्यक्षतः ही होता है (किसी वस्तु की उपयोगिता उस वस्तु के लिए चुकाई गई कीमत से मापी जा सकती है)। लेकिन 'सन्तुष्टि' को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से मापा नहीं जा सकता उपभोक्ता का सारा व्यवहार इन दो पर आधारित है कि उपयोगिता और संतुष्टि पर्यायवाची है जैसे किसी वस्तु की आशंसित उपयोगिता उसकी पर्याप्त उपयोगिता के बराबर होती है

संख्यात्मक एवं क्रमवाचक उपयोगिता
(Cardinal and Ordinal Utility)

उपयोगिता-विश्लेषण को ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रारम्भ में ही संख्यात्मक एवं क्रमवाचक उपयोगिता के अन्तर को स्पष्ट कर दें। अर्थशास्त्रियों द्वारा इन दो प्रकार की उपयोगिताओं के बीच अक्सर भेद किया जाता है 'संख्यात्मक' एवं 'क्रमवाचक' शब्द गणितशास्त्र से ग्रहण किए गए हैं। 1, 2, 3, 4 इत्यादि गणन-संख्याएँ (cardinal numbers) हैं। उदाहरणार्थ, 2 संख्या 1 संख्या से दुगुनी है। इसकी तुलना में पहली, दूसरी, तीसरी एवं चौथी संख्या क्रम-संख्याएँ (ordinal number) हैं। क्रम-सूची से यह पता लगाना सम्भव नहीं होता कि विभिन्न संख्याओं के बीच वास्तविक आकार-सम्बंध क्या है। उदाहरणार्थ, यह आवश्यक नहीं कि दूसरी संख्या, पहली संख्या से दुगुनी होगी। पहली, दूसरी, तीसरी एवं चौथी क्रम-संख्याएं 5, 15, 35 तथा 45 अथवा 10, 30, 55 तथा 75 हो सकती हैं।

संख्यात्मक तथा क्रमवाचक में अन्तर
(Difference between Cardinal Numbers and Ordinal Numbers)

संख्यात्मक उपयोगिता (cardinal utility) की धारणा के अनुसार दो वस्तुओं (उदाहरणार्थ सन्तरों एवं सेबों) की उपयोगिता को मापना एवं उनकी तुलना करना सम्भव होता है। उदाहरणार्थ, किसी उपभोक्ता को सेब से उपयोगिता की 20 इकाइयाँ और सन्तरे से उपयोगिता की 10 इकाइयाँ प्राप्त होती हैं। इससे स्पष्ट है कि सन्तरे की तुलना में सेब से उपभोक्ता को दुगुनी उपयोगिता प्राप्त होती है।

इसके विपरीत, क्रमवाचक उपयोगिता (ordinal utility) की धारणा के अनुसार वस्तुओं के उपभोग से प्राप्त उपयोगिताओं को मापा नहीं जा सकता और न ही उनकी तुलना की जा सकती है। क्रमवाचक धारणा (ordinal concept) तो हमें यही बताती है कि उपभोक्ता सन्तरे की तुलना में सेब को वरीयता (preference) देता है लेकिन यह नहीं बताती कि वह सेब को कितनी वरीयता देता है। हम उक्त दोनों वस्तुओं से प्राप्त उपयोगिताओं की तुलना नहीं कर सकते। क्रमवाचक धारणा का समर्थन करने वाले अर्थशास्त्रियों का कहना है कि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से उपयोगिताओं की मात्राओं को मापा नहीं जा सकता। उनका दृढ़ विश्वास है कि उपयोगिताओं की मात्रा को मापे बिना ही उपभोक्ता-व्यवहार के सिद्धान्त की व्याख्या की जा सकती है। इसके विपरीत, गसंख्यात्मक धारणा का समर्थन करने वाले अर्थशास्त्रियों (अथवा नव-क्लासिकल अर्थशास्त्रियों) का कहना है कि उपभोक्ता-व्यवहार सिद्धान्त की व्याख्या उपयोगिता की मापनीयता के आधार पर ही की जा सकती है। मापन की इकाइयाँ काल्पनिक हैं। उन्हें 'units' कहते हैं। यदि सेब की उपयोगिता 20 units है तो हम कह सकते हैं कि सन्तरे की उपयोगिता 10 utils है तो हम कहते हैं कि सन्तरे की तुलना में सेब की उपयोगिता दुगुनी है। डॉ मार्शल ने उपयोगिता के संख्यात्मक दृष्टिकोण का समर्थन किया है, जबकि ऐलन एवं हिक्स जैसे आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने क्रमवाचक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। उन्होंने इस विधि के अनुसार उपयोगिता-विश्लेषण (संतुष्टि की माप) के स्थान पर उदासीनता वक्र-विश्लेषण (Indifference Curve) का प्रतिपादन किया है। जिसकी व्याख्या आगे की गई है।

उपयोगिता का मापन
(Measurement of Utility)

ये स्पष्ट है कि 'उपयोगिता' आत्मनिष्ठ अथवा अन्तरावलोकनीय धारणा है। इसका सम्बंध उपभोक्ता की आन्तरिक भावनाओं एवं प्रेरणाओं से होता है। इस प्रकार उपभोक्ता की किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता को अप्रत्यक्ष रूप से कैसे मापा जा सकता है। कैसे? वस्तु के लिए उपभोक्ता द्वारा जो कीमत चुकाई जाती है, वही उस वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का मापन करती है। उपभोक्ता द्वारा चुकाई गई वस्तु की जितनी कीमत अधिक होगी, उतनी ही उपभोक्ता को प्राप्त होने वाली उपयोगिता भी अधिक होगी। अतः वस्तु की कीमत ही उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता को व्यक्त करती है। यदि कोई उपभोक्ता एक सेब के लिए 50 पैसे और एक सन्तरे के लिए 25 पैसे देने को तैयार है तो स्पष्ट है कि उसको सेब से प्राप्त होने वाली उपयोगिता सन्तरे से उपलब्ध होने वाली उपयोगिता से दुगुनी होगी। दूसरे शब्दों में, किसी एक उपभोक्ता की दो विभिन्न वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उपयोगिताओं को उन कीमतों से मापा जा सकता है जो वह उन वस्तुओं के लिए चुकाने को तैयार है। यहाँ तक तो ठीक है। लेकिन जब हम इस विश्लेषण को उन दो विभिन्न उपभोक्ताओं पर लागू करते हैं जो एक ही वस्तु के लिए दो अलग-अलग कीमतें चुकाते हैं, तब यह विश्लेषण सन्तोषजनक सिद्ध नहीं होता। मान लीजिए 'A' नामक व्यक्ति

एक सेब के लिए 75 पैसे देने को तैयार है जबकि उसी सेब के लिए 'B' नामक व्यक्ति केवल 50 पैसे ही देता है। क्या इसका अर्थ यह हुआ कि यह सम्भव है कि 'A' व्यक्ति 'B' से अधिक धनी है। परिणामतः वह 'B' की तुलना में उसी वस्तु के लिए अधिक कीमत चुका सकता है। 'A' व्यक्ति द्वारा चुकाई गई सेब की अधिक कीमत इस बात का कोई संकेत नहीं है कि उसे 'B' की तुलना में सेब से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। अतः इस उदाहरण में वस्तु की चुकाई गई कीमत उससे उपलब्ध उपयोगिता को प्रतिबिम्बित (reflect) नहीं करती।

लेकिन इस त्रुटि के बावजूद भी उपयोगिता-मापन के लिए मुद्रा का ही प्रयोग किया जाता है। विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की उपयोगिताओं के बारे में अनुमान लगाने के लिए अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा का ही प्रयोग किया जाता है। अतएव मुद्रा एक ऐसा दण्ड (rod) है जिसकी सहायता से अर्थशास्त्री उपयोगिता को मापते हैं। इस मुद्रा के ही कारण अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों की अपेक्षा अर्थशास्त्री अधिक अनुकूल स्थिति में हैं। अर्थशास्त्री के पास कम-से-कम कोई ऐसा माध्यम है चाहे यह माध्यम कितना ही अपरिष्कृत (rough) एवं अपूर्ण (imperfect) ही क्यों न हो है जिसकी सहायता से वह मानवीय उद्देश्यों की तीव्रता को माप सकता है लेकिन स्मरण रहे कि अर्थशास्त्री का यह माध्यम न तो पूर्ण है और न ही विश्वसनीय। इसकी अपनी परिभाषा है और अर्थशास्त्री उनसे भली-भांति अवगत है।

कुल उपयोगिता एवं सीमान्त उपयोगिता
(Total Utility and Marginal Utility)

वस्तु की सभी इकाइयों के उपभोग से जो उपयोगिता उपभोक्ता को प्राप्त होती है उसे कुल उपयोगिता कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि उपभोक्ता वस्तु की m इकाईयों का उपभोग करता है तो m इकाइयों से प्राप्त कुल उपयोगिता उपभोक्ता की कुल उपयोगिता कहलाएगी। सीमान्त उपयोगिता इससे भिन्न होती है। वस्तु की m इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता m इकाइयों तथा $m+1$ इकाइयों की कुल उपयोगिताओं का अन्तर होगी। इस अर्थ में, सीमान्त उपयोगिता की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है : ''सीमान्त उपयोगिता वस्तु की अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता है।'' (The marginal utility may be defined as the utility of an extra or additional unit.) सीमान्त उपयोगिता की एक अन्य परिभाषा भी की जा सकती है वस्तु की किसी निश्चित राशि की सीमान्त उपयोगिता उस अन्तर के बराबर होती है जिसका प्रभाव वस्तु की एक इकाई को उपभोग से हटा लेने पर कुल उपयोगिता में पड़ता है।'' इस अर्थ में वस्तु की m इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता m इकाइयों एवं m-1 इकाइयों की कुल उपयोगिताओं का अन्तर होगी। $MU_x = TU_x - TU_{x-1}$ सीमान्त उपयोगिता की उक्त दोनों परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही अपने-अपने स्थान पर उचित हैं। इन परिभाषाओं के अनुसार सीमान्त उपयोगिता से

अभिप्राय सीमान्त इकाई की उपयोगिता से है। सीमान्त उपयोगिता को निम्नलिखित गणितात्मक सूत्र के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

$$MU_x = \frac{dU_x}{dQ_x}$$

इस सूत्र में MU_x वस्तु x की सीमान्त उपयोगिता को प्रकट करता है; dU_x वस्तु x की कुल उपयोगिता के परिवर्तन को व्यक्त करता है; dQ_x वस्तु x की कुल मात्रा के परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार, सीमान्त उपयोगिता की परिभाषा इस तरह भी की जा सकती है : ''सीमान्त उपयोगिता कुल उपयोगिता में इस परिवर्तन की वह दर है जो किसी वस्तु की मात्रा में एक निश्चित अल्प-परिवर्तन के कारण होती है।''

यदि प्रत्येक इकाई की सीमान्त उपयोगिता को जोड़ दिया जाए तो कुल उपयोगिता प्राप्त हो जाती है। अतः $TU_x = MU_{x1} + MU_{x2} + MU_x ..... MU_{xn}$

कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता के बीच सम्बन्ध नीचे दी गई तालिका से समझा जा सकता है।

तालिका

वस्तु की इकाइयां Qx	कुल उपयोगिता TUx	सीमान्त उपयोगिता MUx
0	0	0
1	20	20-0 = 20
2	35	35-20 = 15
3	45	45-35 = 10
4	50	50-45 = 5
5	50	50-50 = 0
6	45	45-50 = -5
7	35	35-45 = -10

उपर्युक्त तालिका से कुछ महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं। वस्तु की चौथी इकाई तक कुल उपयोगिता बढ़ती है, परन्तु सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। पांचवी इकाई के लिए जब कुल उपयोगिता अधिकतम है तो सीमान्त उपयोगिता शून्य है। यह उपभोक्ता के लिए सन्तुष्टि बिन्दु है। छठी तथा सातवीं इकाइयों के लिए जब कुल उपयोगिता घट रही है तो सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक होगी। तो यह उपयोगिता अनुपयोगिता (Disutility) की स्थिति है।

रेखाककृति में OM वस्तु की इकाइयों का उपभोग होने पर सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है। ऐसी स्थिति में कुल उपयोगिता P बिन्दु पर अधिकतम है। इसके बाद उपभोग बढ़ने पर अनुपयोगिता प्राप्त होती है। इसी प्रवत्ति के आधार पर सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम प्रतिपादित किया गया है।

चित्र 3

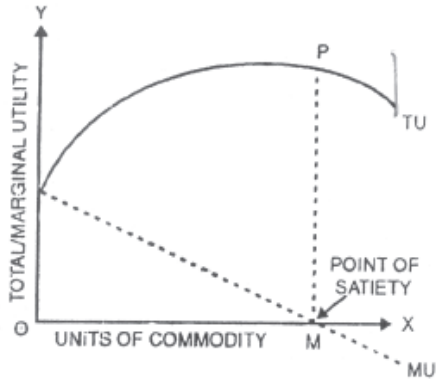

सीमान्त उपयोगिता की व्याख्या कुछ मान्यताओं पर आधारित है:

(i) उपयोगिता की गणना संख्यात्मक माप से की जा सकती है; (ii) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है; (iii) वस्तु की उपयोगिता पूरक पदार्थों से स्वतंत्र है तथा (iv) उपभोक्ता का व्यवहार विवेकपूर्ण है।

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम
(Law of Diminishing Marginal Utility)

प्राचीन अर्थशास्त्री बेन्थम एवं गौसन के लेखों में इस नियम की चर्चा की गई थी। लेकिन ब्रिटिश अर्थशास्त्री विलियम स्टेनले जेवन्स प्रथम व्यक्ति थे जिन्होनें मूल्य निर्धारण सम्बन्धी विषय पर इस नियम के प्रभाव का उल्लेख किया था। इस नियम के अनुसार जैसे-जैसे कोई व्यक्ति किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदता है, वैसे-वैसे ही उस वस्तु से उपलब्ध उसकी सीमान्त उपयोगिता गिरती चली जाती है। दैनिक जीवन में हम यह अनभुव करते हैं कि यदि किसी वस्तु की आर्थिक इकाइयाँ उपभोक्ता के पास बढ़ती जाती हैं तो उस वस्तु की बाद की आने वाली आर्थिक इकाइयों से मिलने वाली उपयोगिता कम होती जाती है और एक सीमा के बाद यह उपयोगिता बिल्कुल नहीं रह जाती है अर्थात् पूर्ण संतुष्टि हो जाती है। दैनिक जीवन के इसी अनुभव के आधार पर अर्थशास्त्रियों ने सीमान्त उपयोगिता ह्यस नियम कहा है। मार्शल के अनुसार, ''किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु की स्टॉक की मात्रा में व द्वि होने से जो अतिरिक्त लाभ उसे प्राप्त होता है, तो अन्य बातों के समान रहने पर वह वस्तु के स्टॉक की मात्रा में प्रत्येक वद्धि के साथ-साथ वस्तु की उपयोगिता घटती जाती है।'' प्रो॰ बोल्डिंग के शब्दों में, ''अन्य सभी वस्तुओं के उपभोग को यथास्थिर रखते हुए, जैसे-जैसे उपभोक्ता किसी वस्तु के उपभोग को बढ़ाता जाता है, वैसे-वैसे ही वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अनिवार्य रूप में घटती है। इस नियम के अनुसार, वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उपभोक्ता द्वारा खरीदी गई वस्तु के स्टॉक पर निर्भर करती है। जितना वस्तु का स्टॉक अधिक होगा, उतनी ही उसकी अतिरिक्त इकाई से उपलब्ध होने वाली उपयोगिता कम होगी। औपचारिक रूप से इस नियम को इन शब्दों

में व्यक्त किया जा सकता है: ''किसी समय विशेष पर जैसे ही किसी व्यक्ति की वस्तु के स्टॉक में वद्धि होती है वैसे ही उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है।''

स्मरण रहे, सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम सीमान्त उपयोगिता के ह्रास की दर के बारे में कुछ भी नहीं कहता। सीमान्त उपयोगिता में ह्रास तेजी से होता है अथवा धीरे-धीरे होता है अथवा परिवर्तनशील अथवा समान दर पर होता है, इस विषय में नियम कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं करता।

उपयोगिता ह्रास नियम को एक अन्य रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है। जब उपभोक्ता के पास वस्तु का थोड़ा-सा स्टॉक ही होता है, तब वह उसे उसके अत्यन्त आवश्यक उपयोग में ही लगाता है। जैसे-जैसे वस्तु का स्टॉक बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ही वह उसे कम महत्त्वपूर्ण उपयोगों में लगाता है। प्रो॰ बॉमोल के शब्दों में, ''ऐसा इसलिए किया जाता है क्योंकि हम वस्तु के अत्यन्त आवश्यक उपयोगों को प्राथमिकता देते हैं। यदि हमारे पास केक का एक ही टुकड़ा होता है तो उसे हम अपने बच्चे को देते हैं। यदि हमारे पास दो टुकड़े होते हैं, तो दूसरा टुकड़ा हम अपनी पत्नी को देते हैं; तीसरा टुकड़ा हम अपने लिए सुरक्षित रख लेते हैं। यदि चौथा टुकड़ा भी उपलब्ध होता है तो उसे हम अपनी सास को दे देते हैं।''

स्मरण रहे, जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदता है अथवा उन्हें कम आवश्यक उपयोगों में लगाता है, तो उनसे उपलब्ध सीमान्त उपयोगिता निश्चय ही घटेगी। यह किसी भी दशा में बढ़ नहीं सकती। यदि वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों को खरीदने से उपभोक्ता को प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है तो उपभोक्ता निश्चय ही अपनी समूची आय उस वस्तु पर ही व्यय कर देगा। जब उपभोक्ता वस्तु की प्रथम इकाई खरीदता है तो वह देखता है कि इसकी उपयोगिता इसकी कीमत से अधिक है। अब मान लीजिए कि जैसे-जैसे वह वस्तु की अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदता है, उसकी सीमान्त उपयोगिता निरन्तर बढ़ती जाती है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता प्रत्येक पूर्वगामी इकाई से अधिक होती है। चूँकि प्रथम इकाई की उपयोगिता उसकी कीमत से अधिक होती है, इसलिए दूसरी इकाई की उपयोगिता तो और भी अधिक होगी। अतः उपभोक्ता दूसरी इकाई अवश्य ही खरीदेगा। तीसरी इकाई की उपयोगिता तो दूसरी इकाई की उपयोगिता से भी अधिक होगी। इसलिए उपभोक्ता तीसरी इकाई भी अवश्य ही खरीदेगा। इस तरह उपभोक्ता जब एक बार वस्तु को खरीदना तब तक जारी रखता है जब तक कि उसकी समूची आय उस पर व्यय नहीं हो जाती। चूँकि कोई भी व्यक्ति अपनी समूची आय एक ही वस्तु पर व्यय नहीं करता और कई प्रकार की अन्य वस्तुएँ भी खरीदता है, इसीलिए स्पष्ट है कि किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयों को खरीदने पर उनसे उपलब्ध उपभोक्ता की सीमान्त उपयोगिता बढ़ नहीं सकती। यह भी सत्य है कि वस्तु की अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदने पर उपभोक्ता की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है तो उसकी प्रतिक्रिया बिल्कुल वैसी ही होगी जैसी कि ऊपर

उल्लेखित की गई है, अर्थात् उपभोक्ता की समूची इकाई की उपयोगिता उसकी कीमत से अधिक है, इसीलिए उपभोक्ता उसे खरीदता है। दूसरे शब्दों में, प्रथम इकाई की उपयोगिता उसकी कीमत से अधिक है, इसीलिए उपभोक्ता उसे खरीदता है। अथवा प्रथम इकाई से उपभोक्ता को आधिक्य प्राप्त होता है। चूँकि सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है इसलिए प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता कीमत से अधिक होगी। प्रथम इकाई से उपलब्ध आधिक्य अन्य उत्तरोत्तर इकाइयों से भी प्राप्त होता रहेगा। अतः इस उदाहरण में भी उपभोक्ता अपनी समूची आय एक ही वस्तु पर व्यय कर डालेगा। वास्तव में, यह हमारे अनुभव के विपरीत ही है। व्यावहारिक जीवन में हम कभी भी अपनी समूची आय एक ही वस्तु पर व्यय नहीं कर देते। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ खरीदने पर उपभोक्ता द्वारा प्राप्त सीमान्त उपयोगिता न बढ़ती है और न ही स्थिर रहती है। इसके विपरीत, वस्तु के स्टॉक में प्रत्येक वद्धि करने पर सीमान्त उपयोगिता घटती चली जाती है।

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की आरेखीय द्वारा व्याख्या

सीमान्त उपयोगिता हास नियम को स्थान एवं वक्र चित्रों द्वारा निरूपित किया जा सकता है। स्थान चित्र में वस्तु की प्रत्येक इकाई की उपयोगिता को आयत के क्षेत्र द्वारा व्यक्त किया जाता है। सभी इकाइयों में आयत के आधार बराबर हैं। वस्तु की विभिन्न इकाइयों की उपयोगिताएँ आयतों द्वारा व्यक्त की गई हैं। प्रथम आयत का क्षेत्र सबसे बड़ा है। इसका कारण यह है कि प्रथम इकाई की उपयोगिता अधिकतम है लेकिन नियम की क्रियाशीलता के अनुसार प्रत्येक उत्तरोत्तर आयत का क्षेत्र घटता ही चला जाता है।

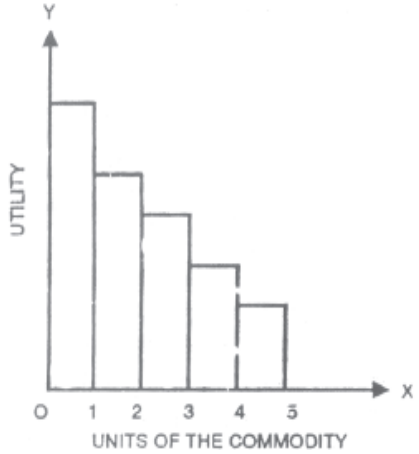

लेकिन यदि आयतों के आधार को शनैः-शनैः संकीर्ण बनाया जाए तो प्रत्येक आयत एक सीधी रेखा का रूप धारण कर लेगा। प्रत्येक सीधी रेखा तत्सम्बन्धित इकाई की सीमान्त उपयोगिता को व्यक्त करेगी। यदि हम इन सभी सीधी रेखाओं के ऊपरी सिरों को जोड़ने हेतु एक रेखा खींचे तो यह रेखा सीमान्त उपयोगिता रेखा कहलाएगी। रेखाकति में इस रेखा को प्रदर्शित किया गया है। इस रेखाचित्र में MU सीमान्त उपयोगिता वक्र को व्यक्त करता है। यह वक्र दायीं ओर नीचे झुकता है। इसका कारण यह है कि उपयुक्त वस्तु की मात्रा में हुई प्रत्येक वद्धि में सीमान्त उपयोगिता गिरती चली जाती है।

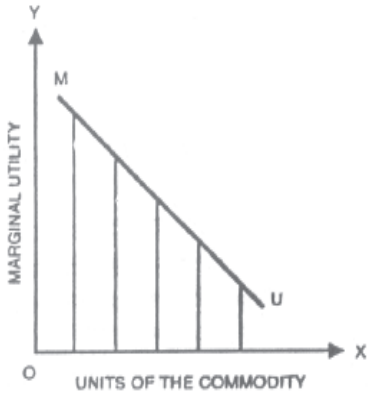

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की मान्यताएँ

मार्शल तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने अपनी परिभाषा में 'अन्य बातें समान रहें' वाक्यांश का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह है कि इस नियम की मूलभूत कुछ मान्यताएँ हैं जिनके अन्तर्गत ही यह नियम लागू होता है अन्यथा नहीं। नियम की प्रमुख मान्यताएँ निम्नलिखित हैं:

1. वस्तु की सभी इकाइयाँ गुण तथा मात्रा में समान होनी चाहिए।
2. उपभोग-प्रक्रिया के दौरान उपभोक्ता की रुचि, आदत, फैशन, स्वभाव तथा आय समान रहनी चाहिए।
3. वस्तु की इकाइयों का उपभोग निरन्तर होना चाहिए।
4. वस्तु के मूल्य में कोई भी परिवर्तन नहीं होना चाहिए।
5. वस्तु की स्थानापन्न वस्तुओं का मूल्य भी समान रहना चाहिए।
6. उपभोक्ता की मानसिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।
7. वस्तु का उपभोग उपयुक्त इकाइयों में होना चाहिए।

इस नियम के कुछ अपवाद भी है

1. यह कहा जाता है कि मादक वस्तुओं जैसे शराब के उपभोग पर यह नियम लागू नहीं होता। जितनी अधिक शराब कोई व्यक्ति पीता है, उतनी ही अधिक वह उसे और चाहता है।
2. यह कहा जाता है कि ये नियम मुद्रा पर लागू नहीं होता जितनी अधिक मुद्रा किसी व्यक्ति के पास होती है, उतनी ही अधिक मुद्रा वह और चाहने लगता है।
3. यदि वस्तु की इकाइयाँ अत्यधिक छोटी हों तो यह नियम लागू नहीं होता। उदाहरण के लिए, यदि हम बूँद-बूँद करके पानी पीएं तो यह नियम लागू नहीं होगा।

नियम के तथाकथित अपवाद, वास्तव में, अपवाद नहीं हैं बल्कि कुछ असाधारण व्यक्तियों अथवा परिस्थितियों की कल्पना मात्र हैं। सत्य तो यह है कि उपयोगिता हास नियम उपभोग के सभी उदाहरणों पर क्रियाशील होता है।

सीमान्त उपयोगिता हास नियम का महत्त्व

यह नियम उपभोग के विभिन्न नियमों का आधार है अतः आधारमूलक नियम है। माँग का नियम इसीपर आधारित है। माँग के नियम के अनुसार, ऊँची कीमत की अपेक्षा कम कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा की माँग की जाती है। ऐसा क्यों? इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे वस्तु की अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदी जाती हैं, उपभोक्ता के लिए उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती चली जाती है। वह अब वस्तु की उत्तरोत्तर इकाइयों को पहले की अपेक्षा कम महत्त्व देता है। अतः वह अब वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों को कम कीमत पर ही खरीदने के लिए तैयार होता है। इस प्रकार माँग के नियम की जड़ें उपयोगिता हास नियम से निकली है। युक्तिसंगत उपभोक्ता-चयन के अध्ययन में सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम एक आधार माना जाता है।

सीमान्त उपयोगिता हास नियम के महत्त्व के प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं :

1. यह नियम 'माँग के नियम' की व्याख्या करता है, अर्थात् इस बात पर प्रकाश डालता है माँग की रेखा दाएं को गिरती हुई क्यों होती है।
2. विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन इस नियम के क्रियाशील होने के कारण होता है।
3. 'उपभोक्ता की बचत का सिद्धांत' इसी नियम पर आधारित है।
4. सम-सीमान्त उपयोगिता नियम भी सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम पर ही आधारित है।
5. यह नियम आधुनिक कर प्रणाली का आधार है।
6. यह नियम विनिमय-मूल्य तथा प्रयोग मूल्य को स्पष्ट करता है।
7. यह नियम इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि पूर्ति में वद्धि के साथ ही मूल्यों में कमी क्यों आती है।

सीमान्त उपयोगिता हास नियम की कार्यशीलता के दो कारण हैं:

1. **वस्तुएँ एक-दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न नहीं होती** - प्रथम कारण यह है कि वस्तुएँ एक-दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न नहीं होती। यदि वस्तुएँ एक-दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न होती तो सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम कार्यशील ही न होता। उदाहरणार्थ, रोटी तथा मक्खन एक-दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न नहीं है। उनका उपभोग एक निश्चित अनुपात में होता है। उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि तभी

प्राप्त होगी जब वह इन दोनों वस्तुओं का उपभोग उस निश्चित अनुपात में ही करता है। यदि इस अनुपात में तनिक भी परिवर्तन होता है तो उपभोक्ता को इन दोनों वस्तुओं के उपभोग से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। यदि रोटी की स्थिर मात्रा के साथ-साथ उपभोक्ता मक्खन की मात्रा बढ़ाता चला जाता है तो शीघ्र ही वह उस अवस्था को पहुंच जाएगा जहाँ बढ़ी हुई मक्खन की मात्रा को लगाने के लिए उसके पास पर्याप्त रोटी ही नहीं होगी। मक्खन की उत्तरोत्तर वद्धि से उपभोक्ता की कुल सन्तुष्टि ह्रास नियम कार्यशील हो उठेगा। यदि रोटी एवं मक्खन एक-दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न होते तो यह नियम कार्यशील न होता क्योंकि रोटी की कमी को मक्खन की उत्तरोत्तर व द्धियों से पूरा किया जा सकता था।

2. **विशिष्ट आवश्यकताओं की संतुष्टि** - सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की क्रियाशीलता का दूसरा कारण यह है कि यद्यपि सभी आवश्यकताएँ की पूर्ण संतुष्टि तो नहीं हो सकतीं, किसी एक विशिष्ट आवश्यकता को सन्तुष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति द्वारा नमक की आवश्यकता को अधिकाधिक मात्राओं का उपभोग करके संतुष्ट किया जा सकता है। नमक के उपभोग में संतुष्टि का बिन्दु वह बिन्दु होता है जहाँ पर नमक का और अधिक उपभोग करने पर भी कुल उपयोगिता नहीं बढ़ती और सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है। यदि वह नमक के उपभोग में उत्पादकता कम कर देता है, तो उसकी कुल उपयोगिता बढ़ जाएगी और सीमान्त उपयोगिता धनात्मक हो जाएगी। इससे स्पष्ट है जिस स्तर पर नमक की सीमान्त उपयोगिता धनात्मक है और जिस स्तर पर यह शून्य है, इन दोनों स्तरों के बीच की सीमान्त उपयोगिता निश्चय ही घट रही होगी। यदि कोई एक विशिष्ट आवश्यकता त प्य न होती तो यह नियम कार्यशील न होता।

3. तीसरा कारण मनोवैज्ञानिक आधार भी है। चूंकि यह नियम वेबर के सिद्धान्त पर आधारित है जो यह बताता है कि बाहरी उत्तेजकों के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रियाओं की तीव्रता कम होती जाती है।

मूल्य का विरोधाभास

किसी व्यक्ति द्वारा किसी वस्तु से जो उपयोगिता प्राप्त होती है उस वस्तु के लिए जो कीमत चुकाई जाती है स्पष्टतः इन दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह बड़ी विचित्र बात हे कि प्राचीन क्लासिकल अर्थशास्त्री कीमत और उपयोगिता के बीच पाए जाने वाले इस घनिष्ठ सम्बन्ध से परिचित नहीं है। बल्कि उनका निश्चयपूर्वक यह कथन था कि कीमत एवं उपयोगिता के बीच तो कोई होता ही नहीं। एडम स्मिथ ने इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध 'हीरक-जल विरोधाभास' का उदाहरण दिया था। उनके अनुसार जल की ऊँची उपयोगिता होती है लेकिन उसकी कीमत शून्य ही होती है। इसके विपरीत, हीरे की उपयोगिता तो

कम होती है लेकिन उसकी कीमत बहुत ऊँची होती है। क्लासिकल अर्थशास्त्री इस विरोधाभास का स्पष्टीकरण करने में असमर्थ ही रहे।

लेकिन आज हम बिना किसी कठिनाई के इस 'हीरक-जल विरोधाभास' की व्याख्या कर सकते हैं। 'सीमान्त उपयोगिता' की धारणा इसमें सहायक सिद्ध होती है। 'सीमान्त उपयेागिता' एवं 'कुल उपयोगिता' में तो हम पहले ही अन्तर कर चुके हैं। किसी वस्तु की कीमत उसकी 'कुल उपयोगिता' से नहीं बल्कि उसकी 'सीमान्त उपयोगिता' में ृशासित होती है। प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण जल की कुल उपयोगिता तो अनंत होती है लेकिन उसकी सीमान्त उपयोगिता शून्य ही होती है। यही कारण है कि जल की कीमत कुछ भी नहीं होती। इसके विपरीत, हीरे की कुल उपयोगिता तो कम होती है लेकिन सापेक्ष स्वल्पता के कारण उसकी सीमान्त उपयोगिता बहुत ऊँची होती है। अतएव वस्तु की कीमत का सम्बन्ध उसकी कुल उपयोगिता से नहीं, बल्कि सीमान्त उपयोगिता से होता है।

उपभोक्ता का सन्तुलन

उपभोक्ता उस समय सन्तुलनावस्था में होता है जब वह अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करता है। 'सन्तुलन' से अभिप्राय विश्रामावस्था अथवा अपरिवर्तन अवस्था से होता है। उपभोक्ता उस समय सन्तुलनावस्था को प्राप्त है जब उसमें अपनी व्यय-परियोजना में किसी प्रकार का परिवर्तन करने की कोई प्रव त्ति नहीं पाई जाती। उपभोक्ता अपने व्यय से तो पहले ही अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर रहा होता है। अतः अपनी व्यय-परियोजना में वह क्यों परिवर्तन करेगा? यदि अपने व्यय में वह तनिक भी परिवर्तन करता है तो इससे उसकी कुल सन्तुष्टि में कमी हो जाएगी। इसलिए वर्तमान व्यय-परियोजना में वह कोई भी परिवर्तन नहीं करना चाहेगा। सत्य तो यह है कि वह सन्तुलनावस्था में ही है। इसके विपरीत, यदि उपभोक्ता समझता है कि अपनी वर्तमान व्यय-परियोजना में परिवर्तन करके वह अपनी कुल सन्तुष्टि में वद्धि कर सकता है तो निश्चय ही वह सन्तुलनावस्था में नहीं है। वह तो सन्तुलनावस्था को उस समय प्राप्त होगा जब अपने व्यय से उसे अधिकतम सन्तुष्टि उपलब्ध होगी।

यदि हम मान लें कि प्रत्येक उपभोक्ता विचारशील एवं युक्तिक स्वभाव का होता है, तो निश्चय ही वह अधिकतम सन्तुष्टि अथवा सन्तुलनावस्था को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहेगा। अब प्रश्न यह है कि सन्तुलन को प्राप्त करने हेतु उपभोक्ता क्या करेगा? यदि उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि एवं सन्तुलन प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपनी सीमित मौद्रिक आय का व्यय की विभिन्न मदों में सर्वश्रेष्ठ वितरण करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति में 'अधिकतम सन्तुष्टि नियम' उपभोक्ता को मूल्यवान मार्गदर्शन प्रदान करता है।

अधिकतम सन्तुष्टि नियम तथा सम-सीमान्त उपयोगिता नियम
(Law of Maximum Satisfaction & law of Equi-Marginal Utility)

नियम की व्याख्या

उपभोग का यह महत्त्वपूर्ण नियम है। यह नियम सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम से ही निकला है। इस नियम के कई नाम हैं; जैसे - सम-सीमान्त उपयोगिता नियम, सम-सीमान्त प्रत्याय नियम, सम-सीमान्त नियम, सीमान्त तुलनाओं का सिद्धान्त, प्रतिस्थापन का नियम इत्यदि। इसे गॉसेन का दूसरा नियम भी कहते हैं क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी में

आस्ट्रिया के एक अर्थशास्त्री एच.एच. गॉसेन ने सर्वप्रथम इसका प्रतिपादन किया था। स्मरण रहे, सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम को गौसन का प्रथम नियम भी कहते हैं।

डॉ मॉर्शल ने निम्नलिखित शब्दों में इस नियम की व्याख्या की है :

''यदि किसी व्यक्ति के पास एक ऐसी वस्तु है जिसे वह बहुत-से उपयोगों में लगा सकता है, तब वह उस वस्तु को उन उपयोगों में इस ढंग से वितरित करेगा कि प्रत्येक उपयोग में उसकी सीमान्त उपयोगिता बराबर ही रहे क्योंकि यदि इसकी सीमान्त उपयोगिता किसी एक उपयोग में दूसरे उपयोग की अपेक्षा अधिक है तब इसको दूसरे उपयोग से निकालकर पहले उपयोग में लाने से उसे लाभ होगा।''

किसी वस्तु को उसके विभिन्न उपयोगों में वितरित करते समय उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि तभी प्राप्त कर सकता है जब विभिन्न उपयोगों में वस्तु की सीमान्त उपयोगिता समान होती है। विभिन्न उपयोगों में सीमान्त उपयोगिता के समानीकरण से ही कुल सन्तुष्टि को अधिकतम बनाया जा सकता है। इस नियम के अनुसार, उपभोक्ता किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा को उसके विभिन्न उपयोगों में इस ढंग से वितरित करता है कि सभी उपयोगों में उसकी सीमान्त उपयोगिता समान हो जाती है। उपभोक्ता वस्तु की इस प्रकार का वितरण अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के उद्देश्य से ही करता है। इस नियम की कार्यशीलता की व्याख्या करने हेतु हमें दो महत्त्वपूर्ण तथ्य स्थापित करने हैं। प्रथम, यदि उपभोक्ता ने अपनी वस्तु को उसके विभिन्न उपयोगों में इस तरह वितरित किया है कि उसमें उसकी सीमान्त उपयोगिता असमान ही रहती है तो विभिन्न उपयोगों में वस्तु के पुनर्वितरण से वह अपनी कुल सन्तुष्टि में वद्धि कर सकता है, अर्थात् वह वस्तु की कुछ मात्रा को उस उपयोग में से निकालकर (जहाँ उसकी सीमान्त उपयोगिता अपेक्षाक त कम है) ऐसे उपयोग में लगा देगा जहाँ उसकी सीमान्त उपयोगिता अपेक्षाकृत ऊँची है। दूसरे, यदि उपभोक्ता ने वस्तु को विभिन्न उपयोगों में इस तरह वितरित किया है कि सभी उपयोगों में इसकी सीमान्त उपयोगिता समान रहती है तो निश्चय ही उसे अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी। इस प्रकार की व्यय-परियोजना में यदि वह तनिक भी परिवर्तन करता है तो उसकी कुल उपयोगिता में कमी हो जाएगी।

कपड़ों के मीटरों की संख्या	उपभोग X में सीमांत उपयोगिता	उपभोग Y में सीमांत उपयोगिता
1	70 इकाइयाँ	40 इकाइयाँ
2	57 इकाइयाँ	33 इकाइयाँ
3	45 इकाइयाँ	25 इकाइयाँ
4	34 इकाइयाँ	18 इकाइयाँ
5	25 इकाइयाँ	10 इकाइयाँ
6	16 इकाइयाँ	5 इकाइयाँ
7	7 इकाइयाँ	3 इकाइयाँ
8	5 इकाइयाँ	2 इकाइयाँ

उपर्युक्त दोनों प्रस्थापनाओं को सिद्ध करने के लिए हम एक सरल उदाहरण लेते हैं। मान लीजिए, कपड़े को दो उपयोगों में लगाया जा सकता है। इन उपयोगों को हम X तथा Y कह सकते हैं। अब यह भी मान लीजिए कि उपभोक्ता के पास 8 मीटर कपड़ा है जिसे

वह X तथा Y उपयोगों में लगा सकता है। इन दोनों उपयोगों में कपड़े के विभिन्न ehVjksa की सीमान्त उपयोगिताओं को सारणी में प्रदर्शित किया गया है।

मान लीजिए कि उपभोक्ता ने 3 मीटर कपड़ा X उपयोग में और 5 मीटर कपड़ा Y उपयोग में लगाया है। इस वितरण के अन्तर्गत X तथा Y उपयोगों में कपड़े की सीमान्त उपयोगिताएँ स्पष्टतः असमान हैं। X उपयोग में कपड़े की सीमान्त 10 इकाइयाँ ही हैं। अब यदि उपभोक्ता Y उपभोग में से (जहाँ इसकी सीमान्त उपयोगिता कम है) एक मीटर कपड़ा निकालकर उसे X उपयोग में (जहाँ उसकी सीमान्त उपयोगिता अधिक है) लगा देता है तो उसकी कुल उपयोगिता बढ़ जाएगी अथवा उसकी कुल उपयोगिता में विशुद्ध होगी। कारण स्पष्ट है। कपड़े के इस स्थानान्तरण से Y उपयोग में उसकी कुल उपयोगिता 10 इकाइयाँ कम हो जाएगी। जबकि X उपयोग में उसकी कुल उपयोगिता 34 इकाइयाँ बढ़ जाएगी। इस प्रकार Y उपयोग में से (जहाँ उसकी सीमान्त उपयोगिता कम है) एक मीटर कपड़ा निकालकर Y उपयोग में (जहाँ उसकी सीमान्त उपयोगिता अधिक है) लगा देने से उसकी कुल उपयोगिता में वद्धि होती है। उपभोक्ता स्थानान्तरण की इस प्रक्रिया को तब तक जारी रखेगा जब तक कि दोनों उपयोगों में कपड़े की सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर नहीं हो जातीं।

जब उपभोक्ता 5 मीटर कपड़ा X उपयोग में तथा 3 मीटर कपड़ा Y उपयोग में लगाता है, तब दोनों उपयोगों में कपड़े की सीमान्त उपयोगिताएं बराबर हो जाती हैं अर्थात् दोनों उपयोगों में सीमान्त उपयोगिताएं 25 इकाइयों के बराबर होती हैं। कपड़े के इसी वितरण से उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी। अतः वह इस वितरण से तनिक भी परिवर्तन नहीं करेगा। जैसा कि सारणी, से स्पष्ट है, यदि उपभोक्ता दोनों में से किसी एक उपयोग में एक मीटर अतिरिक्त कपड़ा लगाता है तो उसको उपलब्ध होने वाली उपयोगिता 25 इकाइयों से कम ही होगी। अतः कपड़े की वर्तमान वितरण-व्यवस्था में तनिक-सा परिवर्तन करने के लिए भी उपभोक्ता प्रोत्साहित नहीं होगा। लेकिन यदि समझाने-बुझाने पर उपभोक्ता X उपयोग में से एक मीटर कपड़ा निकालकर Y उपयोग में लगाता है अथवा Y उपयोग में से एक मीटर कपड़ा निकालकर Y उपयोग में लगाता है तो उसे 25 इकाइयों की होती है और जो लाभ होता है वह 25 इकाइयों से कम ही होता है। अतः उपभोक्ता की कुल उपयोगिता में विशुद्ध हानि होती है। उपर्युक्त सारणी के अनुसार, यदि उपभोक्ता एक मीटर कपड़ा Y उपयोग में से निकालकर X उपयोग में लगाता है तो उसे 16 इकाइयों की उपयोगिता का लाभ होता है लेकिन 25 इकाइयों की उपयोगिता की हानि होती है। इसके विपरीत, यदि उपभोक्ता एक मीटर कपड़ा X इकाइयों की उपयोगिता का लाभ होता है लेकिन 25 इकाइयों की उपयोगिता की हानि होती है। यहाँ पर भी लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं - जब दोनों उपयोगों में सीमान्त उपयोगिताएं समान होती हैं तो उपभोक्ता की कुल उपयोगिता अधिकतम होती है। वस्तु के उक्त वितरण में यदि थोड़ा-सा भी परिवर्तन कर दिया जाए तो उपभोक्ता की कुल उपयोगिता में कमी हो जाएगी। जब दोनों उपयोगों में सीमान्त उपयोगिताएं असमान होती हैं, तब वस्तु की वितरण-व्यवस्था को बदलना ही पड़ेगा क्योंकि ऐसा करके ही उपभोक्ता की कुल उपयोगिता को बढ़ाया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में उपभोक्ता को वस्तु की कुल इकाइयों को उस उपयोग में से (जहाँ सीमान्त उपयोगिता कम है) निकालकर उसे दूसरे उपयोग में (जहाँ सीमान्त उपयोगिता अधिक है) लगा देना चाहिए। इसमें दोनों उपयोगों में सीमान्त उपयोगिता का समानीकरण हो सकेगा।

किन्तु स्मरण रहे कि उपभोक्ता को विभाज्य वस्तु (उक्त उदाहरण में कपड़ा) की सीमान्त उपयोगिता का समानीकरण करना है, उसके उपयोगों का नहीं। उपर्युक्त उदाहरण को ही लेते हुए मान लीजिए कि उपभोक्ता कपड़े को पाजामों एवं कमीजों में वितरित करना चाहता है। वह कपड़े को इन दोनों उपयोगों के बीच इस ढंग से वितरित करेगा कि पाजामों के निर्माण में लगाये गए कपड़े के सीमान्त मीटर की उपयोगिता वही होगी जो कमीजों के निर्माण में इस्तेमाल किए गए कपड़े के सीमान्त मीटर की होती है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता दोनों उपयोगों में कपड़े की सीमान्त उपयोगिताओं का समानीकरण करेगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि पाजामों एवं कमीजों की सीमान्त उपयोगिताओं का सम्बन्ध, वास्तव में समानता का ही सम्बन्ध होता हैं यदि पाजामे एवं कमीज दोनों के लिए एक-एक मीटर कपड़े की आवश्यकता पड़ती है तो उपभोक्ता इन दोनों के बीच वितरण इस ढंग से करेगा कि पाजामों की सीमान्त उपयोगिता कमीजों की सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाएगी। लेकिन यदि पाजामे के लिए 1½ मीटर और कमीज के लिए 3 मीटर कपड़े की आवश्यकता पड़ती है तो उपभोक्ता इन दोनों के बीच कपड़े का वितरण इस ढंग से करेगा कि कमीजों की सीमान्त उपयोगिता पाजामों की सीमान्त उपयोगिता से दुगुनी होगी। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता कपड़े को पाजामों एवं कमीजों के बीच इस तरह वितरित करेगा कि -

$$\frac{\text{पाजामों की सीमांत उपयोगिता}}{\text{एक पजामे के लिए आवश्यक कपड़े की मात्रा}}$$

$$\frac{\text{कमीजों की सीमांत उपयोगिता}}{\text{एक कमीज के लिए आवश्यक कपड़े की मात्रा}}$$

मुद्रा एवं अधिकतम सन्तुष्टि नियम

अधिकतम सन्तुष्टि नियम की व्याख्या एक ऐसी वस्तु के सन्दर्भ में अब तक की है जिसके अनेक उपयोग होते हैं लेकिन यह नियम मुद्रा पर भी लागू होता है क्योंकि वस्तु की भाँति मुद्रा के भी कई वैकल्पिक उपयोग होते हैं। अब हम मुद्रा के सन्दर्भ में इस नियम की उपयोगिता तथा कार्यशीलता समझेंगें। इस नियम के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यय को इस ढंग से नियमित करता है कि उसे सभी व्यय-मदों से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है। विभिन्न वस्तुओं के क्रय को वह इस प्रकार सन्तुलित करता है कि प्रत्येक वस्तु से उसे प्रति रुपया समान सीमान्त उपयोगिता उपलब्ध होती है। केवल इसी ढंग से व्यय करने पर ही उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। यदि वह कोई अन्य व्यय-व्यवस्था करता है तो उससे उसे अधिकतम सन्तुष्टि उपलब्ध नहीं होगी। उदाहरणार्थ, यदि इस व्यय-व्यवस्था को परिवर्तित करके उपभोक्ता वस्तु A को थोड़ा अधिक और वस्तु B को थोड़ा कम खरीदता है तो उसकी प्रति रुपया उपयोगिता हानि उसके प्रति रुपया उपयोगिता-लाभ से अधिक होगी। उपभोक्ता अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि तभी प्राप्त कर सकता है जब सभी वस्तुओं की प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताएँ समान होती हैं।

'प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताओं'' एवं ''विभिन्न वस्तु-इकाइयों द्वारा प्रदत्त सीमान्त उपयोगिताओं'' शब्दों का प्रयोग करने के पीछे विशेष अभिप्राय है। कारण स्पष्ट है। विभिन्न वस्तुओं को भिन्न-भिन्न भौतिक इकाइयों में व्यक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ, कपड़े को मीटरों, चीनी को किलोग्राम और दूध को लीटरों में प्रकट किया जाता है। दो वस्तुओं के

अलग-अलग भौतिक मापक होने के परिणामस्वरूप उनकी सीमान्त उपयोगिताओं की तुलना करना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, हम 1 किलोग्राम मक्खन की सीमान्त उपयोगिता की तुलना 1 लीटर दूध की सीमान्त उपयोगिता से नहीं कर सकते क्योंकि दोनों वस्तुओं को अलग-अलग भौतिक इकाइयों में प्रकट किया जाता है। लेकिन यदि चीनी एवं मक्खन जैसी वस्तुओं की समान भौतिक उपयोगिताओं की तुलना नहीं कर सकते क्योंकि ये दोनों वस्तुएँ विभिन्न की सीमान्त उपयोगिताओं की तुलना को सम्भव बनाने के लिए हमें मुद्रा जैसे सामान्य माध्यम का उपयोग करना पड़ता है। इसीलिए तो हम कहते हैं कि उपभोक्ता की सभी वस्तुओं की प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताएं बराबर होनी चाहिए। उपभोक्ता अपने व्यय से अधिक सन्तुष्टि तभी प्राप्त कर सकता है जब वह अपनी मौद्रिक आय को विभिन्न वस्तुओं पर इस ढंग से व्यय करता है कि सभी वस्तुओं की प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताएं बराबर होती हैं। उपभोक्ता-सन्तुलन की प्राप्ति की आधारमूलक शर्त निम्नलिखित समीकरण में व्यक्त की गई है :

उपर्युक्त समीकरण में $MU_a, MU_b, MU_c,$ वास्तव में a, b, c वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ है और P_a, P_b और P_c उनकी सम्बद्ध कीमतें हैं। इन वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं को उनकी सम्बद्ध कीमतों से विभाजित करके उनकी प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताओं को निकाल लिया गया है इस नियम के अन्तर्गत अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने से पूर्व उपभोक्ता को उन सभी वस्तुओं की प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताओं का समानीकरण करना होता है जिन पर वह अपनी मौद्रिक आय खर्च कर देता है। उपभोक्ता केवल उसी समय सन्तुलनावस्था में होता है जब सभी वस्तुओं से उसे समान प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताएँ प्राप्त होती हैं। यदि A वस्तु उपभोक्ता B वस्तु की अपेक्षा अधिक प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिता प्रदान करती है तो वह A की कुछ इकाइयाँ अधिक और B की कुछ इकाइयाँ कम खरीदकर अपनी कुल सन्तुष्टि को बढ़ा लेगा। इस उदाहरण में उपयोगिता-लाभ उपयोगिता की हानि से अधिक होगा और उपभोक्ता की सन्तुष्टि में वद्धि होगी। लेकिन यदि सभी वस्तुओं से उपलब्ध प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर होती हैं तो वर्तमान व्यय-व्यवस्था में तनिक भी परिवर्तन करने पर उपभोक्ता-हानि उपयोगिता के लाभ के अधिक होगी। इस उदाहरण में उपयोगिता-हानि उपयोगिता के लाभ से अधिक होगी। उपभोक्ता की कुल सन्तुष्टि में निश्चय ही कमी हो जाएगी। सारांशतः, उपभोक्ता उस समय सन्तुलनावस्था में होता है, जब अपनी व्यय-व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए वह प्रोत्साहित नहीं होता। यह तभी सम्भव होता है कि जब व्यय की सभी मदों से उपलब्ध होने वाली प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर होती हैं। अधिकतम सन्तुष्टि नियम का आरेखीय-निरूपण रेखाचित्र की सहायता से अधिकतम सन्तुष्टि नियम की व्याख्या की जा सकती है मान लीजिए कि उपभोक्ता अपनी मौद्रिक आय को A तथा B दो वस्तुओं पर व्यय करता है। OM मुद्रा वस्तु A वस्तु पर और OM_1 मुद्रा वस्तु B पर व्यय की गई है। A वस्तु से प्राप्त प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिता PM के बराबर है। B वस्तु से प्राप्त प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिता P_1, M_1 है। स्पष्टतः दोनों वस्तुओं के प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताएं समान हैं। अतः OM मुद्रा वस्तु A पर और OM_1 मुद्रा

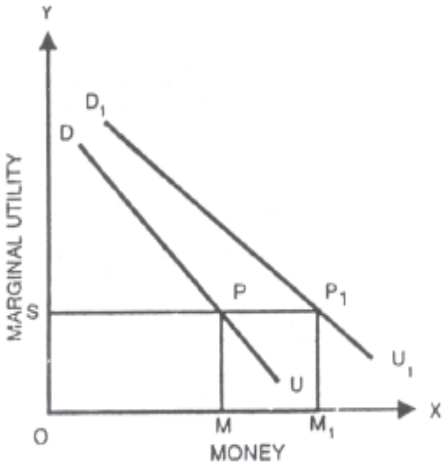

वस्तु B पर व्यय करके उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है अथवा सन्तुलनावस्था के पहुँच सकता है। इस व्यय-व्यवस्था में किया गया तनिक भी परिवर्तन उसकी कुल सन्तुष्टि में कमी कर देगा। DU तथा D_1U_1 वस्तु A एवं वस्तु B की सीमान्त उपयोगिता रेखाएँ नहीं है। ये रेखाएँ तो दोनों वस्तुओं पर व्यय की गई मुद्राओं की सीमान्त उपयोगिता की रेखाएँ है।

अधिकतम सन्तुष्टि नियम अथवा सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का निदर्शन

यहाँ तक नियम की व्याख्या सामान्य रही और उपभोक्ता की मौद्रिक आय को सही स्थान वहीं दिया। वास्तव में ये एक महत्वपूर्ण तथ्य है। किसी भी विवेचन में जहाँ फल अपेक्षित है इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अधिकतम कुल सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता को विभिन्न वस्तुओं पर अपनी मौद्रिक आय इस ढंग से व्यय करनी है कि सभी वस्तुओं से प्राप्त प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताएं बराबर हों। मान लीजिए कि उपभोक्ता की मौद्रिक आय, उपयोगिता अनुसूचियाँ एवं वस्तुओं की प्रचलित कीमतें दी हुई हैं। आइए, अब देखें कि अपने व्यय से उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि कैसे प्राप्त करता है। उपभोक्ता अपनी मौद्रिक आय से अधिकतम सन्तुष्टि कैसे प्राप्त करता है, इसको दो पथक् विधियों से निदर्शित किया जा सकता है। सारणी में हम A तथा B वस्तुओं की एक-एक इकाई को एक-एक रुपये के बराबर मानकर उनकी सम्बद्ध सीमान्त उपयोगिता का प्रकटीकरण करेंगे।

सारणी में उपभोक्ता अपनी 10 रुपये की मौद्रिक आय A तथा B वस्तुओं में वितरित करता है। प्रथम दो रुपये वह वस्तु A पर, तीसरा रुपये वस्तु B पर, चौथा पुनः A पर इत्यादि व्यय करता है। जिस क्रम में 10 रुपये की राशि को उपभोक्ता A तथा B वस्तुओं पर व्यय करता है, उसे सारणी के दूसरे एवं चौथे स्तम्भ में (कोष्ठकों में) दिखाया गया हैं। अपनी 10 रुपये की मौद्रिक आय में से उपभोक्ता 6 रुपये A पर और 4 रुपये B पर व्यय करता है। उपभोक्ता केवल इस व्यय-व्यवस्था से ही अपनी कुल सन्तुष्टि को अधिकतम बना सकता है। सारणी से इसकी पुष्टि की जा सकती है। उदाहरणार्थ, यदि उपभोक्ता A वस्तु पर एक रुपया कम और B वस्तु पर एक रुपया अधिक व्यय करता है तो A वस्तु पर उसे 16 इकाई उपयोगिता की हानि होती है और वस्तु B पर उसे 14 इकाई उपयोगिता का लाभ होता है। अतः यदि उपभोक्ता पुरानी व्यय-व्यवस्था का परित्याग करके एक नयी व्यय-व्यवस्था

अपनाता है, तो उसे 2 इकाई उपयोगिता की विशुद्ध हानि होती है क्योंकि उपभोक्ता विचारशील स्वभाव है इसिलए वह व्यय की किसी भी नयी व्यवस्था को नहीं अपनाएगा।

अब हम दूसरी विधि की सहायता से यह बतायेंगे कि किस प्रकार उपभोक्ता अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करता है। सारणी में उन तीन वस्तुओं की प्रचलित कीमतें एवं सम्बद्ध सीमान्त उपयोगिता अनुसूचियाँ प्रस्तुत की गई हैं जिन पर उपभोक्ता अपनी मौद्रिक आय व्यय करता है।

उपभोक्ता के पास 4.50 रुपये हैं। इन्हें वह सेबों, नाशपातियों तथा सन्तरों पर व्यय करता है। आइए, हम देखें कि अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने हेतु उपभोक्ता इस राशि को उक्त तीन वस्तुओं पर कैसे व्यय करता है। इस विधि के अन्तर्गत उपभोक्ता अपने व्यय को विभिन्न वस्तुओं पर इस ढंग से वितरित करता है कि प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता एवं कीमत के बीच का सम्बन्ध एक समान होता है। इस उदाहरण में उपभोक्ता 5 सेब, 3 नाशपातियाँ तथा 3 सन्तरे खरीदता है क्योंकि इस व्यय-व्यवस्था के अन्तर्गत ही उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है। यह व्यय-व्यवस्था सन्तुलन की आधारमूलक शर्त को भी सन्तुष्ट करती है। यह शर्त क्या है? शर्त यह है कि सभी वस्तुओं में सीमान्त उपयोगिता-कीमत अनुपात एक समान हो। उपर्युक्त व्यय-व्यवस्था में तीनों वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता-कीमत अनुपात समान ही है : उपर्युक्त व्यय-व्यवस्था में तीनों वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता-कीमत अनुपात समान ही हैः सेब 120/60, नाशपतियाँ 60/80, संतरे 40/20। दूसरे शब्दों में $120/60 = 60/30 = 40/20 = 2$ इकाईयां उपयोगिता प्रति पैसा। अतः उपभोक्ता की कुल सन्तुष्टि अधिकतम होगी।

वस्तु A		**वस्तु B**	
(1)	**(2)**	**(3)**	**(4)**
एक रुपये के मूल्य	**वस्तु 'A' की सीमान्त**	**एक रुपये के मूल्य**	**वस्तु 'B' की सीमान्त**
1	25 (1)	1	22 (3)
2	23 (2)	2	20 (5)
3	21 (4)	3	18 (7)
4	19 (6)	4	16 (9)
5	17 (8)	5	14
6	16 (10)	6	12
7	14	7	10
8	12	8	8

4.50 रुपये की राशि को तीन वस्तुओं की विभिन्न मात्राओं पर निम्नवत् व्यय किया जाएगा :

सेब	60 पैसे $\times 5$	=	300 पैसे
नाशपातियाँ	30 पैसे $\times 3$	=	90 पैसे
सन्तरे	20 पैसे $\times 3$	=	60 पैसे
कुल		=	4.50 रुपये

अब हमें यह सिद्ध करना है कि केवल उक्त व्यय-व्यवस्था से ही उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। मान लीजिए कि उपभोक्ता अपनी उक्त व्यय-व्यवस्था में थोड़ा परिवर्तन कर देता है। अब वह एक सेब कम खरीदता है और इस प्रकार जो मुद्रा उसे बचती है, उससे वह दो नाशपातियाँ और खरीद लेता है। इस नयी व्यय-व्यवस्था पाँचवें से उसे 120 इकाई उपयोगिता की हानि होती है क्योंकि सेब की यही उपयोगिता है। लेकिन इस नयी व्यय-व्यवस्था से उसे 105 इकाई उपयोगिता का अतिरिक्त लाभ भी होता है क्योंकि खरीदी गई दो अतिरिक्त नाशपातियों से उसे इतनी ही उपयोगिता की प्राप्ति होती है : (55 + 50 = 105 इकाइयाँ)। स्पष्टतः, उसका उपयोगिता-लाभ (105 इकाइयाँ) उसकी उपयोगिता-हानि (120 इकाइयाँ) से कम है। अतः उपभोक्ता नयी व्यय-व्यवस्था को स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि इससे उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त नहीं होती। इसके अतिरिक्त, नयी व्यय-व्यवस्था में सीमान्त उपयोगिता-कीमत अनुपात भी तो बराबर नहीं है : सेब = 125/60, नाशपातियाँ = 50/30, सन्तरे = 40/20, अर्थात् 2½, 1½. इस प्रकार नयी व्यय-व्यवस्था के अन्तर्गत सन्तुलन की आधारमूलक शर्त ही पूरी नहीं होती।

उपयुक्त इकाइयों की संख्या	सेब (60 पैसे प्रति सेब)	नाशपातियाँ (30 पैसे प्रति नाशपाती)	सन्तरे (20 पैसे प्रति सन्तरा)
1	140	70	46
2	135	65	43
3	130	60	40
4	125	55	38
5	120	50	36
6	115	45	33
7	110	40	30

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम माँग के नियम की भी समुचित व्याख्या करता है। माँग के नियम के अनुसार, प्रत्येक उपभोक्ता कम कीमत की अपेक्षा ऊँची कीमत पर वस्तु की कम मात्रा खरीदता है। इसे हम इस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरण को ही लेते हुए मान लीजिए कि सेबों की कीमत बढ़कर 80 पैसे प्रति सेब हो जाती है लेकिन उपभोक्ता पुरानी मात्रा (अर्थात् 5 सेब) को ही खरीदना जारी रखता है, यद्यपि सेबों की कीमत में वद्धि हुई है। अब वह 4 रुपये तो केवल सेबों पर ही व्यय कर डालता है। शेष उसके पास 50 पैसे ही बचे रहते हैं जिनसे वह एक नाशपाती और एक सन्तरा खरीदता है। आइए, अब हम देखें कि नयी व्यय-व्यवस्था में सीमान्त उपयोगिता-कीमत अनुपात क्या होंगे। स्पष्टतः नये सीमान्त उपयोगिता कीमत अनुपात बराबर नहीं है। इसलिए जब तक बढ़ी हुई कीमतों पर उपभोक्ता सेबों की मात्रा में कमी नहीं करता तब तक उसको अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त नहीं हो सकेगी।

अतः उपभोक्ता-सन्तुलन अथवा अधिकतम कुल सन्तुष्टि की प्राप्ति की आधारमूलक शर्त यह है कि क्रय की गई सभी वस्तुओं के सीमान्त उपयोगिता कीमत अनुपात एक-समान हों। प्रो. बोल्डिंग सीमान्त उपयोगिता-कीमत अनुपातों को व्यक्त करने के लिए ''भारित सीमान्त उपयोगिता'' शब्द का प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार किसी वस्तु की भारित

सीमान्त उपयोगिता उपभोक्ता की कुल उपयोगिता में होने वाली वह वद्धि है जो उस वस्तु पर किये गये व्यय में एक इकाई की वद्धि के परिणामस्वरूप होती है। यदि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता को उसकी कीमत से विभाजित कर दिया जाए तो वस्तु की भारित सीमान्त उपयोगिता निकल आती है।

भारत सीमान्त उपयोगिता की उक्त धारणा को अपनाते हुए प्रो. बोल्डिंग ने अधिकतम सन्तुष्टि नियम की परिभाषा इस प्रकार ही है : ''व्यय का सवोत्तम वितरण होता है जिसके अन्तर्गत व्यय की सभी मदों की भारित सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर होती हैं।''

सम्भव है कि सीमान्त उपयोगिता एवं कीमत अनुपात के बीच समानता स्थापित करने वाली प्रक्रिया से प्राप्त उपभोक्ता सन्तुलन स्थायी न हो। ये भी सम्भव है उन दोनों में से किसी एक वस्तु की कीमत में हुए परिवर्तन से अथवा उपभोक्ता की स्वयं की वरीयताओं में हुए परिवर्तनों से उपभोक्ता का सन्तुलन भंग हो जाए। दोनों में से किसी भी स्थिति में उपभोक्ता को पुनः समायोजन की प्रक्रिया को फिर से प्रारम्भ करते हुए सीमान्त उपयोगिता एवं कीमत-अनुपात में समानता स्थापित करनी चाहिए। इससे उपभोक्ता-सन्तुलन को पुनः बहाल करने में सहायता मिलेगी।

अधिकतम सन्तुष्टि नियम अथवा सम-सीमान्त उपयोगिता नियम को सामान्य रुप से

प्रत्येक उपभोक्ता सन्तुलन-प्राप्ति के लिए विभिन्न वस्तुओं की प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिताओं को यथासम्भव समान बनाने का प्रयास करता है। अपने व्यय से अधिकतम कुल सन्तुष्टि प्राप्त करने हेतु उपभोक्ता निरन्तर प्रतिस्थापन कार्य में संलग्न रहता है। वह कम सीमान्त उपयोगिता प्रदान करने वाली वस्तु का अधिक सीमान्त उपयोगिता प्रदान करने वाली वस्तु से प्रतिस्थापन करता है। लेकिन उपभोग के अलावा सम-सीमान्त उपयोगिता नियम आर्थिक प्रक्रिया के अन्य क्षेत्रों पर भी लागू होता है। इस नियम की महत्त्वपूर्ण प्रयोज्यताएँ निम्नलिखित हैं :

1. **बचत एवं उपभोग के बीच आय का वितरण** - प्रत्येक व्यक्तिगत उपभोक्ता को एक महत्त्वपूर्ण समस्या का सामना करना पड़ता है। समस्या यह है कि बचत एवं उपभोग के बीच आय का आबटन कैसे किया जाए। सम-सीमान्त सिद्धान्त उपभोक्ता को इस समस्या का समाधान करने में सहायता देता है। वह 'बचत' को आय-उपयोग की ही एक विधि मानकर सम-सीमान्त सिद्धान्त की सहायता से 'बचत' एवं 'उपभोग' के बीच आय का आदर्श अथवा सर्वोत्तम आबंटन कर सकता है। बचत एवं उपभोग के बीच की गई वह आबंटन-व्यवस्था सर्वोत्तम होगी जिसके अन्तर्गत-व द्धि का सीमान्त लाभ परिणामी बचत-ह्रास की सीमान्त हानि के बिलकुल बराबर होगा।

2. **उत्पादन का संगठन** - एक उपक्रमी भी अपने लाभ को अधिकतम बनाने हेतु इस नियम के प्रभाव के अन्तर्गत कार्य करता है। वह भी निरन्तर प्रतिस्थापन-कार्य में संलग्न रहता है। वह अधिक प्रत्याय प्रदान करने वाले साधनों को कम प्रत्याय प्रदान करने वाले साधनों के स्थान पर लगाता है। वह प्रतिस्थापन की इस प्रक्रिया को उस बिन्दु पर समाप्त करता है जहाँ सभी साधनों से प्राप्त प्रत्याय बराबर होते हैं।

3. **वस्तुओं का सर्वोत्तम वितरण** - (1) स्वतंत्र विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत सम-सीमान्त उपयोगिता नियम किसी वस्तु अथवा वस्तुओं का समाज के सदस्यों के बीच

सर्वोत्तम वितरण करने में भी सहायक होता है। किसी वस्तु के सर्वोत्तम वितरण से क्या अभिप्राय है ? वितरण उस समय सर्वोत्तम होता है जब समाज के सदस्यों में वस्तु का वितरण इस ढंग से किया जाता है कि इसकी किसी भी इकाई का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरण कुल सन्तुष्टि में कमी पैदा कर देता है। दूसरे शब्दों में, सर्वोत्तम वितरण वह वितरण-व्यवस्था है जिसमें तनिक भी परिवर्तन कर देने से समाज की कुल सन्तुष्टि में कमी हो जाती है।

मान लीजिए कि सन्तरे 20 पैसे प्रति सन्तरा की कीमत पर बेचे जा रहे हैं। इस कीमत पर मोहन सन्तरों की इतनी मात्रा खरीदेगा कि इससे उसकी सीमान्त उपयोगिता एवं कीमत में समानता स्थापित हो जाएगी। दूसरे शब्दों में, सन्तरों का खरीदना वह उस बिन्दु पर बन्द कर देगा जहाँ पर सन्तरों से उत्पन्न उसकी सीमान्त उपयोगिता 20 पैसे के बराबर हो जाएगी। इसी प्रकार, सोहन भी सन्तरों से उपलब्ध होने वाली उसकी सीमान्त उपयोगिता 20 पैसे के बराबर हो जाती है। अन्य क्रेता भी ठीक इसी तरह व्यवहार करेंगे। अन्ततः सभी क्रेताओं की सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर हो जाएंगी। वास्तव में, यही सर्वोत्तम वितरण का बिन्दु है। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सन्तरों के तनिक स्थानान्तरण से ही समाज की कुल सन्तुष्टि में विशुद्ध कमी ही जाएगी।

4. **सामान्य साधनों का अविभाजन** - विभिन्न वैकल्पिक उपयोगों में समाज के सामान्य साधनों का अविभाजन करना, वास्तव में, एक आधारमूलक समस्या है। सम-सीमान्त सिद्धांत से ही इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। समाज के सामान्य साधनों का सर्वोत्तम अविभाजन तो उस समय होता है जब साधनों की सीमान्त इकाइयों को एक उपयोगिता में स्थानान्तरित करने से कुछ भी लाभ नहीं होता। दूसरे शब्दों, में साधनों का आदर्श वितरण वह होता है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक उपयोग में उनकी सीमान्त सामाजिक उपयोगिता बराबर होती है।

5. **परिसम्पत्ति का वितरण** - सम-सीमान्त सिद्धान्त की सहायता से निजी व्यक्ति अपनी परिसम्पत्ति को उसके वैकल्पिक रूपों में वितरित कर सकता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए किसी व्यक्ति के पास 50,000 रुपये हैं और वह इस बड़ी राशि को नकदी, बैंक-निक्षेपों, बॉण्डों, शेयरों, भू-सम्पत्ति, फर्नीचर इत्यादि परिसम्पत्ति के विभिन्न रूपों में वितरित करना चाहता है। उक्त राशि का इन सब के बीच वह कैसे वितरण करेगा? सम-सीमान्त सिद्धांत के अनुसार परिसम्पत्तिधारी के रूप में वह व्यक्ति उस समय सन्तुलनावस्था को प्राप्त होगा जब अतिरिक्त एक रुपये के मूल्य की किसी भी परिसम्पत्ति का उसका मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन बराबर होगा। जबतक परिसम्पत्तिधारी यह अनुभव करता है कि एक रुपये के मूल्य के बराबर किसी सम्पत्ति में की गई व द्धि से उत्पन्न उसका मनोवैज्ञानिक हानि से अधिक है, तब तक वह अपनी परिसम्पत्ति की पुनर्वितरण करता चला जाएगा और कम उपयोगी के स्थान पर अधिक उपयोगी परिसम्पति का प्रयोग करता रहेगा। एक रुपय के मूल्य बराबर की गई कमी से होने वाली मनोवैज्ञानिक हानि से अधिक है।

6. **समय का उपयोग-** 24 घंटों के समय के विभिन्न उद्देश्यों में किये गये आबंटन पर भी सम-सीमान्त सिद्धांत लागू होता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि एक विद्यार्थी इस विषय पर विचार कर रहा है कि आज वह सिनेमा में बिताये गये दो

घंटो की उपयोगिता की तुलना अर्थशास्त्र की पुस्तक का अध्ययन करने में लगाये गये दो घंटों की उपयोगिता से करेगा। उपयोगिता ह्यस नियम यहाँ पर भी ठीक उसी प्रकार क्रियाशील होता है जिस प्रकार किसी वस्तु के उपभोग पर। यदि गत सप्ताह वह विद्यार्थी पाँच बार सिनेमा गया था तो सिनेमा में बिताये गये समय की सीमान्त उपयोगिता कम होगी। यदि वह अपने अध्ययन की उपेक्षा नहीं करता रहा है तो अर्थशास्त्र के अध्ययन में लगाये गये उसके समय की सीमान्त उपयोगिता ऊँची होगी। इसलिए वह सम्भवतः सिनेमा जाने के बजाए घर बैठकर अध्ययन करना अधिक पसन्द करेगा। अध्ययन में लगाये गये दो घंटों से उत्पन्न उसका उपयोगिता लाभ सिनेमा में, यह नियम उपभोक्ता को युक्तिसंगत आर्थिक चयन करने में सहायक होता है। इससे उपभोक्ता दी हुई मौद्रिक आय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करता है।

अधिकतम सन्तुष्टि नियम अथवा सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की परिसीमाएँ

1. **आर्थिक अयुक्तिकता-** यह नियम इस मान्यता पर आधारित है कि अपनी मौद्रिक आय को मनुष्य विभिन्न वस्तुओं पर युक्तियुक्तपूर्ण ढंग से व्यय करता है। इस नियम में हम यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य, वास्तव में, अर्थ-मानव है। लेकिन वास्तविक जीवन में यह मान्यता पूर्णतः सत्य नहीं उतरती। व्यावहारिक जीवन में अनेक ऐसी बाधाएँ हैं जैसे चयन करने में बहुलता इसी से उपभोक्ता को सोचना पड़ता है और आम उपभोक्ता के पास न शक्ति है न समय और कोई भी ही समय गणना नहीं कर सकता। सत्य तो यह है कि वे गणनाओं के चक्कर में फँसना ही नहीं चाहते। तीसरे, यदि उपभोक्ता उपयोगिता की तुलना करना भी चाहे तो वह नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि अपनी आय का मितव्ययता पूर्ण ढंग से अविभाजन करने हेतु उपभोक्ता के पास आवश्यक जानकारी का ही अभाव है। इस जानकारी के बिना वह कैसे उपयोगिताओं की तुलना कर सकता है। विभिन्न विक्रेताओं द्वारा किये गये विशाल-स्तरीय विज्ञापन के कारण उपभोक्ता अक्सर धोखे में आ जाता है। और वस्तुओं के वास्तविक गुणों की परख नहीं कर सकता। चौथे, कभी-कभी तो उपभोक्ता क्षणिक प्रेरणा अथवा इच्छा के प्रभाव के अन्तर्गत युक्तियुक्तपूर्ण ढंग से सोचने में ही असमर्थ हो जाता है और ऐसी खरीदारी कर बैठता है जो उसे नहीं करनी चाहिए थी। इस प्रकार उपभोक्ता के व्यवहार को नियन्त्रित करने वाली शक्तियाँ इतनी अधिक एवं जटिल हैं कि उसके लिए युक्तियुक्तपूर्ण चयन करना लगभग असम्भव-सा ही है।

   लेकिन इसका अर्थ ये नहीं कि सीमान्त तुलनाओं के सिद्धांत का उपभोक्ता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक उपभोक्ता के जीवन में ऐसे क्षण अवश्य ही आते हैं जब उसे अपेक्षित व्यय के बारे में बड़ी सावधानी से विचार करना पड़ता है। विशेषकर उस समय तो उपभोक्ता को बहुत ही सतर्क होना पड़ता है जब व्यय-राशि अत्यधिक होती है। 75 पैसे के मूल्य की पत्रिका खरीदते समय तो उपभोक्ता अधिक सोच-विचार नहीं करता, लेकिन यदि उसे कीमती फ्रिज अथवा टेलीविजन सैट खरीदना है तो वह समूचे विषय पर बड़ी सावधानी से विचार करेगा। वह यह भी सोचेगा कि क्या उसे फ्रिज अथवा टेलीविजन सैट पर व्यय करना अनिवार्य है। क्यों न वह एक लॉण्डरी मशीन खरीद ले अथवा क्यों न वही मुद्रा-राशि भावी अवसरों के लिए बचा ली जाए। इन सब सम्भावनाओं पर विचार

करके ही वह कोई अन्तिम निर्णय लेगा। इस प्रकार, जब किसी वस्तु पर उपभोक्ता को विशाल व्यय करना पड़ता है तब वह अत्यन्त युक्तियुक्तपूर्ण ढंग से समूचे विषय पर सोच-विचार करता है। अतः इस नियम में निहित आर्थिक युक्तिकता की मान्यता पूर्णतः औचित्य-रहित नहीं है। अनुभव हमें यह बताता है कि अधिकांश व्यक्तियों के लिए नियम की यह मान्यता अधिकांश समयों के लिए वास्तविक अथवा यथार्थ ही होती है। इसलिए सीमान्त तुलनाओं के नियम को आर्थिक युक्तिकता की मान्यता पर आधारित करना अनुचित नहीं है। फिर यह भी कि आर्थिक युक्तिकता की मान्यता के अभाव में किसी दी हुई परिस्थिति में अनन्त सम्भावनाएँ उत्पन्न हो जाएंगी। सत्य तो यह है कि यदि हम आर्थिक युक्तिकता की मान्यता का परित्याग कर देते हैं तो अर्थशास्त्र में नियम-निर्माण का कार्य भी असम्भव हो जाएगा।

यह सही है कि सीमान्त तुलनाओं का नियम सभी लोगों के बारे में तथा सभी समयों पर सत्य नहीं उतरता, लेकिन अधिकांश लोगों के बारे में एवं अधिकांश समयों पर यह नियम निश्चय ही सही सिद्ध होता है और फिर मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित बहुत कम नियम ऐसे हैं जो सभी समयों पर तथा सभी व्यक्तियों के लिए सत्य उतरते हैं।

2. **वस्तुओं की अविभाज्यता** - स्मरण रहे कि सम-सीमान्त सिद्धांत तभी पूर्णतः कार्यशील होता है जब साधन (मुद्रा आदि) विभाज्य हों। यही नहीं, इन साधनों से खरीदी जाने वाली वस्तुएँ भी छोटी-छोटी इकाइयों में विभाज्य होनी चाहिए। यदि वस्तुएँ बड़े आकार की हैं और छोटी-छोटी इकाइयों में अविभाज्य भी हैं (जैसे फ्रिज तथा मोटरगाड़ी) तो ऐसी परिस्थिति में सीमान्त उपयोगिता के समानीकरण की प्रक्रिया लगभग असम्भव-सी हो जाएगी। (अर्थात् सम-सीमान्त नियम कार्यशील नहीं हो सकेगा।) उदाहरणार्थ, किसी निश्चित समय पर उपभोक्ता या तो एक मोटरगाड़ी खरीद सकता है या दो। वह मोटरगाड़ी नहीं खरीद सकता। वह मोटरगाड़ियों पर या तो 10,000 रुपये या 20,000 रुपये व्यय करता है। (हम यह मान लेते हैं कि 1 मोटरगाड़ी की कीमत 10,000 रुपये है) निश्चय ही मोटरगाड़ी पर वह 15,000 रुपये व्यय नहीं कर सकता। यदि 10,000 रुपयें में वह 1 मोटरगाड़ी खरीदता है तो वह सम्भवतः अनुभव करता है कि उसने मोटरगाड़ियों का समानीकरण करना कठिन हो जाएगा। इस कार्य की कठिनता को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। यदि विभिन्न आकार वाली ईंटों को लेकर हम समान ऊँचाई वाले स्तमभों को बनाने की कोशिश करें तो प्रयास सफल नहीं होगा बड़े आकार वाली ईटों से बनाए गए स्तम्भ या तो बहुत ऊँचे होंगे या बहुत छोटे रह जाएंगे। इस प्रकार, सीमान्त उपयोगिता के समानीकरण की प्रक्रिया को लगभग असम्भव बनाकर वस्तुओं की अविभाज्यता सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की कार्यशीलता को रोक कर देती है।

3. **बजट अवधि की अनिश्चितता-** सम-सीमान्त सिद्धांत की एक अन्य परिसीमा यह भी है कि उपभोक्ता के बजट की अवधि निश्चित नहीं होती। यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि उपभोक्ता के पास साधनों की एक निश्चित मात्रा होती है जिसे वह एक निश्चित समयावधि (1 मास अथवा 1 वर्ष) में व्यय करता है। मान लीजिए कि उपभोक्ता के बजट की अवधि 1 वर्ष है और वह अपनी मौद्रिक आय इसी अवधि में विभिन्न वस्तुओं पर व्यय करता है। निश्चय ही कुछ वस्तुएँ ऐसी होंगी जो अधिक टिकाऊ होती है। उदाहरणार्थ, यदि उपभोक्ता टेलीविजन सैट खरीदता है तो वह 1 वर्ष से अधिक उसका उपयोग करता रहेगा। अतः जब वह टेलीविजन सैट खरीदता है तो वह केवल चालू वर्ष में ही उस सैट द्वारा प्रदत्त उपयोगिता की तुलना उस अनुपयोगिता से नहीं करता जो सैट के स्थान पर अन्य न खरीदी गई वस्तुओं के कारण उसे सहन करनी पड़ती है। वह तो आने वाले वर्षो में भी सैट द्वारा प्रदान की जाने वाली उपयोगिता को ध्यान में रखता है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता द्वारा उपयोगिता तथा अनुपयोगिता में की जाने वाली तुलना केवल 1 वर्ष तक ही सीमित नहीं रहती। इसका परिणाम यह निकलता है कि उपभोक्ता के लिए विभिन्न वस्तुओं से उत्पन्न प्रति रुपये सीमान्त उपयोगिताओं का समानीकरण करना कठिन हो जाता है। इससे सम - सीमान्त सिद्धांत की प्रयोज्यता स्वयं सीमित हो जाती है।

4. **कुछ वस्तुओं की अनुपलन्धि–** कभी-कभी बाजार में उपयोगी वस्तुएँ उपलब्ध नहीं होतीं और उपभोक्ताओं को न चाहते हुए भी उनके स्थान पर कम उपयोगी वस्तुओं को खरीदना पड़ता है। इसके कारण उपभोक्ता अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में नियम ठीक ढंग से लागू नहीं हो पाता।

5. **कीमतों मे परिवर्तन**- बाजार में वस्तुओं की कीमतों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। और इसीसे समय-2 पर उपयोगिता में परिवर्तन होते रहते है अतः सन्तुष्टि को अधिकतम बनाने हेतु सीमान्त उपयोगिताओं की तुलना करना उपभोक्ता के लिए कठिन हो जाता है। कीमतों में होनेवाले बार-बार के परिवर्तन इस नियम की क्रियाशीलता में बाधक होते हैं।

6. **पूरक वस्तुएँ-** कुछ वस्तुएँ पूरक होती है और एक निश्चित अनुपात में ही उनका प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, प्याले एवं प्लेटें पूरक वस्तुएँ हैं और उनका एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि अधिकतम सन्तुष्टि का नियम उन पर लागू नहीं होता।

7. **नियम की कुछ मूलभूत मान्यताएँ सही नहीं हैं**- (क) नियम यह मानकर चलता है कि उपयोगिता को सही-सही संख्यात्मक माप से मापा जा सकता है लेकिन, जैसा ऐलन एवं हिक्स ने बताया है, यह मान्यता गलत है।

   (ख) यह नियम उपयोगिता यह मानकर चलता है कि जब उपभोक्ता बाजार में मुद्रा का व्यय करता है तो मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है। यह मान्यता भी गलत है क्योंकि व्यय करने पर उपभोक्ता के मुद्रा-स्टॉक में कमी हो जाती है। परिणामतः मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ़ जाती है, स्थिर नहीं रह सकती।

लेकिन उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद यह नियम एक औसत उपभोक्ता के लिए लाभदायक है। एक औसत उपभोक्ता अचेत अथवा सचेत रूप में मुद्रा व्यय करते समय इस नियम का पालन करता है। सामान्यतः लगभग सभी उपभोक्ता अपनी सीमित मौद्रिक आय को विभिन्न मदों पर व्यय करते समय सीमान्त वादियों का व्यवहार करते हैं। वे प्रतिदिन अपना उपभोग-प्रतिमानों में लगातार समायोजन करते रहते हैं ताकि अपने व्यय में से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त की जा सके। वास्तविकता तो यह है कि उपभोक्ता द्वारा किये गये मौद्रिक व्यय से सम्बन्धि प्रत्येक निर्णय में दो तत्त्वों के बीच सीमान्त स्तर पर सन्तुलन स्थापित किया जाता है। ये दो तत्त्व हैं लाभ अथवा उपयोगिता तथा कीमत अथवा लागत।

माँग (Demand)

माँग का अर्थ एवं परिभाषा

उपयोगिता विश्लेषण का अभिन्न अंग माँग का नियम है इसलिए माँग के अर्थ और स्वरुप को समझना बहुत आवश्यक है। प्रो॰ बेन्हम के अनुसार, ''किसी निश्चित कीमत पर किसी वस्तु की माँग से अभिप्राय वस्तु की वह मात्रा होती है जिसे उस कीमत पर प्रति समय इकाई खरीदा जाता है।'' इस परिभाषा में दो बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। प्रथम, माँग से अभिप्राय सदैव किसी कीमत पर माँग से होता है। जब तक इसे कीमत से सम्बन्धित न किया जाए, 'माँग' शब्द का कुछ अर्थ ही नहीं निकलता। यह कथन कि आगरा में मक्खन की साप्ताहिक माँग 1,000 किलोग्राम है, बिल्कुल निरर्थक है, जब तक हम उस कीमत को स्पष्ट नहीं करते जिस पर आगरा के उपभोक्ता इस मात्रा की माँग करते हैं। दूसरे, माँग से अभिप्राय सदैव प्रति समय-इकाई माँग से होता है। यह समय-इकाई 1 दिन, 1 सप्ताह, 1 पक्ष, 1 मास अथवा 1 वर्ष हो सकती है। हमें उस अवधि को अनिवार्य रूप से स्पष्ट करना चाहिए जिसके लिए उपभोक्ता वस्तु की माँग करते हैं। हमारा यह कहना कि 12 रुपये प्रति किलोग्राम की कीमत पर आगरा में मक्खन की माँग 1,000 किलोग्राम है, वास्तव में, निरर्थक ही है जब तक कि हम उस अवधि को स्पष्ट नहीं करते जिसके लिए इस मात्रा की माँग की जा रही है।

माँग से अभिप्राय 'इच्छा' अथवा 'आवश्यकता' नहीं है। 'इच्छा' तब तक 'माँग' नहीं बनती जब तक उस 'इच्छा' को पूर्ण करने के लिए हमारे पास साधन नहीं है और उन साधनों का प्रयोग करने के लिए हम तत्पर नहीं हैं। उपभोक्ता की मोटरगाड़ी के लिए 'इच्छा' हो सकती है लेकिन जब तक उसके पास 20,000 रुपये नहीं हैं और वह इस राशि को व्यय करने के लिए तत्पर नहीं होता तब तक उसकी यह 'इच्छा' माँग का रूप धारण नहीं कर सकती। **अतः किसी वस्तु की माँग उसकी उन मात्राओं की अनुसूची होती है जिन्हें किसी समय विशेष एवं विभिन्न कीमतों पर क्रेता खरीदने के लिए तैयार रहते हैं। जहाँ तक व्यक्तिगत उपभोक्ता का सम्बन्ध है, किसी वस्तु के लिए की गई उसकी माँग से अभिप्राय उन विभिन्न मात्राओं से है जो वह विभिन्न कीमतों एवं किसी समय विशेष पर खरीदता है।**

माँग क्रिया

उपभोग का सिद्धांत धारणाओं एवं क्रियाओं से सम्बन्धित है। आर्थिक द ष्टिकोण से क्रिया कीमतों तथा माँग-मात्राओं जैसी दो से अधिक चल-राशियों के बीच सम्बन्ध स्थापित

करती है। क्रिया हमें यह बताती है कि किस प्रकार विभिन्न चल-राशियाँ एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। उपभोग के सिद्धांत में माँग क्रिया एक महत्त्वपूर्ण क्रिया मानी जाती है।

एक दिए हुए बाजार एवं एक दी हुई समयावधि में किसी वस्तु की माँग क्रिया उस वस्तु की खरीदी जानेवाली विभिन्न मात्राओं एवं उन मात्राओं के निर्धारकों के परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करती है। विभिन्न निर्धारक इस प्रकार हैं- (i) वस्तु की विभिन्न सम्भावित कीमतें, (ii) क्रेताओं की आय, (iii) क्रेताओं के आस्वाद (iv) अन्य समीपी वस्तुओं की कीमतें। क्रेताओं की आय वस्तु की खरीद को प्रभावित करनेवाला महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। क्रेताओं के आस्वाद भी वस्तु की माँग मात्रा को प्रभावित करते हैं। जो वस्तुएँ दी हुई वस्तु से सम्बन्धित होती हैं, वे प्रायः दो प्रकार की होती हैं - (i) स्थानापन्न वस्तुएँ, (ii) पूरक वस्तुएँ। स्थानापन्न एवं पूरक वस्तुओं की कीमतों में हुए परिवर्तन दी हुई वस्तु की माँग मात्राओं को बहुत प्रभावित करते हैं।

माँग अनुसूची एवं माँग वक्र

यदि हम किसी वस्तु की माँग अनुसूची का निर्माण कर उसके आधार पर माँग वक्र खींचे तो हम माँग के स्वरूप को और भी अच्छे ढंग से समझ सकते हैं। व्यक्तिगत माँग अनुसूची से अभिप्राय किसी वस्तु की उन विभिन्न मात्राओं की सूची से है, जिन्हें व्यक्तिगत उपभोक्ता बाजार में विभिन्न वैकल्पिक कीमतों पर खरीदता है। किसी व्यक्तिगत उपभोक्ता की मक्खन के लिए काल्पनिक माँग-अनुसूची की रचना कर देखें।

मक्खन की प्रति किलोग्राम कीमत (रुपयों में)	प्रति मास मक्खन की माँग की मात्रा (किलोग्राम में)
12	1
10	2
8	3
6	4
4	5

सारणी (5) में उपभोक्ता की मक्खन की माँग एवं कीमत को व्यक्त किया गया है। इसी सारणी के आधार पर हम उपभोक्ता का माँग वक्र खींच सकते हैं (रेखाक ति)

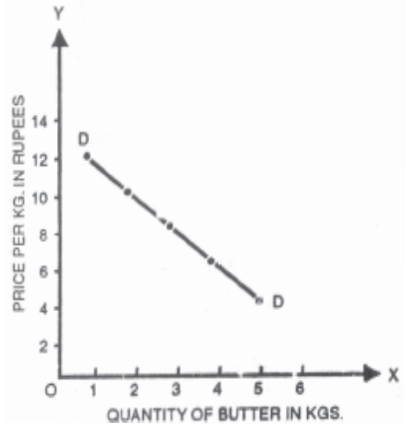

उक्त रेखाक ति में DD वक्र उपभोक्ता का माँग वक्र है। यह वक्र उपभोक्ता की मक्खन की माँग और उसकी कीमत के बीच के सम्बन्ध को व्यक्त करता है। हम किसी विशेष कीमत

को लेकर माँग वक्र की सहायता से यह जान सकते हैं कि उस कीमत पर मक्खन की सहायता से यह जान सकते हैं कि उस कीमत पर मक्खन की तत्सम्बन्धी उपभोक्ता की माँग क्या होगी।

व्यक्तिगत माँग अनुसूची के आधार पर ही बाजार माँग अनुसूची का निर्माण किया जा सकता है। इसमें कोई विशेष अनुसूची का निर्माण किया जा सकता है। इसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। जैसा कि हम जानते हैं, बाजार में तो कई उपभोक्ता होते हैं। प्रत्येक उपभोक्ता की अपनी-अपनी माँग अनुसूची में यह व्यक्त किया जाता है कि अमुक उपभोक्ता विभिन्न वैकल्पिक कीमतों पर वस्तु की कितनी-कितनी मात्राएँ खरीदता है। यदि हम सभी उपभोक्ताओं की माँग अनुसूचियों का जोड़ कर लें तो वह बाजार माँग अनुसूची बन जाएगी। इसे दो तरीकों से तैयार किया जा सकता है। प्रथम, बाजार में सभी उपभोक्ताओं की माँग अनुसूचियों का जोड़ करके बाजार माँग अनुसूची का निर्माण किया जा सकता है। दूसरे, यदि प्रतिनिधि उपभोक्ता की माँग अनुसूची को लेकर बाजार के सभी उपभोक्ताओं की कुल संख्या से उसे गुणा कर दिया जाए तो भी बाजार माँग अनुसूची बनकर तैयार हो जाएगी। बाजार माँग अनुसूची को तैयार करने हेतु अर्थशास्त्री साधारणतया दूसरी विधि का ही प्रयोग करते हैं।

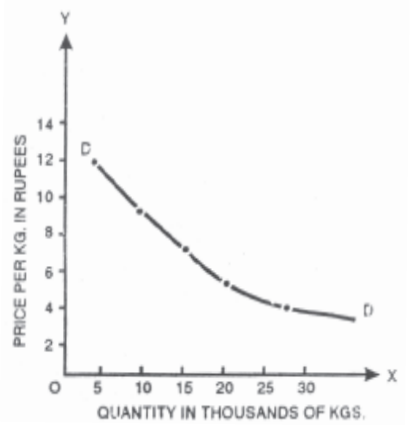

रेखाकृति में प्रदर्शित DD माँग वक्र उक्त बाजार माँग अनुसूची पर ही आधारित है। पारिभाषिक रूप में बाजार माँग वक्र सभी व्यक्तिगत माँग वक्रों का पार्श्व योग है। बाजार माँग वक्र के बारे में एक महत्त्वपूर्ण बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए। कि वस्तु सम रूप है तो उसका माँग वक्र निश्चित एवं यथार्थ होगा। इसका कारण यह है कि चूँकि वस्तु की विभिन्न किस्में नहीं हैं, इसलिए उपभोक्ता किसी विशेष किस्म को वरीयता नहीं दे सकता। अतः बाजार माँग अनुसूची को तैयार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। लेकिन यदि वस्तु की कई किस्में अथवा छाप हैं, तो उसका बाजार माँग वक्र इतना निश्चित एवं यथार्थ नहीं होगा। उस परिस्थिति में हमें वस्तु की विभिन्न किस्मों के लिए अलग-अलग बाजार माँग अनुसूचियाँ तैयार करनी पड़ेगी। उदाहरणार्थ, बाजार में मक्खन की कई किस्में उपलब्ध हैं; जैसे, अमूल मक्खन, केविण्टर मक्खन इत्यादि। मक्खन की विभिन्न किस्मों के लिए प्रत्येक उपभोक्ता की अपनी-अपनी वरीयताएँ होती हैं। अतः समूचे मक्खन के लिए एक माँग

अनुसूची तैयार करने के बजाए हमें मक्खन की विभिन्न किस्मों के लिए अलग-अलग माँग अनुसूचियों का निर्माण करना पड़ेगा। अतः विश्लेषण की यथार्थता के हित में यह आवश्यक है कि मक्खन की विभिन्न किस्मों के लिए हम पथक्-पथक् बाजार माँग वक्र खींचे।

उपरिलिखित व्यक्तिगत माँग एवं बाजार माँग वक्रों के अतिरिक्त दो अन्य माँग वक्र भी हैं जिनकी यहाँ पर हम संक्षेप में चर्चा करेंगे- (1) विक्रेता का औसत आगम-वक्र (2) कुल माँग वक्र विक्रेता औसत आगम वक्र, वस्तु की उन मात्राओं को व्यक्त करता है जिन्हें वह बाजार में विभिन्न कीमतों पर बेचने में समर्थ हो जाता है। यह वक्र वास्तव में व्यक्तिगत विक्रेता की वस्तु का माँग वक्र होता है। इसके विपरीत कुल माँग वक्र सभी वस्तु का माँग वक्र होता है। इसके विपरीत कुल माँग वक्र सभी वस्तुओं की उन मात्राओं को व्यक्त करता है जिन्हें राष्ट्रीय आय के विभिन्न स्तरों पर देश में खरीदा जाता है। यह वक्र सभी वस्तुओं की कुल माँग एवं समुदाय की कुल आय के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है।

माँग का नियम (जिसका अध्ययन हम नीचे करने जा रहे हैं) प्रथम तीन प्रकार के माँग वक्रों पर लागू होता है (अर्थात् व्यक्तिगत माँग वक्र, बाजार माँग वक्र, विक्रेता का औसत आगम वक्र - इन तीनों पर माँग का नियम क्रियाशील होता है) क्योंकि ये तीनों वक्र दायीं ओर नीचे झुकते हैं। लेकिन कुल माँग वक्र अपवाद है। उस पर माँग का नियम लागू नहीं होता।

मक्खन की प्रति किलोग्राम कीमत (रुपयों में)	मक्खन की प्रति मास माँग की मात्रा (किलोग्राम में)
12	5,000
10	10,000
8	15,000
6	20,000
4	30,000

माँग वक्र की एक त्रुटि यह है कि एक बिन्दु को छोड़कर शेष यह सूचना वक्र काल्पनिक होता है। यदि बाजार में मक्खन की वास्तविक कीमत 8 रुपये प्रति किलोग्राम है तो इस कीमत पर उपर्युक्त बाजार माँग अनुसूची के अनुसार उपभोक्ताओं द्वारा माँग की गई मक्खन की मात्रा 15,000 किलोग्राम है। इस प्रकार, मक्खन के बाजार माँग वक्र पर यही एक वास्तविक बिन्दु है। यदि मक्खन की कीमत 6 रुपये प्रति किलोग्राम हो जाती है तो इस कीमत पर मक्खन की कुल माँग कितनी होगी? अथवा यदि मक्खन की कीमत 10 रुपये प्रति किलोग्राम हो जाती है तो इस कीमत पर मक्खन की कुल माँग कितनी होगी? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमारे पास कुछ भी जानकारी अथवा सामग्री नहीं है। हाँ, यदि माँग की अवस्थाएँ अपरिवर्तित रहती हैं और मक्खन के विक्रेता वास्तव में इन्हीं कीमतों पर (अर्थात् 8 अथवा 10 रुपये प्रति किलोग्राम पर) ही बेचना आरम्भ कर देते हैं, तब तो हम उपयुक्त प्रश्नों का उत्तर देने की स्थिति में होंगे। लेकिन व्यावहारिक जीवन में ऐसा नहीं हुआ करता। अतः एक बिन्दु को छोड़कर शेष समूचा माँग वक्र काल्पनिक होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न समयों पर विभिन्न बाजारों से एकत्रित वस्तु-सम्बन्धी आँकड़ों पर निर्मित कीमतों एवं मात्राओं की

अनुसूचियों से सांख्यिकीय माँग वक्र खींचने का प्रयास किया है। ऐसा करते समय वे इस बात को मान लेते हैं कि माँग की अवस्थाएँ अपरिवर्तित नहीं रहती। अतः माँग की अवस्थाओं में भी परिवर्तन हो सकते हैं एवं उनके आस्वादों में भी फेरबदल होने की सम्भावना होती है। इन कारणों से सांख्यिकीय माँग वक्र भी पूर्णतः सही नहीं होता। लेकिन कुछ भी हो, इस त्रुटि के बावजूद सांख्यिकीय माँग वक्र, वास्तविक माँग वक्र पर स्थित अज्ञात बिन्दुओं के बारे में हमें बेहतर जानकरी प्रदान करता है। अज्ञात बिन्दुओं के बारे में अनुमान लगाने से बेहतर है कि हम सांख्यिकीय माँग वक्र का ही प्रयोग करें।

माँग का नियम

नियम की व्याख्या

इसे कभी-कभी क्रय का प्रथम नियम भी कहते हैं। यह नियम वस्तु की कीमत और बाजार में माँग की गई उसकी मात्रा के बीच सम्बन्ध को व्यक्त करता है। इस नियम की व्याख्या निम्न शब्दों में की जा सकती है: **''अन्य बातें समान रहते हुए किसी सेवा या वस्तु की कीमत में वद्धि होने पर उसकी माँग का नियम कीमत तथा माँगी गई मात्रा में विपरीत सम्बन्ध को बताता है।'' प्रो॰ पी. ए. सेम्युलसन** के अनुसार, ''जब किसी वस्तु की कीमत में वद्धि होती है (और साथ ही अन्य बातें समान रहती है) तो उस वस्तु की कम मात्रा माँगी जाती है अथवा दूसरे शब्दों में, यदि बाजार में वस्तु की अधिक मात्रा प्राप्य है तो (अन्य बातों के समान रहने पर) उक्त मात्रा को केवल नीची कीमत पर बेचा जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि माँग का नियम एक गुणात्मक कथन है न कि परिमाणात्मक कथन। इसका अर्थ है कि प्रस्तुत नियम केवल माँग में परिवर्तन की दिशा को बताता है अर्थात् केवल यह बताता है कि माँग कम होगी या अधिक। यह माँग में परिवर्तन के परिमाण को नहीं बताता अर्थात् यह नहीं बताता कि माँग कितनी मात्रा में कम होगी और कितनी मात्रा में कम होगी और कितनी मात्रा में अधिक। **संक्षेप में, माँग का नियम बताता है कि माँग की अपेक्षा विपरीत दिशा में परिवर्तित होती है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि माँग में परिवर्तन आनुपातिक हो।**

नियम की मान्यताएँ

नियम की परिभाषा में दो वाक्यांशों का प्रयोग किया गया है ''माँग की उन्हीं अवस्थाओं के अन्तर्गत'' तथा ''बशर्ते माँग की अवस्थाएँ अपरिवर्तित रहती हैं''। वास्तव में, इन वाक्यांशों का प्रयोग आवश्यक है क्योंकि इनमें वे सभी मान्यताएँ निहित हैं जिनके आधार पर इस नियम का निर्माण किया गया है। अब उन मान्यताओं को हमें स्पष्ट करना चाहिए। ये विभिन्न मान्यताएं इस प्रकार हैं - (1) लोगों की आय यथास्थिर रहती हैं, (2) लोगों के आस्वादों में कोई परिवर्तन नहीं होता, (3) अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की कीमत यथास्थिर रहती है (4) विचाराधीन वस्तु का कोई स्थानापन्न उपलब्ध नहीं है, (5) लोगों को इस बारे में तनिक भी आंशका नहीं है कि आगे चलकर वस्तु की कीमत में कोई परिवर्तन होनेवाला है, और (6) विचाराधीन वस्तु हीरे जवाहरात की भाँति सम्मानसूचक नहीं है। माँग का नियम तभी क्रियाशील होता है जब उपर्युक्त बातों को पहले से ही हम मानकर चलते हैं। उपर्युक्त मान्यताओं में तनिक भी परिवर्तन होने से बाजार में माँग के नियम की क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है।

व्यक्तिगत एवं बाजार माँग वक्रों को हम पहले ही इस अध्याय में प्रस्तुत कर चुके हैं। ये दोनों ही वक्र वस्तु की कीमत एवं उपभोक्ताओं द्वारा माँग की गई उसकी मात्रा के बीच पाए जानेवाले विलोग सम्बन्ध का बिन्दुरेखीय निरूपण प्रस्तुत करते हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि माँग का नियम क्यों क्रियाशील होता है? अधिक कीमत की अपेक्षा कम कीमत पर उपभोक्ता क्यों वस्तु की अधिक मात्रा खरीदता है? नियम की क्रियाशीलता के चार कारण हैं।

माँग का नियम क्रियाशील होने के निम्नलिखित चरण है

प्रथम, माँग का नियम इसलिए क्रियाशील होता है क्योंकि जब सीमान्त उपयोगिता का ह्रास नियम काम करना आरम्भ कर देता है। यद्यपि एक औसत उपभोक्ता सीमान्त उपयोगिता की सही-सही परिगणना नहीं करता लेकिन फिर भी वह इस तथ्य से निश्चय ही प्रभावित होता है कि जैसे-जैसे वह किसी वस्तु की अधिकाधिक मात्राएँ खरीदकर उस पर अतिरिक्त व्यय करता चला जाता है वैसे-वैसे ही उस वस्तु से उत्पन्न उसकी सन्तुष्टि अथवा उपयोगिता घटती चली जाती है। यही कारण है कि वह उस वस्तु की सीमित खरीद ही करता है जब तक कि घटती उपयोगिता के अनुपात में ही वस्तु की कीमत को नहीं घटा दिया जाता। हाँ, यदि वस्तु की कीमत में कमी कर दी जाती है तो वह उसकी अतिरिक्त मात्राएँ खरीदना चाहेगा। अतः यदि वस्तु की अतिरिक्त मात्राएँ खरीदने के लिए उपभोक्ता को प्रोत्साहित करना है तो विक्रेता को निश्चय ही कीमत में कमी करनी होगी।

दूसरे, विभिन्न उपयोगों के सिद्धांत की कार्यशीलता के कारण भी माँग का नियम क्रियाशील हो उठता है। जैसा कि हम जानते है कुछ वस्तुओं के अनेक उपयोग होते हैं। उनमें से कुछ उपयोग अधिक और कुछ कम महत्त्वपूर्ण होते हैं। अतः वस्तु की प्रभावपूर्ण माँग कम ही होगी। लेकिन यदि वस्तु की कीमत गिर जाती है तो उपभोक्ता उसे कम महत्त्वपूर्ण उपयोगों में भी लगाएगा। परिणामतः वस्तु की प्रभावपूर्ण माँग बढ़ जाएगी। उदाहरणार्थ, यदि सरसों के तेल की कीमत ऊँची है तो उसे केवल खाना पकाने के रुप में इस्तेमाल किया जाएगा। लेकिन यदि उसकी कीमत गिर जाती है तो लोग उसका प्रयोग केश-तेल के रूप में भी करने लगेंगे।

माँग की कार्यशीलता विभिन्न इच्छाओं के कारण भी होते है लोगों की आवश्यकताएँ, आस्वाद एवं स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। यह तथ्य नियम की कार्यशीलता में सहायक होता है। उदाहरणार्थ, कुछ लोगों का फिल्मों के प्रति असीमित अनुराग होता है, कुछ को उनसे केवल साधारण आनन्द की ही प्राप्ति होती है, लेकिन वह कुछ व्यक्तियों के लिए जो फिल्में बहुत ही नीरस होती है प्रथम श्रेणी के व्यक्ति तो फिल्मों को देखने के लिए ऊँची से ऊँची कीमत चुकाने को तैयार हो जाऐगें। अतः यदि सीटों की संख्या सीमित है तो अत्याधिक ऊँची कीमतो पर वह प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों को बेची जाएगी। व्यक्तियों को ही बेची जाएँगी। लेकिन दूसरी श्रेणी के फिल्म दर्शक सीटों के लिए इतनी अधिक कीमत चुकाने को तैयार नहीं होंगे। अतः यदि फिल्म मालिकान दूसरी श्रेणी के दर्शकों से भी लाभ कमाना चाहते हैं तो उन्हें दरों में यथोचित कमी करनी पड़ेगी।

माँग का नियम आस के सिद्धांत के कारण भी क्रियाशील हो जाता है समाज के सदस्यों की वैयक्तिक आय में पाई जानेवाली विभिन्नता भी इस नियम की कार्यशीलता में सहायक होती है। निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा धनी व्यक्ति अपनी अपेक्षाक त ऊँची क्रय शक्ति के कारण किसी वस्तु के लिए उसकी इच्छा इतनी आग्रहपूर्ण नहीं है जितनी निर्धन व्यक्ति की। अतः

यदि किसी वस्तु की पूर्ति सीमित है तो यह समूची पूर्ति धनी व्यक्तियों को बेची जा सकती है क्योंकि वे उस वस्तु के लिए ऊँची कीमत चुका सकते हैं। लेकिन यदि वस्तु की पूर्ति विशाल है और इसका कुछ भाग निर्धनों को भी बेचा जाना है तो उन्हें (निर्धनों को) आकर्षित करने के लिए वस्तु की कीमत को युक्तियुक्त स्तर तक घटाना होगा।

माँग के नियम की व्याख्या दो प्रभावों अर्थात् आय प्रभाव एवं प्रतिस्थापन प्रभाव के माध्यम से भी की जा सकती है।

आय-प्रभाव - किसी वस्तु की कीमत में गिरावट आने से उपभोक्ता की वास्तविक आय में वद्धि हो जाती है। अतः वह उस वस्तु की अतिरिक्त मात्रा खरीद सकता है। इसके विपरीत, जब वस्तु की कीमत बढ़ जाती है तो उपभोक्ता की वास्तविक आय में कमी हो जाती है। अतः वह उस वस्तु की कम मात्रा खरीदने के लिए विवश हो जाता है। मान लीजिए कि चीनी की कीमत गिर जाती है। चीनी की सामान्य मात्रा खरीदने के बाद कुछ मुद्रा बची तो रहती हैं इस मुद्रा का कुछ भाग तो उपभोक्ता चीनी की अतिरिक्त मात्राएँ खरीदने पर ही व्यय कर देता है। अतः चीनी की माँग में हुई उसकी परिणामी वद्धि, वास्तव में, आय प्रभाव के कारण ही हुई है। साधारणतया कोई भी उपभोक्ता अपनी आय का अधिकांश भाग किसी एक वस्तु पर व्यय नहीं करता। अतएव आय प्रभाव अधिक शक्तिशाली नहीं हुआ करता। लेकिन यदि विचाराधीन वस्तु महत्त्वपूर्ण है और उसकी खरीद पर उपभोक्ता अपनी आय का अधिकांश भाग व्यय कर देता है, तो ऐसी परिस्थिति में आय प्रभाव निश्चय ही शक्तिशाली होगा।

प्रतिस्थापन प्रभाव- यदि किसी वस्तु की कीमत गिर जाती है लेकिन उसके स्थानापन्नों की कीमतों में कोई गिरावट नहीं आती तो उपभोक्तागण निश्चय ही उस वस्तु की ओर आकर्षित होंगे और अन्य स्थानापन्न वस्तुओं के स्थान पर भी उसी वस्तु का उपयोग करेंगे। इससे उस वस्तु की माँग में विस्तार हो जाएगा। इस प्रकार उस वस्तु की माँग में होने वाला विस्तार, वास्तव में, प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण ही होगा। इसके विपरीत, यदि उल्लिखित वस्तु की कीमत में वद्धि होती है जबकि उसके स्थानापन्नों की कीमतें यथास्थिर रहती हैं, तो उपभोक्तागण उस वस्तु की ओर आकर्षित नहीं होंगे। अतः उस वस्तु की माँग अब कम हो जाएगी। उपभोक्तागण अब उस वस्तु के स्थान पर अन्य ऐसी स्थानापन्न वस्तुओं का उपयोग करने लगेंगे जिनकी कीमतों में वद्धि नहीं हुई है। परिणामतः उस वस्तु की माँग का संकुचन हो जाएगा और यह संकुचन प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण ही होगा।

सामान्यतः प्रतिस्थापन प्रभाव की तुलना में आय प्रभाव दुर्बल होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, साधारणतया उपभोक्ता अपनी आय का केवल छोटा-सा अंश ही किसी वस्तु विशेष पर व्यय करता है। अतः वस्तु की कीमत में होनेवाली गिरावट पर्याप्त रूप से उपभोक्ता की वास्तविक आय में वद्धि नहीं करेगी। इसीलिए आय-प्रभाव के परिणामस्वरूप वस्तु की माँग में केवल तनिक-सा विस्तार ही होगा। इसके विपरीत, आय प्रभाव की तुलना में स्थनापत्ति प्रभाव अधिक शाक्तिशाली होता है क्योंकि उपभोक्तागण अधिक मँहगी वस्तु के स्थान पर सदैव कम मँहगी वस्तु का प्रयोग करते है। इसके अतिरिक्त केवल प्रक ष्ट वस्तु के बारे में ही आय प्रभाव घनात्मक होता है धनात्मक होता है। यदि इस प्रकार की वस्तु की कीमत गिर जाती है तो उससे उपभोक्ता की वास्तविक आय में वद्धि हुई और वह इस वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने लगता है। लेकिन अवक ष्ट वस्तु के बारे में आय प्रभाव ऋणात्मक होता है। यदि ऐसी वस्तु की कीमत गिर जाती है तो उपभोक्ता की वास्तविक आय बढ़ जाती है और वह उस वस्तु की कम मात्रा में खरीदने लगता है। बढ़ी हुई वास्तविक आय

को उपभोक्ता प्रक ष्ट वस्तुओं पर व्यय करने लगता है। इसके विपरीत, प्रतिस्थापन प्रभाव सदैव धनात्मक होता है क्योंकि उपभोक्ता सदैव अधिक महँगी वस्तु के स्थान पर कम महँगी वस्तु का प्रयोग करता है। (बढ़िया) वस्तु के बारे में आय प्रभाव एवं प्रतिस्थापन प्रभाव दोनों ही धनात्मक होते हैं। अतः यदि किसी बढ़िया वस्तु की कीमत गिर जाती है तो उसकी माँग में सदैव विस्तार होगा। लेकिन (घटिया) वस्तु का आय-प्रभाव तो नकारात्मक होता है यद्यपि इसका प्रतिस्थापन प्रभाव धनात्मक ही होता है। इस वस्तु का शक्तिशाली प्रतिस्थापन प्रभाव इसके दुर्बल आय प्रभाव को पछाड़ देता है। अतः अन्तिम परिणाम तो धनात्मक ही होता है अर्थात् वस्तु की माँग में विस्तार हो जाता है। दूसरे शब्दों में, (घटिया) वस्तु की माँग कीमत गिरने पर बढ़ेगी और कीमत बढ़ने पर गिरेगी।

माँग के नियम के अपवाद

माँग का नियम, वास्तव में, एक सामान्य कथन है। इस सामान्य कथन के कुछ अपवाद भी हैं जो निम्नवत् हैं:

1. **गिफिन का सिद्धॉत विरोधाभास** - गिफिन वस्तु माँग के नियम का अपवाद है। इसकी कीमत में हुई गिरावट इसकी माँग को कम कर देती है। इसी प्रकार, इसकी कीमत में हुई वद्धि इसकी माँग को बढ़ा देती है। एक निर्धन व्यक्ति का उदाहरण लीजिए जो अपनी मौद्रिक आय का अधिकांश भाग बाजरा जैसी घटिया वस्तु पर व्यय कर देता है और अन्य वस्तुओं पर केवल थोड़ी-सी राशि ही व्यय कर पाता है। अब मान लीजिए कि बाजरा की कीमत बढ़ जाती है लेकिन अन्य वस्तुओं की कीमतें यथास्थिर रहती हैं। यह भी मान लीजिए कि उसकी मौद्रिक आय अपरिवर्तित रहती है। बाजरा की कीमत बढ़ जाने से उपभोक्ता की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाएगी। इसका कारण यह है कि बाजरा की कीमत वद्धि से उसकी वास्तविक आय में कमी हो जाती है। उपभोक्ता यह अनुभव करता है कि बाजरा पर व्यय की जाने वाली पूर्व मासिक राशि कीमत वद्धि के परिणामस्वरूप पहले की अपेक्षा अब कम बाजरा खरीदने में समर्थ होती है। यदि वह अन्य वस्तुओं की पुरानी मात्राएँ ही खरीदता है और बाजरा पर भी वही पुरानी मुद्रा-मात्रा व्यय करता है तो निश्चय ही वह भूखों मरेगा। अतः उसे अपने व्यय में पुनःसमायोजन करना ही पड़ेगा। वह अन्य वस्तुओं पर किए जाने वाले व्यय में निश्चय ही कटौती करेगा लेकिन बाजरा की प्रति माह खरीदी जाने वाली मात्रा को न केवल बनाए रखेगा, बल्कि उसमें व द्वि भी करेगा इसके विपरित, यदि बाजरा की कीमत गिर जाती है तो उपभोक्ता की वास्तविक आय प्र्याप्त रुप से बढ़ जाएगी। अतः अब वह बढिक्रया किस्म अथवा प्रक ष्ट वस्तुओ पर व्यय करेगा। परिणामतः बाजार की उसकी माँग वास्तविक रूप में घट जाएगी, यद्यपि इस वस्तु की कीमत में गिरावट आई है। अतः हम देखते हैं कि कीमत वद्धि होने पर उपभोक्ता बाजरा की अधिक मात्रा खरीदता है और कीमत ह्रास होने पर इसकी कम मात्रा चाहता है। निश्चय ही यह बात विचित्र-सी प्रतीत होती है लेकिन है यह तथ्य। यह परिस्थिति स्पष्टतः माँग से नियम का अपवाद है। चूँकि सर्वप्रथम सर रॉबर्ट गिफिन ने ही इस विचित्र परिस्थिति की ओर अर्थशास्त्रियों को ध्यान दिलाया था, इसलिए इसे गिफिन विरोधाभास कहा जाता है। सर गिफिन के अनुसार, रोटी की कीमत वद्धि के परिणामस्वरूप ब्रिटेन के श्रमिक परिवारों ने गोश्त के उपयोग पर किए जाने

वाले व्यय में इसलिए कटौती कर दी थी ताकि रोटी पर और अधिक व्यय करने के लिए उन्हें अतिरिक्त मुद्रा राशि उपलब्ध हो सके।

स्मरण रहे, किसी वस्तु की समूची बाजार माँग के दृष्टिकोण से गिफिन विरोधाभास का कुछ विशेष महत्त्व नहीं है। इसका कारण यह है कि यदि वस्तु कुछ लोगों के लिए अवकृष्ट (घटिया) है तो सम्भवतः अन्य लोगों के लिए यह सामान्य ही होगी। अतः कीमत - ह्रास से इसकी कुल माँग बढ़ जाएगी और कीमत वद्धि से इसकी कुल माँग घट जाएगी।

2. **सामाजिक स्तर प्रतीक वस्तु** - कभी-कभी उपभोक्ता किसी वस्तु विशेष को इसलिए नहीं खरीदता है कि उस वस्तु की कोई निजी हित होती है, बल्कि इसलिए खरीदता है कि उसके स्वामित्व से उसका सामाजिक स्तर ऊपर उठ जाता है। उदाहरणार्थ, धनी वर्गों द्वारा हीरे एवं कीमती पत्थर इसलिए खरीदे जाते हैं क्योकि उनके धारण करने से उन लोगों के सम्मान में वद्धि हो जाती है। यदि हीरों की कीमतें इतनी नीचे गिर जाती हैं कि निर्धन वर्ग भी उन्हें प्रचुर मात्रा में खरीदने में समर्थ हो जाते हैं तो हीरों में पाया जाने वाला सम्मानसूचकता अथवा लब्ध-प्रतिष्ठता का गुण समाप्त हो जाएगा। ऐसी परिस्थिति में सम्भव है कि धनी वर्ग हीरों को खरीदना बिल्कुल ही बन्द कर दे। लेकिन कुछ विरली परिस्थितियों को छोड़कर, यदि किसी 'स्तर प्रतीक' वस्तु की कीमत में कमी होती है तो सम्भवतः उसकी कुल माँग में कमी नहीं होगी। हो सकता है कि कम होने के बजाए ऐसी वस्तु की माँग का विस्तार हो जाए। इसका कारण यह है कि ऊँची कीमत होने के कारण पहले जो लोग उस वस्तु को खरीदने में असमर्थ थे, कीमत गिर जाने पर वे इसे खरीदना आरम्भ कर देते हैं। अतः 'स्तर-प्रतीक' वस्तु की बाजार-माँग को सम्भवतः हम माँग के नियम का अपवाद नहीं मान सकते।

3. **''उच्च समूल्य'' वस्तु** - माँग का नियम सम्भवतः ऐसी वस्तु पर भी क्रियाशील नहीं होता जिसके गुणों का मूल्यांकन उपभोक्तागण उसकी कीमत को देखकर ही करते हैं। क्रीम, पाउडर, लिपस्टिक एवं अनेक अन्य सौन्दर्य प्रसाधनों के उत्पादकगण अनुभव के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कीमत-वद्धि के उपरान्त इन वस्तुओं की बिक्री अक्सर बढ़ जाए करती है।

साधारणतया उपभोक्तागण उन वस्तुओं को प्रकृष्ट (बढ़िया) मानते हैं जो प्रायः ऊँची कीमतों पर बेची जाती हैं। इसलिए कम कीमतों की अपेक्षा अधिक कीमतों पर इन वस्तुओं को ज्यादा मात्रा में खरीदा जाता है। इस संदर्भ में प्रो॰ बेन्हम ने चित्रों की उस पुस्तिका का उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसे 10 शिलिंग 6 पौंड की कीमत पर प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व प्रकाशित किया गया था। उस समय इस पुस्तक की बहुत कम प्रतियाँ बिकी थीं। लेकिन युद्ध के बाद वही पुस्तक 3 पौंड 3 शिलिंग की कीमत पर पुनः प्रकाशित की गई। इस ऊँची कीमत पर पुस्तक की हजारों प्रतियाँ हाथों हाथ बिक गईं। लेकिन स्मरण रहे, ऐसे उदाहरण वास्तविक जीवन में बहुत कम मिलते हैं।

4. **सट्टा**- यदि किसी वस्तु की कीमत बढ़ रही है और भविष्य में इसके और अधिक बढ़ने की सम्भावना है तो बढ़ी हुई कीमत पर उपभोक्तागण वस्तु की कम नहीं, बल्कि अधिक मात्रा खरीदेंगे। इस प्रकार, ऐसे उदाहरणों में कीमत वद्धि के

परिणामस्वरूप माँग में कमी नहीं होती। दूसरे शब्दों में, माँग का नियम सत्य नहीं उतरता। लेकिन एक अन्य द ष्टिकोण से यही उदाहरण माँग के नियम की पुष्टि भी करता है। बढ़ती हुई कीमतों पर उपभोक्तागण इसलिए अधिक मात्रा में खरीदते हैं ताकि और अधिक ऊँची कीमतों पर उन्हें कम मात्रा में खरीदना पड़े।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मात्रात्मक द ष्टिकोण से माँग के नियम के अपवादों का कोई अधिक महत्त्व नहीं है। उपर्युक्त अपवादों के बावजूद माँग का नियम बाजार में बिकने वाली अधिकांश वस्तुओं पर लागू होता है। समग्र रूप में, यह कहना असत्य न होगा कि अन्य वस्तुएँ यथास्थिर रहते हुए, ऊँची कीमत की अपेक्षा कम कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जाती है, यद्यपि कुछ अवसरों पर कुछ उपभोक्तागण सम्भवतः इस सामान्य ढंग से व्यवहार नहीं करते।

''माँग'' एवं ''माँग की गई मात्रा'' में परिवर्तन

साधारण भाषा में 'माँग' एवं 'माँग की गई मात्रा' शब्दों का अविवेकपूर्ण ढंग से प्रयोग किया जाता है। लेकिन अर्थशास्त्र में हमें इन दोनों शब्दों के बीच अन्तर करना पड़ता है। वास्तव में, ये दोनों शब्द भिन्न हैं। इनके अर्थ भी भिन्न हैं। माँग के नियम के अनुसार, कीमत-परिवर्तन के परिणामस्वरूप 'माँग की गई मात्रा' में परिवर्तन होता है, लेकिन 'माँग' में नहीं। वास्तव में, यह महत्त्वपूर्ण बात है। माँग वक्र की सहायता से हम उन मात्राओं के बारे में सरलता से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं जिनकी विभिन्न कीमतों पर माँग की जाती है।

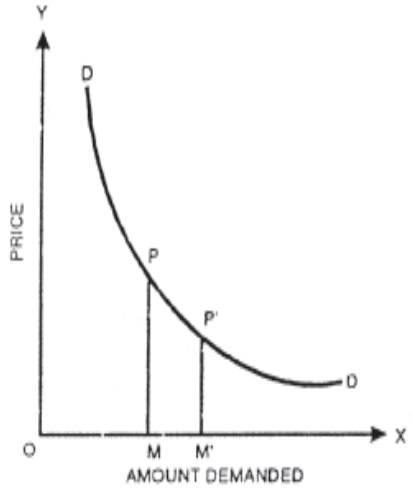

रेखाक ति में PM कीमत पर वस्तु की माँग की गई मात्रा OM है। यदि कीमत P'M' होती है, तो वस्तु की माँग की गई मात्रा OM' होती। अतः कीमत-परिवर्तन के साथ-साथ वस्तु की माँग की गयी मात्रा में भी परिवर्तन होता है लेकिन उपभोक्ता बराबर उसी माँग वक्र पर ही रहता हैं। वह उसी माँग वक्र पर ऊपर नीचे आता जाता रहता है। इस प्रकार कीमत-परिवर्तन से माँग की गई मात्रा में तो परिवर्तन होता है लेकिन माँग में नहीं। कीमत परिवर्तनों के परिणामस्वरूप माँग की गई मात्रा में होने वाला परिवर्तन माँग का विस्तार अथवा माँग का संकुचन कहलाता है। अन्य वस्तुएँ यथास्थिर रहते हुए, कीमत में होने वाली गिरावट के परिणामस्वरूप 'माँग की गई मात्रा का विस्तार होता है। इसके विपरित, अन्य

वस्तुएँ यथास्थिर रहते हुए कीमत में होने वाली व द्धि के फलस्वरुप कमी) माँग की गई मात्रा का संकुचन होता है। इस प्रकार माँग की गई मात्रा में परिवर्तन कीमत परिवर्तनों के प्रत्युत्तर में ही होते हैं। इसके विपरीत, माँग के परिवर्तन (माँग की वद्धि अथवा कमी) कीमत परिवर्तनों के बिना ही हो जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि माँग परिवर्तनों (माँग की वद्धि अथवा कमी) का अध्ययन करते समय हम वस्तु की कीमत को यथास्थिर ही मान लेते हैं। माँग-परिवर्तन के लिए कीमत में परिवर्तन का होना आवश्यक नहीं है। उपभोक्ता की आर्थिक आय में अथवा सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतों में होने वाले परिवर्तनों से विचाराधीन वस्तु की माँग में परिवर्तन हो जाते हैं, यद्यपि इसकी अपनी कीमत में कोई परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणार्थ, यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय में वद्धि होती है और उसके परिणामस्वरूप निश्चित कीमत पर वह वस्तु की मात्रा अधिक खरीदता है तो हम कह सकते हैं कि उसकी वस्तु की माँग बढ़ गई है। इसके विपरीत, यदि उसकी मौद्रिक आय घट जाती है और परिणामतः निश्चित कीमत पर वह वस्तु की कम मात्रा खरीदता है तो हम कह सकते हैं कि उसकी वस्तु की माँग घट गई है। दूसरे शब्दों में, माँग-व द्धि से अभिप्राय यह है कि किसी निश्चित कीमत पर उपभोक्ता पहले की अपेक्षा वस्तु की अधिक मात्रा की माँग करता है। इसका यह भी अर्थ है कि वस्तु की एक निश्चित मात्रा की उपभोक्ता द्वारा अधिक ऊँची कीमत पर माँग की जाती है। इसके विपरीत, माँग-ह्रास से अभिप्राय है कि किसी निश्चित कीमत पर उपभोक्ता पहले की अपेक्षा वस्तु की कम मात्रा की माँग करता है। इसका यह भी अर्थ है कि वस्तु की एक निश्चित मात्रा की उपभोक्ता द्वारा पहले की अपेक्षा कम कीमत पर माँग की जाती है। स्मरण रहे कि माँग-परिवर्तन का अध्ययन करते समय हमें मूल माँग-अनुसूची के स्थान पर एक नयी माँग-अनुसूची का निर्माण करना पड़ता है लेकिन कीमतों में हम कोई परिवर्तन नहीं करते। जब माँग में वद्धि होती है तो प्रत्येक कीमत के समक्ष प्रदर्शित वस्तु की मात्रा पहले की अपेक्षा बढ़ जाती है। इसी प्रकार, जब माँग में कमी होती है तो प्रत्येक कीमत के समक्ष प्रदर्शित वस्तु की मात्रा पहले की अपेक्षा घट जाती है। जब माँग-व द्धि होती है तो समूचा माँग-व्रक्र दार्यी ओर विवर्तित हो जाता है। इसके विपरीत, जब माँग में कमी होती है तो समूचा माँग-वक्र बार्यी ओर विवर्तित होता है। जब माँग-वक्र दार्यी ओर विवर्तित होता है, तब उपभोक्तागण पुरानी कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा खरीदते हैं। इसके विपरीत, जब माँग-वक्र दार्यी ओर विवर्तित होता है, तब उपभोक्तागण पुरानी कीमत पर वस्तु की कम मात्रा खरीदते हैं। इसके विपरित, जब माँग-वक्र बार्यी और विपरित होता है तब उपभोकतागण पुरानी कीमत पर वस्तु की कम मात्रा खरीदते है 'माँग-व द्धि' अथवा 'माँग-ह्रास' की व्याख्या करने हेतु हम मूल माँग-अनुसूची का पुनर्निर्माण करेंगे।

निम्नलिखित अनुसूची (देखिए, सारणी) में तीसरा स्तम्भ 'माँग-व द्धि' और चौथा स्तम्भ 'माँग-ह्रास' को व्यक्त करता है। मूल परिस्थिति को दूसरे स्तम्भ में प्रदर्शित किया गया है। रेखाक ति में निम्न माँग-अनुसूची को निरूपित किया गया है। *DD* मूल माँग-वक्र है।

D_1D_1 वक्र माँग-व द्धि को व्यक्त करता है जबकि D_2D_2 वक्र माँग-व द्धि को प्रकट करता है। D_1D_1 वक्र से स्पष्ट है कि उसी (पुरानी) कीमत पर उपभोक्ता वस्तु की अधिक मात्रा खरीदता है। D_2D_2 वक्र से स्पष्ट है कि उसी (पुरानी) कीमत पर उपभोक्ता वस्तु की कम मात्रा खरीदता है अथवा कम कीमत पर वस्तु की वही (पुरानी) मात्रा खरीदता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ''माँग की गई मात्रा'' में परिवर्तन कीमत-परिवर्तन के परिणामस्वरूप होता है जबकि 'माँग' में होने वाले परिवर्तन कीमत-परिवर्तन को छोड़ अन्य परिवर्तनों से होते हैं।

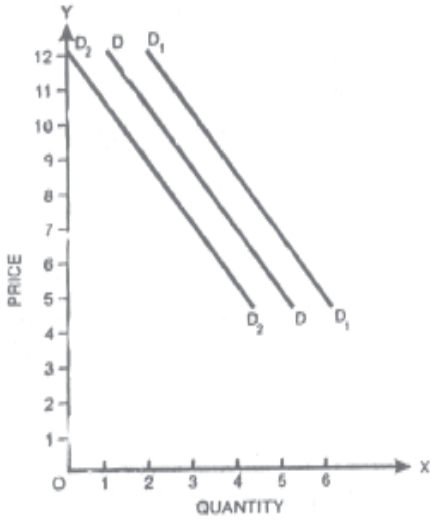

माँग को प्रभावित अथवा निर्धारित करने वाले घटक

माँग को प्रभावित करने वाले अथवा निर्धारित करने वाले घटक निम्नलिखित हैं:

1. **आय में परिवर्तन** - यह मानते हुए कि वस्तुओं की कीमतें यथास्थिर रहती हैं, उपभोक्ताओं की आय में होने वाली व द्धि के परिणामस्वरूप विभिन्न वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है। लेकिन उपभोक्ताओं की आय-व द्धि के परिणामस्वरूप 'गिफिन वस्तुओं' की माँग गिर जाती है क्योंकि आय बढ़ जाने पर साधारणतया उपभोक्तागण प्रक ष्ट (बढ़िया) वस्तुओं को खरीदना आरम्भ कर देते हैं।

2. **आस्वादों एवं वरीयताओं में परिवर्तन** - इस उपशीर्षक के अन्तर्गत हम फैशनों, रीति-रिवाजों, आदतों आदि में होने वाले परिवर्तनों को सम्मिलित कर सकते हैं। यदि कोई वस्तु विशेष फैशन में प्रचलित हो जाती है, तो निश्चय ही उपभोक्ताओं की माँग बढ़ जाएगी। उदाहरणार्थ, टेरीलीन कपड़ों का आज फैशन-सा हो गया है। अतः हमारे देश में टेरीलीन की माँग दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

3. **सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन** - किसी वस्तु की सम्बन्धित वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं - (1) स्थानापन्न वस्तुएँ (2) पूरक वस्तुएँ। उदाहरणार्थ, चाय और कॉफी दो अच्छी स्थानापन्न वस्तुएँ हैं। यदि चाय की कीमत को हम यथास्थिर मान लें तो कॉफी की कीमत-व द्धि में परिणामस्वरूप चाय की माँग बढ़

जाएगी। इसके विपरीत, (फिर चाय की कीमत को यथास्थिर मानते हुए) कॉफी की कीमत में होने वाली गिरावट के फलस्वरूप चाय की माँग घट जाएगी। दो वस्तुएँ तब पूरक कहलाती हैं जब किसी आवश्यकता को सन्तुष्ट करने हेतु दोनों की एक साथ जरूरत पड़ती है। उदाहरणार्थ, मक्खन और डबलरोटी पूरक वस्तुएँ हैं। डबलरोटी की कीमत में होने वाली गिरावट से मक्खन की माँग बढ़ जाएगी। इसके विपरित, यदि डबलरोटी की कीमत में वद्धि होती है तो मक्खन की माँग घट जाएगी।

4. **विविध तत्त्व** - इस उपशीर्षक के अन्तर्गत हम (1) जनसंख्या, (2) व्यावसायिक परिस्थिति, (3) भावी कीमतों से सम्बन्धित व द्ध की आशा, (4) धन का वातावरण, इत्यादि जैसे तत्त्वों की सम्मिलित करते हैं। ये विविध तत्त्व भी किसी वस्तु की माँग को प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, देश में जनसंख्या-व द्धि से खाद्यान्नों की माँग बढ़ जाती है।

जब उपर्युक्त तत्त्वों में परिवर्तन होते हैं तो माँग-वक्र भी परिवर्तित हो जाता है। यह दायीं ओर अथवा बायीं ओर विवर्तित हो जाता है। इस प्रकार माँग-वक्र सदैव परिवर्तनशील होते हैं। माँग-परिवर्तन के मुख्य कारण सारांशतः निम्नवत् हैं:

माँग में वद्धि

1. उपभोक्ताओं की आय बढ़ जाती है।
2. उपभोक्ताओं की इच्छाएँ तीव्र हो जाती हैं।
3. स्थानापन्न वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं।
4. पूरक वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं।

माँग में कमी

1. उपभोक्ताओं की आय में कमी होती है।
2. उपभोक्ताओं की इच्छाएँ दुर्बल हो जाती हैं।
3. स्थानापन्न वस्तुओं की कीमतें घट जाती हैं।
4. पूरक वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं।

माँग के प्रकार

माँग तीन प्रकार की होती हैं - (क) कीमत-माँग, (ख) आय-माँग, (ग) प्रत्युत्तर-माँग या तिर्यक माँग।

(क) कीमत-माँग (Price Denmand) - कीमत-माँग से अभिप्राय वस्तु की उन विभिन्न मात्राओं से है जो उपभोक्ताओं द्वारा विभिन्न कीमतों पर प्रति समय-इकाई माँग की जाती हैं अर्थात् $Dx = f(Px)$ माँग तथा उस वस्तु के कीमत की बीच फलनात्मक

सम्बन्ध होता है। (यहाँ पर हम यह मान लेते हैं कि उपभोक्ताओं की आय, उनके आस्वादों तथा फैशनों एवं अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं होता। हम यह भी मानकर चलते हैं कि उपभोक्तागण भविष्य में कीमतों में किसी प्रकार के परिवर्तन की आशा नहीं करते।) ऊपर हमने जिस माँग के नियम का अध्ययन किया है, वह वास्तव में, कीमत-माँग से ही सम्बन्धित है। इस प्रकार कीमत-माँग-अनुसूची एवं उसके तत्सम्बन्धी माँग-वक्र की सहायता से हमने कीमत-माँग का विस्तृत अध्ययन ऊपर कर लिया है।

(ख) आय-माँग (Income Denmand) — आय-माँग से अभिप्राय वस्तु की उन विभिन्न मात्राओं से है जो आय के विभिन्न स्तरों पर उपभोक्तागण खरीदते हैं,अर्थात् माँग तथा उपभोक्ता की आय के बीच फलनात्मक सम्बन्ध $Dx = f(Y)$ बशर्ते अन्य वस्तुएँ यथास्थिर रहती हैं। अन्य वस्तुओं में वस्तु की अपनी कीमत एवं अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतें भी सम्मिलित हैं। ये सब यथास्थिर रहनी चाहिए। आय-माँग-अनुसूची के प्रथम स्तम्भ में उपभोक्ता की आय तथा दूसरे स्तम्भ में माँग की गई वस्तु की तत्सम्बन्धी मात्राएँ दिखाई जाती हैं। आय-माँग-अनुसूची के आधार पर आय-माँग-वक्र खींचा जा सकता है। आय-माँग - वक्र आय एवं मात्रा के बीच के सम्बन्ध को ठीक उसी प्रकार प्रकट करता है जिस प्रकार कीमत-माँग - वक्र कीमत एवं मात्रा के बीच के सम्बन्ध को व्यक्त करता है। लेकिन आय-माँग - वक्र एवं कीमत-माँग वक्र के बीच एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। कीमत-माँग-वक्र सदैव बायीं ओर से दायीं ओर नीचे झुकता है लेकिन आय-माँग-वक्र साधारणतया दायीं ओर ऊपर चला जाता है। यद्यपि कुछ उदाहरणों में यह कीमत माँग-वक्र की भाँति दायीं ओर नीचे भी झुकता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आस-माँग-वक्र की घनात्मक ढाल की धनात्मक ढाल क्यों होती है? दूसरे शब्दों में, यह ऊपर दायीं ओर क्यों ऊपर चढ़ता चला जाता है? इसकी व्याख्या करना अति सरल है। जैसे-जैसे उपभोक्ताओं की आय बढ़ती जाती है, वे वस्तु की अधिकाधिक मात्राएँ खरीदते हैं। इसके विपरीत, जैसे-जैसे उपभोक्ताओं की आय घटती है, वे वस्तु की कम मात्राएँ खरीदते हैं। लेकिन यह सदैव सत्य नहीं होता। कुछ घटिया किस्म की वस्तुएँ होती हैं जिन्हें 'गिफिन वस्तुएँ' कहते हैं। उन पर यह नियम कार्यशील नहीं होता। जब उपभोक्ता निर्धन होते हैं तब वे इन वस्तुओं को अधिक मात्रा में खरीदते हैं। लेकिन जैसे-जैसे उनकी आय बढ़ती है (अर्थात् वे धनी होते चले जाते हैं) वैसे-वैसे वे इन वस्तुओं की कम मात्रा खरीदते हैं। परिणामतः 'गिफिन वस्तु' के आय-माँग वक्र की ऋणात्मक ढाल होती है अर्थात् यह वक्र दायीं ओर नीचे झुकता है। लेकिन, स्मरण रहे, प्रकृष्ट (बढ़िया) वस्तु के आय-माँग-वक्र की धनात्मक ढाल होती है अथवा यह दायीं ओर ऊपर चढ़ता जाता है। रेखाकृति a तथा b प्रकृष्ठ (बढ़िया) वस्तु एवं अवकृष्ट (घटिया) वस्तु के आय-माँग-वक्रों को प्रदर्शित किया गया है।

आय-वृद्धि के परिणामस्वरूप सामान्य अथवा प्रकृष्ट वस्तु की माँग बढ़ती है। जब उपभोक्ता की आय OR होती है, तब उसकी वस्तु की माँग OM होती है। लेकिन जब उसकी आय OR से बढ़कर OR_1 हो जाती है, तब वस्तु की माँग भी OM से बढ़कर OM_1 हो जाती है। इसके विपरीत, आय-वृद्धि के परिणामस्वरूप असामान्य अथवा अवकृष्ट वस्तु की माँग घटती है। जब उपभोक्ता की आय OR होती है, तब उसकी वस्तु की माँग OM होती है। लेकिन जब उपभोक्ता की आय OR से बढ़कर

OR_1 हो जाती है, तब उसकी वस्तु की माँग OM से घटकर OM_1 हो जाती है। इस प्रकार, प्रक ष्ट वस्तु के सन्दर्भ में आय एवं माँग का सहसम्बन्ध धनात्मक होता है जबकि अवक ष्ट अथवा 'गिफिन' वस्तु के सन्दर्भ में आय एवं माँग का परस्पर सम्बन्ध ऋणात्मक ही होता है।

(ग) प्रत्युत्तर-माँग (Cross Demand) - प्रत्युत्तर-माँग विभिन्न मात्राएँ जिन्हें उपभोक्ता किसी उपभोक्ता किसी अन्य सम्बधित वस्तु की विभिन्न कीमतों पर प्रति समय इकाई खरीदता है जबकि अन्य वस्तुएँ स्थिर रहती है अन्य वस्तुओं का अर्थ है कि उपभोक्ता की आप और वस्तु की कीमत। एक वस्तु की माँग एवं दूसरी वस्तु की कीमत का सह-सम्बन्ध धनात्मक भी हो सकता है और ऋणात्मक भी। वास्तव में, यह दोनों वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध के स्वरूप पर निर्भर करता है। दोनों वस्तुएँ स्थानापन्न भी हो सकती हैं और पूरक भी। यदि वे स्थानापन्न हैं तो स्पष्टतः वे एक ही आवश्यकता को सन्तुष्ट करती हैं। यदि उपभोक्ता एक वस्तु की अधिक मात्रा में खरीदता है तो निश्चय ही दूसरी वस्तु को कम मात्रा में खरीदेगा। उदाहरणार्थ, चाय और कॉफी अच्छी स्थानापन्न वस्तुएँ हैं। यदि चाय की कीमत में वद्धि हो जाती है तो उपभोक्ता उसकी कम मात्रा खरीदेंगे। इसके स्थान पर वे कॉफी की अधिक मात्रा खरीदेंगे। इस प्रकार चाय की कीमत-व द्धि कॉफी की माँग को बढ़ा देती है। इसके विपरीत, चाय की कीमत में कमी होने से कॉफी की माँग संभवतः घट जाएगी क्योंकि उपभोक्ता अब चाय की अधिक मात्रा खरीदेंगे। चाय की कीमत से सम्बन्धित कॉफी के प्रत्युत्तर माँग-वक्र की ढाल धनात्मक होगी। दूसरे शब्दों में, यह वक्र दायीं ओर ऊपर चला जाएगा।

जैसा कि रेखाक ति में दिखाया गया है, जब चाय की कीमत OR से बढ़कर OR_1 हो जाती है तो कॉफी की माँग OM से बढ़कर OM_1 हो जाती है।

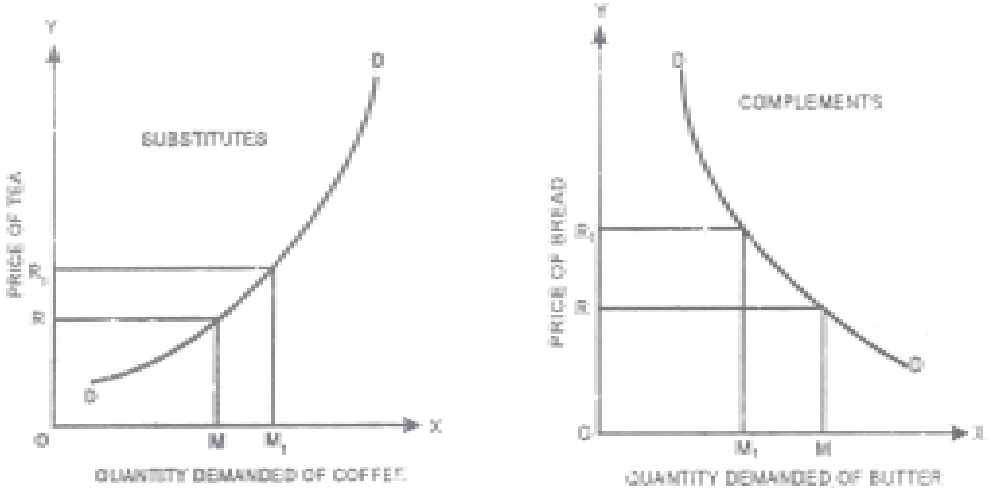

(a) (b)

इसके विपरीत, किसी एक आवश्यकता को सन्तुष्ट करने के लिए यदि दोनों वस्तुओं की माँग संयुक्त रूप से होती है तो वे पूरक वस्तुएँ कहलाएँगी। उदाहरणार्थ, डबलरोटी तथा

मक्खन पूरक वस्तुएँ हैं। यदि डबलरोटी की कीमत में कमी होती है तो इससे मक्खन की माँग बढ़ जाएगी। इसके विपरीत, यदि डबलरोटी की कीमत में वद्धि होती है तो मक्खन की माँग घट जाएगी। डबलरोटी की कीमत से सम्बन्धित मक्खन के प्रत्युत्तर माँग-वक्र की ढाल ऋणात्मक होगी अथवा यह वक्र दायीं ओर नीचे झुकेगा। जब डबलरोटी की कीमत OR_1 से गिरकर OR हो जाती है तो मक्खन की माँग OM_1 से बढ़कर OM हो जाएगी। देखिए, रेखाकति। स्मरण रहे, उपर्युक्त तीन प्रकार की माँग में से कीमत-माँग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे कभी-कभी परम्परागत माँग भी कहते हैं।

माँग-वक्र नीचे की ओर क्यों झुकता है?

ऊपर हम देख चुके हैं कि माँग-वक्र बायीं ओर से दायीं ओर नीचे झुकता है। इसका अभिप्राय यह है कि कम कीमत पर बाजार में वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जाती है। जितनी कीमत कम होगी, उतनी ही अधिक मात्रा खरीदी जाएगी। अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है कि माँग-वक्र बायीं ओर से दायीं आरे नीचे क्यों झुकता है? वैसे तो इस प्रश्न का उत्तर अप्रत्यक्ष रूप से ''माँग का नियम क्यों कार्यशील होता है?'' शीर्षक के अन्तर्गत पहले ही दिया जा चुका है। सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार, जैसे-जैसे उपभोक्ता किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयों का उपभोग करता चला जाता है, वैसे-वैसे ही उसकी अतिरिक्त उपयोगिता में कमी होती जाती है। जैसे-जैसे उपभोग की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही सीमान्त उपयोगिता में ह्रास की प्रवत्ति उत्पन्न होती जाती है। यह भी पहले बताया जा चुका है कि सम-सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार, प्रत्येक उपभोक्ता इस ढंग से व्यवहार करता है कि अधिकतम उपयोगिता की प्राप्ति हो। उपभोक्ता को अधिकतम उपयोगिता तभी प्राप्त होगी जब उसके द्वारा खरीदी गई सभी वस्तुओं का सीमान्त उपयोगिता-कीमत अनुपात एकसमान होगा। चूँकि किसी दी हुई वस्तु के उपभोग में की गई वद्धि से उपभोक्ता को प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता कम होगी, अतः वह उस वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों को खरीदने के लिए तभी तैयार होगा जब उस वस्तु की कीमत को उसकी सीमान्त उपयोगिता में होने वाले ह्रास के अनुपात में घटा दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, विक्रेता यदि चाहता है कि उपभोक्ता उसके माल की अतिरिक्त इकाइयाँ खरीदे तो उसे (विक्रेता को) अपने माल की कीमत घटानी होगी। कारण स्पष्ट है, वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ खरीदने से उपभोक्ता की सीमान्त उपयोगिता में निश्चय ही ह्रास होता है। अतः वस्तु की कीमत को भी उसी अनुपात में घटाना होगा अन्यथा उपभोक्ता वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ खरीदने से इन्कार कर देगा। यही कारण है कि माँग वक्र बायीं ओर से दायीं ओर नीचे झुकता है।

प्रारूपिक माँग-वक्र की बायीं ओर से दायीं आरे नीचे की ढाल की व्याख्या एक अन्य ढंग से भी जा सकती है। किसी निश्चित मौद्रिक आय से अधिकतम उपयोगिता की प्राप्ति हेतु उपभोक्ता इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि सभी वस्तुओं से उपलब्ध होने वाली सीमान्त उपयोगिताओं तथा उनके लिए चुकाई गई कीमतों के बीच के अनुपात में समानता स्थापित हो जाएगा। अन्य वस्तुएँ यथास्थिर रहते हुए, यदि किसी एक वस्तु की कीमत गिर

जाती है तो अन्य शेष वस्तुओं की तुलना में उस वस्तु का सीमान्त उपयोगिता-कीमत अनुपात पहले की अपेक्षा अधिक होगा। उस वस्तु के लिए चुकाई गई कीमत के रूप में उपभोक्ता को उस वस्तु से अब अधिक सीमान्त उपयोगिता की प्राप्ति होगी। अपनी उपयोगिता को अधिकतम बनाने के लिए उपभोक्ता कीमत अनुपात सापेक्षतः कम है। लेकिन उपभोक्ता उस वस्तु पर व्यय बढ़ा देगा जिसकी कीमत गिर चुकी है (अथवा जिसका सीमान्त उपयोगिता कीमत अनुपात सापेक्षतः ऊँचा है)। उपभोक्ता इस सापेक्षतः सस्ती वस्तु पर अधिकाधिक व्यय तब तक करता चला जाएगा जब तक कि इसका सीमान्त उपयोगिता-कीमत अनुपात के बराबर नहीं हो जाता। इसके विपरीत, यदि वस्तु की कीमत बढ़ जाती है तो अन्य वस्तुओं की तुलना में उसका सीमान्त उपयोगिता-कीमत अनुपात कम होगा। अपनी उपयोगिता को अधिकतम बनाने के लिए उपभोक्त अब उस पर व्यय कम कर देगा और अन्य वस्तुओं पर व्यय बढ़ा देगा। सामान्यतया, जब किसी वस्तु की कीमत बढ़ जाती है तब उसकी माँग की जाने वाली मात्रा बढ़ जाती है। परिणामतः माँग-वक्र को बायीं आरे से दायीं ओर नीचे झुकना ही पड़ता है।

अपवादस्वरूप माँग-वक्र

हमने ऊपर देखा है कि सामान्यतया माँग-वक्र बायीं ओर से दायीं ओर नीचे झुकता है। ऐसा माँग-वक्र, वास्तव में, माँग के नियम की पुष्टि करता है (स्मरण रहे, माँग के नियम के अनुसार किसी वस्तु की कीमत के गिरने पर उसकी माँग बढ़ जाती है। इसके विपरीत, वस्तु की कीमत के बढ़ने पर उसकी माँग गिर जाती है।) कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है क्या अपवादस्वरूप माँग-वक्र भी होता है? दूसरे शब्दों में, क्या कोई ऐसा माँग-वक्र भी होता है जो बायें से दायें ऊपर की ओर चढ़ता चला जाता है? क्या कीमत-मात्रा के सामान्य सम्बन्ध का विपर्यय किया जा सकता है? जैसा कि ''माँग के नियम के अपवाद'' शीर्षक के अन्तर्गत बताया गया है, कीमत-मात्रा के इस विपर्ययित सम्बन्ध के निश्चय ही कुछ उदाहरण संभव हो सकते हैं। चार ऐसे उदाहरणों का वहाँ उल्लेख किया गया था। क्या इसका अर्थ यह हुआ कि इन चारों अपवादस्वरूप उदाहरणों में माँग-वक्र बायें से दायें ऊपर की ओर चढ़ता चला जाएगा? हो सकता है, प्रथम द ष्टिपात में हमारा यही निष्कर्ष हो लेकिन यदि सावधानी से हम इन चारों उदाहरणों का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि प्रत्येक उदाहरण में माँग-वक्र में निहित मान्यताएँ गलत ही सिद्ध होती हैं। अतः यह कहीं अच्छा होगा यदि हम प्रत्येक उदाहरण का एक ऊपर चढ़ते हुए वक्र से निरूपित न करके नीचे की ओर ढाल वाले अनेक सामान्य माँग-वक्रों से व्यक्त करें। ये नीची ढाल वाले माँग वक्र परिस्थिति के अनुसार दायीं अथवा बायीं ओर विवर्तित हो सकते हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण 'गिफिन वस्तुओं' का है। जैसा कि पहले बताया गया है, 'गिफिन वस्तु' की कीमत में वद्धि के परिणामस्वरूप इसकी माँग की गई मात्रा में भी वद्धि हो जाती है। अब प्रश्न यह है कि 'गिफिन वस्तु' के बारे में ऐसी विचित्र बात क्यों होती है? इसका कारण यह है कि 'गिफिन वस्तु' की कीमत में परिवर्तन होने से उपभोक्ता की वास्तविक

आय में भी परिवर्तन हो जाता है। लेकिन माँग का नियम तो यह मानकर चलता है कि उपभोक्ता की वास्तविक आय अपरिवर्तित ही रहती है। अतः इस उदाहरण में माँग के नियम की एक आधारमूलक मान्यता सही सिद्ध नहीं होती। वास्तव में, इस उदाहरण में होता यह है कि कीमत-व द्धि के परिणामस्वरूप वास्तविक आय में कमी हो जाती है और माँग-वक्रों का विवर्तन होने लगता है। D_1D_1 माँग-वक्रों D_2D_2 में विवर्तित होती है और D_2D_2 माँग-वक्र D_3D_3 में। इस प्रकार यह वक्र प्रचलित रहता है। देखिए, रेखाक ति। ध्यान रहे, कीमत-व द्धि के परिणामस्वरूप उपभोक्ता नीचे वाले माँग-वक्र से दायीं ओर स्थित ऊपर वाले माँग-वक्र पर चला जाता है। वह एक ही ऊपर चढ़ने वाले माँग-वक्र के सहारे-सहारे ऊपर नहीं चढ़ता, जैसा कि रेखाक ति में दिखाया गया है।

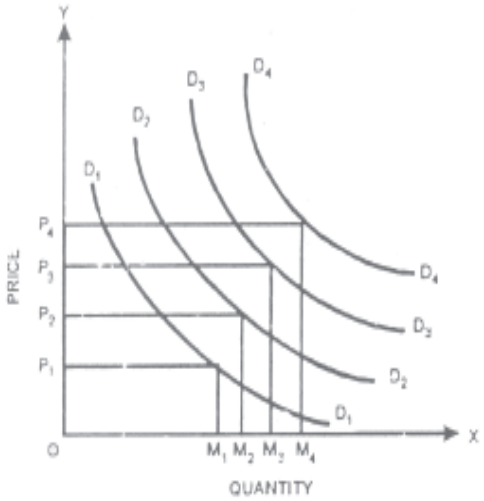

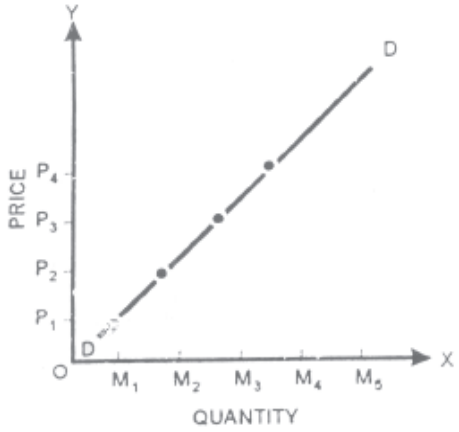

'गिफिन वस्तु' के उदाहरण का निरूपण रेखाक ति की अपेक्षा रेखाक ति की सहायता से श्रेष्ठ ढंग से किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि उपभोक्ता की आय अपरिवर्तित ही रहती है। हमारे विचार में रेखांकित रेखाक ति की अपेक्षा अधिक उपयुक्त एवं यथार्थ है।

अपवादस्वरूप शेष तीन उदाहरणों पर भी यही तर्कविधि लागू होती है। प्रत्येक उदाहरण को एक ऊपर चढ़ते हुए माँग-वक्र के बजाए अनेक दायीं अथवा बायीं ओर विवर्तित होने वाले माँग-वक्रों से व्यक्त किया जा सकता है। अब आप दूसरे तथा तीसरे उदाहरण को लीजिए। दूसरा उदाहरण 'स्तर-प्रतीक' वस्तु और तीसरा उदाहरण 'उच्च मूल्यित' वस्तु से सम्बन्धित है। स्पष्टतः जब इन वस्तुओं की कीमतों में वद्धि होती है तो उनकी माँग की गई मात्राओं में भी वद्धि होती है। यद्यपि कीमतों में वद्धि होने के उपरान्त भौतिक द ष्टिकोण से दोनों वस्तुएँ यथास्थिर ही रहती हैं लेकिन जहाँ तक उपभोक्ताओं का सम्बन्ध है, उनके लिए वस्तुओं का स्वरूप निश्चित रूप से बदल जाता है, यहाँ तक कि अर्थशास्त्रियों के लिए वे अब बिल्कुल भिन्न वस्तुएँ बन जाती हैं। अतः उन्हें ऊपर चढ़ते हुए माँग-वक्र से व्यक्त नहीं किया जा सकता।

चौथे उदाहरण (अर्थात् सट्टे) में यदि किसी वस्तु की कीमत में वद्धि होती है तो इससे उपभोक्ताओं के मन में यह आशंका उत्पन्न हो जाती है कि आगे चलकर भविष्य में उस वस्तु की कीमत में और अधिक वद्धि होगी। अतः वस्तु की कीमत मे अतिरिक्त वद्धि होने से पूर्व वे वस्तु की और अधिक मात्राएँ खरीद लेते हैं। इस उदाहरण से कम कीमत की अपेक्षा अधिक कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा की माँग की जाती है। स्पष्टतः इस उदाहरण को ऊपर चढ़ते हुए माँग-वक्र से ही व्यक्त किया जाएगा लेकिन यदि हम सावधानी से इस उदाहरण का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि कीमत मे भावी व द्धियों की आशंसाओं के कारण उपभोक्ता की माँग की परिस्थिति में ही परिवर्तन हो गया है। अतः एक ऊपर चढ़ते हुए माँग-वक्र के बजाए इस उदाहरण को दायीं ओर विवर्तित होने वाले सामान्य माँग-वक्रों की माला से निरूपित किया जा सकता है। ऐसा करना न केवल उपयुक्त, बल्कि यथार्थ भी होगा।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उपर्युक्त चारों में से किसी भी उदाहरण को व्यक्त करने के लिए अपवादात्मक माँग-वक्र की आवश्यकता नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि अपवादात्मक माँग-वक्र बहुत ही दुर्लभ होता है।

माँग के उपयोगिता-विश्लेषण की आलोचना

उपयोगिता-विश्लेषण के विभिन्न दोषों एवं त्रुटियों की विवेचना करने से पूर्व हम संक्षेप में, इसकी ऐतिहासिक प ष्ठभूमि के बारे में दो शब्द कहना चाहेंगे— उपयोगिता-विश्लेषण का जन्म कब हुआ और अतीतकाल में यह विकसित कैसे हुआ? जैसाकि सुविदित है, उपयोगिता-विश्लेषण का विकास उन्नीसवीं शताब्दी में जेवन्स, वालरस एवं मेंजर जैसे सुविख्यात अर्थशास्त्रियों ने किया था। वे उपयोगिता को मूल धारणा कहकर स्वीकार करते थे और माँग-विश्लेषण के लिए तो वे सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम को एक आधारमूलक नियम मानते थे। उनके उपयोगिता-विश्लेषण से सम्बन्धित तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथमतः उनके अनुसार उपयोगिता से अभिप्राय वस्तु की उपभोक्ता को आनन्द प्रदान करने की क्षमता से है। 'उपयोगिता' आनन्द को व्यक्त करती है जबकि 'अनुपयोगिता' कष्ट को प्रकट करती है। यह वास्तव में माँग-अध्ययन के प्रति भोगवादीय द ष्टिकोण है। दूसरे, चूँकि

आनन्द, का अनुभव में, उपयोगिता का अनुभव तो किया जा सकता है लेकिन इसे मापना सम्भव नहीं है। लेकिन फिर भी इन अर्थशास्त्रियों ने उपभोक्ता द्वारा अनुभव की जाने वाली उपयोगिता को 'इकाईयो' के रूप में व्यक्त किया था। उदाहरणार्थ, किसी वस्तु की विभिन्न इकाइयों का उपभोग करने से 30 'इकाइयाँ' उपयोगिता उपलब्ध होती है। उन्होंने कभी भी यह स्पष्ट नहीं किया कि उपयोगिता को कैसे मापा जा सकता है, जबकि 'उपयोगिता' विशुद्धतः एक मानसिक अनुभव है। तीसरे, इन अर्थशास्त्रियों ने 'उपयोगिता' को वस्तु की पूर्ति अथवा मात्रा का ही फलन स्वीकार किया था। दूसरे शब्दों में, उनके अनुसार, किसी वस्तु की उपयोगिता उसकी पूर्ति, अथवा मात्रा पर ही निर्भर करती थी। उदाहरणार्थ, चाय की 'कुल' एवं 'सीमान्त ' उपयोगिता (इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार) केवल चाय की पूर्ति से ही निर्धारित होती है। कॉफी की (जो चाय की सम्बन्धित वस्तु है।) मात्रा का चाय की उपयोगिता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। यदि कॉफी यथास्थिर ही रहती है, तो 'उपयोगिता विश्लेषण' के अनुसार चाय की 'कुल' एवं 'सीमान्त ' उपयोगिता में कोई परिवर्तन नही होगा। इसके विपरित यदि चाय की मात्रा में परिवर्तन होता है तो उसकी 'कुल' एवं 'सीमान्त ' उपयोगिता में निश्चय ही परिवर्तन होगा, भले ही कॉफी की मात्रा में परिवर्तन हुआ हो अथवा नहीं। इस प्रकार 'उपयोगिता विश्लेषण' के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की मात्राओं से स्वतंत्र होती है।

जेवन्स, वालरस एवं मेंजर द्वारा विकसित किए गए उक्त उपयोगिता-विश्लेषण में डॉ. मार्शल ने अपनी ओर से कई प्रकार के सुधार किए थे। प्रथमतः, अपने पूर्वजों द्वारा अपनाये गए भोगवादीय द ष्टिकोण का डॉ. मार्शल ने पूर्णतः परित्याग कर दिया था। उन्होंने 'आनन्द' शब्द के स्थान पर 'सन्तुष्टि' और 'कष्ट' शब्द के स्थान पर 'प्रयत्न' एवं परित्याग शब्दों का प्रयोग किया था। दूसरे, उन्होंने 'उपयोगिता' शब्द को किसी प्रकार का नैतिक स्वरूप देने से साफ इन्कार कर दिया था। उनके अनुसार, यदि कोई वस्तु किसी 'आवश्यकता' को सन्तुष्ट करती है तो निश्चय ही उसमें 'उपयोगिता' होगी। 'आवश्यकता' नैतिक द ष्टि से अच्छी है अथवा बुरी-इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं। उदाहरणार्थ, शराब में उपयोगिता है, यद्यपि यह एक ऐसी 'आवश्यकता' को सन्तुष्ट करती है जो नैतिक द ष्टि से अच्छी नहीं समझी जा सकती। दूसरे शब्दों में, 'आवश्यकता' के अच्छे अथवा बुरे होने से वस्तु की उपयोगिता पर प्रभाव नहीं पड़ता। तीसरे, डॉ. मार्शल ने स्पष्टतः बताया कि 'उपयोगिता' मध्य होती है, यद्यपि इसका मापन केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई उपभोक्ता किसी वस्तु का उपभोग करता है तो उससे उसे कुछ सन्तुष्टि प्राप्त होती है। अब इस सन्तुष्टि को प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं मापा जा सकता क्योंकि यह एक मानसिक अनुभव है और इसलिए माप्य नहीं है। लेकिन इस सन्तुष्टि को अप्रत्यक्ष रूप में निश्चय ही मापा जा सकता है। वह कैसे ? इस सन्तुष्टि को प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता जो कीमत चुकाने के लिए तैयार है, उसी कीमत से सन्तुष्टि को मापा जा सकता है। इस प्रकार, डॉ. मार्शल के अनुसार, मुद्रा के मध्यम से उपयोगिता को मापा जा सकता है।

डॉ. मार्शल द्वारा किए गए सुधारों के बावजूद वर्तमान उपयोगिता-विश्लेषण असन्तोषजनक अवस्था में है। इस विश्लेषण के विरुद्ध निम्नलिखित आलोचनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं:

1. **मुद्रा उपयोगिता की सन्तोषजनक माप नहीं है** - डॉ. मार्शल के अनुसार, मुद्रा उपयोगिता को माप सकती है लेकिन अप्रत्यक्ष रूप में ही, प्रत्यक्षतः नहीं। आलोचकों के कथनानुसार मुद्रा उपयोगिता की अविश्वसनीय एवं असन्तोषजनक

माप है क्योंकि स्वयं मुद्रा में ही स्थिरता का अभाव पाया जाता है। उदाहरणार्थ, एक ही व्यक्ति एक ही मुद्रा-इकाई से विभिन्न समयों पर विभिन्न उपयोगिताएँ प्राप्त करता है। इसी प्रकार, यदि मि. A तथा मि. 'B' दो व्यक्ति किसी वस्तु के लिए एक ही कीमत चुकाते हैं तो इसका यह अभिप्राय प्राप्त होगी। प्रो. तपस मजूमदार के शब्दों में, ''यदि मुद्रा वस्तु की उपयोगिता का मापक है तो अन्य मापकों की भाँति इसकी अपनी इकाई अपरिवर्तनशील होनी चाहिए।'' लेकिन ऐसी बात नहीं है। उपयोगिता की इस अपूर्ण माप्यता के कारण उपयोगिता-विश्लेषण पर आधारित माँग के सिद्धान्त में सुतथ्यता एवं परिशुद्धता का अभाव पाया जाता है।

2. **उपयोगिता की गणनात्मक माप सम्भव नहीं है** - आलोचकों द्वारा यह कहा गया है कि उपयोगिता विश्लेषण क्रमवाचक प्रणाली पर नहीं, बल्कि संख्यात्मक प्रणाली पर आधारित है। संख्यात्मक प्रणाली के अनुसार वस्तु की उपयोगिता को इकाईयों के रूप में मापा जा सकता है। उदाहरणार्थ, उपयोगिता-विश्लेषण यह मानकर चलता है कि किसी वस्तु (मान लीजिए सन्तरों) की कुल उपयोगिता को 20 अथवा 30 इकाइयों में व्यक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार, किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता की भी वियोजन-प्रक्रिया द्वारा गणना की जा सकती है। इस प्रकार, उपयोगिता न केवल अपने अधिमानों से सुपरिचित होता है, बल्कि उन्हें संख्यात्मक रूप देने में भी समर्थ होता है। उदाहरणार्थ, उपभोक्ता न केवल Y वस्तु की तुलना में X वस्तु को अधिमान ही देता है, बल्कि X वस्तु को दिए अधिमानों के परिणाम को मूर्त संख्यात्मक रूप में भी व्यक्त कर सकता है। उदाहरणार्थ, वह हमें आसानी से बता सकता है कि Y वस्तु की तुलना में वह X वस्तु को दुगुना अधिमान प्रदान करता है। इसके विपरीत, क्रमवाचक प्रणाली के अनुसार निस्सन्देह उपभोक्ता किसी वस्तु विशेष के लिए अपने अधिमान को प्रकट कर सकता है लेकिन मूर्त संख्यात्मक रूप में वह अपने अधिमान के परिणाम को व्यक्त नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, उपभोक्ता हमें यह तो बता सकता है कि वस्तु Y की तुलना में वह वस्तु X को अधिमान देता है लेकिन वह हमें यह नहीं बता सकता कि उसके उस अधिमान का आकार अथवा परिणाम क्या है। आलोचना ने उपयोगिता-विश्लेषण की इस आधार पर आलोचना की है कि संख्यात्मक प्रणाली काल्पनिक एवं अयथार्थ है और उपयोगिता को संख्यात्मक इकाइयों के रूप में मापना सम्भव नहीं है।

3. **मनुष्य गणन-यन्त्र नहीं है** - उपयोगिता-विश्लेषण यह मानकर चलता है कि व्यक्तिगत उपभोक्ता एक विभूतिमान गणन-यन्त्र के समान होता है और उसका प्रत्येक कत्य युक्तिक विचारों से ही शासित होता है। उदाहरणार्थ, सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम तो यह मानकर चलता है कि साधारण उपभोक्ता युक्तिक एवं गणनशील स्वभाव का होता है। यह विश्लेषण इस मान्यता पर निर्मित है कि जब भी उपभोक्ता किसी वस्तु को खरीदता है तो उस उसकी उपयोगिता की मुद्रा-व्यय से उत्पन्न होने वाली अनुपयोगिता से तुलना करता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वस्तुएँ खरीदते समय उपभोक्ता का रवैया पूर्णतः युक्तिक नहीं होता। कभी-कभी तो यह क्षणिक प्रेरणा अथवा अभिलाषा के वशीभूत होकर किसी ऐसी वस्तु को खरीद बैठता है जो उसे नहीं खरीदनी चाहिए थी। (स्मरण रहे, क्षणिक प्रेरणाओं अथवा इच्छाओं के कारण मनुष्य युक्तिपूर्ण ढंग से सोच-विचार

करने में असमर्थ हो जाता है।) इसके अलावा, कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिन्हें मनुष्य अपनी पुरानी आदतों के कारण खरीदता है। ध्यान रहे, पुरानी आदतों के प्रभाव के कारण मनुष्य परिगणनाएँ करने में असमर्थ हो जाता है। यही कारण है कि उपयोगिता-विश्लेषण में यथार्थता एवं सुतथ्यता का अभाव पाया जाता है।

4. **मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता यथास्थिर नहीं रहती** - व्यक्तिगत उपभोक्ता द्वारा माँग की गई वस्तु की मात्रा पर कीमत-परिवर्तन (वद्धि अथवा ह्रास) के पड़ने वाले प्रभाव की विवेचना करते समय उपयोगिता-विश्लेषण यह मान लेता है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता यथास्थिर ही रहती है। उदाहरणार्थ, डॉ. मार्शल ने उपयोगिता-विश्लेषण की इस मान्यता का समर्थन किया था और स्पष्टतः कहा था कि अल्पकाल में व्यक्ति की आय यथास्थिर ही रहती है। परिणामः मुद्रा की सीमान्त -उपयोगिता भी अल्पकाल में यथास्थिर ही रहती है। उपयोगिता-विश्लेषण ने इस तथ्य की पूर्ण उपेक्षा कर दी थी कि जब किसी वस्तु की कीमत में गिरावट होती है तो उसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता के मुद्रा-स्टॉक के कुछ वद्धि हो जाती है (क्योंकि कम कीमत के कारण वह अब कम राशि व्यय करता है।) मुद्रा-स्टॉक में वद्धि हो जाने से उपभोक्ता की मुद्रा से उत्पन्न होने वाली सीमान्त उपयोगिता यथास्थिर नहीं रह सकती। चुँकि वस्तु की कीमत गिर जाने से उपभोक्ता को अब पहले से अधिक मुद्रा उपलब्ध होती है इसलिए मुद्रा की सीमांत उपयोगिक का नीचे गिरना, अनिवार्य ही होता है। उपयोगिता-विश्लेषण की, वास्तव में, यह गम्भीर त्रुटि है।

5. **उपयोगिता-विश्लेषण ने प्रत्युत्तर प्रभावों की उपेक्षा की है** - उपयोगिता-विश्लेषण प्रत्येक वस्तु को स्वतंत्र वस्तु मानकर ही चलता है। इस विश्लेषण के अनुसार, किसी वस्तु की उपयोगिता केवल उसकी पूर्ति पर ही निर्भर करती हे। उदाहरणार्थ, नाशपातियों की सीमान्त उपयोगिता केवल नाशपातियों की मात्रा से ही निर्धारित होती है। इस प्रकार, उपयोगिता-विश्लेषण ने इस तथ्य की उपेक्षा कर दी थी कि वास्तविक जीवन में प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से सम्बधित रहती है। उदाहरणार्थ, नाशपातियों की सीमान्त उपयोगिता केवल नाशपातियों पर ही नहीं, बल्कि अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की मात्राओं पर भी निर्भर करती है। स्मरण रहे, सम्बन्धित वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं (1) स्थानापन्न वस्तुएँ, (2) पूरक वस्तुएँ। नाशपातियों की सीमान्त उपयोगिता सेबों की मात्रा से भी प्रभावित होती हैं मान लीजिए, उपभोक्ता के नाशपातियों के स्टॉक में कोई परिवर्तन नहीं होता। लेकिन उसके सेबों के (स्मरण रहे, सेब नाशपातियों के स्थानापन्न हैं) स्टॉक में वद्धि हो जाती है। स्पष्टतः नाशपातियों की सीमान्त उपयोगिता गिर जाएगी। इस प्रकार, नाशपातियों की सीमान्त उपयोगिता केवल नाशपातियों की मात्रा का ही फलन नहीं है, बल्कि यह सेबों की मात्रा (एवं अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की मात्रा) का भी फलन है। नाशपातियों की सीमान्त उपयोगिता निस्सन्देह परिवर्तन होगा यदि उनकी मात्रा में परिवर्तन होता है। लेकिन यदि अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की मात्राओं में परिवर्तन होता है, तो भी नाशपातियों की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन होगा। दूसरे ृशब्दों में, नाशपातियों की सीमान्त उपयोगिता न केवल नाशपातियों की अपनी मात्रा, बल्कि अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की मात्राओं पर भी निर्भर रहती है। सत्य तो यह है कि उपभोक्ता को प्राप्त होने वाली उपयोगिता किसी एक वस्तु का फलन नहीं, बल्कि उन सभी वस्तुओं का फलन है जो उसके

उपभोग में प्रविष्ट होती है। इस प्रकार उपयोगिता-विश्लेषण ने 'प्रत्युत्तर प्रभावों' की उपेक्षा करके बड़ी भूल की थी। इसीलिए तो आलोचकों ने इसे अयथार्थ एवं विपलायित कहकर इसकी भर्त्सना की है। डा० मार्शल का कहना है कि यदि प्रत्युत्तर भावों को भी सम्मिलित करें तो ये बहुत जटिल हो जाएगा लेकिन इससे व्यावहारिक जीवन की यर्थाथता सही प्रतिबिम्बित होगी।

6. **उपयोगिता-विश्लेषण 'आय-प्रभाव' एवं 'स्थानापत्ति प्रभाव' में कोई अन्तर नहीं करता** - उपयोगिता-विश्लेषण की अन्य विफलता यह है कि यह वस्तु की कीमत में होने वाली गिरावट के 'आय-प्रभाव' एवं 'स्थानापत्ति-प्रभाव' में कोई भेद नहीं करता। उपयोगिता-विश्लेषण तो हमें केवल यह बताता है कि वस्तु की कीमत में गिरावट होने से उसकी माँग में वद्धि हो जाती है। लेकिन हमें स्पष्टतया यह नहीं बताता है कि बढ़ी हुई माँग का कितना अंश 'आय-प्रभाव' और कितना अंश 'स्थानापत्ति-प्रभाव' के कारण है।

7. ये बात सदासत्य नहीं होती कि उपभोक्ता किसी वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ तभी खरीदते है जब कीमत गिर जाती है व्यावहारिक जीवन में यह मान्यता सदैव सत्य नहीं उतरती। उदाहरणार्थ, उपभोक्ता सम्भवतः एक-समान दो स्कूटरों को खरीदना पसन्द नहीं करेगा यदि स्कूटरों की कीमतें गिर जाती हैं। इसके विपरीत, यदि स्कूटरों की कीमतें गिरती हैं तो उपभोक्ता दो विभिन्न प्रकार के स्कूटर खरीदना पसन्द करेगा। विविधता मानव की सहजात इच्छाओं में से है।

8. **उपयोगिता-विश्लेषण अविभाज्य वस्तुओं की माँग की व्याख्या नहीं करता** - उपयोगिता-विश्लेषण की एक अन्य त्रुटि यह है कि मोटरकार, मकान तथा टेलीजिवन सैट जैसी अविभाज्य वस्तुओं की ये पर्याप्त व्याख्या नहीं करता। सामान्यतः उपभोक्ता किसी समय विशेष पर इन वस्तुओं की केवल एक इकाई ही खरीदता है। अतः ऐसी वस्तु की घटती हुई सीमान्त उपयोगिता की परिगणना करना सम्भव नहीं है और न ही ऐसी वस्तु के माँग-वक्र को खींचना सम्भव है। स्मरण रहे, किसी वस्तु के माँग-वक्र को खींचने के लिए हमें उस वस्तु की कीमतों एवं मात्राओं की विभिन्न मालाओं की आवश्यकता पड़ती है। उपर्युक्त अविभाज्य वस्तुओं के बारे में इस प्रकार जानकारी प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इसी कारण की वस्तु पर सम-सीमान्त उपयोगिता नियम भी लागू नहीं किया जा सकता।

9. **उपयोगिता-विश्लेषण अत्यधिक मान्यताओं एवं पूर्वधारणाओं पर आधारित है** - आलोचकों के कथनानुसार उपयोगिता-विश्लेषण इतनी अधिक पूर्व-धारणाओं पर आधारित है कि अन्ततः यह विश्लेषण अत्यन्त अपर्याप्त एवं अयथार्थ सिद्ध होता है। इस विश्लेषण के विरुद्ध यह आरोप लगाया गया है कि इसकी मान्यताएँ तो बहुत हैं लेकिन उनसे सिद्ध कुछ भी नहीं होता। निस्सन्देह, इस आलोचना में कुछ सार है।

इस प्रकार कई द ष्टियों से उपयोगिता-विश्लेषण त्रुटिपूर्ण है। यह विश्लेषण उपयोगिता को सही, संख्यातमक रूप में मापने में असफल रहा है। इसकी असफलता के कारण ही वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने एक अन्य वैकल्पिक माँग-विश्लेषण का प्रतिपादन किया है। इसे उदासीनता-वक्र विश्लेषण कहा जाता है। अगले अध्याय में हम इस नये विश्लेषण का अध्याय में हम इस नये विश्लेषण का अध्ययन करेंगे।

उदासीनता वक्र सिद्धांत
(The Indifference Curve Theory)

प्रस्तावना
(Introduction)

माँग के सिद्धाँत में उदासीनता वक्र का एक अर्थ ही स्थान विशेष है यह एक ज्यामितिय विधि है हिक्स ने इसकी अपनी पुस्तक Value and Capital में की हैं

उदासीनता वक्र
(Indifference Curves)

उदासीनता वक्र विश्लेषण उपयोगिता के क्रमवाचक माप की विधि है। यह सिद्धान्त किन्हीं दो वस्तुओं जैसे X और Y के विभिन्न संयोगों के लिए उपभोक्ता के अपने अधिमान या क्रमन्यास के अनुसार उपभोक्ता के व्यवहार की व्याख्या करता है। उपभोक्ता की उदासीनता अनुसूची से उदासीनता वक्र खींचा जाता है। उदासीनता अनुसूची दो वस्तुओं के ऐसे विभिन्न संयोगों को प्रस्तुत करती है कि उपभोक्ता इन संयोगों के सम्बन्ध में उदासीन रहता है। वाटसन के अनुसार, ''उदासीनता अनुसूची दो वस्तुओं के संयोगों की एक अनुसूची है, जिसको इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है कि उपभोक्ता उन संयोगों के सम्बन्ध में उदासीन होता है, किसी एक को दूसरों की अपेक्षा अधिमान नहीं देता।'' तालिका में एक कल्पित उदासीनता अनुसूची दी जा रही है जिसमें X और Y वस्तुओं के विभिन्न संयोग रखे गए हैं।

संयोग	X वस्तु		Y वस्तु	X को प्राप्त करने Y की छोड़ी गई मात्रा
1	1	+	18	
2	2	+	13	1 X = 5 Y
3	3	+	9	1 X = 4 Y
4	4	+	6	1 X = 3 Y
5	5	+	4	1 X = 2
6	6	+	3	1 X = 1 Y

उपभोक्ता इस अनुसूची के विभिन्न संयोगों में से किसी भी संयोग की प्रति उदासीन है। वह Y की 18 इकाइयों +X की 1 इकई वाले पहले संयोग को, या Y की 4 इकाइयों +X की 5 इकाइयों वाले पांचवे या किसी भी अन्य संयोग को खरीद सकता है। सब संयोग उसे समान संतुष्टि प्रदान करता हैं। हमने केवल एक अनुसूची ली है, परन्तु दो वस्तुओं की बहुत-सी अनुसूचियाँ ली जा सकती है। वे उपभोक्ता की अधिक या कम संतुष्टि को व्यक्त करती हैं।

यदि विभिन्न संयोगों को चित्र में अंकित करके एक रेखा से मिला दिया जाए, तो उदासीनता वक्र बन जाता है जैसे चित्र में I_1 वक्र। यह उदासीनता वक्र L, M, N, P, Q और R बिन्दुओं का पथ है जो दो वस्तुओं के उन संयोगों को दिखाता है जिनके प्रति उपभोक्ता उदासीन है। जे. के. ईस्थम के अनुसार ''यह मात्राओं के जोड़ों को प्रदर्शित करने वाले बिन्दुओं का पथ है, जिनके बीच व्यक्ति उदासीन होता है। इसलिए इसे उदासीनता वक्र नाम दिया गया है।'' यह वक्र वास्तव में समान संतुष्टि वक्र है जो अपने सब बिन्दुओं पर समान संतुष्टि को प्रकट करता है।

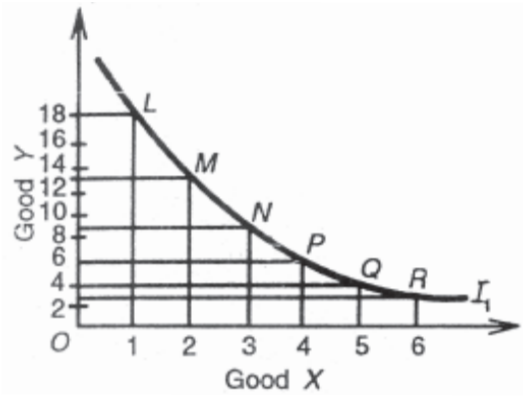

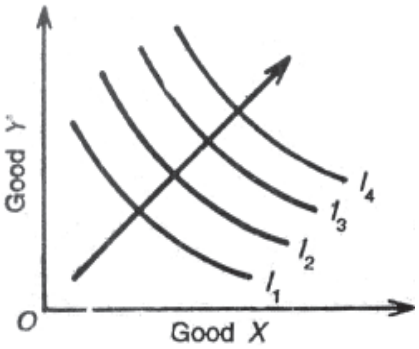

एक अकेले उदासीनता वक्र का संबंध संतुष्टि के केवल एक स्तर से होता है। परन्तु, जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है, अनेक उदासीनता वक्र होते हैं। I_3 और I_4 वक्र जो मूल से दूर हैं वे संतुष्टि के उच्चतर स्तरों को व्यक्त करते हैं क्योंकि उनके X और Y के बड़े संयोग होते हैं। चित्र में दिखाए तीर की दिशा में गति करने को उपभोक्ता अधिमान देगें। ऐसा चित्र जिस में अनेक उदासीनता वक्र हों उसे उदासीनता मानचित्र कहते हैं, जहाँ प्रत्येक उदासीनता वक्र उपभोक्ता की एक भिन्न अनुसूची के अनुसार होता है। यह एक समोच्च रेखा मानचित्र की तरह होता है जो समुद्र तल के ऊपर भूमि की ऊँचाई को दर्शाता है, जहाँ ऊँचाई की बजाए, प्रत्येक उदासीनता वक्र संतुष्टि के एक स्तर को व्यक्त करता है।

उदासीनता वक्र विश्लेषण की मान्यताएँ
(Assumptions of the Indifference Curve Analysis)

उदासीनता वक्र विश्लेषण में गणनसंख्या माप सिद्धान्त की कुछ मान्यातएं ले ली गई हैं, कुछ अस्वीकार कर दी गई हैं और कुछ अपनी नई मान्यताएं बना ली गई हैं। क्रमिक संख्यात्मक सिद्धान्त की मान्यताएँ ये हैं :

1. उपभोक्ता विवकपूर्ण है। वह अपनी उपयोगिता को अधिकतम करने की कोशिश करेगा।
2. X और Y दो वस्तुएँ हैं।
3. मार्किट में वस्तुओं की कीमतों की पूरी सूचना उपभोक्ता के पास होती है।
4. दो वस्तुओं की कीमतें निश्चित हैं।
5. समस्त विश्लेषण में उपभोक्ता की रुचियों, आदतों और आय में कोई परिवर्तन नहीं होता।

6. X की अपेक्षा Y की अधिक मात्रा के लिए अथवा Y की अपेक्षा X की अधिक मात्रा के लिए उपभोक्ता का अधिमान होता है।

7. उदासीनता वक्र की ढलान नीचे दाई ओर को ऋणात्मक झुकाव की होती है।

8. उदासीनता वक्र सदैव मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होता है।

9. उदासीनता वक्र समतल और निरन्तर होता है जिसका अभिप्राय है कि दोनों वस्तुएँ बहुत विभाज्य हैं और संतुष्टि के स्तर पर भी निरंतरता से परिवर्तित होते हैं।

10. उपभोक्ता दो वस्तुओं को अधिमान के पैमाने में क्रमबद्ध करता है। इसका अर्थ है कि वस्तुओं के लिए उसका अधिमान और उदासीनता दोनों हैं। उससे आशा की जाती है कि वह वस्तुओं को अधिमान के क्रम में रखे और बता सके कि एक संयोग की अपेक्षा दूसरे संयोग के लिए उसका अधिमान अधिक है या वह दोनों के प्रति उदासीन है।

11. अधिमान और उदासीनता दोनों सकर्मक (Transitive) तथा स्थिर हैं। इसका अर्थ है, यदि संयोग B की अपेक्षा संयोग A के लिए और संयोग C की अपेक्षा संयोग B के लिए अधिमान अधिक है, तो संयोग C की अपेक्षा संयोग A के लिए अधिक अधिमान होगा। इसी प्रकार, यदि उपभोक्ता A और B के तथा B और C के संयोगों के प्रति उदासीन है, तो A और C के संयोगों के प्रति भी उदासीन रहेगा। बहुत से संयोगों में से संगत चुनाव (Consistant choices) करने के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण मान्यता है।

12. उपभोक्ता दो वस्तुओं के सभी संभव संयोगों के लिए आदेश दे सकता है।

उदासीनता वक्रों की विशेषताएँ
(Properties of Indifference Curves)

ऊपर जिन मान्यताओं का वर्णन किया गया है उनसे उदासीनता वक्रों की निम्नलिखित विशेषताएँ प्राप्त होती हैं।

1. **एक उदासीनता वक्र के दाईं ओर अधिक ऊँचा दूसरा उदासीनता वक्र संतुष्टि के अपेक्षाक त ऊंचे स्तर और दो वस्तुओं के श्रेष्ठ संयोग को व्यक्त करता है।** चित्र के I_1 और I_2 उदासीनता वक्रों और उन पर क्रमशः N और A संयोगों पर ध्यान दीजिए। क्योंकि A अधिक ऊँचे उदासीनता वक्र पर तथा N के दाईं ओर है, इसलिए उपभोक्ता X तथा Y दोनों वस्तुओं को अधिक मात्रा में लेगा। यदि इन वक्रों पर दो बिन्दु जैसे M और A एक ही समतल पर भी हों, तो भी उपभोक्ता का अधिमान A संयोग के लिए अधिक होगा। यद्यपि वस्तु Y की मात्रा तो उतनी ही रहेगी तथापि उसे वस्तु X की अधिक मात्रा मिलेगी।

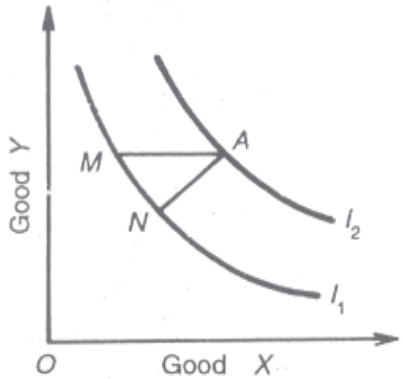

2. **दो वक्रों की बीच अनेक वक्र हो सकते हैं** - दो उदासीनता वक्रों के बीच में अन्य कई उदासीनता वक्र हो सकते हैं। चित्र पर प्रत्येक बिन्दु की दूरी में एक वक्र हो सकता है।

3. **उदासीनता वक्रों को दी गई संख्याँ पूर्णरूपेण मनगढ़ंत हैं** - उदासीनता वक्रों को कोई भी संख्या दी जा सकती है। संख्याएं आरोही क्रम में हो सकती हैं जैसे 1, 2, 4, 6 या 2, 3, 1, 4 आदि। संख्याओं का इस विश्लेषण में कोई महत्त्व नहीं है।

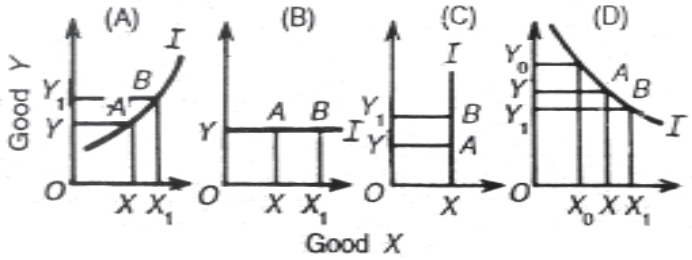

4. **उदासीनता वक्र का ढलान बाएँ से दाएँ, नीचे की ओर ऋणात्मक होता है** - इसका अर्थ है कि उदासीनता वक्रों के सभी संयोगों के प्रति उदासीनता के लिए उपभोक्ता X वस्तु की अधिक इकाइयां प्राप्त करने के लिए अवश्य Y वस्तु की कम इकाइयों का त्याग करे। इस विशेषता को सिद्ध करने के लिए हम इस धारणा के विपरीत उदासीनता वक्रों को लेते हैं। चित्र में B संयोग $(OX_1 + OY_1)$ का अधिमान A संयोग की अपेक्षा अधिक है क्योंकि A संयोग में दोनों वस्तुओं की मात्रा कम है। इसलिए उदासीनता वक्र की ढलान बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर नहीं हो सकती। यह समान संतुष्टि वक्र नहीं है। इस प्रकार चित्र B में, A सयोग की अपेक्षा B संयोग का अधिमान अधिक है क्योंकि B संयोग में Y की माात्रा तो उतनी ही है पर X की मात्रा अधिक है। इसलिए उदासीनता वक्र समानान्तर भी नहीं हो सकता। चित्र C में उदासीनता-वक्र अनुलंब दिखाया गया है। इसमें भी B संयोग का अधिमान A की अपेक्षा अधिक है क्योंकि उपभोक्ता को X की तो उतनी ही मात्रा मिलती है पर Y की अधिक। इसलिए उदासीनता वक्र अनुलंब भी नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह कि उदासीनता वक्र ऋणात्मक होता है जैसाकि चित्र D में दिखाया गया है। इसमें A और B संयोग उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्रदान करते हैं। ज्यों-ज्यों वह A से B संयोग की ओर जाता है, उसे X की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिए Y की कम मात्रा का त्याग करना पड़ता है।

5. **उदासीनता वक्र न तो एक-दूसरे को छू सकते हैं और न ही काट सकते हैं**- इस प्रकार उदासीनता मानचित्र परएक उदासीन वक्र एक ही बिन्दु से गुजर सकता है। ऐसी स्थिति से जो असंगति पैदा होती है उसे चित्र में दिखाया जा सकता है, जहाँ I_1 और I_2 दो वक्र एक-दूसरे को काटते हैं। उदासीनता वक्र I_2 के बिन्दु B की अपेक्षा I_1 वक्र का बिन्दु A संतुष्टि का ऊँचा स्तर व्यक्त करता है, क्योंकि यह मूल से अधिक दूरी पर स्थत है। परन्तु बिन्दु C जो दोनों वक्रों पर स्थित है, वह A और B बिन्दुओं के समान स्तर की संतुष्टि प्रदान करता है। इस प्रकार

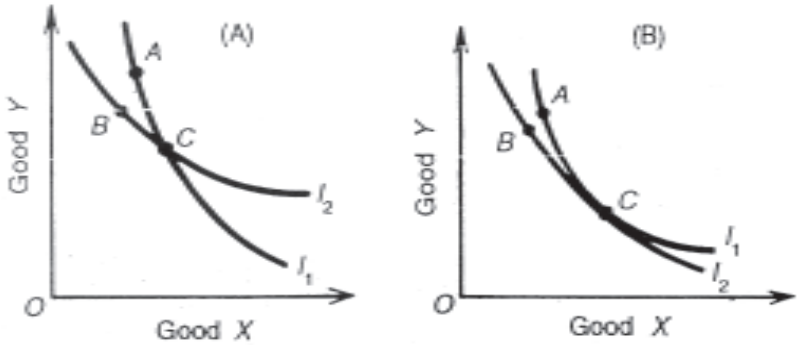

I_2 वक्र पर : $A = C$

और I_2 वक्र पर : $B = C$

इसलिए $A = C$

यह असंगत है क्योंकि A को B से अधिमान दिया जाता है। कारण यह कि A ऊँचे वक्र I_1 पर स्थित है। अतः उदासीनता वक्र एक दूसरे को नहीं काट सकते, क्योंकि प्रत्येक उदासीनता वक्र संतुष्टि के एक भिन्न स्तर को व्यक्त करता है। यही तर्क लागू होता है जब दो उदासीनता वक्र एक दूसरे को चित्र में C बिन्दु पर छूते हैं।

6. **उदासीनता वक्र किसी भी अक्ष को स्पर्श नहीं कर सकता** - यदि यह X अक्ष को स्पर्श करता है जैसा कि चित्र में M बिन्दु पर I_1 वक्र, तो उपभोक्ता को X वस्तु की OM मात्रा मिलेगी, पर Y की कोई मात्रा नहीं मिलेगी। इसी प्रकार यदि I_2 उदासीनता वक्र L बिन्दु पर Y को अक्ष को स्पर्श करता है, तो उपभोक्ता को Y वस्तु की OL मात्रा और X की शून्य मात्रा मिलेगी। ऐसे वक्र इस मान्यता के विरुद्ध हैं कि उपभोक्ता दो वस्तुओं के संयोगों को खरीदता है।

7. **उदासीनता वक्र मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होते हैं** - उदासीनता वक्रों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होते हैं। उन्नतोदरता नियम का अर्थ है कि ज्यों-ज्यों उपभोक्ता Y के स्थान पर X को स्थानापन्न करता है, त्यों-त्यों स्थानापन्नता की दर घट जाती है। इसका मतलब है कि ज्यों-ज्यों X की समान मात्राओं में व द्धि होती है, Y कम मात्राओं में घटती जाती है। ज्यों-ज्यों हम दाएं को चलते हैं। वक्र की ढलान छोटी होती जाती है। इसे सिद्ध करने के लिए हम एक नतोदर वक्र लेते हैं जिसमें Y के स्थान पर X की स्थानापन्नता की सीमान्त दर घटने के बजाए बढ़ती जाती है अर्थात् X की अतिरिक्त इकाइयों की प्राप्ति के

लिए Y की अधिक इकाइयों का त्याग करना पड़ता है। जैसा कि चित्र A में दिखाया गया है, उपभोक्ता X की bc = de = fg इकाइयों के लिए Y की ab < cd < ef इकाइयों का त्याग कर रहा है। परन्तु उदासीनता वक्र मूल बिन्दु के नतोदर नहीं हो सकता।

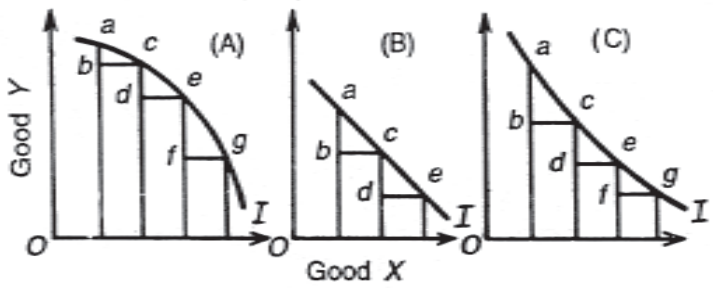

यदि हम एक सीधीरेखा उदासीनता वक्र लें जो दोनों अक्षों से 45^0 के कोण पर हो, तो दोनों वस्तुओं के बीच स्थानापन्नता की सीमांत दर स्थिर होगी जैसाकि चित्र C में यहां Y का ab = X का bc और Y का cd = X का de. इस कारण उदासीनता वक्र सीधी रेखा भी नहीं हो सकता। ऐसा वक्र केवल पूर्ण स्थानापन्न वस्तुओं का होता है।

चित्र B में उदासीनता वक्र मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर है। यहाँ उपभोग X की समान अतिरिक्त इाकइयों को प्राप्त करने के लिए Y की क्रमशः कम-कम इकाइयों का त्याग कर रहा है अर्थात् X के bc = de = fg के लिए Y का ab > cd > ef. अतः एक उदासीनता वक्र सदैव मूल के उन्नतोदर होता है क्योंकि दो वस्तुओं के बीच स्थानापन्नता की सीमांत दर घटती है।

8. **यह आवश्यक नहीं कि उदासीनता वक्र आपस में समानान्तर हों** - यद्यपि वे दाईं ओर को ऋणात्मक झुकाव के साथ नीचे को जाते हैं तो भी सब उदासीनता वक्रों के गिरने की दर समान नहीं होती। दूसरे शब्दों में, सब उदासीनता अनुसूचियों में दो वस्तुओं की स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर की नितान्त समान होना आवश्यक नहीं। चित्र में I_1 और I_2 वक्र एक-दूसरे के समानान्तर नहीं हैं।

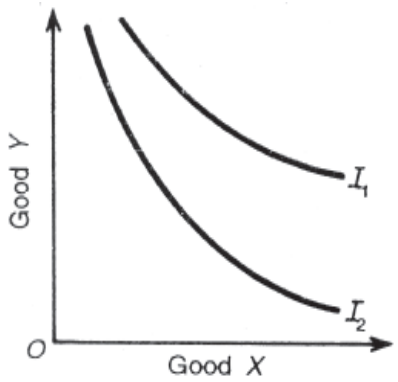

9. **उदासीनता वक्र वास्तव में चूड़ियों की भाँति होते हैं** - परन्तु सैद्धान्तिक रूप से इनके प्रभावी भागों को खण्डों में दिखाया जाता है। इसका कारण उदासीनता वक्रों के विषय में यह मान लिया जाना है कि वे ऋणात्मक ढलान वाले और मूल बिन्दु के प्रति उन्नतोदर होते हैं। चित्र में एक व्यक्ति तब तक अधिक ऊँचे उदासीनता

वक्रों I_2, I_3 तक चलता जा सकता है, जब तक कि वह सुतुष्टि बिन्दु S पर नहीं पहुंच जाता जहाँ उसकी कुल संतुष्टि अधिकतम होती है। यदि उपभोक्ता X या Y से अधिक उपभोग करता है तो उसकी कुल संतुष्टि में कमी हो जाएगी। यदि वह X का इतना उपभोग बढ़ा देता है ताकि वह I_2 वक्र के बिन्दुकित भाग में पहुँच जाए। (बिन्दु S से आगे समानान्तर दिशा में) तो उसे ऋणातमक उपयोगिता प्राप्त होती है। यदि उपयोगिता की हानि की क्षतिपूर्ति करने के लिए वह Y का उपभोग बढ़ा देता है तो भी वक्र के बिन्दुकित भाग पर होगा (बिन्दु S से ऊपर लम्ब दिशा में)। इस प्रकार उपभोक्ता चक्रीय वक्र के नतोदर भाग में होगा। क्योंकि वक्र के बिन्दुकित भाग में जाने पर उसको ऋणात्मक उपयोगिता प्राप्त होती है इसलिए चक्रीय वक्र का प्रभावी भाग मूल बिन्दु के उन्नतोदर होगा, जो समतल वक्रों I_1I_1, I_2I_2 और I_3I_3 द्वारा दिखाया गया है।

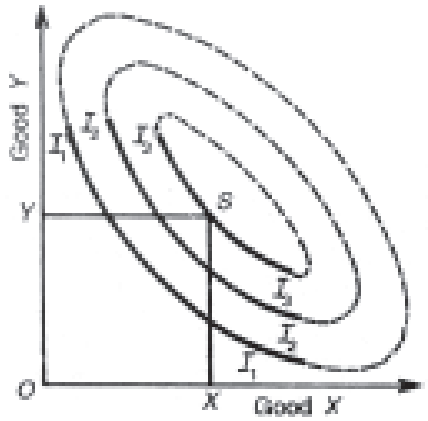

स्थानापन्नता या प्रतिस्थापना की सीमान्त दर
(Marginal Rate of Substitution)

स्थानापन्नता की सीमान्त दर (MRS) समान अधिमान वाली X और Y वस्तुओं की कुछ इकाइयों के विनिमय की दर से X की Y के लिए स्थानापन्न की सीमान्त दर वस्तु Y की वह मात्रा है जिसका, X की हर अतिरिक्त इकाई को प्राप्त करने के लिए, त्याग किया जाएगा। जिससे संतुष्टि का स्तर पूर्ववत् बना रहे।

मान लीजिए दूसरे संयोग को प्राप्त करने और फिर भी संतुष्टि के उसी स्तर पर रहने के लिए उपभोक्ता X की एक अतिरिक्त इकाई के लिए X की 5 इकाइयाँ त्याग करने को तैयार की है। Y के लिए स्थानापन्न की सीमान्त दर 5:1 है। स्थानापन्नता दर Y की इकाइयों की वह संख्या है जिसके लिए X की एक इकाई स्थानापन्न है। ज्यों-ज्यों वह X की अतिरिक्त इकाइयों को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होता है, वह Y की अपेक्षाक त कम इकाइयाँ छोड़ना चाहता है और छठे संयोग के स्थानापन्नता की सीमान्त दर 5:1 से गिर कर 1:1 हो जाती है। चित्र (पेज 89) के अनुसार में उदासीनता वक्र, I_1 के M बिन्दु पर उपभोक्ता X की एक अतिरिक्त इाकई के लिए Y की 5 इकाइयाँ छोड़ने को तैयार है। ज्यों-ज्यों वह वक्र के साथ-साथ M से R की ओर जाता है, वह X की अधिक मात्रा और Y की कम मात्रा प्राप्त करता है। X की अतिरिक्त इाकइयों को प्राप्त करने के लिए Y की जो मात्रा छोड़ने को तैयार है, वह धीरे-धीरे कम ही होती जाती है। उपभोक्ता के इस व्यवहार को स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर का नियम कहते हैं प्रोफेसर हिक्स ने इसकी परिभाषा इन शब्दों मेंदी है,

''मान लीजिए हम वस्तुओं की निश्चित मात्रा के शुरू करते हैं और फिर इस प्रकार X की मात्रा को बढ़ाते और Y की मात्रा को घटाते चलें कि उपभोक्ता अन्त में न तो पहले से अच्छी और न बुरी अवस्था में हो, तो X की प्रथम इकाई के लिए Y की जितनी मात्रा घटानी पडती है, उसकी अपेक्षा X की दूसरी इकाई के लिए Y की कम मात्रा घटाई जाएगी। दूसरे शब्दों में, X को Y के लिए जितना अधिक स्थानापन्न करते हैं, X की स्थानापन्नता की सीमान्त दर उतनी ही कम होती जाती है।''

संयोग	वस्तु X इकाइयाँ	वस्तु Y इकाइयाँ	MRS of X of Y
1	1	18	-
2	2	13	5 : 1
3	3	9	4 : 1
4	4	6	3 : 1
5	5	4	2 : 1
6	6	3	1 : 1

X की Y के लिए स्थानापन्नता की सीमान्त दर वास्तव में उदासीनता वक्र के किसी बिन्दुवक्र की ढलान होती है। इस प्रकार $MRS_{xy} = \Delta Y/\Delta X$.

इसका अर्थ है कि MRS_{xy} वस्तु X के निश्चित परिवर्तन से वस्तु Y मे होने वाले परिवर्तन का अनुपात है। चित्र में वक्र I_1 पर तीन त्रिकोण हैं। उनके अनुलंब भुज ab, cd, ef, ΔY को प्रकट करते हैं और समानांतर भुज bc, de, fg, प्रकट करते हैं, ΔX को।

बिन्दु C पर MRS_{xy} = ab/bc, बिन्दु e पर cd/de, और बिन्दु g पर MRS_{xy} = ef/fg. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उपभोक्ता ज्यों-ज्यों वक्र के साथ-साथ नीचे की ओर आता है, अर्थात् MRS_{xy} घटती जाती हैं।

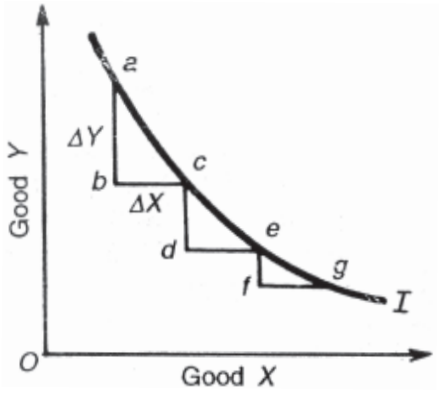

अपवाद - X की Y के लिए अथवा Y की X के लिए स्थानापन्नता की सीमान्त दर घटती जाती है, तो उदासीनता वक्र अवश्य मूल बिन्दु सी की ओर उन्नतोदर होगा। यदि यह दर स्थिर है, तो उदासीनता वक्र प्रत्येक अक्ष के साथ 45^0 का कोण बनाता हुआ दाएँ को नीचे की ओर ढालू सीधी रेखा के रूप में होगा, जैसाकि चित्र। यदि स्थानापन्नता की सीमान्त दर बढ़ती जाती है, तो उदासीनता वक्र मूल बिन्दु की ओर नतोदर होगा जैसाकि चित्र में। पूर्ण पूरकों की दशा में MRS_{xy} शून्य होता है क्योंकि उदासीनता वक्र L के आकार के होते हैं जैसाकि वक्र I_1 चित्र में। वक्र की वक्रता पर या उसके निकट साधारण पूरकों की स्थानापन्नता की

दर तो बहुत कम होती है, जैसा कि चित्र में I_1 वक्र है। जहाँ स्थानापन्नता की दर A और B बिन्दुओं के बीच सीमित है। परन्तु सीधे, नतोदर तथा L के आकार के उदासीनता वक्र स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर के सामान्य नियम के अपवाद हैं।

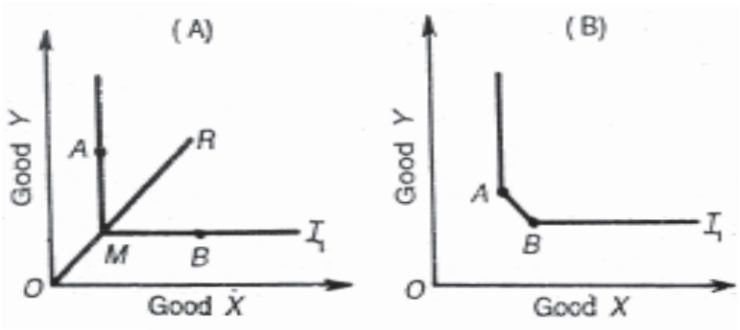

महत्त्व - घटती सीमान्त उपयोगिता के नियम की अपेक्षा स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर का नियम श्रेष्ठ है। प्रो. हिक्स के अनुसार, घटती सीमान्त उपयोगिता नियम की बजाए स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर के नियम की स्थापना उपभोक्ता माँग के सिद्धान्त का अनुवाद मात्र नहीं है बल्कि एक प्रत्यक्ष परिवर्तन है। हिक्स का द ष्टिकोण है भी ठीक, क्योंकि मार्शल के विश्लेषण का आधार अंर्तदर्शी संख्यात्मक है जिसमें उपयोगिता की मात्रात्मक माप की जाती है तथा वह केवल एक वस्तु के विश्लेषण तक सीमित है। स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर का नियम वैज्ञानिक और यथार्थ है क्योंकि यह उपयोगिता विश्लेषण के मनोवैज्ञानिक संख्यात्मक माप से मुक्त है। यह वस्तुओं के संयोगों को लेकर उपयोगिता क्रमवाचक माप करता है। इस बात में यह उपयोगिता सिद्धान्त से श्रेष्ठ है।

उपभोक्ता का संतुलन
(Consumer's Equilibrium)

एक उपभोक्ता उस समय संतुलन की अवस्था में होता है जब अपनी रुचियों और दो वस्तुओं की कीमतें दी होने पर वह अपनी आय को दो वस्तुओं को खरीदने में इस ढंग से खर्च करता है कि उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो।

इसकी मान्यताएँ - उपभोक्ता के संतुलन का उदासीनता वक्र विश्लेषण निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :

1. दो वस्तुओं X और Y के लिए उपभोक्ता का उदासीनता मानचित्र, उन वस्तुओं के लिए उपभोक्ता के अधिमान के पैमाने पर आधारित है जोकि इस विश्लेषण में बिल्कुल नहीं बदलता ।
2. उसकी मौद्रिक आय दी हुई और स्थिर रहती है। मान लीजिए कि वह 10 रुपये, जिसे वह विचाराधीन दो वस्तुओं पर खर्च करता है।
3. दोनों वस्तुओं X और Y की कीमतें भी दी हुई और स्थिर हैं। X की कीमत 2 रुपये प्रति इकाई है और Y की 1 रुपयो पति इकाई है।
4. वस्तुएँ X और Y समरूप और विभाज्य हैं।
5. विश्लेषण के दौरान उपभोक्ता की रुचियों और आदतों में कोई परिवर्तन नहीं होता।

6. उपभोक्ता विचारशील है और दो वस्तुओं को खरीदकर अपनी संतुष्टि को अधिकतम बनाता है।

7. मार्किट में पूर्ण प्रतियोगिता है जहाँ से वह दोनों वस्तुएँ खरीदता है।

उपभोक्ता संतुलन की शर्तें
(Conditions of Consumer's Equilibrium)

1. **बजट रेखा उदासीनता वक्र का स्पर्श करे** - इन दी हुई मान्यताओं के रहते हुए, उपभोक्ता अपनी 10 रुपये की कुल राशि को खर्चकर X की 5 इकाइयाँ अथवा Y की 10 इकाइयाँ खरीद सकता है। तालिका में उन संभव संयोगों में से कुछ संयोग दिखाए गए हैं जिनमें 10 रुपये की राशि बाँटी जा सकती है।

तालिका : व्यय योजना

संयोग	वस्तु X (इकाइयाँ)	वस्तु Y (इकाइयाँ)
Q	5	0
N	4	2
T	3	4
S	2 ½	5
K	1 ½	7
R	1	8
P	0	10

चित्र में इन सात सम्भव संयोगों को P, R, K, S, T, N और Q बिन्दुओं द्वारा दिखाया गया है। PQ रेखा X और Y वस्तुओं के इन संयोगों को प्रकट करती है जबकि वह दी हुई कीमतों पर इन वस्तुओं को खरीदने में अपनी आय को खर्च करता है। ऐसा इसलिए है कि बीजगणित की विधि से।

$$I = P_x X + P_y Y$$

जिसमें I उपभोक्ता की आय को और P_x तथा P_y क्रमशः वस्तु X और Y की कीमतों को प्रकट करते हैं। यह 'बजट समीकरण' Q और P बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा का समीकरण है जबकि $Q = I/P_y$ और $P=I/P_y$ इस प्रकार PQ वह रेखा है जिसे हम बजट रेखा, कीमत रेखा, कीमत-अवसर रेखा, व्यय रेखा, उपभोग-संभावना रेखा या कीमत-आय रेखा में से कुछ भी कह सकते हैं।

इस बजट रेखा पर P, R, K, S, T, N, Q से कुल सात सम्भव संयोग हैं। उपभोक्ता इनमें से किसी भी संयोग को ले सकता है। P या Q संयोग का तो सवाल ही नहीं उठता क्योंकि इनमें से प्रत्येक स्थिति में वह केवल X या केवल Y वस्तु को ही ले सकेगा। यह अपेक्षाक त नीचे उदासीनता वक्र I_1 पर संयोग R या N को भी नहीं लेगा, कयोंकि उससे ऊँचे उदासीनता वक्र I_2 पर उसे T संयोग भी मिल सकता है। पर इस बजट रेखा PQ पर एक और संयोग S है जो सबसे ऊँचा उदासीनता-वक्र I_3 पर स्थित है। क्योंकि बाकी सब संयोग अपेक्षाक त नीचे उदासीनता वक्रों पर स्थित हैं, इसलिए वे सब संयोग S की अपेक्षा नीचे संतुष्टि-स्तर को प्रकट करते हैं। इस प्रकार संयोग S ही उपभोक्ता के संतुलन का बिन्दु है। अब हम उपभोक्ता के संतुलन की शर्तो की गणना कर सकते हैं।

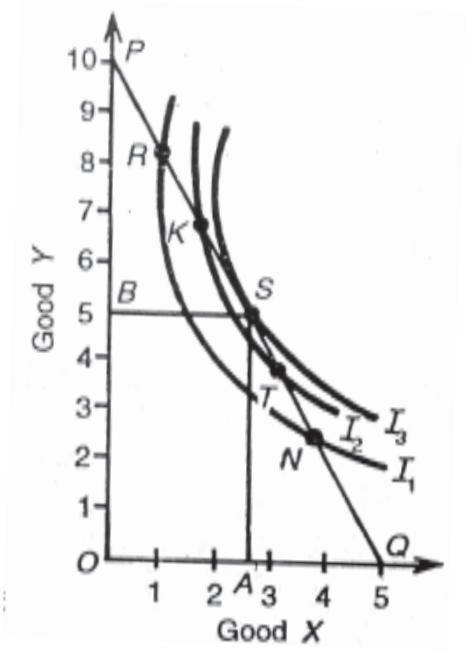

$$I = P_x X + P_y Y$$

$$-P_y \cdot Y = -I + P_x \cdot X$$

$$-Y = I \cdot \frac{-1}{P_y} + \frac{P_x}{P_y} \cdot X$$

$$Y = \frac{1}{P_y} . Y - X . \frac{P_x}{P_y} \quad \text{(बजट रेखा)}$$

यदि उपभोक्ता X वस्तु पर कुछ भी व्यय नहीं करें, सभी Y पर ही व्यय कर दे

$$\text{तो } X = 0, Y = \frac{I}{P_y}$$

इसी प्रकार यदि $Y = O$ तो $X = \frac{I}{P_x}$ बजट रेखा ढाल $\frac{OP}{OB} = \frac{I / P_y}{I / P_x} = \frac{P_x}{P_y}$

उपभोक्ता उस समय संतुलन में होता है जब उसकी बजट रेखा उदासीनता वक्र को स्पर्श करे। PQ रेखा S बिन्दु पर उदासीनता वक्र I_3 का स्पर्श करती है। S बिन्दु पर वह बजट समीकरण को भी संतुष्ट करता है :

I (रु 10) $= OA.P_x + OB.P_y$

= X की 2 1/2 इकाई × रु. 2 + Y की 5 इकाई × रू 1

= रु. 5 + रु. 5 = रु. 10

2. **संतुलन के बिन्दु पर उदासीनता वक्र और बजट रेखा की ढलान समान होनी चाहिए** -बिन्दु S पर उदासीनता वक्रकी ढलान वास्तव में X की Y के लिए स्थानापन्नता की सीमान्त दर हे ओर यह बजट रेखा पर X की कीमत पर Y की कीमत से अनुपात हैं

बजट रेखा PQ की ढलान $= \frac{I / P_y}{I / P_x} = \frac{P_x}{I} \times \frac{I}{P_y} = \frac{P_x}{P_y}$ और I_3 वक्र की ढलान MRS_{xy} है।

इस प्रकार $MRS_{xy} = P_x/P_y$ चित्र के बिन्दु S पर।

परन्तु उपभोक्ता संतुलन के लिए यह शर्त आवश्यक होते हुए भी काफी नहीं है।

3. **उदासीनता वक्र मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होना चाहिए -** इसलिए उपभोक्ता संतुलन की अन्तिम शर्त यह है कि X की Y के लिए स्थानापन्नता की सीमान्त दर घटती हुई होनी चाहिए। इसका अर्थ है कि संतुलन बिन्दु पर उदासीनता वक्र मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर हो। यदि R बिन्दु पर उदासीनता वक्र मूलबिन्दु से नतोदर हो तो MRS_{xy} बढ़ती जाती है। चित्र में R बिन्दु पर उपभोक्ता संतुष्टि के न्यूनतम बिन्दु पर है। PQ रेखा पर किसी भी अक्ष की ओर R से दूर जाने पर उपभोक्ता अपेक्षाक त, ऊंचे उदासीनता वक्र पर पहुँच जाएगा। I_2 वक्र पर बिन्दु S , वास्तव में, अधिकतम संतुष्टि और स्थिर संतुलन का बिन्दु है। इसलिए उदासीनता वक्र के किसी बिन्दु पर संतुलन की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि किन्हीं दो वस्तुओं में स्थानापन्नता की सीमान्त दर घटती हुई और उनकी कीमतों के अनुपात के बराबर हो। अर्थात् $MRS_{xy} = S_x/P_y$. इसलिए बजट रेखा के स्पर्श बिन्दु पर उदासीनता वक्र का मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होना आवश्यक है।

उपभोक्ता के संतुलन के कोण हल

ऊपर के अध्ययन से सपष्ट होता है कि बजट रेखा और एक उन्नतोदर उदासीनता वक्र के स्पर्श बिन्दु पर उपभोक्ता का संतुलन होता है जब वह दोनों वस्तुओं की कुछ इकाइयां खरीदता है। इसे आंतरिक हल कहते हैं जैसा कि चित्र के बिन्दु S पर जो वस्तु स्थान के अंदर स्थित है। हमने यह भी देखा कि यदि उदासीनता वक्र मूल के नतोदर हो, तो उसका बजट रेखा के साथ स्पर्श करने पर भी उपभोक्ता संतुलन में नहीं हो सकता, जैसे कि चित्र के बिन्दु R पर, क्योंकि इस बिन्दु के दाएँ अथवा बाएँ जाने पर MRS_{xy} बढ़ती है। फिर भी, सीधी रेखा, नतोदर और उन्नतोदर वक्रों से यह दिखाया जा सकता है कि उपभोक्ता संतुलन में हो सकता है यदि वह दो वस्तुओं की अपेक्षा केवल एक वस्तु का उपभोग करता है। इन सभी स्थितियों में उपभोक्ता का संतुलन एक कोण हल होगा। परन्तु उपभोक्ता के संतुलन की यह शर्त कि संतुलन बिन्दु पर $MRS_{xy} = P_x/P_y$ पूरी नहीं होती है। इन स्थितियों की व्याख्या की जा रही है।

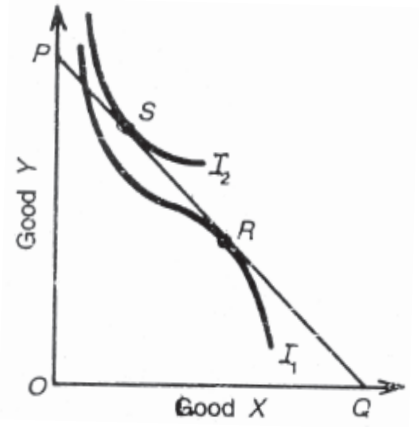

1. एक सीधी रेखा उदासीनता वक्र की स्थिति में, यदि उदासीनता वक्र से बजट रेखा सापेक्षतया कम तिरछी है तो संतुलन कोण में होगा जहाँ I_1 तक PQ बजट रेखा के बिन्दु Q पर मिलता है। उपभोक्ता वस्तु X की OQ मात्रा खरीदता है और Y की बिल्कुल नहीं खरीदता, जैसाकि चित्र में दर्शाया गया है। दूसरी ओर, यदि I_1 वक्र से बजट रेखा PQ तिरछी है, जैसा कि चित्र के पेनल में है, तो संतुलन P कोण में होगा जहाँ दोनों मिलते हैं। उपभोक्ता केवल वस्तु Y की OP मात्रा खरीदता है और X नहीं खरीदता।

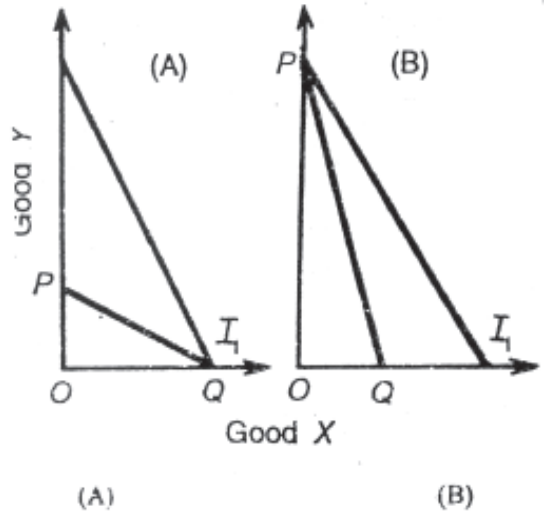

2. नतोदर वक्र की स्थिति का विश्लेषण करने के लिए, चित्र की ओर ध्यान दीजिए जहाँ I_1 वक्र PQ बजट रेखा को R बिन्दु पर स्पर्श करता है। परन्तु R उपभोक्ता की अधिकतम संतुष्टि का बिन्दु नहीं है, क्योंकि R से दूर बजट रेखा के साथ-साथ बाहर की ओर तथा एक अक्ष की तरफ गति करने से उपभोक्ता की संतुष्टि का बिन्दु नहीं है, क्योंकि R से दूर बजट रेखा के साथ-साथ बाहर की ओर तथा एक अक्ष की तरफ गति करने से उपभोक्ता की संतुष्टि को बढ़ाया जा सकता है। बिन्दु A और B उसे उपलब्ध हैं क्योंकि वे ऊँचे उदासीनता वक्र I_2 पर हैं। परन्तु वह अपनी संतुष्टि को और अधिक ऊँचे वक्र I_3 के बिन्दु C पर गति करके अपनी संतुष्टि बढ़ा सकता है तथा और आगे उच्चतम उदासीनता वक्र I_4 के बिन्दु P पर। इस प्रकार, उपभोक्ता बजट रेखा PQ और उदासीनता वक्र I_4 के कोण बिन्दु P पर संतुलन में होगा। वह केवल वस्तु Y की OP मात्रा खरीदेगा और वस्तु X की कोई भी नहीं। यदि उपभोक्ता केवल वस्तु X का उपभोग करना चाहता है तो कोण हल उदासीनता वक्र I_3 के बिन्दु Q पर होगा।

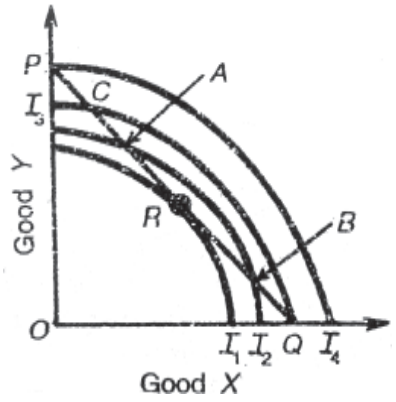

3. जब एक उदासीनता वक्र मूल के उन्नतोदर होता है तो भी कोण हल हो सकता है। यह बहुत-सी ऐसी वस्तुओं के बारे में होता है जब उनकी कीमतें इतनी ऊँची होती हैं कि उपभोक्ता अपनी दी हुई आय से एक समय में केवल एक ही वस्तु खरीद सकता है। ऐसी वस्तुएँ एक कार, एक रंगीन टी.वी. या एक वी.सी.आर, आदि हो सकती हैं। चित्र देखिए जहाँ वक्र I_1 से बजट रेखा PQ कम तिरछी है। (या PQ रेखा से वक्र I_1 तिरछा है)। ऐसी स्थिति में संतुलन कोण बिन्दु Q पर होगा जहाँ उपभोक्ता अपनी समस्त आय X वस्तु की OQ मात्रा खरीदने पर व्यय करता है और Y वस्तु पर बिल्कुल नहीं। दूसरी ओर, पेनल में वक्र I_1 से बजट रेखा PQ तिरछी है (या रेखा PQ से वक्र I_1 चपटा है) और उपभोक्ता का संतुलन कोण बिन्दु P पर होगा, जहाँ वह अपनी समस्त आय केवल Y की OP मात्रा खरीदने पर खर्च करता है और X पर बिल्कुल नहीं। Q और P कोण हल बजट रेखा और उदासीनता वक्र की स्पर्श समानता के निकटतम है जिसे उपभोक्ता पहुँच सकता है। इस प्रकार, उन्नतोदर उदासीनता वक्र आंतरिक और कोण हल दोनों की व्याख्या करने की सामर्थ्य रखते हैं।

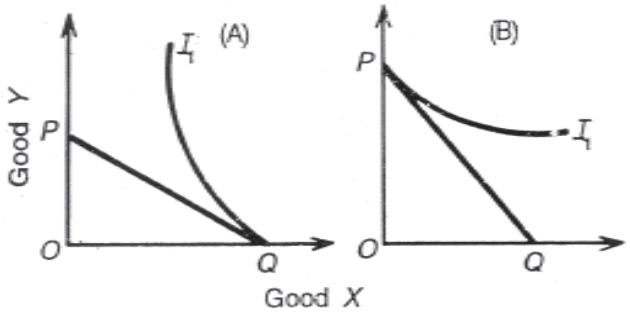

आय प्रभाव
(Income Effect)

ऊपर जो उपभोक्ता-संतुलन विश्लेषण प्रस्तुत किया गया, इस मान्याता पर कि उपभोक्ता की आय स्थिर रहती है और X तथा Y वस्तुओं की कीमतें स्थिर हैं। उपभोक्ता की रुचियां, अधिमान तथा दो वस्तुओं की कीमतें दी होने पर यदि उपभोक्ता की आय में परिवर्तन हो जाए, तो उस परिवर्तन का उसके द्वारा खरीदी गई वस्तुओं पर जो प्रभाव पड़ता है उसे ''आय-प्रभाव'' कहते हैं। यदि उपभोक्ता की आय बढ़ जाती है तो उसकी बजट रेखा के मूल बजट रेखा बाएं अन्दर की ओर सरक जाएगी। बजट रेखाएँ एक-दूसरी के समानान्तर होती हैं क्योंकि सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन नहीं होता।

चित्र में जब बजट रेखा PQ है, तो संतुलन बिन्दु R है, जहाँ यह उदासीनता वक्र I_1 को स्पर्श करती है। अब यदि उपभोक्ता की आय बढ़ जाती है, तो PQ दाएँ को सरक कर नई बजट रेखा P_1Q_1 बन जाएगी और नया संतुलन बिन्दु S होगा जहाँ यह उदासीनता वक्र I_2 को स्पर्श करती है। जब आय और बढ़ जाती है, तो बजट रेखा P_2Q_2 बन जाती है और T उसका संतुलन बिन्दु है। इन R, S, T (ICC) संतुलन बिन्दुओं का पथ एक वक्र बनाता है जिसे आय-उपभोग वक्र कहते हैं। ICC वक्र, दो वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों के दिए होने पर, उपभोक्ता की आय में परिवर्तन के कारण उन वस्तुओं की खरीद पर पड़ने वाले आय प्रभाव को प्रकट करता है। इस प्रकार आय उपभोग वक्र मौद्रिक आय जन्य आय प्रभाव का प्रदर्शन करता है। सामान्य रूप से जब उपभोक्ता की आय बढ़ जाती है तो वह दो वस्तुओं की अधिक मात्राएँ खरीदता है। चित्र में PQ बजट रेखा के संतुलन बिन्दु R पर वह Y की RA और X की OA मात्रा खरीदता है। जब उसकी आय बढ़ जाती है, तो वह P_1Q_1 बजट रेखा के संतुलन बिन्दु S पर Y की SB और X की OB मात्रा तथा P_2Q_2 बजट रेखा के संतुलन बिन्दु T पर Y की TC और X की OC मात्रा खरीदता है। प्रायः ICC वक्र की ढलान दाएँ ऊपर की ओर होती है जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

परन्तु ICC वक्र किसी भी आकार का हो सकता है बशर्ते कि वह उदासीनता वक्र को एक से अधिक स्थानों पर न काटे। पाँच प्रकार के आय-उपभोग वक्र हो सकते हैं। पहले प्रकार की व्याख्या ऊपर चित्र में की जा चुकी है जबकि ICC वक्र की ढलान इसकी पूरी सीमा में धनात्मक है यहाँ आय-प्रभाव भी धनात्मक है।

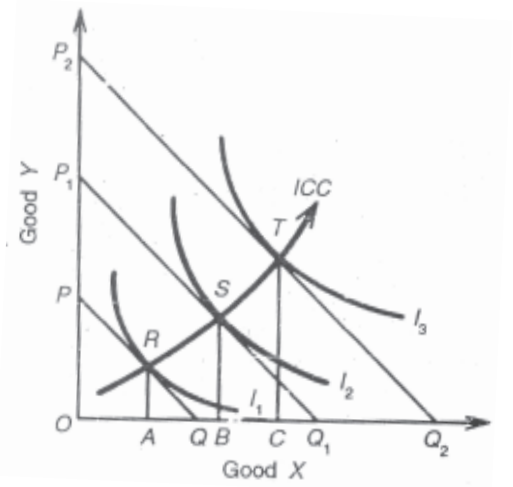

दूसरी प्रकार के ICC वक्र की ढलान शुरू में धनात्मक होती है परन्तु एक निश्चित बिन्दु के बाद यह समानान्तर हो जाता है और तब उपभोक्ता की आय के निरन्तर बढ़ते रहने पर भी समानान्तर रहता है। चित्र में उदासीनता वक्र I_2 पर बजट रेखा P_1Q_1 के संतुलन बिन्दु R तक ICC वक्र की ढलान ऊपर की ओर है। बिन्दु से आगे ढलान समानान्तर हो जाती है जिसका तात्पर्य है कि Y वस्तु के उपभोग सम्बन्ध में उपभोक्ता संतुष्टि बिन्दु पर पहँच चुका है। अपनी आय में और व द्धियों के बावजूद वह Y वस्तु की पहले जितनी मात्रा (RA) ही खरीदता है। ऐसा आवश्यकता की उस वस्तु के बारे में होता है जिसकी माँग, उपभोक्ता की आय में और व द्धि होते रहने पर भी, पहले जितनी रहती है। यहाँ Y आवश्यक वस्तु है।

चित्र में अनुलम्ब ICC को प्रदर्शित करता है जबकि वस्तु X के उपभोग के सम्बन्ध में उपभोक्ता का संतुष्टि स्तर R पर आ जाता है। अपनी आय में और व द्धियों के बावजूद वह स वस्तु की खरीदी जाने वाली मात्रा को बढ़ाना नहीं चाहता। आय के अपेक्षाक त अधिक ऊँचे स्तरों पर भी वह इसकी OA मात्रा ही खरीदता रहता है। यहाँ वस्तु X आवश्यक वस्तु है।

अन्तिम दो प्रकार के आय उपभोग वक्रों का सम्बन्ध घटिया वस्तुओं से है। जब उपभोक्ता की आय एक निश्चित स्तर से बढ़ जाती है, तो घटिया वस्तुओं की माँग गिर जाती है और वह उनके स्थान पर बढ़िया वस्तुओं को स्थानापन्न करता है। वह मोटे अनाज की बजाए गेहूँ या चावल और मोटे कपड़े के स्थान पर बढ़िया किस्म के कपड़े को स्थानापन्न कर सकता है। चित्र में वस्तु Y घटिया है। R बिन्दु तक ICC वक्र की ढलान धनात्मक है और इसके बाद वह ऋणात्मक हो जाती है। उपभोक्ता द्वारा खरीदी गई Y की मात्रा, उसकी आय में व द्धि के साथ, RA से गिरकर SB और TC हो जाती है। इसी प्रकार प्रकार चित्र में वस्तु X घटिया है, और इसकी खरीदी गई मात्रा संतुलन बिन्दु R के बाद गिरने लगती है जब ICC वक्र स्वयं पीछे को घूम जाता है। इन दोनों स्थितियों में ICC पर बिन्दु R के बाद आय प्रभाव ऋणात्मक है।

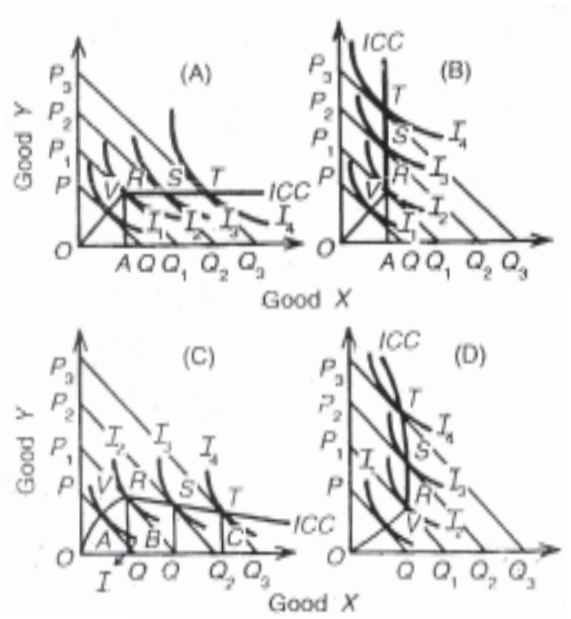

विभिन्न प्रकार के आय उपभोग वक्र चित्र में भी दिखाए गए हैं। जिनमें : (1) ICC_1 का ढलान धनात्मक है। इसका सम्बन्ध सामान्य वस्तुओं से है; (2) ICC_2 बिन्दु A के बाद समानान्तर हो जाता है। यहाँ X उत्तम वस्तु है जबकि Y आवश्यकता की वस्तु है जिसे अपनी आय में और व द्धि होने पर भी, उपभोक्ता सामान्य से अधिक मात्रा में नहीं खरीदना चाहता; (3) ICC_3 बिन्दु A के बाद अनुलम्ब हो जाता। यहाँ Y उत्तम वस्तु है और X संतुष्टि हुई आवश्यकता; (4) ICC_4 की ढलान नीचे की ओर ऋणात्मक है। यहाँ A के बाद Y घटिया वस्तु बन जाती है जबकि X उत्तम वस्तु है; और 5. ICC_5 प्रदर्शित करती है कि X एक घटिया वस्तु है।

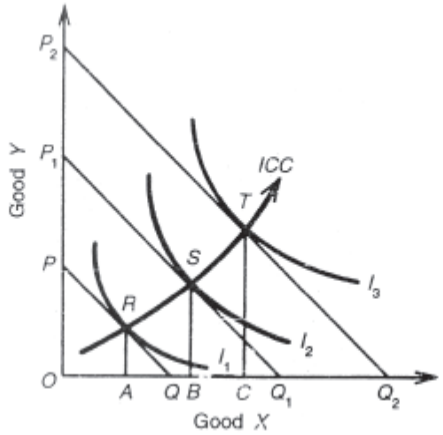

आय उपभोग वक्र और ऐंजल वक्र

ऊपर हमने आय उपभोग वक्र के बारे में अध्ययन किया जो आय के विभिन्न स्तरों पर एक उपभोक्ता द्वारा X और Y वस्तुओं की जो मात्राएँ खरीदी जाएँगी उनको दर्शाता है। एक ऐंजल वक्र, जो 19वीं शताब्दी के एक जर्मन के नाम पर जाना जाता है, आय के विभिन्न स्तरों पर उपभोक्ता एक वस्तु की जो मात्राएँ खरीदता है उन्हें दर्शाता, उस वस्तु की कीमत, रुचियाँ और अधिमान दिए होने पर।

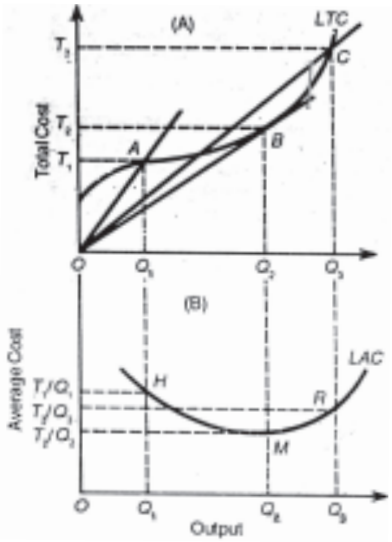

ऐंजल ने अपने ''परिवार व्यय के नियम'' में व्यय और खरीदी गई मात्रा के बीच संबंध का विश्लेषण किया जिसे ऐंजल व्यय वक्र द्वारा दिखाया जाता है, जबकि आय और खरीदी गई मात्रा के बीच संबंध को ऐंजल वक्र द्वारा दिखाया जाता है। चित्र में वस्तु X के लिए ICC से एक ऐंजल वक्र व्युत्पन्न किया गया है। ICC यह दर्शाता है कि उपभोक्ता की आय M_1 से M_2 और M_3 बढ़ने पर X वस्तु की खरीदी गई मात्राएँ OA से OB और OC बढ़ती हैं, X और Y की कीमतें दी होने पर। पेनल में, उपभोक्ता की आय अनुलंब अक्ष पर और X की खरीदी गई मात्राओं के संयोगों को निचले चित्र में स्थानांतर करते हैं। हम ऊपर के चित्र से M_1 आय और X की OA मात्रा को व्यक्त करता हुआ बिन्दु G ट्रेस करते हैं; M_2 आय और X की OB मात्रा को व्यक्त करता है बिन्दु H; तथा M_3 आय और X की OC मात्रा को व्यक्त करता बिन्दु K ट्रेस करते हैं। G, H और K बिन्दुओं को मिलाने से हम EC ऐंजल वक्र खींचते हैं। ICC और EC दोनों वक्र समान नजर आते हैं परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि ICC के लिए अनुलंब अक्ष वस्तु Y को मापता है और EC के लिए अनुलंब अक्ष आय को।

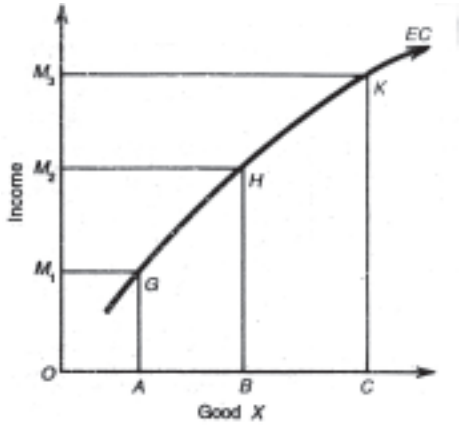

चित्र में ऐंजल वक्र एक आवश्यक वस्तु से संबंद्ध है क्योंकि आय के बढ़ने के साथ X की खरीदी गई मात्रा घटती दर से बढ़ती है, अर्थात् OA>OB>OC.

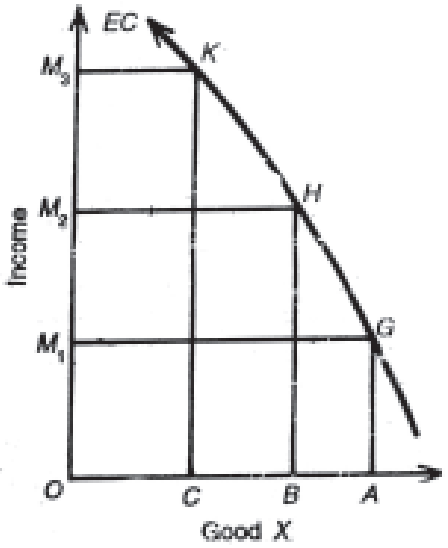

परन्तु एक विलासिता के लिए, आय में व द्धि के साथ X की खरीदी गई मात्रा बढ़ती दर से व द्धि करती है जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है जहाँ OA <OB < OC. आवश्यकताएँ और विलासिताएँ इकट्ठी लेने पर सामान्य वस्तुएँ कहलाती है जिनके लिए ऐंजल वक्र बाई से दाई ओर ऊपर को ढालू होता है क्योंकि आय में व द्धि होने पर उपभोक्ता X की अधिक मात्रा खरीदता है।

यदि X घटिया वस्तु हो, तो आय बढ़ने के साथ-साथ उपभोक्ता X की कम मात्रा खरीदता है। घटिया वस्तु X के लिए ऐंजल वक्र चित्र में दर्शाया गया है जहाँ वस्तु की खरीदी गई मात्रा OA से OB और OC कम होती है जब उपभोक्ता की आय क्रमशः M_1 से M_2 और M_3 बढ़ती है। ऐसा ऐंजल वक्र दाएँ से बाएँ पीछे की ओर ढालू होता है जैसा कि चित्र में EC वक्र है।

तटस्थ वस्तु, जैसे नमक है जिसका हर कोई उपभोग करता है, ऐंजल वक्र एक अनुलंब रेखा होता है जैसा कि चित्र के ST खण्ड द्वारा दिखाया गया है। उपभोक्ता की आय बढ़ने के साथ वह वस्तु X की समान मात्रा का उपभोग करता है, अर्थात् $M_3S = M_4C = M_5T$. यह चित्र यह भी दर्शाता है कि ऐंजल वक्र का RS खण्ड वस्तु X को आवश्यकता के रूप में ओर TU खण्ड वस्तु X की घटिया वस्तु के रूप में व्यक्त करता है।

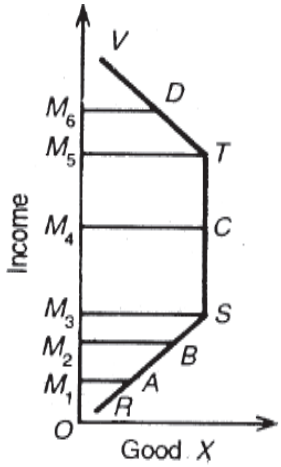

स्थानापन्नता प्रभाव
(The Substitution Effect)

स्थानापन्नता प्रभाव एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने से उसकी माँग-मात्रा में जो परिवर्तन, सापेक्षतया सस्ती वस्तु को महँगी के स्थान पर स्थानापन्न करने से, होता है उससे संबंधित है, जबकि दूसरी वस्तु की कीमत और उपभोक्ता की वास्तविक आय और रुचियाँ स्थिर रहें।

स्थानापन्नता प्रभाव को मापने की दो विधियाँ हैं : प्रथम, हिक्स की और द्वितीय, स्लट्स्की की। हम इनका विश्लेषण करते हैं।

हिक्स का स्थानापन्नता प्रभाव

प्रो, हिक्स ने आय प्रभाव से स्वतंत्र आय में क्षतिपूरक परिवर्तन द्वारा स्थानापन्नता प्रभाव की व्याख्या अपनी पुस्तक 'A Revision of Demand Theory' में की है। स्थानापन्नता प्रभाव एक वस्तु की कीमत में कमी होने से उसकी खरीदी गई मात्रा में व द्धि है, जो आय का समायोजन करने के बाद होता है ताकि उपभोक्ता की वास्तविक क्रय शक्ति पहले जैसी ही रहे। आय में इस समायोजन को क्षतिपूरक परिवर्तन कहते हैं और इसे नई बजट रेखा के समानांतर शिफ्ट द्वारा चित्र में दिखाया जाता है जब तक वह मूल उदासीनता वक्र को स्पर्श नहीं करता है। इस प्रकार, क्षतिपूरक परिवर्तन की विधि के आधार पर, स्थानापन्नता प्रभाव एक वस्तु की सापेक्ष कीमत में परिवर्तन के प्रभाव को मापता है, जबकि वास्तविक आय में जो व द्धि होती है उसको इस प्रकार उपभोक्ता से वापिस ले लिया जाता है कि वह पहले से न तो अच्छी और न ही बुरी स्थिति में होता है।

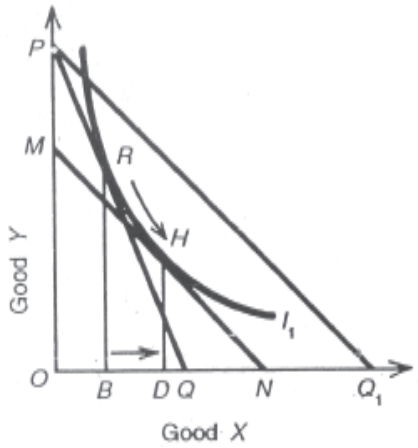

स्थानापन्नता प्रभाव की चित्र में व्याख्या की गई है जहाँ PQ मूल बजट रेखा है जहाँ पर उपभोक्ता I_1 वक्र के बिन्दु R पर संतुलन में है जहाँ वह X की OB मात्रा खरीद रहा है। मान लीजिए कि X की कीमत कम हो जाती है जिससे PQ_1 उसकी नई बजट रेखा होती है। वस्तु X की कीमत कम होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय में व द्धि हो जाती है। उसकी आय में क्षतिपूरक परिवर्तन करने के लिए, उसकी बढ़ी हुई आय को Y की PM मात्रा या X की Q_1N मात्रा के बराबर उससे वापिस इस प्रकार ले लिया जाता है कि उसकी बजट रेखा बाई और PQ_1 के समानांतर MN हो जाती है। यह रेखा MN मूल उदासीनता वक्र I_1 को H बिन्दु पर छूती है जहाँ उपभोक्ता X की OD मात्रा और Y की DH मात्रा का उपभोग करता है। इस प्रकार, Y की PM मात्रा था X की Q_1N मात्रा आय में क्षतिपूरक परिवर्तन को व्यक्त करती है, जिसे चित्र में रेखा MN द्वारा I1 वक्र को बिन्दु H पर स्पर्श करते हुए दिखाया गया है। अब उपभोक्ता Y के लिए X को स्थानापन्न करता है और R से H बिन्दु पर या समानान्तर अक्ष

पर B से D बिन्दु पर जाता है। यह गति स्थानापन्नता प्रभाव कहलाती है। स्थानापन्नता प्रभाव सदैव ऋणात्मक होता है क्योंकि जब एक वस्तु की कीमत कम (या अधिक) होती है तो इसकी अधिक (या कम) मात्रा खरीदी जाएगी, दूसरी वस्तु की कीमत और उपभोक्ता की वास्तविक आय स्थिर रहते हुए। दूसरे शब्दों में, कीमत और माँगी गई मात्रा के बीच विपरीत संबंध होने के कारण स्थानापन्नता प्रभाव ऋणात्मक होता है।

स्लट्स्की का स्थानापन्नता प्रभाव

स्लट्स्की ने उपभोक्ता की आभासी वास्तविक आय स्थिर मानकर, स्थानापन्नता प्रभाव की व्याख्या की। मान लीजिए कि वस्तु X की कीमत कम हो जाती है जिससे उपभोक्ता की वास्तविक आय बढ़ती है जिसका समायोजन इस प्रकार किया जाता है कि उपभोक्ता यदि चाहे तो दोनों वस्तुओं का पहले वाला बंडल खरीद सके जो कीमत में परिवर्तन से पूर्व उसके पास था ताकि उसकी वास्तविक आय स्थिर रहे। लेकिन जब वह ऊँचे वक्र पर गति करता है तो स्थानापन्नता प्रभाव होता है। प्रो. हिक्स स्थानापन्नता प्रभाव को मापने की स्लट्स्की की इस विधि को लागत-अंतर विधि कहता है। स्लट्स्की स्थानापन्नता प्रभाव में, स्थिर वास्तविक आय का अर्थ है दो वस्तुओं के एक विशेष बंडल के रूप में स्थिर क्रयशक्ति। लागत-अंतर का संबंध कीमतों में अंतर के कारण क्रयशक्ति में अंतर है। इसकी गणना पुरानी और नई कीमत पर दो वस्तुओं के एक विशेष बंडल की लागत में अंतर द्वारा की जाती है।

स्लट्स्की के स्थानापन्नता प्रभाव की चित्र द्वारा व्याख्या की गई है जहाँ मूल रेखा PQ उदासीनता वक्र I_1 को R बिन्दु पर स्पर्श करती है। इस बिन्दु पर उपभोक्ता X की OA मात्रा और Y की AR मात्रा खरीदता है। मान लीजिए कि X की कीमत कम हो जाती है और उसकी नई बजट रेखा PQ_1 है। X की कीमत कम होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय या क्रयशक्ति बढ़ जाती है। इस बढ़ी हुई आय को लागत-अंतर द्वारा इस ढंग से वापिस लीजिए कि उपभोक्ता X और Y के मूल बंडल R को खरीद सके ताकि उसकी आभासी वास्तविक आय स्थिर रहे । इसके लिए रेखा M_1N_1 इस तरीके से खींची जाती है कि यह PQ_1 रेखा के समानांतर बिन्दु R में से गुजरती है। यह उपभोक्ता की आय को Y की PM_1 या X की Q_1N_1 मात्रा के बराबर कम करना है। परन्तु उपभोक्ता रेखा M_1N_1 पर मूल बिन्दु R पर नहीं हो सकता क्योंकि यह I_1 वक्र को इस बिन्दु पर स्पर्श नहीं करती है। इसलिए वह ऊँचे उदासीनता वक्र I_2 के बिन्दु S पर चला जाएगा यहाँ कीमत-आय रेखा M_1N_1 इसे छूती है। क्योंकि PQ और M_1N_1 रेखाओं की क्रयशक्ति बराबर है, इसलिए इन दोनों की संतुलन स्थितियों R और S के बीच का अंतर कीमत-अंतर का स्थानापन्नता प्रभाव है। इस प्रकार, समानांतर अक्ष पर A से C तक वस्तु X की मात्रा में वद्धि X की कीमत में कमी का स्थानापन्नता प्रभाव है जब उपभोक्ता Y की GH मात्रा के लिए X की AC मात्रा स्थानापन्न करता है। यह स्लट्स्की का स्थानापन्नता प्रभाव है।

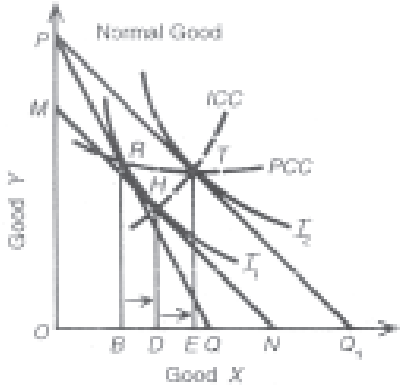

निष्कर्ष

स्थानापन्नता प्रभाव मापने की दोनों विधियों में से हिक्स की विधि से स्लट्स्की विधि ज्यादा बेहतर है। हिक्स का स्थानापन्नता प्रभाव मूल उदासीनता वक्र पर संतुष्टि के प्रारंभिक स्तर पर लाकर उपभोक्ता की वास्तविक आय को स्थिर रखता है। दूसरी ओर, स्लट्स्की स्थानापन्नता प्रभाव उपभोक्ता को ऊँचे उदासीनता वक्र पर लाकर उसे अधिक संतुष्टि प्रदान करता है। स्लट्स्की विधि में, मार्किट कीमतों और मात्राओं का अवलोकन करके लागत-अंतर के बराबर वास्तविक आय की गणना की जा सकती है, जबकि हिक्स की विधि द्वारा आय में क्षतिपूरक परिवर्तन का अनुमान लगाना कठिन है।

कीमत प्रभाव
(The Price Effect)

मैट्रिक आय स्थिर रहने पर किसी वस्तु का मूल्य तथा उसके उपभोग के बीच सम्बन्धों, से पड़ने वाले प्रभाव को कीमत प्रभाव कहा जाता है। कीमत-प्रभाव यह बताता है कि एक वस्तु X की कीमत में परिवर्तन होने से उपरोक्त द्वारा खरीदी गई उसकी मात्रा में क्या परिवर्तन होता है जबकि उपभोक्ता की आय, रुचियों, अधिमान और अन्य वस्तु Y की कीमत दी हुई हो। इसे चित्र में दर्शाया गया है। मान लीजिए X की कीमत गिर जाती है। बजट रेखा PQ दाएँ बाहर की ओर बढ़कर PQ_1 हो जाएगी जो यह प्रदर्शित करती है कि उपभोक्ता पहले की अपेक्षा X की अधिक मात्रा खरीदेगा क्योंकि X सस्ती हो गई है। बजट रेखा PQ_2 वस्तु X की कीमत के और गिर जाने को प्रकट करती है। यदि X की कीमत बढ़ जाती है, तो उसे मूल बजट रेखा के बाएँ अन्दर की ओर, बजट रेखा खींचकर दिखाया जाएगा। यदि हम PQ_2 को मूल बजट रेखा मान लें तो वस्तु X की दो बार कीमत बढ़ने पर बजट रेखा अंदर की ओर सरककर PQ_1 तथा PQ हो जाएगी। P से निकलने वाली प्रत्येक बजट रेखा उदासीनता वक्र I_1, I_2 और I_3 को क्रमशः बिन्दु R,S और T पर स्पर्श करती है। इन संतुलन बिन्दुओं के मार्ग को मिलाने वाला वक्र कीमत उपभोग वक्र PCC कहलता है। कीमत उपभोग वक्र, मूल्य के विभिन्न स्तरों पर संस्थिति बिन्दुओं का बिन्दुपथ है जो मैट्रिक आय के स्थिर रहने पर, वस्तुओं के उपभोग या क्रय के ऊपर मूल्य में पड़ने वाले परिवर्तनों का प्रभाव व्यक्त करता है।

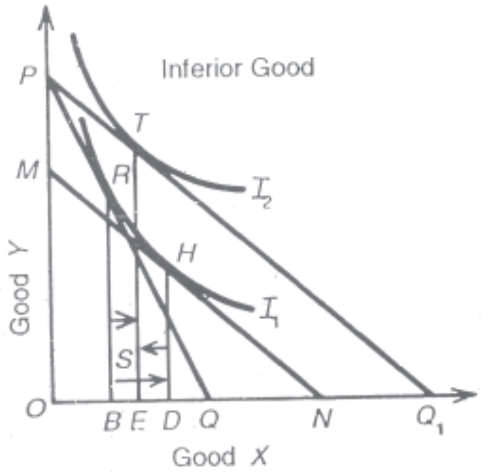

चित्र में PCC वक्र की ढलान नीचे की ओर है। ज्यों-ज्यों X की कीमत गिरती है उपभोक्ता अपेक्षाक त X की अधिक और Y की कम मात्रा खरीदता है। इस प्रकार PCC के R बिन्दु पर X की OA और Y की OL मात्रा की बजाए, वह S बिन्दु पर X की OB और Y की OM मात्रा खरीदता है।

इस प्रकार नीचे की ओर ढालू कीमत उपभोग वक्र यह बताता है कि दो वस्तुएँ X और Y एक दूसरी की स्थानापन्न है। जब दो वस्तुएँ X और Y एक-दूसरे की स्थानापन्न हों, तो उन वस्तुओं में माँग की प्रतिलोच, धनात्मक होती है। यदि PCC समानान्तर हो, तो X और Y में माँग की प्रतिलोच शून्य होती है जिसका अर्थ है कि X और Y असबंधित वस्तुएँ हैं। X वस्तु की कीमत गिरने से यद्यपि X वस्तु की खरीद OA से OB और OC तक बढती है, पर इसका वस्तु Y की माँग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जो पहले जितनी ही रहती है RA = SB = TC, जैसा चित्र में दिखाया गया है। यदि PCC की ढलान ऊपर की ओर हो, तो X और Y पूरक वस्तुएँ होती हैं। क्रमशः R,S,T बिन्दुओं पर उपभोक्ता दोनों वस्तुओं की और अधिक मात्राएँ खरीदता है जैसे कि पेनल में।

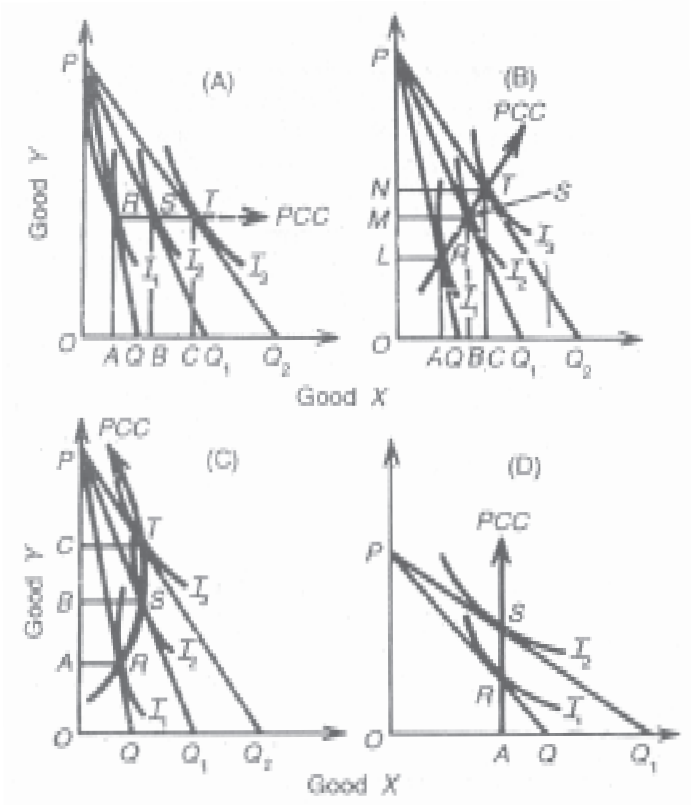

जब PCC की ढलान पीछे को Y अक्ष की ओर हो, जैसा कि पेनल में, तो X और Y वस्तुओं में माँग की प्रतिलोच ऋणात्मक होती है। X की कीमत में PQ_1 से PQ_2 की कमी होने पर उसकी माँग BS से CT कम हो जाती है परन्तु Y की माँग OB से OC बढ जाती है। इस स्थिति में X एक गिफिन वस्तु है क्योंकि, ज्यों-ज्यों यह सस्ती होती है, उपभोक्ता इसकी कम मात्रा खरीदता है। पेनल में अनुलंब PCC दिखाया गया है जो वह बताता है कि S घटिया वस्तु है क्योंकि इसकी कीमत PQ से PQ_1 कम हो जाने पर भी इसकी माँग नहीं बढती बल्कि पहले जितनी OA ही रहती है।

कीमत प्रभाव से स्थानापन्नता प्रभाव और आय प्रभाव को अलग करना
(The Separation of Substitution Effect and Income Effect from the Price Effect)

हमने ऊपर अध्ययन किया कि वस्तु X की कीमत में कमी होने से, वस्तु Y की कीमत दी होने पर, उसकी माँग में व द्धि होती है। यह कीमत प्रभाव है जिसके दो प्रभाव होते हैं :

स्थानापन्नता प्रभाव और आय प्रभाव। स्थानापन्नता प्रभाव का संबंध वस्तु X की कीमत में कमी से उसकी माँगी गई मात्रा में व द्धि से होता है, जब उपभोक्ता की वास्तविक आय स्थिर रखी जाए। इससे उपभोक्ता सापेक्षतया महँगी वस्तु Y के स्थान पर सस्ती वस्तु X का स्थानापन्न करता है। आय प्रभाव तब होता है जब वस्तु X की अधिक मात्रा खरीदता है, Y की कीमत स्थिर रखते हुए, उसे आय प्रभाव कहते हैं। इन दो प्रभावों को कीमत प्रभाव से अलग करने के लिए दो विधियाँ हैं, हिक्स विधि और स्लट्स्की विधि जिनकी आगे व्याख्या की गई ।

हिक्स विधि

हिक्स ने उपभोक्ता की वास्तविक आय को स्थिर रखते हुए और एक वस्तु की सापेक्ष कीमत में परिवर्तन करके आय में क्षतिपूरक परिवर्तन द्वारा स्थानापन्नता प्रभाव और आय प्रभाव को कीमत प्रभाव से अलग किया है।

मान लीजिए कि प्रारंभ में उपभोक्ता बजट रेखा PQ के R बिन्दु पर संतुलन में है जहाँ उदासीनता वक्र I_1 उसको स्पर्श करता है जैसाकि चित्र में है। अब X की कीमत कम हो जाती है। परिणामस्वरूप, उसकी बजट रेखा बाहर दाई ओर फैलकर PQ_1 हो जाती है, जहाँ उपभोक्ता इसके साथ ऊँचे उदासीनता वक्र I_2 के बिन्दु T पर संतुलन में होता है। समानांतर अक्ष पर बिन्दु B से E या बिन्दु R से T पर गति वस्तु X की कीमत कम होने पर कीमत प्रभाव को दर्शाती है। वस्तु X की कीमत कम होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय बढ़ जाती है। उसकी आय में क्षतिपूरक परिवर्तन करने और स्थानापन्नता प्रभाव को अलग करने के लिए, उपभोक्ता की आय को Y की PM मात्रा या X की Q_1N मात्रा के बराबर कम कर दिया जाता है, जिसे PQ_1 रेखा के समानांतर MN रेखा द्वारा दिखाया गया है, जो मूल उदासीनता वक्र I_1 के साथ बिन्दु H पर स्पर्श करती है। इस प्रकार, I_1 वक्र पर R से H को गति स्थानापन्नता प्रभाव है जिससे उपभोक्ता Y को X द्वारा स्थानापन्न करके X के उपभोग को OB से OD बढ़ाता है क्योंकि Y की अपेक्षा X सस्ती है। यह ध्यान देने योग्य है कि जब वस्तु X की कीमत में कमी (या व द्धि) होती है, तो स्थानापन्नता प्रभाव सदैव इसकी माँगी गई मात्रा में व द्धि (या कमी) लाता है। इस प्रकार, कीमत और माँगी गई मात्रा में विपरीत संबंध होने से कीमत परिवर्तन का स्थानापन्नता प्रभाव सदैव ऋणात्मक होता है, वास्तविक आय स्थिर रखते हुए। इसे स्लट्स्की प्रमेय कहते हैं जिसे सर्वप्रथम स्लट्स्की द्वारा माँग के नियम के संबंध में व्यक्त किया गया था।

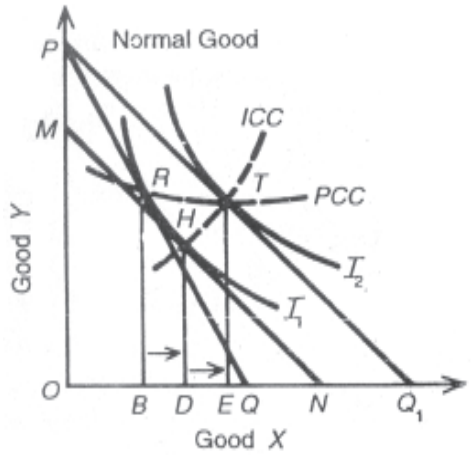

कीमत प्रभाव से आय प्रभाव को अलग करने के लिए, उपभोक्ता से जो मुद्रा ली गई थी उसे वापिस कीजिए ताकि वह PQ_1 बजट रेखा और I_2 वक्र के संतुलन बिन्दु T पर पुनः चला जाए। निचले वक्र I_1 के बिन्दु H से ऊँचे उदासीनता वक्र I_2 के बिन्दु T पर गति, वस्तु X की कीमत कम होने का आय प्रभाव है। आय में क्षतिपूरक परिवर्तन की विधि से उपभोक्ता की वास्तविक आय में X की कीमत कम होने से जो व द्धि हुई है उससे उपभोक्ता सस्ती वस्तु X की अधिक मात्रा समानात्मक अक्ष पर DE खरीदता है। यह एक साधारण वस्तु X कीमत में कमी का आय प्रभाव है। एक साधारण वस्तु के लिए कीमत परिवर्तन के साथ-आय प्रभाव ऋणात्मक होता है। ऐसा इस कारण कि वस्तु X की कीमत में कमी से वस्तु की माँगी गई मात्रा में DE की जो व द्धि हुई है, वह उपभोक्ता की वास्तविक आय में बढ़ोत्तरी द्वारा है। इस प्रकार, कीमत और माँग-मात्रा में विपरीत संबंध है जिसका अभिप्राय माँग वक्र की ऋणात्मक ढलान है। यही कारण है कि आय प्रभाव ऋणात्मक है। अतः वस्तु X की कीमत में कमी का DE ऋणात्मक आय प्रभाव BD ऋणात्मक स्थानापन्नता प्रभाव को बल देता है जिससे साधारण वस्तु के लिए कुल कीमत प्रभाव BE भी ऋणात्मक होता है। इसका अभिप्राय है कि वस्तु X की कीमत में कमी होने से, दोनों प्रभावों के जोड़ से, वस्तु की माँग-मात्रा में व द्धि हुई है। इसे स्लट्स्की समीकरण के रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है : कीमत प्रभाव (-) BE = (-) BD (स्थानापन्नता प्रभाव) + (-) DE (आय प्रभाव)।

एक घटिया वस्तु के लिए स्थानापन्नता और आय प्रभाव

यदि X घटिया वस्तु हो, तो X की कीमत में कमी होने से आय प्रभाव धनात्मक होगा क्योंकि जब उपभोक्ता की वास्तविक आय बढती है तो वह X की पहले से कम मात्रा की माँग करेगा। दूसरी ओर, ऋणात्मक स्थानापन्नता प्रभाव से X की माँगी गई मात्रा में व द्धि होगी। दूसरे शब्दों मे, जब घटिया वस्तु X की कीमत कम होती है तो उपभोक्ता आय में क्षतिपूरक परिवर्तन के कारण स्थानापन्नता प्रभाव के अन्तर्गत इसकी अधिक मात्रा खरीदता है और बाकी राशि को किसी अन्य वस्तु पर खर्च करता है। परन्तु घटिया वस्तु के लिए धनात्मक आय प्रभाव से ऋणात्मक होगा।

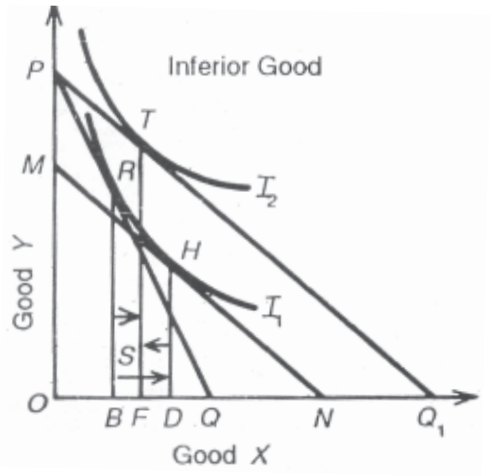

X को घटिया वस्तु के रूप में चित्र में दर्शाया गया है। प्रारम्भ में उपभोक्ता बिन्दु R पर संतुलन में है जहाँ बजट रेखा PQ उदासीनता वक्र I_1 को स्पर्श करती है। X की कीमत कम होने से वह PQ_1 रेखा पर ऊँचे उदासीनता वक्र I_2 के साथ बिन्दु T पर चला जाता है। उसकी बिन्दु R से T या समानांतर अक्ष पर B से E को गति कीमत प्रभाव है। आय में क्षतिपूरक

परिवर्तन द्वारा वह नई बजट रेखा MN के बिन्दु H पर मूल वक्र I_1 के साथ संतुलन में होता है। वक्र I_1 पर बिन्दु R से H को गति स्थानापन्नता प्रभाव है जिसे वस्तु X की अधिक माँग-मात्रा BD द्वारा मापा गया है आय प्रभाव को अलग करने के लिए जब उपभोक्ता से ली गई वास्तविक आय उसे वापिस कर दी जाती है, तो वह PQ_1 रेखा और I_2 वक्र के स्पर्श बिन्दु T पर पहुँच जाता है। बिन्दु H से T को गति घटिया वस्तु X की कीमत में कमी का आय प्रभाव है जो DE है। यह आय प्रभाव धनात्मक है क्योंकि घटिया वस्तु X की कीमत कम होने से जब उपभोक्ता की वास्तविक आय में व द्धि हुई तो वह इसकी DE कम मात्रा खरीदता है। जब कीमत और माँग-मात्रा का आय में क्षतिपूरक परिवर्तन द्वारा सीधा संबंध हो तो आय प्रभाव धनात्मक होगा।

एक घटिया वस्तु के लिए धनात्मक आय प्रभाव से ऋणात्मक स्थानापन्नता प्रभाव बडा होता है जिससे कुल कीमत प्रभाव ऋणात्मक होगा। अतः कीमत प्रभाव (-) BE = (-) BD (स्थनापन्नता प्रभाव) + DE (आय प्रभाव)। दूसरे शब्दों में, बिन्दु R से T को पूर्ण कीमत गति, जिसमें आय और स्थानापन्नता प्रभाव दोनों शामिल हैं, X की कीमत कम होने के बाद माँग-मात्रा में BE की व द्धि दर्शाती है। यह घटिया वस्तु के बारे में भी नीचे की ओर ढालू माँग वक्र को स्थापित करती है।

गिफिन वस्तु की लिए स्थानापन्नता और आय प्रभाव

एक बहुत घटिया वस्तु गिफिन वस्तु है, जो राबर्ट गिफिन के नाम पर कहलती है। गिफिन ने यह पाया कि आयरलैंड के गरीब किसानों के लिए आलू एक अनिवार्य खाद्य पदार्थ था उसने यह देखा कि 1848 के अकाल में आलुओं की कीमत में व द्धि से उनकी माँगी गई मात्रा में बढोत्तरी हुई। उसके पश्चात् उनकी कीमत में कमी से उनकी माँग-मात्रा में कमी हो गई। आवश्यक खाद्य पदार्थों के लिए कीमत और माँग-मात्रा में यह सीधा संबंध गिफिन विरोधाभास कहलाता है। ऐसी विरोधाभासी प्रव त्ति का यह कारण है कि जब जनसाधारण के उपभोग के किसी खाद्य पदार्थ जैसे ब्रैड की कीमत बढती है तो उसका प्रभाव यह होता है कि उपभोक्ताओं की वास्तविक आय कम हो जाती है, जो अधिक महँगी खाद्य वस्तुओं पर अपने खर्च कम कर देते हैं; जिसके परिणामस्वरूप ब्रैड की माँग बढ़ जाती है। इसी प्रकार, ब्रैड की कीमत कम होने से उपभोक्ताओं की वास्तविक आय में व द्धि होती है जो ब्रैड के स्थान पर अन्य महँगी खाद्य वस्तुओं को स्थानापन्न करते हैं जिससे ब्रैड की माँग कम हो जाती है।

एक गिफिन वस्तु के लिए ऋणात्मक स्थानापन्नता प्रभाव से धनात्मक आय प्रभाव शक्तिशाली होता है जिससे इसकी कीमत कम होने पर उपभोक्ता इसकी कम मात्रा खरीदता हे। इसे चित्र में दिखाया गया है। मान लीजिए X गिफिन वस्तु है और प्रारंभिक संतुलन बिन्दु R है जहाँ PQ बजट रेखा उदासीनता व I_1 को स्पर्श करती है। अब X की कीमत कम होती है और उपभोक्ता नई बजट रेखा PQ_1 और उदासीनता व I_2 के स्पर्श बिन्दु T पर चला जाता है। उसकी R से T को गति कीमत प्रभाव है जिससे वह X की BE कम मात्रा खरीदता है। स्थानापन्नता प्रभाव को अलग करने के लिए, X की कीमत में कमी से जो वास्तविक आय में व द्धि हुई है उसे उपभोक्ता से लेने के लिए PQ_1 रेखा के समानांतर MN रेखा खींची गई है जो मूल उदासीनता व I_1 से H बिन्दु पर स्पर्श करती है। परिणामस्परूप, वह I_1 व के साथ-साथ बिन्दु R से H को गति करता है। यह ऋणात्मक स्थानापन्नता प्रभाव है जो X की कीमत कम होने पर, उपभोक्ता की वास्तविक आय स्थिर रहते हुए, अधिक मात्रा BD खरीदता है। आय प्रभाव को अलग करने के लिए जब उपभोक्ता से ली हुई आय को वापिस

कर दिया जाता है तो वह बिन्दु H से T पर चला जाता है जिससे वह X के उपभोग की बहुत अधिक मात्रा DE कम कर देता है। यह धनात्मक आय प्रभाव है क्योंकि गिफिन वस्तु X की कीमत में कमी होने से आय में क्षतिपूरक द्वारा इसकी माँग-मात्रा DE कम होती है। दूसरे शब्दों में, यह कीमत परिवर्तन के प्रति धनात्मक है, अर्थात् वस्तु X की कीमत में कमी से, आय प्रभाव द्वारा, माँगी गई मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार, एक गिफिन वस्तु के लिए ऋणात्मक स्थानापन्नता प्रभाव से धनात्मक आय प्रभाव शक्तिशाली होने के कारण कुल कीमत प्रभाव धनात्मक होता है। यही कारण है कि एक गिफिन वस्तु माँग व धनात्मक ढलान बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर होती है। अतः कीमत प्रभाव BE = DE (आय प्रभाव) + (-) BD (स्थानापन्नता प्रभाव)।

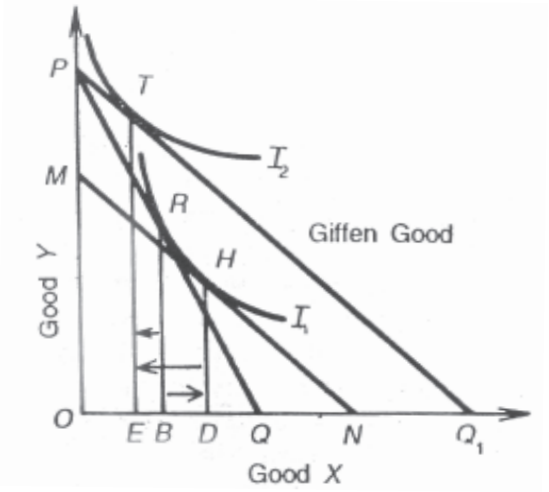

हिक्स के अनुसार, एक वस्तु को गिफिन वस्तु होने के लिए तीन शर्तों को पूरा करना आवश्यक है : 1. उपभोक्ता उस पर अपनी आय का बहुत बडा भाग व्यय करे, 2. यह घटिया वस्तु हो जिसका आय प्रभाव शक्तिशाली हो; और 3. स्थानापन्नता प्रभाव कमजोर हो। परन्तु गिफिन वस्तुएँ बहुत दुर्लभ होती हैं जो इन शर्तो को पूरा कर सकें।

निष्कर्ष

हिक्स के कीमत प्रभाव को स्थानापन्नता प्रभाव और आय प्रभाव में बाँटने की विधि दोषपूर्ण है, क्योंकि यह जानना संभव नहीं है कि उपभोक्ता की वास्तविक आय में कितना परिवर्तन किया जाए ताकि उसे मूल उदासीनता वक्र पर रखा जा सके। इस कारण, इसमें व्यावहारिक उपयुक्तता का अभाव है। स्लट्स्की विधि उपभोक्ता की आभासी वास्तविक आय को लेकर आय में क्षतिपूरक परिवर्तन द्वारा इसको सुलझाने का प्रयत्न करती है।

स्लट्स्की विधि

स्लट्स्की ने, उपभोक्ता की आभासी वास्तविक आय को स्थिर मानकर, कीमत प्रभाव के इन आय और स्थानापन्नता प्रभावों की व्याख्या की। X की कीमत गिरने से जब उपभोक्ता की वास्तविक आय बढ जाती है, तो वह बढी हुई आय इस प्रकार समायोजित की जाती है कि यदि उपभोक्ता चाहे तो X की पहले जितनी मात्रा खरीद सकता है, जिसके परिणामस्वरूप उसकी आभासी वास्तविक आय स्थिर रहती है। इसका कारण यह है कि जब स्थानापन्नता-प्रभाव होता है तो वह अपेक्षाक ति अधिक ऊँचे उदासीनता-वक्र पर चला जाता है। इसका मतलब है कि स्लट्स्की-प्रभाव एक बिन्दु के गिर्द घूमने वाली बजट रेखाओं के अनुरूप है जहाँ वे एक-दूसरी को काटती हैं जैसे चित्र में बिन्दु R.J. प्रो. हिक्स इसे लागत अन्तर विधि कहता

है। मान लो कि वस्तु X की कीमत कम हो जाती है परन्तु उपभोक्ता की आभासी वास्तविक आय में कोई परिवर्तन नहीं होता इसलिए X की कीमत कम होने से उसकी बढी हुई आय उससे, इस प्रकार ले ली जाती है कि वह X तथा Y वस्तुओं का पहला संयोग ही ले सके। स्लट्स्की-प्रभावों के चित्र में दिखाया गया है। उपभोक्ता R बिन्दु पर संतुलन में है जहाँ उदासीनता वक्र I_1 को बजट रेखा PQ छूती है। जब X की कीमत कम होती है तो नई बजट रेखा PQ_1 हो जाती है जहाँ उपभोक्ता I_3 वक्र के T बिन्दु पर संतुलन में होता है। उपभोक्ता का बिन्दु R से T पर जाना कीमत प्रभाव है। X की कीमत कम होने से लागत-अन्तर द्वारा उपभोक्ता की बढ़ी हुई आय को इस प्रकार कम करना है कि वह पहले वाले संयोग R को ही खरीद सके क्योंकि ऐसा मान लिया गया है कि उसकी आभासी वास्तविक आय स्थिर रहती है। इसके लिए M_1N_1 रेखा इस प्रकार खींची गई है कि वह R बिन्दु में से गुजरे। यह एक प्रकार से वस्तु Y की PM_1 मात्रा तथा वस्तु X की Q_1N_1 मात्रा के बराबर उपभोक्ता की आय कम कर दी जाती है। परन्तु नई बजट रेखा M_1N_1 पर उपभोक्ता S बिन्दु पर संतुलन में होता है जहाँ यह रेखा I_2 वक्र को छूती है। वास्तव में X वस्तु Y की अपेक्षा सस्ती होने से उपभोक्ता X को Y के स्थान पर स्थानापन्न करता है। अतः वह Y के स्थान पर स्थानापन्न करता है। अतः वह Y की GH मात्रा त्याग कर X की AC मात्रा अधिक लेता है। उपभोक्ता का बिन्दु R से S को जाना स्लट्स्की स्थानापन्नता प्रभाव है। यदि उपभोक्ता से ली गई आय को उसे लौटा दिया जाए तो वह S बिन्दु से I_2 वक्र के T बिन्दु पर चला जाएगा। उपभोक्ता का S से T पर जाना आय प्रभाव है। इस प्रकार जब X वस्तु की कीमत कम होती है तो बिन्दु R से T पर गति कीमत प्रभाव है जिससे उपभोक्ता X वस्तु की AD अधिक मात्रा खरीदता है। इस कीमत प्रभाव का पहला प्रभाव स्थानापन्नता प्रभाव AC है जो उपभोक्ता का R से S बिन्दु पर जाना दर्शाता है। इनका दूसरा प्रभाव आय प्रभाव है जिसके कारण उपभोक्ता जब S से T पर जाता है तो X की CD मात्रा खरीदता है।

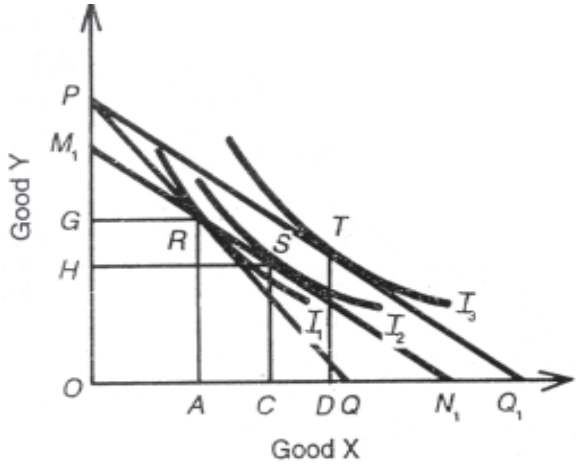

स्लट्स्की बनाम हिक्स : कीमत प्रभाव से स्थानापन्नता प्रभाव और आय प्रभाव को अलग करना

हिक्स तथा स्लट्स्की कीमत प्रभाव के आय प्रभाव तथा स्थानापन्नता प्रभाव को प थक् -प थक् ढंगों से अलग करते हैं। हिक्स के अनुसार, जब X वस्तु की कीमत गिरती है तो उसका दोहरा प्रभाव यह होता है कि प्रथम उपभोक्ता की वास्तविक आय बढ जाती है और वह क्षतिपूरक परिवर्तन के आधार पर स्थानापन्नता प्रभाव के माध्यम से पहले वाले उदासीनता वक्र पर रहता है। ऐसा दोनों वस्तुओं X तथा Y की सापेक्ष कीमतों में परिवर्तन के कारण होता है

जिससे उपभोक्ता की बढी हुई वास्तविक आय दोनों वस्तुओं पर इस प्रकार खर्च हो जाती है कि वह न तो पहले से अच्छी और न ही बुरी अवस्था में होता है।

अतः उपभोक्ता स्थानापन्नता-प्रभाव के अर्न्तगत उसी उदासीनता वक्र I_1 पर चला जाता है जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। जैसा कि ऊपर देखा गया है, स्लट्स्की स्थानापन्नता प्रभाव के अनुसार X वस्तु की कीमत गिरती है तो उपभोक्ता बढी हुई आय इस प्रकार खर्च करता है कि यदि वह चाहे तो X तथा Y की पहले वाली मात्राएँ ही खरीद सके ताकि उसकी आभासी वास्तविक आय में कोई परिवर्तन न हो। परन्तु स्थानापन्नता प्रभाव ऊँचे व• I_2 पर होता है।

चित्र में हिक्स और स्लट्स्की द्वारा स्थानापन्नता और आय प्रभावों को कीमत प्रभाव से अलग करने की व्याख्या भी करता हैं यहाँ PQ मूल बजट रेखा है जहाँ उदासीनता वक्र I_1 पर R संतुलन की बिन्दु है जिस पर उपभोक्ता X की OA और Y की RA मात्रा खरीदता है। अब X की कीमत गिर जाने से बजट रेखा फैलकर PQ_1 हो जाती है और उपभोक्ता ऊँचे उदासीनता वक्र I_3 के बिन्दु T पर आ जाता है। R से T पर गति कीमत प्रभाव है जो यह बताता है कि X की कीमत गिरने से उपभोक्ता उसकी पहले की अपेक्षा AD मात्रा अधिक खरीदता है। यह कीमत प्रभाव मिश्रण है आय प्रभाव और स्थानापन्नता प्रभाव का, जिन्हें दो तरह से अलग किया जा सकता है। हिक्स का अनुसरण करते हुए हम PQ_1 के समानान्तर MN रेखा इस प्रकार खींचते हैं कि उपभोक्ता उसी वास्तविक आय-स्तर पर मूल उदासीनता वक्र I_1 और बजट रेखा MN के बिन्दु H पर होता है। वक्र I_1 के बिन्दु R से H पर गति स्थानापन्नता प्रभाव को मापती है। परिणामस्वरूप, उपभोक्ता X की पहले से AB मात्रा अधिक खरीदता है। X की शेष BD मात्रा की व द्धि, आय प्रभाव के H से T पर होने का परिणाम है।

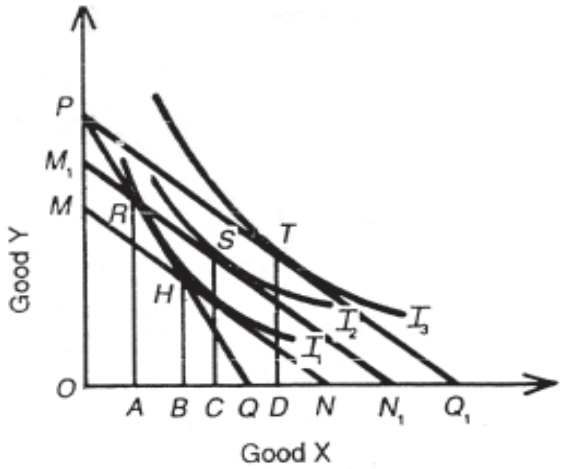

स्लट्स्की विधि के अनुसार, PQ_1 के समानान्तर नई बजट रेखा M_1N_1 इस प्रकार खींची गई है कि X की कीमत गिर जाने के बाद भी उपभोक्ता की आभासी वास्तविक आय स्थिर रहती है। यदि M_1N_1 रेखा बिन्दु R में से गुजरे तो संयोग R को खरीदने के लिए उपभोक्ता के पास उतनी ही मौद्रिक आय रहती है जिसे वह पुरानी बजट रेखा PQ पर खरीद रहा था। परन्तु वास्तव में M_1N_1 बजट रेखा के संयोग S के लिए उपभोक्ता का अधिमान R की अपेक्षा इसलिए अधिक है क्योंकि बिन्दु R अपेक्षाक त नीचे वक्र I_1 पर है जबकि बिन्दु S उस बजट रेखा पर स्थित है जो अपेक्षाक त ऊँचे वक्र I_2 का स्पर्श करती है। R से S पर गति स्लट्स्की का स्थानापन्नता प्रभाव है परिणामस्वरूप, उपभोक्ता X की AC मात्रा अधिक खरीदता है और S से T पर गति या X की CD मात्रा आय प्रभाव है।

यदि X घटिया वस्तु हो आय प्रभाव ऋणात्मक होगा। ऐसे में X की कीमत गिर जाने से कीमत प्रभाव के जो स्थानापन्नता प्रभाव तथा आय प्रभाव होंगे उनको हिक्स एवं स्लट्स्की की विधियों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। चित्र में उपभोक्ता का R से T पर जाना हिक्स तथा स्लट्स्की दोनों के अनुसार कीमत प्रभाव है। उसकी उसी उदासीनता वक्र I_1 पर R से H की गति हिक्स के स्थानापन्नता प्रभाव के अनुसार होती है तथा R से S की गति स्लट्स्की के स्थानापन्नता प्रभाव के अनुसार ऊँचे वक्र I_2 पर होती है। X वस्तु घटिया होने पर जब इसकी कीमत गिरती है तो आय प्रभाव से स्थानापन्नता प्रभव बडा होता है। यही बात यह दोनों विधियाँ स्पष्ट करती हैं। X घटिया वस्तु होने पर उसकी कीमत कम होने से इसकी पहले से कम मात्रा खरीदता है। हिक्स के आय प्रभाव के अनुसार उपभोक्ता H से T को चला जाता है और X की BD कम मात्रा खरीदता है। जबकि स्लट्स्की विधि के अनुसार वह S से T पर जाता है तथा X की CD कम मात्रा खरीदता है।

जैसा कि चित्र में स्पष्ट है, घटिया वस्तु X के बारे जब उसकी कीमत कम होती है तो स्लटस्की के स्थानापन्नता प्रभाव (AC) से हिक्स का स्थानापन्नता प्रभाव (AB) बड़ा है। इसी प्रकार, स्लट्स्की के आय प्रभाव (CD) से हिक्स का आय प्रभाव (BD) बड़ा है।

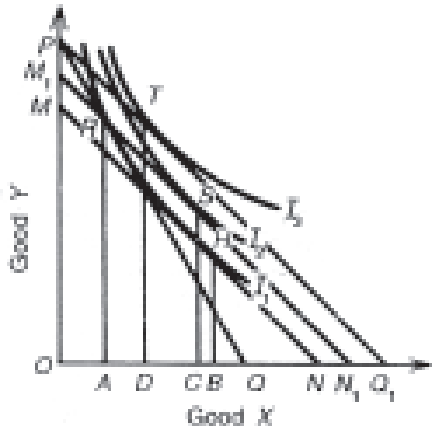

निष्कर्ष : स्लट्स्की विधि वास्तविक आय को स्थिरता के समीप लाने का अच्छा प्रयत्न है जो हिक्स-विधि से श्रेष्ठ है। स्लट्स्की का स्थानापन्नता प्रभाव उपभोक्ता को ऊँचे उदासीनता वक्र पर लाकर अधिक संतुष्टि प्रदान करता है। जबकि हिक्स का स्थानापन्नता प्रभाव उसे पहले वाली स्थिति पर ही ले आता है। हिक्स स्वयं इसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए लिखता है ''स्थानापन्नता प्रभाव वास्तविक आय को स्थिर मानकर सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन के प्रभाव को मापता है; तथा आय प्रभाव वास्तविक आय में परिवर्तन के प्रभाव को मापता है।'' हिक्स का स्थानापन्नता प्रभाव दुर्बल है क्योंकि यह आय में क्षतिपूरक परिवर्तन पर निर्भर करता है। स्लट्स्की विधि के अनुसार लागत-अन्तर के बराबर आय का मार्किट की स्थिति और व्यवहार से सीधा हिसाब लगया जा सकता है जबकि आय में क्षतिपूरक परिवर्तन का हिसाब लगाना कठिन होता है। उदासीनता वक्र का बिलकुल ज्ञान न होने पर ही मार्किट कीमतों और उन कीमतों पर खरीदी गई मात्राओं से स्लट्स्की के आय प्रभाव तथा स्थानापन्नता प्रभाव को आसानी से आँका जा सकता है हिक्स इस बात को स्वीकार करते हुए लिखता है कि स्लट्स्की का आय प्रभाव सरलता से दिखाया जा सकता है जबकि क्षतिपूरक परिवर्तन विधि आय प्रभाव को स्थानापन्नता प्रभाव के साथ जोड़कर जटिल बना देता है। अतः स्लट्स्की विधि व्यावहारिक द ष्टिकोण से हिक्स विधि से श्रेष्ठ है।

कीमत उपभोग वक्र से माँग वक्र खींचना
(To Derive Demand Curve from PCC Curve)

कीमत उपभोग वक्र (PCC) किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने पर उपभोक्ता द्वारा उस वस्तु की खरीदी गई विभिन्न मात्राओं को प्रकट करता है। मार्शल का माँग वक्र भी विभिनन कीमतों पर उपभोक्ता द्वारा एक वस्तु की खरीदी गई विभिन्न मात्राओं को बताता है जबकि अन्य बातें समान रहती हैं। जब उपभोक्ता की मौद्रिक आय और उसका उदासीनता मानचित्र दिए हों, तो PCC से किसी वस्तु के लिए उपभोक्ता का माँग वक्र खींचा जा सकता है। एक वस्तु की दी हुई कीमत माँग अनुसूची से परम्परागत माँग वक्र खींचा जा सकता है जबकि PCC से माँग वक्र खींचना कुछ जटिल है। परन्तु पहले से दूसरा तरीका अच्छा है क्योंकि यह इन मान्यताओं को नहीं लेता कि उपयोगिता मापी जा सकती है तथा मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर होती है। PCC से माँग वक्र का व्युत्पन्न करना किसी वस्तु की कीमत में उतार-चढाव के आय और स्थानापन्नता प्रभावों की भी व्याख्या करता है। मार्शल का माँग वक्र इनकी व्याख्या करने में असमर्थ रहता है। PCC जिससे माँग वक्र खींचा जाता है, माँग की कीमत-लोच को भी प्रकट करता है। कुल मिलाकर माँग वक्र के व्युत्पन्न करने की क्रमवाचक तकनीक मार्शल के तरीके से अच्छी है।

मान्यताएँ

इस विश्लेषण की मान्यताएँ इस प्रकार हैं कि 1. उपभोक्ता द्वारा खर्च की जाने वाली मुद्रा दी हुई और स्थिर है। वह 10 रुपये है। 2. वस्तु X की कीमत गिरती है। 3. अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन नहीं होता। 4. उपभोक्ता की रुचियाँ और अधिमान स्थिर रहते हैं।

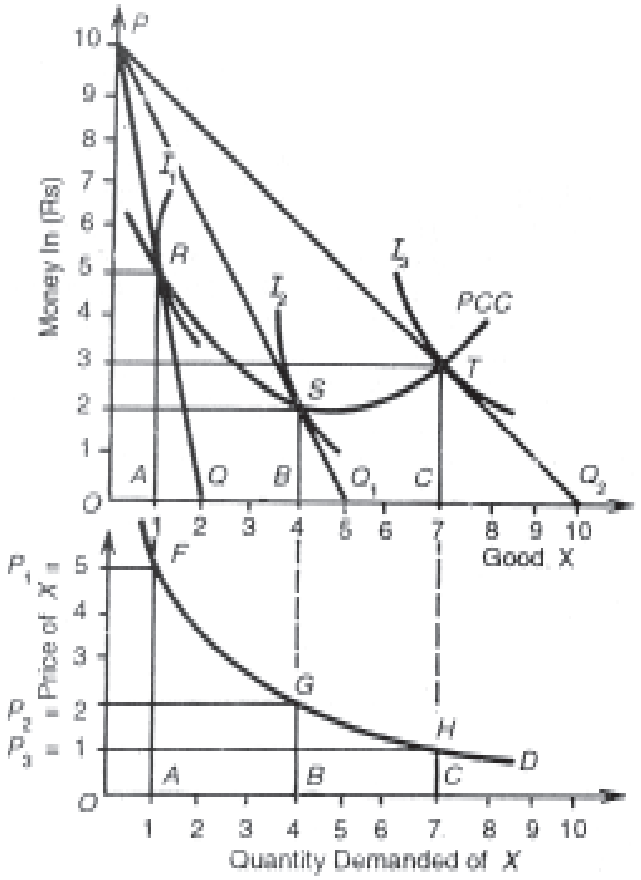

दो मंजिले चित्र के ऊपरी भाग में मुद्रा (रुपयों में) Y अनुलंब अक्ष पर ली गई है और समानान्तर अक्ष पर वस्तु X की PQ, PQ_1 और PQ_2 उपभोक्ता की बजट रेखाएँ हैं जिन पर R, S और T संतुलन की स्थितियाँ हैं जो PCC वक्र बनाती हैं। वह PCC वक्र के इन बिन्दुओं पर X की क्रमशः OA, OB और OC इकाइयाँ खरीदता है। यदि उपभोक्ता की कुल आय को उससे खरीदी जाने वाली वस्तु की इकाइयों से विभाजित कर दें तो हमें वस्तु की प्रति इकाई कीमत प्रापत होगी। उपभोक्ता X की OA इकाइयों के लिए OP/OQ, OB इकाइयों के लिए OP/OQ_1 और OC इकाइयों के लिए OP/OQ_2 कीमत देता है। वास्तव में, यह X वस्तु के लिए उपभोक्ता की कीमत-माँग अनुसूची है, जिसे तालिका के रूप में नीचे दिखाया गया है।

तालिका : वस्तु X के लिए कीमत माँग-अनुसूची

बजट रेखा	X की कीमत $\left[=\frac{\text{कुल मुद्रा}}{\text{X की इकाइयों की संख्यां}}\right]$	X की माँग की मात्रा
PQ	$\frac{OP}{OQ}\left[\frac{10}{2}=\text{रु.}5\right]$	OA = 1 इकाई
PQ_1	$\frac{OP}{OQ_1}\left[\frac{10}{5}=\text{रु.}2.00\right]$	OB = 4 इकाई
PQ_2	$\frac{OP}{OQ_2}\left[\frac{10}{10}=\text{रु.}1.00\right]$	OC = 7 इकाई

उपभोक्ता की वस्तु X के लिए कीमत-माँग अनुसूची यह बताती है कि उसकी मौद्रिक आय OP (10 रु) होने पर जब वह समस्त आय को OQ मात्रा (2 इकाइयों) खरीदने पर खर्च करता है तो इसका अर्थ यह है कि X की कीमत PQ बजट रेखा के अनुसार 5 रु है, जिस पर उपभोक्ता वस्तु X की OA मात्रा (एक इकाई) खरीदेगा जो I_1 वक्र के संतुलन बिन्दु R द्वारा निश्चित है। इसी प्रकार, जब उपभोक्ता PQ_1 बजट रेखा पर होता है तो वह OB (4 इकाइयों) OP/OP_1 (रु 2) प्रति इकाई खरीदता है। इसे I_2 वक्र के S बिन्दु द्वारा दिखाया गया है। जब वह PQ_2 बजट रेखा पर I_3 वक्र के साथ T बिन्दु पर होता है तो वह X की OC (7 इकाइयाँ) मात्रा OP/OQ_2 (=रु 1) पर खरीदता है। PCC वक्र पर बिन्दु R,S और T वस्तु X के लिए कीमत-मात्रा संबंधों को दर्शाते हैं।

इसी अनुसूची को चित्र के नीचे के भाग में अंकित किया गया है। X की कीमतें अनुलंब अक्ष पर और माँग की मात्राएँ समानांतर अक्ष पर ली गई हैं। वक्र PCC से माँग वक्र खींचने के लिए चित्र के ऊपरी भाग में R बिन्दु से एक लंब, A में से गुजरता हुआ चित्र के निम्न भाग पर खीचें तथा कीमत अक्ष के P_1 (=5) बिन्दु से एक रेखा खींचे जो इस लम्ब को F बिन्दु पर काटे तो इस प्रकार F मँग वक्र का प्रथम बिन्दु होगा। इसी प्रकार क्रमशः G, H, L, M बिन्दु खींचे हुए हैं। अनुसूची के अनुसार, विभिन्न कीमतों और मात्राओं से जो यह तीन बिन्दु प्राप्त होते हैं, उनको एक रेखा द्वारा मिलाने से D माँग वक्र बनता है। यह वक्र विभिन्न कीमतों पर उपभोक्ता द्वारा माँगी गई X की मात्राओं को व्यक्त करता है। वस्तु X की कीमत कम होने पर वह उसकी अधिक मात्राएँ खरीत दता है तथा माँग वक्र D दार्यी ओर नीचे झुकता है।

धनात्मक ढलान वाला माँग वक्र - माँग वक्र का दाई ओर नीचे को झुकाव, जैसा चित्र के नीचे के भाग में दिखाया गया है, साधारण वस्तुओं के लिए होता है। परन्तु X गिफिन वस्तु

होने पर माँग वक्र बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर ढालू होता है। इसका कारण यह है कि X वस्तु बहुत घटिया होने पर जब उसकी कीमत में कमी होती है तो उपभोक्ता की वास्तविक आय में व द्धि होती है जिससे वह इस वस्तु की अपेक्षा बढिया खाद्य वस्तुओं का उपभोग करता है और गिफिन वस्तु की कम मात्रा खरीदता है। चित्र में PCC से गिफिन वस्तु का माँग वक्र खींचा गया है।

चित्र के ऊपरी भाग में पीछे की ओर झुकाव वाला PCC वक्र खींचा गया है जो गिफिन वस्तु के लिए होता है। बजट रेखा PQ_1 पर उपभोक्ता R बिन्दु पर संतुलन में होता है। वस्तु X की कीमत गिरने से बजट रेखाएँ PQ_2, PQ_3 एवं PQ_4 होने से वह क्रमशः S, T एवं U संतुलन बिन्दुओं पर जाता है तो वह X की कम मात्राएँ OB, OC तथा OD खरीदता है। PCC वक्र से नीचे तालिका में दी गई अनुसूची बनाई गई है।

बजट	X की कीमत	X की माँग
PQ_1	$\frac{OP}{OQ_1}$ या P_1	OA
PQ_2	$\frac{OP}{OQ_2}$ या P_2	OB
PQ_3	$\frac{OP}{OQ_3}$ या P_3	OC
PQ_4	$\frac{OP}{OQ_4}$ या P_4	OD

चित्र के नीचे भाग में इस अनुसूची को अंकित किया गया है। विभिन्न कीमतों पर वस्तु की माँगी गई मात्राओं के संतुलन बिन्दु L, H, G तथा F खींचे गए हैं जिनको मिलाने से D_1D_1 माँग वक्र प्राप्त होता है जो बाई ओर से दाएँ ऊपर को ढालू है। D_1D_1 माँग वक्र यह व्यक्त करता है कि P_1 कीमत होने पर वस्तु X की माँग OA है। X गिफिन वस्तु होने के कारण जब उसकी कीमत P_2, P_3, और P_4 गिरती है तो X की माँग भी क्रमशः OB, OC और OD कम होती जाती है।

इस प्रकार, ऊपर की ओर बाएँ से दाएँ ढलान वाला माँग वक्र यह दर्शाता है कि जब एक गिफिन वस्तु की कीमत कम होती है तो उसकी माँग-मात्रा भी कम हो जाती है और इसके विपरीत कीमत बढने पर माँग-मात्रा बढ़ती है।

मार्किट माँग वक्र - यदि एक वस्तु के इस कीमत-उपभोग वक्र से कई व्यक्तियों की माँग वक्रों को बना लिया जाय और उन्हें जोड़ दिया जाए, तो उस वस्तु का मार्किट माँग वक्र बन जाता है। इस प्रकार चित्र में OP_1 कीमत पर वस्तु X के लिए उपभोक्ता A की माँग QA है। इसी कीमत पर उपभोक्ता B की माँग QB और उपभोक्ता C की QC है जिसे पेनल B और C में दिखाया गया है। इन QA, QB, QC मात्राओं को चित्र D में पार्श्व-योग कर दिया गया है, जहाँ OQ = QA + AB + QC सब व्यक्तियों के माँगी वक्रों का ढलान और मार्किट वक्र का ढलान एक ही है।

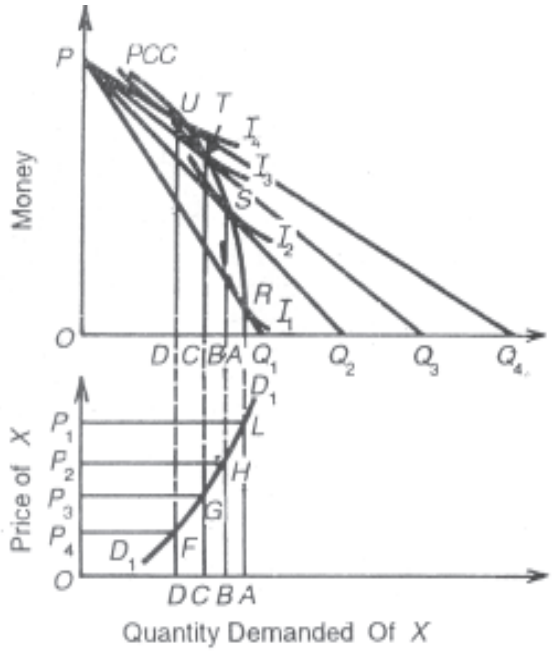

व्यक्तिगत माँग वक्र की भांति मार्किट माँग वक्र का ढलान दाएँ को नीचे की ओर होता है। यदि वस्तु कुछ व्यक्तियों के लिए घटिया भी हो, तो भी मार्किट माँग वक्र का ढलान बाएँ बाएँ को नहीं होगा। अन्य उपभोक्ता होंगे जिन्हें शायद वह वस्तु घटिया प्रतीत न हो और वह कम कीमत पर उसकी माँग करें। मार्किट के लिए कोई वस्तु घटिया नहीं होती क्योंकि उसी कीमत सीमा में वस्तु खरीदने वालों की हमेशा काफी संख्या होती है। इसलिए मार्किट माँग वक्र का ढलान हमेशा नीचे दाएँ को होगा।

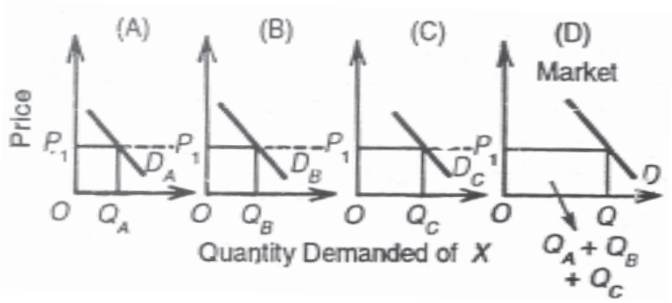

क्षतिपूरित माँग वक्र
(The Compensated Demand Cruve)

क्षतिपूरित माँग वक्र एक वस्तु की मात्रा को दर्शाता है जिसे एक उपभोक्ता खरीदेगा यदि इस वस्तु की कीमत के लिए उसे आय-क्षतिपूरित किया जाता है। दूसरे शब्दों में, एक वस्तु के लिए क्षतिपूरित माँग वक्र एक ऐसा वक्र है जो यह दर्शाता है कि परिवर्तित कीमत पर उपभोक्ता द्वारा वस्तु की कितनी मात्रा खरीदी जाएगी, यदि उस प्रभाव को हटा दिया जाता है।

क्षतिपूरित माँग वक्र की हिक्स और स्लट्स्की दोनों द्वारा व्यक्त स्थानापन्नता प्रभावों द्वारा व्याख्या की जा सकती है। दो मंजिला चित्र हिक्स और स्लट्स्की के क्षतिपूरित माँग वक्रों और अक्षतिपूरित साधारण या मार्शल के माँग वक्र के निर्माण को दर्शाता है। चित्र का ऊपरी भाग हिक्स और स्लट्स्की विश्लेषणों के स्थानापन्नता प्रभावों और संयुक्त कीमत प्रभाव को

दिखाता है। चित्र का निचला भाग हिक्स और स्लट्स्की के क्षतिपूरित मँग वक्रों और साधारण माँग वक्र की व्युत्पति को व्यक्त करता है। पहले निचले चित्र की ओर ध्यान दीजिए जहाँ वस्तु X की कीमत को अनुलंब अक्ष पर लिया गया है। इस अक्ष पर P एक मनमाना बिन्दु लिया गया है जो वस्तु X की कीमत को दर्शाता है, जब ऊपरी चित्र में PQ बजट रेखा है। X की कीमत में कमी को PQ_1 रेखा द्वारा दिखाया गया है जिसे निचले चित्र में P_1 द्वारा व्यक्त किया गया है।

मार्शल का अक्षतिपूरित या साधारण माँग वक्र

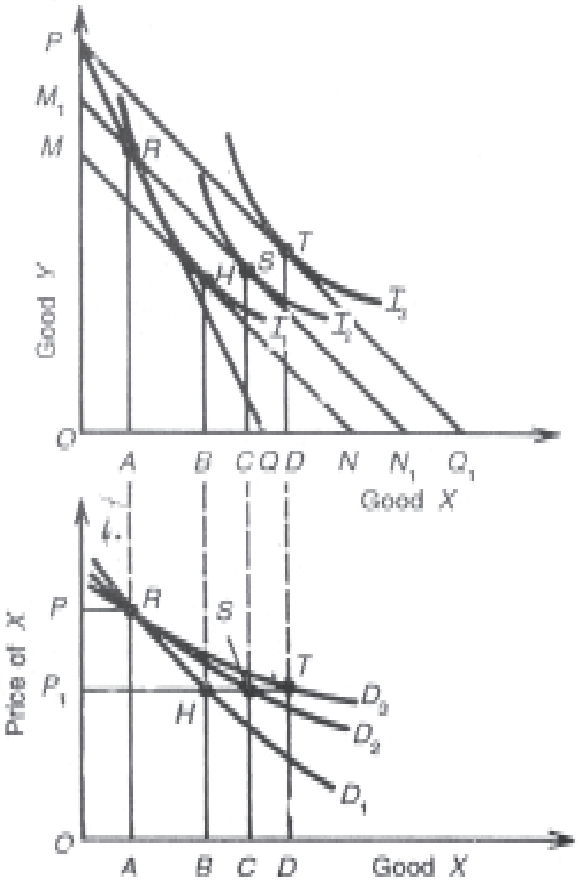

प्रथम, मार्शल के अक्षतिपूरित माँग वक्र की व्युत्पति की व्याख्या करते हैं। मान लीजिए कि उपभोक्ता का मूल संतुलन बिन्दु R है, जहाँ PQ बजट रेखा और उदासीनता वक्र I_1 स्पर्श करते हैं और उपभोक्ता X की OA मात्रा खरीदता है। X की कीमत गिरने से बजट रेखा PQ_1 हो जाती है और उपभोक्ता इस रेखा पर ऊँचे उदासीनता वक्र I_3 के बिन्दु T पर संतुलन में होता है। उसकी R से T को गति कीमत प्रभाव है जिसमें स्थानापन्नता प्रभाव और आय प्रभाव दोनों ही शामिल हैं। इसे चित्र के निचले भाग में D_3 वक्र द्वारा दिखाया गया है। यह अक्षतिपूरित या साधारण या मार्शल का माँग वक्र है जो यह दर्शाता है कि जब X की कीमत P से कम होकर P_1 होती है, तो उसकी माँगी गई माँग वक्र है जो यह दर्शाता है कि जब X की कीमत P से कम होकर P_1 होती है, तो उसकी माँगी गई मात्रा OA से बढ़कर OD हो जाती है।

हिक्स का क्षतिपूरित माँग वक्र

क्योंकि वस्तु X की कीमत में परिवर्तन के स्थानापन्नता प्रभाव पर क्षतिपूरित माँग वक्र आधारित है, इसलिए हम ऊपर के विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए, हिक्स के स्थानापन्नता प्रभाव को व्युत्पन्न करते हैं। वस्तु X की कीमत में कमी होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय में जो व द्धि हुई उसे वस्तु Y की PM मात्रा और वस्तु X की Q_1N मात्रा के बराबर उपभोक्ता से लिया जाता है, जिसे PQ_1 बजट रेखा के समानांतर MN क्षतिपूरित बजट रेखा खींचकर दिखाया गया है। यह रेखा MN मूल उदासीनता वक्र I_1 को बिन्दु H पर स्पर्श करती है। I_1 वक्र पर बिन्दु R से H को गति स्थानापन्नता प्रभाव है जो चित्र के निचले भाग में D_1 वक्र को ट्रेस करता है, जब वस्तु X की कीमत P से P_1 कम होने पर उसकी माँग OA से बढकर OB हो जाती है।

स्लट्स्की का क्षतिपूरित माँग वक्र

स्लट्स्की स्थानापन्नता प्रभाव व्युत्पन्न करने के लिए वस्तु X की कीमत कम होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय में जो आभासी व द्धि हुई थी उसे वस्तु Y की PM_1 मात्रा या X की Q_1N_1 मात्रा के रूप में स्लट्स्की क्षतिपूरित बजट रेखा M_1N_1 इस ढंग से खींची जाती है कि यह I_1 वक्र पर मूल बिन्दु R में से गुजरती है जहाँ उपभोक्ता X की पहले वाली मात्रा OA को खरीद सकता है परन्तु क्योंकि X कीमत कम हुई है, इसलिए वह इसकी अधिक मात्रा खरीदेगा जिससे वह ऊँचे उदासीनता वक्र I_2 के बिन्दु S पर चला जाएगा, जहाँ उसकी बजट रेखा M_1N_1 उसे स्पर्श करती है। इस प्रकार, बिन्दु R से S को गति स्थानापन्नता प्रभाव है जो स्लट्स्की के क्षतिपूरित माँग वक्र D_2 को चित्र के निचले भाग में ट्रेस करता है। यह वक्र दर्शाता है कि वस्तु X की कीमत P से P_1 पर कम होने से, उसकी माँग OA से बढ़कर OC हो जाती है।

निष्कर्ष

हिक्स के क्षतिपूर्ति माँग वक्र D_1 और स्लट्स्की के D_2 माँग वक्र के एक अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि D_1 और D_2 वक्र अधिक लोचदार है। ऐसा इस कारण कि वस्तु X के क्रय पर हिक्स की धारणा से स्लट्स्की की धारणा में अधिक कुल व्यय होता है। जबकि स्लट्स्की के माँग वक्र D_2 से परंपरागत (मार्शल) माँग वक्र D_3 और भी अधिक लोचदार हे।

एक अन्य ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि क्षतिपूरित माँग वक्र चाहे हिक्स या स्लट्स्की का हो, सदैव नीचे की ओर ढालू होता है क्योंकि यह इस प्रकार खींचा जाता है कि केवल स्थानापन्नता प्रभाव ही सक्रिय होता है और आय प्रभाव को आय-क्षतिपूरित करके बिलकुल समाप्त कर दिया जाता है। परन्तु एक साधारण माँग वक्र नीचे की ओर ढालू हो भी सकता है या नहीं भी हो सकता है। D_3 वक्र जैसे साधरण माँग वक्र के लिए स्थानापन्नता और आय प्रभाव दोनों ही सक्रिय होते हैं और वे माँग वक्र की नीचे की ओर ढलान की व्याख्या करते हैं। यदि वस्तु X घटिया हो तो साधारण माँग वक्र नीचे की ओर ढालू होगा परन्तु यह क्षतिपूरित माँग वक्र जैसे D_1 और D_2 से लोचदार होगा। ऐसा इस कारण कि साधारण माँग वक्र के लिए आय प्रभाव से स्थानापन्नता प्रभाव शक्तिशाली होगा। परन्तु यदि X गिफिन वस्तु हो तो साधारण माँग वक्र बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर ढालू होगा। दूसरे शब्दों में, इसकी ढलान धनात्मक होगी क्योंकि गिफिन वस्तु के लिए स्थानापन्नता प्रभाव से आय प्रभाव शक्तिशाली होता है। दूसरी ओर, क्षतिपूरित माँग वक्र सदैव ऋणात्मक ढलान के होते हैं, क्योंकि वे आय प्रभाव द्वारा प्रभावित नहीं होते हैं।

उदासीनता वक्र विश्लेषण में स्थानापन्न और पूरक
(Substitutes and Complements in IC Analysis)

उदासीनता वक्र विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि दो संबंधित वस्तुएँ हैं जो स्थानापन्न या पूरक हो सकती हैं। परेटो ने पूरक और स्थानापन्न वस्तुओं के बीच संबंध की व्याख्या प्रतिवर्ती की जिसका अभिप्राय है कि यदि Y के लिए X स्थानापन्न है, तो X के लिए Y स्थानापन्न है, और यदि Y का पूरक X है, तो X का पूरक Y है। इस अर्थ में, एक उदासीनता वक्र की आक ति इस बात पर निर्भर करती है कि क्या दो संबंधित वस्तुएँ पूर्ण या अपूर्ण स्थानापन्न हैं अथवा पूरक।

एक उदासीनता वक्र की आक ति मूल के उन्नतोदर होती है और यह स्थानापन्नता की घटती सीमांत दर के नियम पर आधारित है। यह नियम संतुष्टि या उपयोगिता के एक विशेष स्तर को प्राप्त करने के लिए एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ स्थानापन्न करना संभव बनाता है। अतः दो वस्तुएँ X और Y अपूर्ण स्थानापन्न हों तो उदासीनता वक्र की सामान्य ऋणात्मक ढलान की आक ति होती है जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है।

यदि दो वस्तुएँ पूर्ण स्थानापन्न हों, तो उदासीनता वक्र नीचे की ओर ढालू सरल रेखा होता है, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है, क्योंकि MRS_{xy} स्थिर है। वक्र की ढलान का मूल्य घटा (-) । होता है और $MRS_{xy = 1.}$ चित्र में, Y का ab = X. का bc और cd = X का de ऐसी स्थिति में, उपभोक्ता इन दो वस्तुओं के बीच भेद नहीं करता और उन्हें एक ही वस्तु मानता है, जैसे कि चाय के दो ब्रैड। उपभोक्ता को केवल एक ही वस्तु खरीदने की सनक होती है। इसे उस वस्तु के लिए उन्माद कहते हैं।

यदि दो वस्तुएँ निकट स्थानापन्न हों, जैसे कि मोटा चावल और गेहूँ तो ऐसी दो वस्तुओं की उच्च कोटि की स्थानापन्नता होती है। चित्र में, AB रेंज की बीच उदासीनता वक्र I_1 की ढलान लगभग स्थिर है, अर्थात् इस रेंज में सभी बिन्दुओं पर MRS_{xy} लगभग समान है।

यदि, दो वस्तुएँ पूर्ण पूरक हों, तो उदासीनता वक्र समकोण या L आक ति का होता है, जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है। वक्र I_1 का अनुलंब भाग यह प्रकट करता है कि चाहे Y की मात्रा में कितनी भी कमी की जाए वस्तु X की मात्रा में जरा-सी भी व द्धि नहीं होगी। उदाहरणार्थ, सभी बिन्दु A, M और B वक्र I_3 पर हैं परन्तु M की अपेक्षा B पर X की मात्रा अधिक होती है जबकि Y की मात्रा समान ही है। अतः MRS_{xy} शून्य है। X और Y दोनों वस्तुओं का इच्छित अनुपात में उपभोग होता है, जैसा कि बिन्दु M पर किरण OR की ढलान दिखाती है। ऐसी पूरक वस्तुएँ कि जिनका उपयोग 1:1 के अनुपात में किया जाता है।

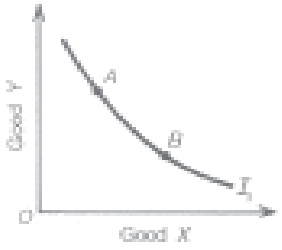

निकट या अत्यन्त पूरक वस्तुओं की स्थिति में, उदासीनता वक्र के घुमाव पर तीव्र वक्रता होती है। उपभोक्ता Y के लिए X को वक्र के घुमाव पर और निकट स्थानापन्न करता है। चित्र में, वस्तु Y और X एक दूसरे के साथ उदासीनता वक्र I_1 के A और B सीमित रेंज में स्थानापन्न किए जाएँगे। ऐसे निकट पूरक टायर और ट्यूब, बिजली और बिजली उपकरण, आदि हैं।

ऊपर वर्णित स्थानापन्नों और पूरकों में भेद उदासीनता वक्रों की वक्रता पर आधारित हैं। परन्तु प्रो. हिक्स के अनुसार, यह पता लगाना असम्भव है कि ''उदासीनता वक्रों की वक्रता की कितनी कोटि पूरक और स्थानापन्न वस्तुओं के भेद के साथ मेल खाती है।''

उदासीनता वक्र तकनीक की उपयोगिता विश्लेषण से श्रेष्ठता

(Superiority of Indifiference Curve Technique Over Utility Analysis)

प्रोफेसर ऐलन और हिक्स द्वारा निर्मित उदासीनता वक्र तकनीक को मार्शल के उपयोगिता विश्लेषण पर सुधार माना जाता है क्योंकि यह अपेक्षाक त अधिक वास्तविक तथा कम मान्यताओं पर आधारित है।

1. **यह उपयोगिता के संख्यात्मक माप का त्याग करता है** - समस्त उपयोगिता विश्लेषण यह मानकर चलता है कि उपयोगिता गणनसंख्याओं में मापी जा सकने वाली मात्रा में जिसका भार 'यूटिलों' में नियत किया जा सकता है। यदि एक सेब की उपयोगिता 10 यूटिल, केले की 20 यूटिल और संतरे की 40 यूटिल है, तो केले की उपयोगिता सेब की उपयोगिता से दुगुनी और संतरे की उपयोगिता सेब की उपयोगिता से चार गुनी और केले की उपयोगिता से दुगुनी है। यह माप्यता नहीं है बल्कि सकर्मकता है। वास्तव में, एक उपभोक्ता के लिए किसी वस्तु में जो उपयोगिता है वह व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक होती है, इसलिए उसकी मात्रात्मक माप नहीं की जा सकती। उपयोगिता विश्लेषण से उदासीनता सिद्धान्त श्रेष्ठ है क्योंकि यह उपयोगिता का क्रमसंख्या माप करता है। उपभोक्ता वस्तुओं के विभिन्न संयोगों को अधिमान के पैमाने में रखता है और उन्हें पहला, दूसरा, तीसरा, आदि क्रम देता है। वह बता सकता है कि पहले संयोग की अपेक्षा दूसरे के लिए या दूसरे की अपेक्षा पहले के लिए उसका अधिमान अधिक है या कि वह दोनों के प्रति उदासीन है परन्तु वह यह नहीं बता सकता है कि एक की अपेक्षा दूसरे संयोग के लिए उसका अधिमान कितनी मात्रा में अधिक है। क्रमसंख्या विधि और सकर्मकता की मान्यता इस तकनीक को अधिक वास्तविक बना देती है।

2. **यह एक के स्थान पर दो वस्तुओं के संयोगों का अध्ययन करता है** - उपयोगिता सिद्धान्त केवल एक वस्तु का विश्लेषण करता है, जिसमें एक वस्तु की उपयोगिता दूसरी वस्तु की उपयोगिता से स्वतंत्र मान ली जाती है। मार्शल ने कई वस्तुओं को एक वस्तु के रूप में इकट्ठा करके स्थानापन्नता और पूरक वस्तुओं की चर्चा से बचने की कोशिश की। यह मान्यता वास्तविकता से बहुत दूर है क्योंकि उपभोक्ता एक समय पर किसी एक वस्तु को न लेकर वस्तुओं के संयोगों को खरीदता है। उदासीनता वक्र तकनीक द्वि-वस्तु तकनीक है जो स्थानापन्नों, पूरक वस्तुओं और असंबंधित वस्तुओं के विषय में उपभोक्ता के व्यवहार की चर्चा करती है। इस प्रकार यह उपयोगिता विश्लेषण से श्रेष्ठ है।

3. **यह स्थानापन्नों और पूरकों में वस्तुओं का बेहतर वर्गीकरण प्रदान करती है।** - परंपमरागत अर्थशास्त्री स्थानापन्नों और पूरकों की व्याख्या माँग की प्रति-लोच के अनुसार करते थे। हिक्स इसे अपर्याप्त मानता है और आय में क्षतिपूर्ति परिवर्तन करके इनकी व्याख्या करता है। इस प्रकार वह स्थानापन्नों और पूरकों के परंपमरागत वर्गीकरण में पाई जाने वाली अस्पष्टता को दूर करता है।

4. **यह घटती सीमान्त उपयोगिता नियम की उपयोगिता विश्लेषण की मान्यताओं के बिना व्याख्या करती है** - उपयोगिता विश्लेषण घटती सीमान्त उपयोगिता के नियम की स्थापना करता है जो सब प्रकार की वस्तुओं पर, यहाँ तक कि मुद्रा पर भी, लागू होता है। क्योंकि यह नियम संख्यात्मक माप पर आधारित है इसलिए उस विश्लेषण के सभी दोष इस नियमें भी पाए जाते हैं। अधिमान सिद्धान्त में इस नियम का स्थान घटती सीमान्त स्थानापन्नता दर के नियम ने ले लिया है हिक्स के अनुसार, स्थानापन्नता नियम अनुवाद मात्र नहीं बल्कि प्रत्यक्ष परिवर्तन है। यह वैज्ञानिक है और साथ ही उपयोगिता विश्लेषण के मनोवैज्ञानिक मात्रात्मक माप से मुक्त है। उपभोग, उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में इस नियम के प्रयोग के अर्थशास्त्र को अधिक वास्तविक बना दिया है।

5. **यह मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता की मान्यता से मुक्त है** - उपयोगिता विश्लेषण मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मान लेता हैं मार्शल ने इस तर्क के आधार पर इसकी सार्थकता बताई कि एक व्यक्तिगत उपभोक्ता किसी एक समय में किसी एक वस्तु पर अपने कुल व्यय का थोड़ा-सा भाग ही खर्च करता है। यह बात कई प्रकार से उपयोगिता सिद्धान्त को अवास्तविक बना देती है। यह केवल एक-वस्तु मॉडल पर लागू होता है, विभिन्न वस्तुओं के उपभोग से प्राप्त एक व्यक्ति की संतुष्टि को मुद्रा के मापदण्ड से माने में यह सिद्धान्त असफल रहत है उपयोगिता विश्लेषण की अपेक्षा उदासीनता वक्र तकनीक निश्चय ही श्रेष्ठ है। क्योंकि यह मुद्रा की स्थिर सीमान्त उपयोगिता की मान्यता से मुक्त है। जब उपभोक्ता की आय में परिवर्तन होता है तो यह आय-प्रभाव पर विचार करती है।

6. **यह विश्लेषण कीमत-प्रभाव के दोहरे प्रभाव की व्याख्या करता है** - मार्शल के विश्लेषण की एक मुख्य त्रुटि यह है कि इसमें वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने से आय तथा स्थानापन्नता प्रभावों की उपेक्षा की गई है। उदासीनता वक्र प्रणाली में जब किसी वस्तु की कीमत कम होती है तो पहले उपभोक्ता की वास्तविक आय बढती है जो आय प्रभाव है; तथा दूसरा, वस्तु की कीमत कम होने से जब वह सस्ती हो जाती है तो उपभोक्ता उसको दूसरी वस्तु के साथ स्थानापन्न करता है, यह स्थानापन्नता प्रभाव है। उपयोगिता विश्लेषण से उदासीनता वक्र श्रेष्ठ है क्योंकि जब किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन होता है, तो कीमत-प्रभाव और आय तथा स्थानापन्नता-प्रभावों के रूप में इसके दोहरे प्रभाव का अध्ययन करती है। जब उपभोक्ता की आय के साथ अन्य किसी वस्तु की कीमत में भी परिवर्तन होता है तो यह तकनीक प्रति-प्रभाव का विश्लेषण करती है।

7. **यह आनुपातिकता नियम की अच्छे ढंग से व्याख्या करती है** - फिर, उदासीनता वक्र तकनीक मार्शल के आनुपातिक नियम से मिलते-जुलते हैं परन्तु अपेक्षाक त अच्छे ढंग से उपभोक्ता के संतुलन की व्याख्या करती है। उपभोक्ता उस बिन्दु पर

संतुलन की स्थिति में होता है जहाँ बजट रेखा उदासीनता वक्र को स्पर्श करती है। इस बिन्दु पर उदासीनता वक्र की ढलान बजट रेखा की ढलान के बराबर होती है

जिससे Y के लिए X का $\text{MRS} = \frac{\text{Price of X}}{\text{Price of Y}}$

मार्शल के आनुपातिकता नियम के अनुसार, उपभोक्ता उस समय संतुलन की स्थिति में होता है जब

$$\frac{\text{MU of X}}{\text{Price of X}} = \frac{\text{MU of Y}}{\text{Price of Y}}$$

क्योंकि हिक्स ने Y के लिए X की MRS को Y के रूप में X की सीमान्त उपयोगिता कहा है, इसलिए हम कह सकते हैं कि Y के लिए X की MRS $\frac{\text{MU of X}}{\text{Price of Y}}$

समीकरण 1 इस प्रकार लिखा जा सकता : $\frac{\text{MU of X}}{\text{Price of Y}} = \frac{\text{Price of X}}{\text{Price of Y}}$

वज्रगुणन से हम मार्शल के आनुपातिकता नियम पर पहुँच जाते हैं अर्थात् यह निष्कर्ष हमें आनुपातिकता नियम की असंगत मान्यताओं के बिना प्राप्त होता है :

$$\frac{\text{MU of X}}{\text{Price of X}} = \frac{\text{MU of Y}}{\text{Price of Y}}$$

8. **यह उपभोक्ता की बचत के सिद्धांत का पुनर्स्थापन करती है** - इसी प्रकार, मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता की स्थिरता की अवास्तविक मान्यता को छोड़कर हिक्स ने उपभोक्ता की बचत का पुनर्स्थापन किया है उसके अनुसार उपभोक्ता की बचत उस लाभ को मौद्रिक आय के रूप में व्यक्त करने का साधन है जो कीमत गिरने के परिणामस्वरूप उपभोक्ता को होता है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त अब एक 'गणितीय पहेली' नहीं रह गया और उपयोगिता सिद्धान्त की अन्तः विश्लेषक संख्यात्मक माप से मुक्त कर दिया गया है।

9. **यह माँग नियम की अधिक वास्तविक ढंग से व्याख्या करती है** - उदासीनता वक्र तकनीक मार्शल के माँग के नियम की अधिक वास्तविक ढंग से कई प्रकार व्याख्या करती है यह उपयोगिता विश्लेषण की मनोवैज्ञानिक मान्यताओं से मुक्त है। यह एक घटिया वस्तु की कीमत में कमी के प्रभाव की उपभोक्ता की माँग पर व्याख्या करता हैं गिफिन वस्तुएँ मार्शल के लिए हमेशा विरोधाभास बनी रही। इस तकनीक की सहायता से उनकी बडी सुन्दर व्याख्या की गई है। जबकि मार्शल के माँग सिद्धान्त के अनुसार एक वस्तु की माँग उसकी कीमत से व्युत्क्रमानुपाती होती है और माँग वक्र की ढलान नीचे दाएँ होती है। उदासीनता वक्र विश्लेषण दो और स्थितियों की व्याख्या करता है :

   i. एक वस्तु की कीमत गिरने से भी उसकी माँग में परिवर्तन नहीं होता। उन घटिया वस्तुओं के विषय में ऐसा होता है जिनका आय-प्रभाव स्थानापन्नता-प्रभाव के बिलकुल बराबर होता है।

ii. जब एक वस्तु की कीमत गिरती है जो उसकी माँग भी गिर जाती है यह गिफिन वस्तुओं की स्थिति है जिनका आय-प्रभाव स्थानापन्नता-प्रभाव की अपेक्षा अधिक होता है और माँग वक्र की ढलान बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर होती है।

मार्शल इन स्थितियों की व्याख्या करने में असमर्थ रहा। इस कारण मार्शल के अन्तः विश्लेषक संख्यात्मक माप की अपेक्षा उदासीनता वक्र तकनीक निश्चय की श्रेष्ठ है।

उदासीनता वक्र विश्लेषण की आलोचनाएँ
(Criticisms of Indifference Curve Analysis)

निस्संदेह उपयोगिता विश्लेषण से उदासीनता विश्लेषण श्रेष्ठ समझा जाता है, परन्तु इसका विरोध करने वाले आलोचकों की कमी नहीं। आलोचना की मुख्य बातों पर नीचे विचार किया जा रहा है।

1. **नई बोतलों में पुरानी शराब** - प्रोफेसर राबर्टसन को उदासीनता वक्र तकनीको में कोई नई बात नहीं लगती है और वह समझते हैं कि यह केवल 'नई बोतलों में पुरानी शराब' है। यह 'उपयोगिता' के स्थान पर अधिमान की धारणा को स्थानापन्न करती है। इसमें अन्तः विश्लेषक गणनसंख्या माप का स्थान अन्तःविश्लेषक क्रमसंख्या ले लेता है। उपभोक्ता के अधिमान को प्रदर्शित करने के लिए सँख्यात्मक गणना 1,2,3 की बजाय क्रमिक गणना I, II, III (पहला, दूसरा, तीसरा आदि) का व्यवहार होता है। यह सीमान्त उपयोगिता की बजाय स्थानापन्नता की सीमान्त दर, और घटती सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त की बजाए स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर के नियम को स्थानापन्न करती है तथा मार्शल के उपभोक्ता संतुलन का आनुपातिकता नियम के साथ स्थानापन्न करती हैं इस प्रकार यह तकनीक उपयोगिता विश्लेषण में प्रत्यक्ष परिवर्तन लाने में असफल है और पुराने सिद्धान्तों को केवल नए नाम देती है।

2. **वास्तविकता से दूर** - इस निश्चित कथन के विषय में कि उदासीनता वक्र तकनीक संख्यात्मक उपयोगिता विश्लेषण की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ है कि वह अपेक्षाक त कम मान्यताओं पर आधारित है, राबर्टसन का कहना है कि 'यह तथ्य कि दोनों तकनीकों में से मनोवैज्ञानिक द ष्टि से अधिक जटिल उदासीनता उपकल्पना तार्किक द ष्टि से अधिक श्रेष्ठ है, इस बात की कोई गारन्टी नहीं देता कि वह सत्य के अधिक निकट है। वह आगे प्रश्न करता है, क्या हम चार पैर वाले पशुओं की इस आधार पर उपेक्षा कर सकते हैं कि चलने के लिए केवल दो पैरों की जरूरत है?

3. **मध्यमार्गी घर** - उदासीनता वक्र उपकल्पित है क्योंकि इन्हें प्रत्यक्ष रूप से नहीं मापा जा सकता। यद्यपि उपभोक्ता के चुनावों को क्रमसंख्या के आधार पर संयोगों में इकट्ठे रखा जाता है, परन्तु अब तक उदासीनता वक्र के ठीक आकार को मापने का कोई क्रियात्मक तरीका नहीं बन पाया है इसका कारण यह तथ्य है कि 'इस सिद्धान्त की विचित्र तर्कसंगत संरचना में अनुभववादी अंश बहुत कम है।' उपभोक्ता के व्यवहार का वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रस्तुत करने में हिक्स और एलन की असफलता के कारण शूम्पीटर ने उदासीनता विश्लेषण को 'मध्यमार्गी घर' कहा है। उसका कथन है, 'जब हम एकदम कल्पित उदासीनता वक्र बनाते हैं, तो उसकी स्थिति की

अपेक्षा, जबकि हम एकदम कल्पित उपयोगिता फसलों की बात करते हैं, व्यावहारिक द ष्टि से, बहुत अच्छी स्थिति में नहीं होते।'

4. **उदासीनता वक्र तकनीक में क्रमसंख्या माप अंतर्निहित** - प्रो. रार्बटसन यह बताता है कि उदासीनता तकनीक में क्रमसंख्या माप अंतर्निहित होता है जब स्थानापन्नों और पूरकों का विश्लेषण किया जाए। उनके बारे में यह माना जाता है कि उपभोक्ता एक स्थिति में परिवर्तन को एक अन्य स्थिति में अन्य परिवर्तन को अधिमान देने की क्षमता रखता है इसकी व्याख्या करने के लिए रार्बटसन तीन स्थितियाँ A, B और C लेता है जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है। मान लीजिए कि उपभोक्ता स्थिति AB में एक परिवर्तन को BC स्थित में अन्य परिवर्तन के साथ तुलना करता है। वह BC परिवर्तन में AB परिवर्तन को बहुत अधिक अधिमान देता है। यदि एक अन्य बिन्दु D लिया जाए तो वह AD परिवर्तन को उतना ही ऊँचा अधिमान देता है जितना कि DC परिवर्तन को। राबर्टसन के अनुसार, यह इस तरह कहने के समान है कि AC दूरी DC दूरी से दुगनी है और हम वापिस उपयोगिता के संख्यात्मक माप के संसार में आ जाते हैं। इस प्रकार, जब दो स्थितियों में परिवर्तनों की तुलना की जाती है जैसे कि स्थानापन्नों और पूरकों के बारे में तो उससे उपयोगिता का संख्यात्मक माप होता है।

5. **उपभोक्ता के अवलोकित व्यवहार की व्याख्या करने में असफल** - प्रोफेसर नाईट का तर्क है कि उदासीनता विश्लेषण की सहायता से उपभोक्ता के अवलोकित मार्किट व्यवहार की निरपेक्ष व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि व्यक्ति निजी रूप से सोचता और कार्य करता है, इसलिए उपभोक्ता की माँग की संख्यात्मक उपयोगिता सिद्धान्त पर आधारित न करना गलती है। उदारहण के लिए, केवल अवलोकन के आधार पर कीमत और स्थानापन्नता प्रभावों में अन्तर नहीं किया जा सकतां वास्तव में, हम जिसका अवलोकन करते हैं वह मिश्रित कीमत प्रभाव है। इसी प्रकार स्थानापन्नता की सीमान्त दर के नियम पर आधारित पूरकों और स्थानापन्नों के प्रभाव को मार्किट के आँकड़ों के आधार पर प्रकट नहीं किया जा सकता। सैम्यूएलसन ने उपभोक्ता के अवलोकित व्यवहार की अपने प्रकटित अधिमान सिद्धान्त में व्याख्या की है।

6. **उदासीनता वक्र सकर्मक नहीं है** - प्रो आर्मस्ट्रांग उदासीनता सिद्धान्त के सबसे बड़े आलोचकों में से हैं। उनका तर्क यह है कि उपभोक्ता इसलिए उदासीन नहीं होता है कि जो विभिन्न संयोग उसे मिल सकते हैं उनका उसे पूरा ज्ञान है बल्कि इसलिए उदासीन होता है कि वह वैकल्पिक संयोगों के अन्तर को पहचानने में असर्थ होता है। आगे उसका मत है कि एक उदासीनता वक्र स्थिति कोई दो बिन्दु इसलिए उदासीनता बिन्दु नहीं है कि वे समान संतुष्टि के बिन्दु हैं बल्कि इसलिए उदासीनता के बिन्दु हैं कि वे शून्य-उपयोगिता अन्तर के बिन्दु हैं। एक उदासीनता वक्र के दो या अधिक बिन्दुओं का संबंध केवल तब समान होता है जब उपयोगिता अन्तर शून्य हो। आर्मस्ट्रांग के तर्क को चित्र की सहायता से समझाया गया है। इस चित्र में वक्र I_1 पर बिन्दु P, Q, R, S, दो वस्तुओं X और Y के भिन्न-भिन्न सयोगों को प्रकट करते हैं। बिन्दु P और Q तथा R और S इस ढंग से लिए गए हैं कि हर जोडे में अन्तर सूक्ष्म है। बिन्दु P और Q या R और S तभी समान संतुष्टि के बिन्दु होंगे जब उनके बीच उपयोगिता का अन्तर शून्य होगा। परन्तु उपभोक्ता P और R के प्रति उदासीन

नहीं हो सकता क्योंकि P और R के बीच कुल उपयोगिता का अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। इसलिए उपभोक्ता R की अपेक्षा P को या विपरीत स्थिति में P की अपेक्षा R को अधिक अधिमान देगा। इससे स्पष्ट है कि एक उदासीनता वक्र पर स्थिति बिन्दु सकर्मक नहीं है। आर्मस्ट्रांग का कहना है कि 'यदि उदासीनता वक्र सकर्मक नहीं है, तो पाठय-पुस्तकों के चित्रों में बने, न काटने वाले ढेरों उदासीनता वक्रों का कोई मतलब नहीं।' इसलिए उदासीनता का विचार ही संदेहपूर्ण प्रतीत होता है।

7. **उपभोक्ता विचारशील नहीं** - उपयोगिता सिद्धान्त की भांति उदासीनता विश्लेषण भी यह मानकर चलता है कि उपभोक्ता विचारशीलता से कार्य करता है। यह हिसाब लगाने वाला व्यक्ति है जो दिमाग में भिन्न वस्तुओं के अनगिनत संयोगों को रखता है, एक संयोग के स्थान पर दूसरे को स्थानापन्न कर सकता है, उनकी कुल उपयोगिताओं की तुलना करके वस्तुओं के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और कानूनी प्रतिबंधों के रहते हुए कार्य करना पडता है। इससे उदासीनता वक्र तकनीक अवास्तविक बनने लगती है।

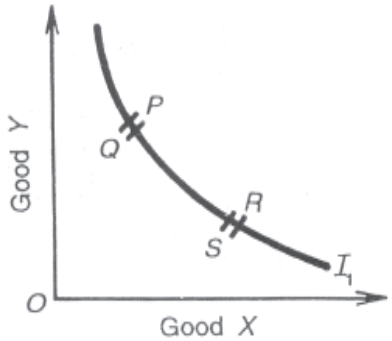

8. **संयोग किसी नियम पर आधारित नहीं** - क्योंकि वस्तुओं की प्रक ति पर ध्यान दिए बिना संयोग बना दिए जाते हैं, इसलिए प्रायः वे व्यर्थ हो जाते हैं। हममें कितने हैं जो 10 जोडी जूते और 8 पैण्टें, या 6 रेडियो और 5 घडियां, या 4 स्कूटर और 3 कारें खरीदते हैं? ऐसी संयोगों का उपभोक्ता के लिए कोई अर्थ नहीं होता। संयोग कैसे और किन वस्तुओं के हों ऐसा कोई भी नियम इस प्रणाली में नहीं पाया जाता। इसलिए यह अवास्तविक है।

9. **उपभोक्ता के व्यवहार का सीमित विश्लेषण** - फिर यह मान्यता भी व्यर्थ है कि वस्तु की कीमत गिर जाने पर उपभोक्ता उसी वस्तु की और इकाइयाँ खरीदता है घटिया वस्तुओं की बात छोड दीजिए। वह वस्तुओं की और इकाइयाँ शायद इसलिए भी न खरीदना चाहे कि वह प्रत्यक्ष या दिखावटी उपभोग के प्रभाव में है, और प्रदर्शन के लिए या विधता के लिए वस्तुएँ लेना चाहता है। उपभोक्ता की रुचि में परिवर्तन या उसके सट्टा करने का भी वस्तुओं के प्रति उसके अधिमान पर प्रभाव पडता है। इन अपवादों के कारण उदासीनता विश्लेषण उपभोक्ता के व्यवहार का सीमित अध्ययन ही कर सकता है।

10. **उपभोक्ता व्यवहार से संबंधित कुछ अन्य घटकों पर विचार करने में असफल** - उदासीनता वक्र विश्लेषण सट्टा माँग; दंभी; वेबलन और बैंडवैगन प्रभावों के रूप में उपभोक्ताओं के अधिमानों की परस्पर निर्भरता, विज्ञापन के प्रभाव और स्टॉमक एवं शेयरों आदि के प्रभावों पर विचार नहीं करता है।

11. **द्वि-वस्तु मॉडल अवास्तविक है** - द्वि-वस्तु मॉडल, जिस पर उदासीनता विश्लेषण आधारित है, सिद्धान्त को अवास्तविक बना देता है क्योंकि अपनी अनगिनत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उपभोक्ता केवल दो वस्तुएँ नहीं खरीदता है बल्कि बहुत सी वस्तुएँ खरीदता है। परन्तु कठिनाई यह है कि तीन से अधिक वस्तुओं के विषय में ज्यामिति से काम नहीं चलता और अर्थशास्त्रियों को उपभोक्ता के व्यवहार की समस्या का विश्लेषण करने के लिए अधिक जटिल गणितीय विधियों का सहारा लेना पडता है।

12. **जोखिम या अनिश्चितता में उपभोक्ता के व्यवहार की व्याख्या करने में असफल** - न्यूमैन तथा मोरगेन्सटर्न ने अधिमान सिद्धान्त के विरुद्ध एक गम्भीर आपत्ति यह उठाई है कि यह सिद्धान्त उपभोक्ता के व्यवहार की उस समय व्याख्या करने में असफल रहता है जब व्यक्ति के सामनें ऐसे चुनाव हों जिनमें जोखिम उठानी पड़े या प्रत्याशाओं की अनिश्चितता हो। मान लीजिए कि तीन स्थितियों A, B और C हैं। उपभोक्ता B की अपेक्षा A को और A की अपेक्षा C को अधिक अधिमान देता है। इन स्थितियों में से A तो निश्चित है परन्तु B और C स्थितियेां के प्रस्तुत होने की सम्भावना 50-50 (बराबर-बराबर) है। ऐसी स्थिति में उपभोक्ता के A की अपेक्षा C के अधिमान को केवल गणनसंख्या ढंग से ही मापा जा सकता है।

13. **पूर्ण प्रतियोगिता तथा समरूप वस्तुओं की अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित** - उदासीनता वक्र तकनीक पूर्ण प्रतियोगिता तथा वस्तुओं की समरूपता विषयक अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है जबकि वास्तव में उपभोक्ता को विभिन्न वस्तुओं और एकाधिकारी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। क्योंकि उदासीनता सिद्धान्त अनावश्यक मान्यताओं पर आधारित है, इसलिए अवास्तविक बन जाता है।

14. **सभी वस्तुएँ अविभाज्य नहीं होती** - उदासीनता वक्र प्रणाली हास्यास्पद हो जाती है जब इसमें यह माना जाता है कि वस्तुओं को छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित किया जा सकता है परन्तु घड़ियों, कारों, रेडियो आदि को विभाजित नहीं किया जा सकता है। यदि 3 1/2 घड़ियाँ या 2 1/2 कारें या 1 1/2 रेडियो किसी भी संयोग में लें तो यह वास्तविकता नहीं। जब अविभाज्य वस्तुओं को किसी संयोग में लिया जाए तो विभाजित किए बिना दूसरी वस्तु के साथ स्थानापन्न भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उपभोक्ता अधिक संतुष्टि प्राप्त नहीं कर सकता।

इन सब आलोचनाओं के बावजूद मार्शल के संख्यात्मक माप सिद्धान्त की तुलना में उदासीनता वक्र तकनीक को श्रेष्ठ समझा जाता है।

माँग एवं पूर्ति की लोच की धारणा
(The Concept of Elasticity of Demand and Supply)

परिचय-माँग की लोच की धारणा का अर्थ एवं परिभाषा
(Introduction - Meaning and Definition of Elasticity of demand Concept)

माँग की लोच की धारणा सामान्यतः डॉ. मार्शल के नाम से जोड़ी जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि डॉ. मार्शल ने इस धारणा का उद्‌विकास करने में सराहनीय कार्य किया है, लेकिन तथ्य यह है कि डॉ. मार्शल से भी बहुत पहले इस धारणा का प्रतिपादन कूनों तथा मिल जैसे प्रसिद्ध

अर्थशास्त्रियों ने किया था। यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि माँग की नियम किसी वस्तु की कीमत एवं उपभोक्ताओं द्वारा माँग की गई उसकी मात्रा के बीच के सम्बन्ध का केवल गुणात्मक कथन (qualitative statement) ही प्रस्तुत करता है। यह नियम इन दोनों परिणामों (magnitudes) अर्थात् वस्तु की कीमत एवं माँग-मात्रा के बीच किसी मात्रात्मक एकरूपता (quantitative uniformity) नहीं होती। उदाहरणार्थ, विभिन्न वस्तुओं की कीमतों में हुई 10 प्रतिशत गिरावट के परिणामस्वरूप उन सभी वस्तुओं की माँग में समान व द्धि नहीं होगी। मान लीजिए कि कटौती कर दी जाती है लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं कि इन सब वस्तुओं की माँग में होने वाली व द्धि का प्रतिफल समान ही होगा। हो सकता है नमक की माँग में केवल 2 प्रतिशत की व द्धि और रेडियो-सेटों की माँग में 10 प्रतिशत से भी अधिक की व द्धि हो जाए। बात यह है कि एक निश्चित कीमत-परिवर्तन के प्रत्युत्तर में कुछ वस्तुओं की माँग अन्य वस्तुओं की तुलना में अधिक परिवर्तित होती है। अर्थशास्त्र में हम इस प्रव त्ति को यह कहकर व्यक्त करते हैं कि कुछ वस्तुओं की माँग अन्य वस्तुओं की माँग की तुलना में अधिक लोचदार होती है। अतः माँग की लोच उस सीमा को व्यक्त करती है जिस तक किसी निश्चित कीमत-परिवर्तन के प्रत्युत्तर में किसी वस्तु की माँग में परिवर्तन होता है। (Elasticity of demand may, therefore, be defined as the extent to which the quantity demanded of a commodity changes in response to a given change in price.) इसे और भी सही रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: "माँग की लोच से अभिप्राय कीमत-परिवर्तन के प्रति माँग की विस्त त अथवा संकुचित होने की क्षमता को ही माँग की लोच कहते है।" (Elasticity of demand is the capacity of demand to expand or contract in response to give changes in price.)

इससे पूर्व हम देख चुके हैं कि किसी निश्चित अवधि में बाजार में किसी वस्तु की माँग मात्रा उस वस्तु की कीमत, अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतों एवं उपभोक्ताओं के आस्वादों, उनकी आदतों एवं उनकी आय से निर्धारित होती है। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु की माँग उसकी अपनी कीमत, अन्य सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतों, उपभोक्ताओं के आस्वादों, उनकी आदतो एवं उनकी आय से निर्धारित होती है। इनमें से किसी भी तत्त्व में हुए परिवर्तन से निश्चय ही माँग में परिवर्तन होगा। यदि हम अन्य वस्तुओं की कीमतों, उपभोक्ताओं के आस्वादों, उनकी आदतों एवं उनकी आय को यथास्थिर मान लें तो हम वस्तु की कीमत एवं उनकी माँग-मात्रा को प्रत्यक्षतः सम्बन्धित कर सकते हैं। लोचदार माँग के अंतर्गत कीमत में हुए तनिक परिवर्तन के प्रति भी माँग अत्यधिक हर्षी अथवा संवेदी होती है। लेकिन बेलोच माँग के अन्तर्गत माँग-मात्रा मे अधिक अथवा अल्प व द्धि के अनुसार तथा निश्चित कीमत में व द्धि होने पर अधिक अथवा कमी के अनुसार अधिक एवं अल्प होती है।" (The elasticity or responsiveness of demand in a market is great or small, according as the amount demanded increases much or little for a given fall in price, and diminishes much or little for a given rise in price.") प्रो. स्टोनियर एवं प्रो. हेग ने माँग की लोच की परिभाषा इस प्रकार की है: "अंतः माँग की लोच अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त वह पारिभाषिक शब्द है, जो किसी वस्तु की कीमत में हुई गिरावट के प्रत्युत्तर में माँग में उत्पन्न होने वाली परिवर्तन की मात्रा को व्यक्त करने हेतु इस्तेमाल किया जाता है।" ("Elasticity of demand is, therefore, a technical term used by the economists to describe the degree of responsiveness of the demand for a commodity to a fall in its price.") यद्यपि स्टोनियर एवं हेग ने केवल कीमत-गिरावट को ही ध्यान में रखकर माँग की लोच की परिभाषा की है लेकिन वस्तु की कीमत-व द्धि पर भी यह परिभाषा समान रूप से लागू होती है। सेम्युएलसन (Samuelson) के अनुसार, माँग, की लोच की धारणा "कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप माँग की मात्रा में परिवर्तन के अंश, अर्थात्

माँग में प्रतिक्रियात्मकता के अंश को बताती है।" ("This is concept devised to indicate the degree of responsiveness of quantity demanded to changes in market price."

डॉ॰ मार्शल ने लोच की धारणा का प्रयोग केवल कीमत-परिवर्तनों के सन्दर्भ में ही किया था। अतः उनकी धारणा को हम कीमत-लोच कह सकते हैं। लेकिन वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने इस धारणा को अन्य परिस्थितियों पर भी लागू कर दिया है। आज अर्थशास्त्रियों द्वारा केवल कीमत-लोच, प्रतिकीमत-लोच, प्रतिस्थापन-लोच आदि जैसे महत्त्वपूर्ण धारणाओं की भी विवेचना की जाती है। लेकिन फिर भी कीमत-लोच की धारणा सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतः पहले हम कीमत-लोच का ही अध्ययन करेंगे।

माँग की कीमत-लोच
(Price Elasticity of Demand)

आशय
(Meaning)

इसकी परिभाषा पहले ही ऊपर की जा चुकी है। माँग की कीमत-लोच किसी वस्तु की कीमत में दिए हुए प्रतिशत-परिवर्तन एवं उसकी माँग-मात्रा में हुए प्रतिशत परिवर्तन का अनुपात (ratio) होती है। (It is the ratio of proportinate change in the quantity demanded of a commodity to a given proportinate change in its price)। इसे इस प्रकार व्यक्त करते हैं

$$\text{माँग की लोच}\left(e_p\right) = (-)\frac{\text{माँग गई मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{मूल्य में आनुपातिक परिर्वतन}}$$

माँग की कीमत लोच का वर्गीकरण (Classification of Price Elasticity of Demand)

माँग की कीमत लोच का निम्न उप-शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकरण किया जा सकता है:

1. **पूर्णतया लोचदार माँग (Perfectly Elastic Demand) ($e_p = \infty$)** - इस प्रकार की माँग से अभिप्राय उस परिस्थिति से है जिसमें कीमत में हुई तनिक व द्धि से वस्तु की माँग मात्रा शून्य तक नीचे गिर जाती है और कीमत में हुई तनिक कमी से माँग-मात्रा मे अनन्त व द्धि (Infinite increase) हो जाती है। वास्तविक जीवन में पूर्णतया लोचदार माँग की लोच अनन्त होती है। जीवन में पूर्णतया लोचदार माँग के इसका उदाहरण बहुत ही दुर्लभ होते हैं। अतः पूर्णतया लोचदार माँग की स्थिति केवल सैद्धांतिक महत्त्व की होती है।

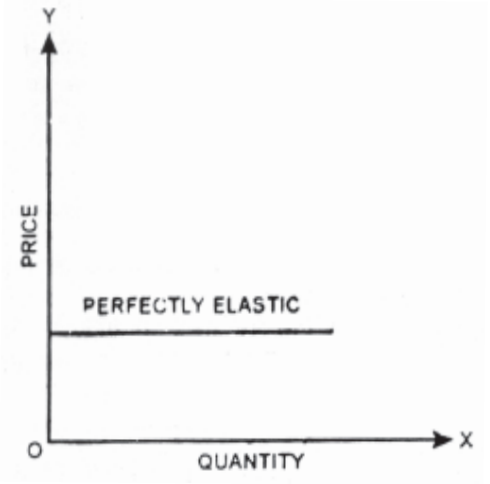

2. **पूर्णतया बेलोच माँग** (Perfectly Inelastic Demand) ($e_p = \infty$) - इस प्रकार की माँग से अभिप्राय उस परिस्थिति से है जिसमें कीमत में हुए भारी परिवर्तनों का भी माँग पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरे शब्दों, में कीमत में भारी व द्धि अथवा भारी कमी हो सकती है लेकिन वस्तु की माँग-मात्रा में तनिक भी परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार की माँग संवेदना-शून्य अथवा अह्रष होती है और माँग की लोच शून्य बराबर होती है। पूर्णतया लोचदार माँग की भाँति पूर्णतया बेलोच माँग के उदाहरण भी वास्तविक जीवन में बहुत दुर्लभ होते हैं। अतः उनका व्यावहारिक महत्त्व कुछ भी नहीं है।

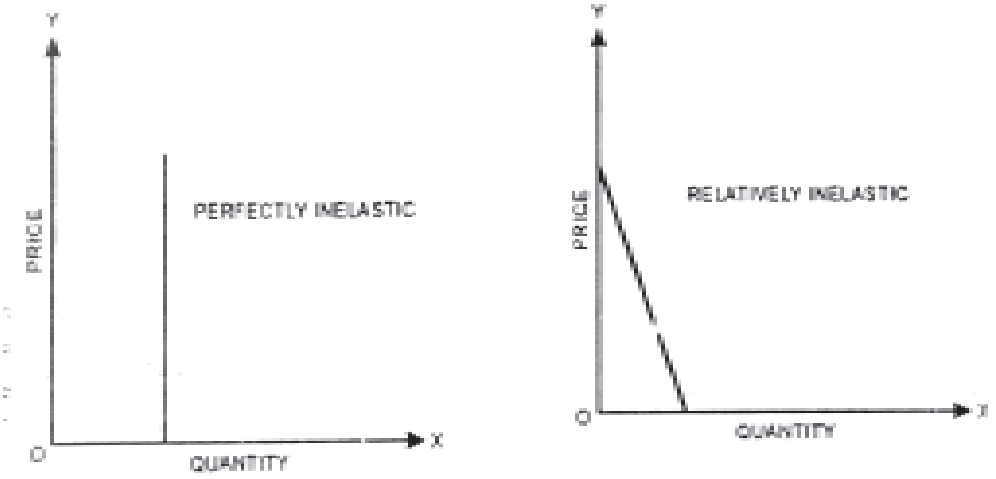

3. **सापेक्षतया लोचदार माँग** (Relatively Elastic Demand) ($e_p > 1$)- इसमें किसी वस्तु की कीमत में हुए अल्प आनुपातिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप माँग-मात्रा में अपेक्षतया अधिक परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में, कीमत में हुई एक अल्प आनुपातिक गिरावट के फलस्वरूप माँग-मात्रा में अपेक्षतया अधिक आनुपातिक के फलस्वरूप माँग-मात्रा में अपेक्षतया अधिक आनुपातिक व द्धि होती है एवं विलोमक्रम (vice versa) में भी इस परिस्थिति में माँग की लोच इकाई से अधिक (Elasticity of demand greater than unity) होती है।

4. **सापेक्षतया बेलोच माँग** (Relatively Inelastic Demand) ($e_p > 0$) - इसमें किसी वस्तु की कीमत में हुए अधिक आनुपातिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप माँग-मात्रा में अपेक्षतया अल्प आनुपातिक परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में, कीमत में हुई एक अत्यधिक आनुपातिक गिरावट के परिणामस्वरूप माँग-मात्रा में अपेक्षतया अल्प आनुपातिक व द्धि होती हैं एवं विलोमक्रम में भी। इस परिस्थिति में माँग की लोच इकाई से कम होती है।

5. **ऐकिक लोचदार माँग** (Unitary Elastic Demand) ($e_p = 1$) - इस प्रकार की माँग से अभिप्राय उस परिस्थिति से है जिसमें किसी वस्तु की कीमत में हुए निश्चित परिवर्तन के परिणामस्वरूप माँग-मात्रा में उतनी ही आनुपातिक परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में, कीमत में हुई एक निश्चित आनुपातिक गिरावट के फलस्वरूप माँग-मात्रा में उतनी ही आनुपातिक व द्धि हो जाती है एवं इसके विलोमक्रम में भी इस परिस्थिति में माँग की लोच इकाई के बराबर होती है।

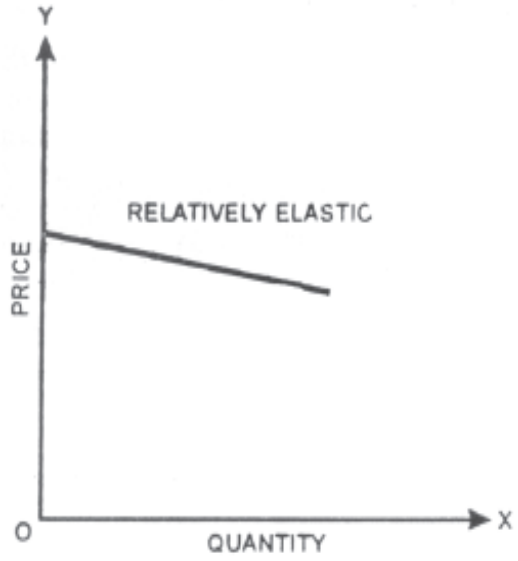

6. **ऐकिक लोचदार माँग (Unitary Elastic Demand)** - इस प्रकार की माँग से अभिप्राय उस परिस्थिति से है जिसमें किसी वस्तु की कीमत में हुए निश्चित परिवर्तन के परिणामस्वरूप माँग-मात्रा में भी उतना ही आनुपातिक परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में, कीमत में हुई एक निश्चित आनुपातिक गिरावट के फलस्वरूप माँग-मात्रा में उतनी ही आनुपातिक व द्धि हो जाती है एवं इसके विलोमक्रम में भी। इस परिस्थिति में माँग की लोच इकाई के बराबर (elasticity of demand equal to unity) होती है। इस स्थिति में वक्र को आयतीय परिवलय (rectangular hyperbola) की संज्ञा दी जाती है। इस वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर लोच समान अथवा स्थिर होती है।

सामान्यतः समूचे माँग वक्र की लोच समान नहीं होती है। माँग की लोच का उपर्युक्त वर्गीकरण माँग-वक्र के सभी खण्डों पर लागू होता है। माँग-वक्र के सहारे चलते-चलते इसकी लोच में परिवर्तन होते रहते हैं अर्थात् समूचे माँग-वक्र की लोच एक समान नहीं होती है। लेकिन इस सामान्य नियम के तीन अपवाद होते हैं। ये तीनो अपवाद कौन-कौन से हैं? ये हैं पूर्णतः लोचदार, पूर्णतः बेलोच एवं ऐकिक लोचदार माँग-वक्र। इन तीनों अपवादों में समूचे माँग-वक्र की लोच एक समान होती है। लेकिन, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, पूर्णतः लोचदार एवं पूर्णतः बेलोच माँग के उदाहरण वास्तविक जीवन में दुर्लभ होते हैं।

कीमत लोच की माप विधियाँ
(Methods of Measurement of Price Elasticity of Demand)

कीमत लोच को मापने की अलग-अलग विधियाँ अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। ये इस प्रकार हैं- (1) प्रतिशत अथवा आनुपातिक विधि (The Percentage or Proportioanl Method), (2) कुल व्यय-विधि (Total Outlay Method), (3) बिन्दु विधि (Point Method), और (4) चाप लोच विधि (Arc Elasticity)।

प्रतिशत अथवा आनुपातिक विधि

कीमत माँग की लोच की माप कीमत में प्रतिशत परिवर्तन की माँग मे प्रतिशत परिवर्तन से तुलना करके की जा सकती है। कीमत में प्रतिशत परिवर्तन तथा माँग की मात्रा मे प्रतिशत

परिवर्तन का अनुपात लोच को व्यक्त करता है। इस प्रकार -

$$Ep = \frac{Q \text{ में प्रतिशत परिवर्तन}}{P \text{ में प्रतिशत परिवर्तन}} = \frac{\Delta Q / Q}{\Delta P / P} = \frac{\Delta q}{-\Delta q} = (-)\frac{\Delta q}{\Delta q} \times \frac{p}{p}$$

जहाँ Ep कीमत लोच, q माँग की मात्रा, p कीमत तथा परिवर्तन को व्यक्त करते हैं।

यदि Ep>1, माँग लोचपूर्ण है; Ep<1, माँग बेलोच है; तथा Ep=1, माँग की इकाई लोच है।

मान लीजिए, किसी वस्तु की कीमत 500 रु. से गिरकर 400 रु. प्रति इकाई हो जाती है (अर्थात् 20 प्रतिशत कमी) और माँग 400 से बढ़कर 600 हो जाती है। (50 प्रतिशत व द्धि) तो माँग की लोच 50/20 अथवा 2.5 प्रतिशत है जो कि लोचपूर्ण माँग की स्थिति है। प्रायः देखा गया है कि विलासिता की वस्तुओं की माँग लोचपूर्ण तथा खाद्यान्नों जैसे आवश्यक पदार्थों की माँग बेलोच होती है। नमक जैसे अनिवार्य पदार्थों के लिए यह शून्य होती है।

यह समझ लेना चाहिए कि माँग की लोच सदैव ऋणात्मक होती है, भले ही परम्परा इसे धनात्मक मानने की रही हो ऋणात्मक हैं क्योंकि माँग की मात्रा में परिवर्तन कीमत में परिवर्तन की विपरीत दिशा में होता है। कीमत गिरने पर माँग बढ़ती है और कीमत बढ़ने पर माँग गिरती है, जब तक कि कोई अपवाद की स्थिति न हो जिसे माँग-वक्र दायें से बायीं ओर ऊपर की ओर हो।

कुल व्यय विधि
(Total Outlay Method)

इस रीति का प्रतिपादन डॉ॰ मार्शल द्वारा किया गया था। इसके अनुसार, यदि किसी वस्तु की कीमत में हुई अल्प गिरावट के परिणामस्वरूप माँग-मात्रा में समान आनुपातिक व द्धि हो जाती है तो माँग की लोच 1 के बराबर होती है। उदाहरणार्थ, यदि कीमत में हुई एक प्रतिशत गिरावट के परिणामस्वरूप बिक्री में 1 प्रतिशत की व द्धि होती है तो माँग की लोच 2 के बराबर होगी। इसी प्रकार, यदि कीमत में हुई 1 प्रतिशत गिरावट से माँग-मात्रा में 1/2 प्रतिशत की व द्धि होती है तो माँग की लोच 1/2 प्रतिशत के बराबर होगी। इस रीति के अन्तर्गत हम कीमत-परिवर्तन के परिणामस्वरूप वस्तु पर किए गए कुल व्यय में कोई परिवर्तन नहीं होता (अर्थात् वस्तु पर किया गया कुल व्यय यथास्थिर ही रहता है) तो माँग की लोच इकाई के बराबर होती है। यदि किसी निश्चित कीमत-परिवर्तन के परिणामस्वरूप कुल उद्व्यय बढ़ जाता है तो माँग की लोच इकाई के बराबर होती है। यदि किसी निश्चित कीमत-परिवर्तन के परिणामस्वरूप कुल व्यय घट जाता है तो माँग की लोच इकाई से कम होगी।

किसी वस्तु पर होने वाले व्यय = वस्तु की माँग गई मात्रा × प्रति इकाई मूल्य

इन सम्बन्धों को साधारण काल्पनिक माँग-अनुसूचियों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। अग्रांकित सारणी में तीन माँग-अनुसूचियाँ हैं। प्रत्येक माँग-अनुसूची में कीमतें समान हैं लेकिन माँग-मात्राएँ भिन्न है।

माँग की लोच की इस माप को रेखाक ति द्वारा भी निरूपित किया जा सकता है:

रेखाक ति में PM मूल कीमत है और OM मूल माँग-मात्रा है। अतः मूल व्यय OM × PM = OMON है। P'M' नयी कीमत है और OM' नयी माँग-मात्रा है, अतः नया व्यय OM'P'N' के बराबर है। इसमें सन्देह नहीं कि कीमत में गिरावट के परिणामस्वरूप व्यय मे जो कमी होती है, वह NPTN' आयत द्वारा व्यक्त की गई व्यय व द्धि से हो गई है। व्यय में

यह व द्धि इसलिए हुई है क्योंकि कीमत में कमी होने पर माँग-मात्रा में हुई व द्धि दोनो का ही समान प्रतिशत है। परिणामतः कुल व्यय में कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः माँग की लोच इकाई के बराबर है।

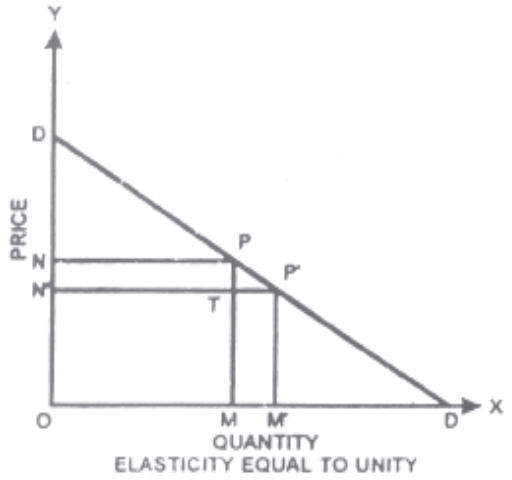

रेखाक ति में OM'PN' द्वारा व्यक्त नये व्यय की अपेक्षा OMPN के पुराने व्यय में जो कमी होती है वह NPTM' द्वारा व्यक्त मूल व्यय कम है। अतः माँग के लोच इकाई से अधिक है।

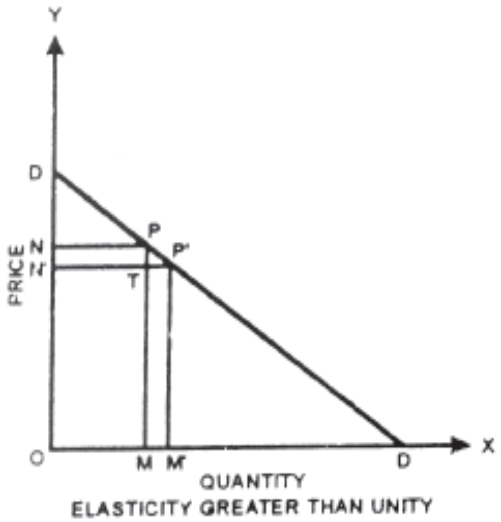

रेखाक ति में OMPN का मूल व्यय OM'PN' के नये व्यय से अधिक है। अतः माँग की लोच इकाई से कम है।

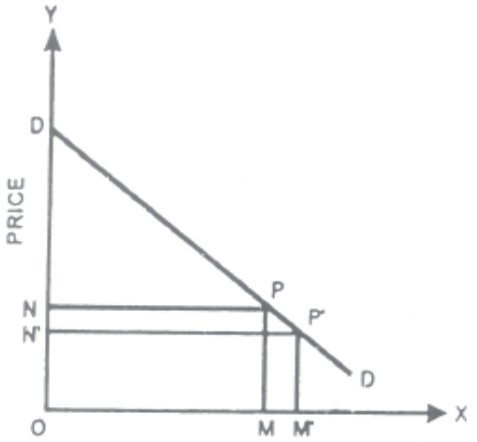

विभिन्न लोचों सहित माँग अनुसूचियाँ

लोचदार			ऐकिक लोचदार माँग			बेलोच माँग		
P (Rs.)	Q (Units)	PQ (Rs.)	P (Rs.)	Q (Units)	PQ (Rs.)	P (Rs.)	Q (Units)	PQ (Rs.)
10	1,000	10,000	10	900	9,000	10	1,000	10,000
9	2,000	18,000	9	1,000	9,000	9	1,050	9,450
8	3,000	24,000	8	1,125	9,000	8	1,100	8,800

जैसा कि हमने पहले देखा है, कुल व्यय विधि के अनुसार जब कुल व्यय यथास्थिर रहता है अथवा व्यय में होने वाला परिवर्तन शून्य होता है तब माँग की लोच इकाई के बराबर होती है। लेकिन जब व्यय बढ़ जाता है अथवा व्यय में धनात्मक परिवर्तन होता है, तब माँग की लोच इकाई से अधिक होती है। जब व्यय घट जाता है अथवा व्यय में ऋणात्मक परिवर्तन होता है तब माँग की लोच इकाई से कम होती है। माँग की लोच एवं व्यय के बीच के सम्बन्ध को रेखाक ति की सहायता से निदर्शित किया जा सकता है। जब कुल व्यय में ऋणात्मक परिवर्तन होता है तब माँग की लोच इकाई से कम होती है (जैसा कि रेखाक ति में प्रदर्शित किया गया है)। जब कुल व्यय में शून्य परिवर्तन होता है, तब माँग की लोच इकाई के बराबर होती है। लेकिन जब कुल व्यय में धनात्मक परिवर्तन होता है, तब माँग की लोच इकाई से अधिक होती है, जैसा कि रेखाक ति में प्रदर्शित किया गया है।

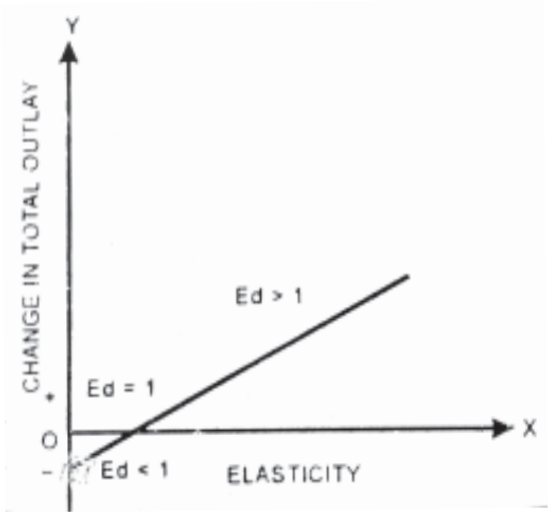

रेखाक ति में हमने कुल व्यय-वक्र को प्रदर्शित किया है। इस रेखाक ति में हमने तीन कीमत-अभिसीमाओं (Price ranges) को लिया है। ये अभिसीमाएँ इस प्रकार हैं: OM से ON, ON से OQ तथा अन्ततः OQ। जैसे-जैसे वस्तु की कीमत OM से गिरकर ON हो जाती है, कुल व्यय वक्र दायीं ओर नीचे झुकता है। यह इस बात का प्रमाण है कि कीमत गिरने पर कुल व्यय में व द्धि होती है। इसके विपरीत, यदि कीमत ON से बढ़कर OM हो जाती है तो कुल व्यय में कमी होती है और वक्र बायीं ओर ऊपर को चढ़ता है। इस प्रकार ON से OM कीमत अभिसीमा में माँग की लोच इकाई से अधिक है अथवा माँग लोचदार है। कीमत गिरने पर कुल व्यय बढ़ता है और कीमत बढ़ने पर कुल व्यय में कमी होती है। ON से लेकर OQ कीमत-अभिसीमा के भीतर व्यय-वक्र लम्बाकार (perpendicular) होता है और OY के समानान्तर होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि कुल व्यय यथास्थिर रहता है। जब ON से गिर पर कीमत OQ हो जाती है अथवा OQ से बढ़कर ON हो जाती है तो कुल व्यय

यथास्थिर रहता है और अथवा माँग न तो लोचदार है और न ही बेलोच है। लेकिन OQ कीमत-अभिसीमा में जैसे-जैसे कीमत गिरती है, कुल व्यय घटता जाता है और व्यय वक्र बायीं ओर नीचे झुकता है। इसके विपरीत, जैसे-जैसे कीमत OQ की ओर ऊपर बढ़ती है, कुल व्यय बढ़ता जाता है और कुल व्यय वक्र दायीं ओर ऊपर चढ़ता है। OQ कीमत अधिसीमा में माँग की लोच इकाई से कम है अथवा माँग बेलोच है।

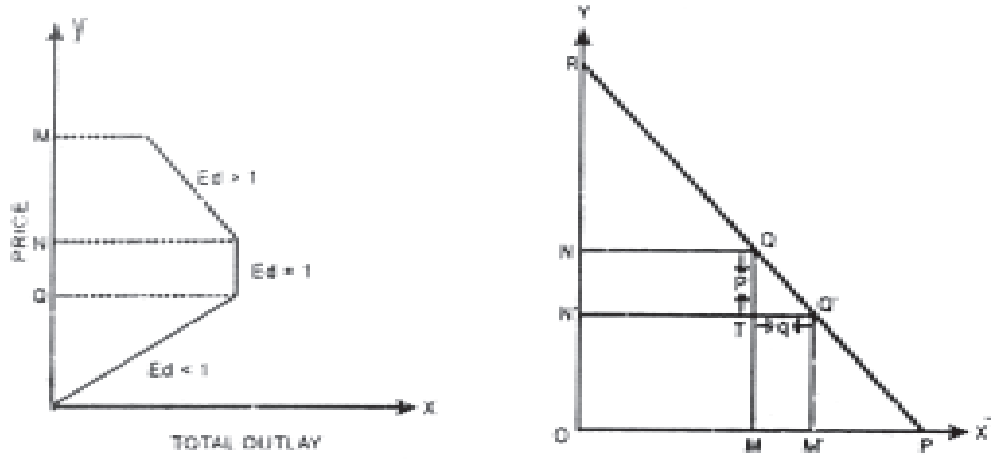

सारांशतः जब कीमत में गिरावट के परिणामस्वरूप कुल व्यय बढ़ता है अथवा कीमत में व द्धि के परिणामस्वरूप कुल व्यय घटता है, तो माँग की लोच इकाई से अधिक होती है अथवा माँग लोचदार होती है। जब कुल व्यय यथास्थिर रहता है, तो माँग की लोच इकाई के बराबर होती है अथवा माँग न तो लोचदार होती है और न ही बेलोच होती है। लेकिन जब कीमत में गिरावट के परिणामस्वरूप कुल व्यय घट जाता है और कीमत में व द्धि के परिणामस्वरूप कुल व्यय बढ़ जाता है, तो माँग की लोच इकाई से कम होती है अथवा माँग बेलोच होती है।

कुल व्यय विधि की मुख्य त्रुटि यह है कि माँग की लोच की संख्यात्मक माप करने में यह हमारी सहायता नहीं करती। यह विधि तो कीमत-माँग को तीन श्रेणियों में वर्गीक त करती है-लोचदार माँग, बेलोच माँग, ऐकिक लोचदार माँग।

बिन्दु विधि
(The Point Method)

माँग की कीमत लोच को मापने की इस विधि का सुझाव भी डॉ॰ मार्शल द्वारा प्रस्तुत किया गया था। इसके अनुसार दो अक्षों को मिलाने वाली एक सीधी माँग वक्र रेखा को हम लेते हैं और Q एवं Q' के दो उन बिन्दुओं के बीच की लोच की हम माप करते हैं जो एक-दूसरे के अन्ततः समीप स्थित माने जाते हैं।

रेखाक ति में RP वह सीधी माँग-वक्र रेखा है जो दो अक्षों को एक दूसरे से जोड़ती है। मूल कीमत QM पर माँग की मात्रा OM है। तब कीमत बदलकर Q'M' हो जाती है। इस कीमत पर माँग की मात्रा OM' है। P चिन्ह कीमत परिवर्तन को व्यक्त करता है जबकि Q चिह्न माँग-परिवर्तन को निरूपित करता है। माँग की कीमत-लोच को निम्न सूत्र से मापा जा सकता है :

माँग मात्रा में हुए परिवर्तन को इस प्रकार निकाला जा सकता है :

कीमत में हुए प्रतिशत परिवर्तन को इस प्रकार निकाला जा सकता है:

यदि हम चिह्नों का (symbols) का प्रयोग करें तो उपर्युक्त सूत्र को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:

अथवा

उपर्युक्त रेखाक ति के रूप में यह समीकरण इस प्रकार होगा :

$$\text{Ed} = \frac{\%\ \text{Change in Quantity Demanded}}{\%\ \text{Change in Pr ice}}$$

माँग-मात्रा में हुए परिवर्तन को इस प्रकार निकाला जा सकता है :

$$\frac{\text{मांग मात्रा में पररिवर्तन}}{\text{प्रारंभिक मात्रा मांग मात्रा}} = \frac{\Delta q}{q}$$

Or

$$\frac{\text{Change in the Quantity Demanded}}{\text{Initial Change Demanded}}$$

(यहाँ पर Δq = Change in Quantity Demanded और q = Initial Quantity)

$$\frac{\text{कीमत में परिवर्तन}}{\text{प्रारंभिक कीमत}} = \quad \text{or} \ \frac{\text{Change in Pr ice}}{\text{Initial Pr ice}}$$

(यहाँ पर Δp = Change in Price और p = Initial Price)

$$\text{Ed} = \frac{\frac{\Delta p}{p}\ \frac{\text{Change in Quantity}}{\text{Initial Quantity}}}{\frac{\text{Change in Pr ice}}{\text{Initial Pr ice}}}$$

अतः माँग की कीमत लोच = $\dfrac{\dfrac{\text{मात्रा में परिवर्तन}}{\text{प्रारंभिक मात्रा}}}{\dfrac{\text{कीमत में परिवर्तन}}{\text{प्रारंभिक कीमत}}}$

अथवा

यदि हम चिह्नों (symobls) का प्रयोग करें तो उपर्युक्त सूत्र होगा :

$$Ed = \frac{\Delta p}{p} + \frac{\Delta q}{q}$$

उपर्युक्त रेखाकृति के रूप में यह समीकरण इस प्रकार होगा :

$$\frac{MM'}{OM} \div \frac{NN'}{ON}$$

$$\frac{\Delta p}{p}\ \frac{\Delta q}{q}\ \frac{MM'}{OM} \times \frac{ON}{NN'} = \frac{MM'}{NN'} \times \frac{ON}{OM}$$

छोटा त्रिकोण (triangle) बड़े त्रिकोण QMP के सद श (similar) है। अतः भुजाओं (sides) का अनुपात समान है। दूसरे शब्दों में, $\dfrac{MM'}{NN'}$ अथवा $\dfrac{TQ'}{QT'}\ \dfrac{MP}{QM}$ के बराबर है। उपर्युक्त

समीकरण को हम इस प्रकार पुनः प्रस्तुत कर सकते हैं: $\frac{TQ'}{QT'}$ के स्थान पर हम $\frac{MP}{QM}$ का प्रयोग करते हैं अथवा $\frac{q}{p}$ ।

$$\text{माँग की कीमत लोच (Ed)} = \frac{MP}{QM} \times \frac{ON}{QM}$$

$$= \frac{MP}{QM} \times \frac{ON}{QM}$$

$$= \frac{MP}{OP}$$

(दोनों पक्षों से QM को हटाने के उपरान्त)

अतः माँग की कीमत लोच MP/OM है। अब हमारे पास दो त्रिकोण हैं: ΔQMP तथा । ये दोनों त्रिकोण एक-दूसरे के सद श हैं। अतः उनकी भुजाओं का अनुपात भी समान है। परिणामतः MP/OM, OP/RQ एवं QM/RN के बराबर होगा (क्योंकि OM एवं NQ एक समान है)।

अतः माँग की कीमत-लोच (Ed)=MP/ON अथवा QM/RN (=ON/RN) अथवा QP/RQ

हम यह मान लेते हैं कि Q एवं Q' के बीच की दूरी को इस प्रकार अनियत (indefinitely) कम कर दिया जाता है कि ये दोनों बिन्दु आपस में मिल जाते हैं। परिणामतः Q बिन्दु पर माँग की लोच QP/RQ के बराबर होगी।

अतः किसी विशेष बिन्दु पर कीमत-लोच निकालने हेतु सीधी माँग वक्र रेखा पर हम उपर्युक्त सूत्र (formula) अर्थात् QP/RQ का प्रयोग कर सकते हैं। यही नहीं, इस सूत्र की सहायता से सीधी माँग वक्र रेखा के विभिन्न बिन्दुओं पर हम संख्यात्मक लोच तक का पता लगा सकते हैं।

रेखाक ति में सीधी माँग वक्र रेखा RP 5 सेंटी मीटर लम्बी है। RP वक्र पर Q मध्य बिन्दु है। यदि हम QP/RQ सूत्र का प्रयोग करें तो 2.5/2.5=1 अथवा इकाई। दूसरे शब्दों में, Q बिन्दु पर माँग की कीमत लोच इकाई है। अब मान लीजिए कि RP वक्र पर हम Q' एक अन्य बिन्दु लेते हैं। इस Q' बिन्दु पर कीमत लोच अथवा इकाई से अधिक होगी (क्योंकि QP = 4 सेंटीमीटर और RQ=1 सेंटीमीटर)। Q" बिन्दु पर (अर्थात् उस बिन्दु पर जहाँ माँग-वक्र Y-अक्ष को स्पर्श करता है) कीमत लोच होगी Q"P/Q"R= $\frac{5}{0}$ = अनन्त (infinity)। स्मरण रहे जब पूर्ण अंक (whole number) को शून्य से विभाजित किया जाता है तो परिणाम अनन्त होता है।

मध्य बिन्दु Q से नीचे किसी भी बिन्दु पर कीमत लोच इकाई से कम होगी। उदाहरणार्थ, Q''' बिन्दु पर कीमत लोच बराबर होगी Q'''P/Q''' $\frac{1}{4}$ (इकाई से कम)।

अन्ततः Q''' बिन्दु पर (अर्थात् उस बिन्दु पर जहाँ माँग-वक्र X- अक्ष को स्पर्श करता है) कीमत-लोच बराबर होगी।

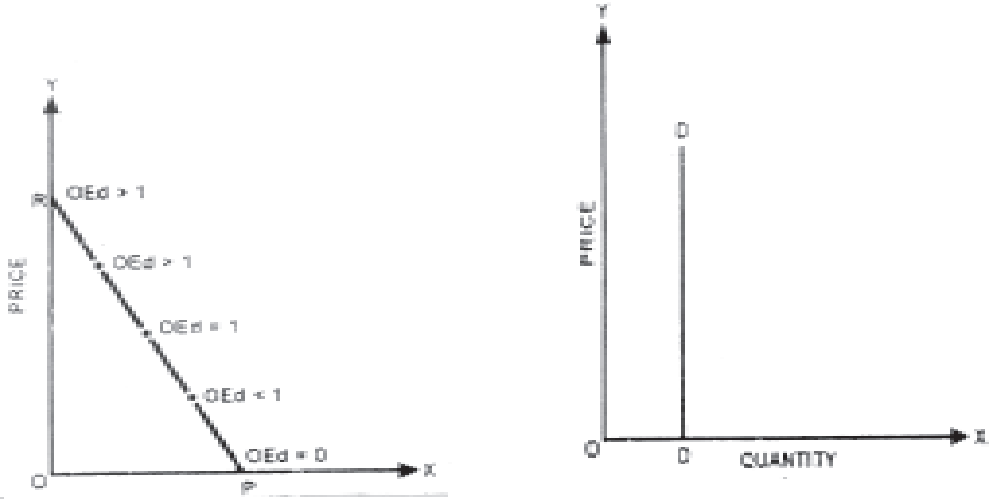

अतः सीधी माँग वक्र रेखा के मध्य बिन्दु पर कीमत लोच इकाई के बराबर होगी लेकिन मध्य बिन्दु के बायीं ओर माँग वक्र रेखा के ऊँचे बिन्दुओं पर कीमत लोच इकाई से अधिक होगी। इसी प्रकार, मध्य बिन्दु के दायीं ओर उसी माँग वक्र रेखा के निचले बिन्दुओं पर कीमत लोच इकाई से कम होगी। जिस बिन्दु पर माँग वक्र X अक्ष को स्पर्श करता है, उस बिन्दु पर कीमत लोच शून्य के बराबर होगी।

अर्थशास्त्रियों के लिए लोच मापने की बिन्दु विधि बहुत ही लाभदायक है। यह विधि अर्थशास्त्रियों को कीमत लोच मापने में उस समय सहायता देती है जब वस्तु की कीमत एवं उसकी माँग मात्रा में अत्यन्त सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं। इसके अतिरिक्त, बिन्दु विधि हमें यह भी बताती है कि वक्र की ढाल और लोच दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। रेखाकृति में यद्यपि समूचे माँग वक्र की ढाल समरूप है लेकिन विभिन्न बिन्दुओं पर माँग की लोच भिन्न भिन्न है। किन्तु स्मरण रहे, तीन प्रकार के माँग वक्र ऐसे होते हैं जिनमें माँग की लोच समान होती है:

1. जब माँग वक्र Y अक्ष के समानान्तर चलता है तो माँग मात्रा में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता, चाहे वस्तु की कीमत में कितना ही परिवर्तन क्यों न हो। ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक कीमत पर माँग की लोच शून्य होती है।

रेखाक ति में DD वक्र पूर्णतः बेलोच माँग की स्थिति को निरूपित करता है। यहाँ पर समूचे वक्र की लोच एक समान है।

2. जब माँग वक्र X अक्ष के समानान्तर चलता है तो कीमत की तनिक-सी व द्धि से वस्तु की समूची माँग ठप्प हो जाती है अथवा माँग शून्य तक गिर जाती है। अतः DD माँग वक्र माँग की अनन्त लोच को व्यक्त करता है।

समूचे वक्र पर माँग की लोच समरूप है। रेखाक ति में DD वक्र समान माँग की लोच को व्यक्त करता है।

आयताकार अधीन्द्रीय माँग वक्र (rectangular hyperbola demand curve) के सभी बिन्दुओं पर माँग लोच समान होती है, जैसा कि रेखाक ति में प्रदर्शित किया गया है। DD माँग वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर माँग की लोच इकाई है।

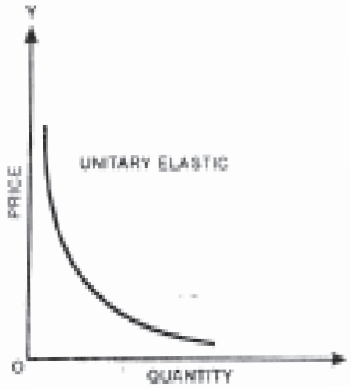

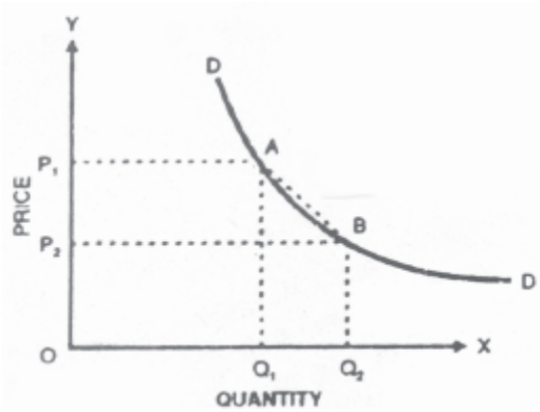

चाप लोच विधि
(Arc Elasticity Method)

यह विधि उस समय लागू की जा सकती है जब वस्तु की कीमत एवं उसकी माँग मात्रा में होने वाले सूक्ष्मतम परिवर्तनों के बारे में हमें जानकारी उपलब्ध हो। साधारणतः वास्तविक जीवन में हमें वस्तु की कीमत एवं उसकी मात्रा में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों की जानकारी नहीं होती। अर्थशास्त्रियों को प्रायः ऐसी माँग-अनुसूचियों से निबटना पड़ता है जिनमें कीमत एवं मात्रा सम्बन्धी विशाल अन्तराल (gaps) होते हैं। ऐसी स्थितियों में बिन्दु विधि का प्रयोग करने से सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकलते। अतः अर्थशास्त्रियों ने लोच को मापने की एक अन्य विधि का आविष्कार किया है। इसे लोच चाप विधि कहते हैं। इस विधि का प्रयोग उस अवस्था में किया जाता है जब कीमत एवं मात्रा संबंधी सांख्यिकीय सामग्री में विशाल अन्तराल अथवा रिक्तताएँ होती हैं। इस विधि के अनुसार कीमत एवं मात्रा से सम्बन्धित पुरानी एवं नवीन सामग्रियों के बीच मध्य बिन्दुओं का प्रयोग किया जाता है। चावि विधि दो बिन्दुओं के बीच स्थित माँग वक्र के केवल एक भाग अथवा खण्ड (segment) का ही अध्ययन करती है। रेखाक ति में DD वक्र के बिन्दु A और B के बीच का क्षेत्र एक चाप है जो निश्चित क्षेत्र में कीमतों और मात्राओं की लोच को मापता है। स्मरण रहे कि बिन्दु A तथा B के बीच माँग वक्र जितना अधिक उत्तल (convex) होगा तो A और B के बीच सरल डैश रेखा वास्तविक माँग रेखा से उतनी अधिक अलग होगी। इसी प्रकार, माँग वक्र पर बिन्दु A तथा

B परस्पर, जितनी अधिक दूरी पर होंगे, सरल डैश रेखा AB उतनी ही अधिक वास्तविक माँग रेखा से अलग होगी। इसके विपरीत, जब माँग वक्र पर A तथा B बिन्दु परस्पर अति निकट स्थित हों तो चाप कीमत लोच का गुणांक तथा बिन्दु लोच का गुणांक लगभग समान होते है।

चाप लोच को मापने का सूत्र निम्नलिखित है:

$$\text{माँग की लोच (Ed)} = (-)\frac{\text{माँग मात्रा में परिवर्तन}}{\text{मूल मात्रा + परिवर्तित मात्रा}}$$

के उपरान्त नयी मात्रा

$$\div \frac{\text{कीमत में परिवर्तन}}{\text{मूल कीमत + परिवर्तित मूल्य}}$$

के उपरान्त नयी कीमत

अथवा

$$(Ed) = \frac{\text{Change in quantity demanded}}{\text{Original quantity plus new}}$$

quantity after change

$$\div \frac{\text{Change in price}}{\text{Original price plus new}}$$

price after change

उपर्युक्त सूत्र का प्रतीकात्मक निरूपण (symobilcal representation) निम्नवत् किया जा सकता है।

$$(Ed) = \frac{q - q_1}{q + q_1} \div \frac{p - p_1}{p + p_1}$$

इस सूत्र में q = मूल माँग मात्रा (original quantity demanded)

q_1 = कीमत-परिवर्तन के उपरान्त नयी मात्रा (new quantity after the change in price)

p = मूल कीमत (original price)

p_1 = परिवर्तन के उपरान्त नयी कीमत (new price after change)

उपर्युक्त सूत्र का प्रतीकात्मक निरूपण (symbolical representation) निम्नवत् किया जा सकता है:

चाप लोच (are elasticity) का निदर्शन करने हेतु हम एक संख्यात्मक उदाहरण लेते हैं। मान लीजिए कि वस्तु की कीमत 5 रुपये प्रति इकाई है और इस कीमत पर माँग मात्रा 100 रुपये

है। अब मान लीजिए कि वस्तु की कीमत गिरकर 4 रुपये प्रति इकाई हो जाती है और माँग मात्रा बढ़कर 110 इकाइयाँ हो जाती है। उपर्युक्त सूत्र का प्रयोग करते हुए इस उदाहरण में चाप लोच इस प्रकार होगीः

(नकारात्मक चिन्हों को यहाँ पर हटाया जा सकता है)

$$Ed = \frac{100-110}{100\div 110} \div \frac{5-4}{5+4} = -\frac{10}{210} \div \frac{1}{9}$$

$$= -\frac{10}{210} \times \frac{9}{1} = -\frac{9}{21} = \frac{9}{21}$$

औसत विधि अथवा औसत आगम विधि तथा सीमान्त आगम तथा माँग की लोच विधि

श्रीमति जॉन रॉबिन्सन ने औसत आगम एवं सीमान्त आगम के रूप में माँग की लोच को मापने का प्रयास किया है। ऐसा करते समय उन्होंने बिन्दु लोच सूत्र का प्रयोग किया है। यह सूत्र इस प्रकार हैः

$$Ed = \frac{PQ}{RQ}$$

माँग की लोच के उनके इस सूत्र को ग्रहण करने के लिए हमे पहले आगम से सम्बन्धित तीनों धारणाओं का अध्ययन करना है। ये धारणाएँ हैं-कुल आगम, सीमान्त आगम, औसत आगम,। आगे चलकर कीमत सिद्धांत के विवेचन में भी इन शब्दों का प्रयोग किया जाएगा।

कुल आगम
(Total Revenue) (TR)

विक्रेता के लिए माँग का महत्त्व इस बात में निहित है कि इससे उसे आगम प्राप्त होता है। विक्रेता के कुल आगम से है जो वस्तु बेचने से उसे उपलब्ध होती है। यदि वस्तु की प्रत्येक इकाई को एक ही कीमत पर बेचा जाता है तो बिकने वाली इकाइयों की संख्या एवं कीमत के गुणित से विक्रेता के कुल आगम का पता चलता है। कुल आय (TR) = बेची गई इकाइयों की कुल संख्या × प्रति इकाई दूसरे शब्दों में, यदि कीमत को बिकने वाली इकाइयों की संख्या से गुणा कर दें तो वह कुल आगम होगा। अर्थात् $TR = Q \times P$ इसके विपरीत, यदि प्रत्येक इकाई को भिन्न-भिन्न कीमतों पर बेचा जाता है तो सभी कीमतों के जोड़ से कुल आगम निकल आएगा। लेकिन आर्थिक विश्लेषण के द ष्टिकोण से कुल आगम का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

औसत आगम
(Average Revenue) (AR)

इससे अभिप्राय उस आगम से है जो प्रति इकाई बिक्री से प्राप्त होता है। कुल आगम की बिकने वाली इकाइयों की संख्या से विभाजित करने से औसत आगम निकल आता है। अर्थात् $\frac{TR}{Q}$ यदि वस्तु की सभी इकाइयों को एक ही कीमत पर बेचा जाता है तो औसत आगम कीमत के बराबर होता है। दूसरे शब्दों में, विक्रेता की वस्तु की माँग वक्र ही उसका आगम वक्र बन जाएगा। औसत आगम एवं कीमत, वास्तव में, एक ही चीज है।

सीमान्त आगम
(Marginal Revenue)

सीमान्त आगम से अभिप्राय उस आगम से है जो वस्तु की सीमान्त इकाई को बेचने से प्राप्त होता है। सीमान्त आगम का संकेत उस अन्तर की ओर है जो 1 इकाई कम बेचने से विक्रेता के कुल आगम में पड़ता है। $MR_n = TR_n - TR_{n-1}$ उदाहरणार्थ, यदि किसी वस्तु की 20 इकाइयाँ बेचने से 120 रुपये प्राप्त होते हैं और 19 इकाइयाँ बेचने पर 115 रुपये उपलब्ध होते हैं तो 20 इकाइयों का सीमान्त आगम 5 रुपये होगा। अतः यदि बेची जाने वाली n इकाइयों की कुल मुद्रा प्राप्ति में से n - 1 इकाइयों की मुद्रा प्राप्ति को घटा दिया जाए तो n इकाइयों का सीमान्त आगम निकल आएगा।

जब औसत आगम (AR) गिरता है तो सीमान्त आगम (MR) भी गिरता है लेकिन सीमान्त आगम, औसत आगम की तुलना में अधिक तेजी से गिरता है। यदि हम औसत आगम एवं सीमान्त आगम वक्र खींचे तो दोनों का प्रारम्भ एक ही बिन्दु से होगा लेकिन सीमान्त आगम वक्र सदैव आगम वक्र के नीचे ही रहेगा। किसी भी बिन्दु पर सीमान्त आगम वक्र औसत वक्र के ऊपर नहीं होगा। यदि दोनों वक्र सीधी रेखाएँ हों तो औसत आगम वक्र एवं सीमान्त आगम वक्र पर कुल आगम सरलता से आँका जा सकता है।

औसत आगम एवं सीमान्त आगम का अध्ययन करने के उपरान्त अब हम सीमान्त आगम, औसत आगम एवं माँग की लोच के बीच यथार्थ गणितात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं।

रेखाक ति में AR तथा MR क्रमशः औसत आगम एवं सीमान्त आगम वक्र हैं। बेची जाने वाली वस्तु की मात्रा ON है। इस ON मात्रा के लिए माँग की लोच निम्नवत् होगीः

$$e = \frac{A}{A-M}$$

$$\text{माँग की लोच (Ed)} = \frac{PQ}{RQ}$$

$$= \frac{OL}{RL} = \frac{PQ}{RS}$$

चूँकि OL=QN तथा RL=QS इसका कारण यह है कि $\Delta RLK = \Delta KSQ = \frac{QN}{QN - SN}$

इसमें QN = औसम आय तथा SN = सीमान्त आ गया। अतः

$$e_p = \frac{AR}{AR - MR} = \frac{\text{औसत आगम}}{\text{औसत आगम सीमा}}$$

यदि हम माँग की लोच को e से औसत आगम को A से और सीमान्त आगम को M से निरूपित करें, तो या $eA - eM = A \Rightarrow A(e-1) = eM$

या $A = \frac{eM}{e-1} = M \times \frac{e}{e-1}$ या $M = A \times \frac{e-1}{e}$

इस प्रकार, यदि औसत आगम एवं सीमान्त आगम हमें ज्ञात है तो माँग की लोच को सरलता से निर्धारित किया जा सकता है।

इसी प्रकार, यदि सीमान्त आगम एवं माँग की लोच हमें ज्ञात है तो निम्नांकित सूत्र की सहायता से हम औसत आगम निकाल सकते हैं : $A = M\left(\frac{e}{e-1}\right)$

उपर्युक्त सूत्र सीधी वक्र रेखाओं पर लागू होते हैं। लेकिन जब वक्र सीधी रेखाएँ नहीं होती तब भी इन सूत्रों की प्रयोज्यता समाप्त नहीं हो जाती।

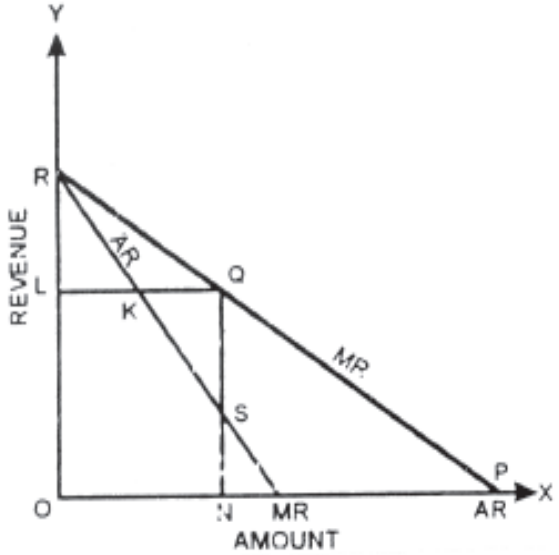

माँग की लोच को मापने की कुल व्यय विधि की सहायता से हम सीमान्त आगम एवं लोच के बीच सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, विक्रेता द्वारा वस्तु की अधिक इकाइयाँ बेचने पर जब कुल आगम बढ़ता है तो सीमान्त आगम धनात्मक होता है। जब कुल आगम घटता है तो सीमान्त आगम ऋणात्मक होता है और जब कुल आगम स्थिर होता है तो सीमान्त आगम शून्य हो जाता है। हम यह भी जानते हैं कि वस्तु की कीमत में गिरावट होने पर जैसे कुल आगम बढ़ता है माँग की लोच इकाई से अधिक होती है। जब कुल आगम घटता है, माँग की लोच इकाई से कम होती हैं। जब कुल आगम स्थिर रहता है, माँग की लोच इकाई के बराबर होती है। अतः माँग की लोच एवं सीमान्त आगम के परस्पर सम्बन्ध को हम इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं- जब माँग की लोच ऊँची होती है तो सीमान्त आगम धनात्मक होता है, जब माँग की लोच नीची होती है तो सीमान्त आगम ऋणात्मक होता है, और जब माँग की लोच इकाई के बराबर होती है तो सीमान्त आगम शून्य होता है।

माँग की प्रतिलोच
(Cross Elasticity of Demand)

एक वस्तु की माँग-मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन का एक संबंधित वस्तु की कीमत में प्रतिशत परिवर्तन का आनुपातिक संबंध माँग की प्रतिलोच हैं।

A और B वस्तु के बीच माँग की प्रतिलोच

$$Eba = \frac{\text{B की मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{A की कीमत में प्रतिशत परविर्तन}}$$

$$= \frac{\Delta qb / qb}{\Delta pa / pa} = \frac{\Delta qb}{qb} \times \frac{pa}{\Delta pa} = \frac{\Delta qb}{\Delta pa} \times \frac{pa}{qb}$$

इसे चाप लोच के सूत्र से भी मापा जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ कीमत और मात्रा भिन्न वस्तुओं की ओर निर्देश करती है।

मान लीजिए कि जब चाय की कीमत रु. 8 प्रति कि. ग्रा. है, तो कॉफी 100 कि.ग्रा. खरीदी जाती है, परन्तु जब कीमत बढ़कर 10 रुपये हो जाती है तो कॉफी की माँग बढ़कर 120 कि. ग्रा. हो जाती है। इस सूत्र के अनुसार प्रतिलोच गुणांक $Eba = \frac{20}{220} \times \frac{120}{2} = \frac{9}{11} < 1$ अर्थात् इकाई से कम है। दो प्रकार की संबंधित वस्तुएँ होती कि.ग्रा. हैं : स्थानापन्न और पूरक।

$Eba = \frac{ab}{qb} \frac{\text{का अन्तर}}{\text{का जोड़}} \times \frac{pq}{qa} \frac{\text{का जोड़}}{\text{का अन्तर}}$ मान लीजिए कि जब चाय की कीमत रु. 8 प्रति कि. ग्रा. है, तो कॉफी 100 कि. ग्रा. खरीदी जाती है, परंतु जब कीमत बढ़कर 10 रुपये हो जाती है तो कॉफी की माँग बढ़कर 120 कि. ग्रा. हो जाती है। इस प्रकार सूत्र के अनुसार प्रतिलोच गुणांक $Eba = \frac{20}{220} \times \frac{18}{2} =< 1$ अर्थात् इकाई से कम है। दो प्रकार की संबंधित वस्तुएँ होती है : स्थानापन्न और पूरक।

स्थानापन्नों की प्रतिलोच
(Cross Elasticity of Substitutes)

स्थानापन्नों के विषय में प्रतिलोच धनात्मक और अधिक होती है। गुणांक Eba जितना अधिक होगा, वस्तुएँ उतनी अच्छी स्थानापन्न होंगी। यदि मक्खन की कीमत बढ़ जाए तो उससे मुरब्बे की माँग बढ़ जाएगी; इसी प्रकार मक्खन की कीमत कम हो जाने से मुरब्बे की माँग कम हो जाएगी।

यदि वस्तु A की कीमत में परिवर्तन होने के कारण वस्तु B की माँग में अनुपात से अधिक परिवर्तन हो तो प्रतिलोच ऊँची होती है। चित्र में वस्तु A की कीमत Y-अक्ष पर और वस्तु B की मात्रा X-अक्ष पर ली गई है, B की माँग-मात्रा में परिवर्तन Δqb वस्तु A की कीमत में परिवर्तन Δpa के अनुपात से अधिक है, इसलिए प्रतिलोच इकाई से अधिक (Eba>1) है। इस प्रकार की वस्तुएँ निकट स्थानापन्न होती हैं।

उस समय माँग की प्रतिलोच इकाई के बराबर (Eba =1) होती है, जब वस्तु A की कीमत में परिवर्तन के कारण वस्तु B की माँगी गई मात्रा में परिवर्तन के अनुपात समान हों। इसे चित्र के पेनल (B) में दिखाया गया है जहाँ Δqb (B और माँग-मात्रा में परिवर्तन) और Δpa (A की कीमत में परिवर्तन) बराबर हैं। अतः माँग की प्रतिलोच इकाई के बराबर है।

माँग की प्रतिलोच इकाई से कम (Eba <1) तब होती है जब वस्तु B की माँगी गई मात्रा में परिवर्तन Δqb वस्तु A की कीमत में परिवर्तन Δpa के अनुपात से कम हो जैसा कि चित्र के पेनल (C) में दिखाया गया है। इसका अभिप्राय है कि A और B वस्तुएँ घटिया स्थानापन्न हैं।

जब वस्तु A की कीमत में परिवर्तन का वस्तु B की माँग पर बिल्कुल कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो माँग की प्रतिलोच शून्य होती है। चित्र के पेनल (D) से स्पष्ट है कि वस्तु A की कीमत में a से a_1 परिवर्तन होने पर भी B की माँगी गई मात्रा OD में कोई परिवर्तन नहीं होता (Eba = 0) ऐसी वस्तुएँ एक दूसरे से असंबंधित होती हैं जैसे मक्खन और आम।

यदि दो वस्तुएँ पूर्ण स्थानापन्न हों, तो माँग की प्रतिलोच अनन्त होगी मक्खन की कीमत में कमी होने से मुरब्बे की माँग शून्य पर आ सकती है। वस्तु B (मुरब्बे) का माँग चक्र Y-अक्ष के साथ मिल जाएगा।

यद्यपि स्थानापन्नों की माँग की प्रतिलोच शून्य से अनन्त तक परिवर्तित होती रहती है, फिर भी, यह ऋणात्मक हो सकती है। यदि A की कीमत गिर जाए और A की माँग लोचरहित हो, तो A की कम मात्रा खरीदी जाएगी क्योंकि यह पहले से सस्ती है और B की अधिक मात्रा खरीदी जाएगी। चित्र के पेनल (E) में वस्तु A की कीमत a_1 से गिर कर a हो जाने पर B की माँग b_1 से बढ़कर b हो जाती है। DD वक्र का ढलान ऋणात्मक प्रतिलोच को प्रकट करता है।

पूरक वस्तुओं की प्रतिलोच
(Cross Elasticity of Complementary Goods)

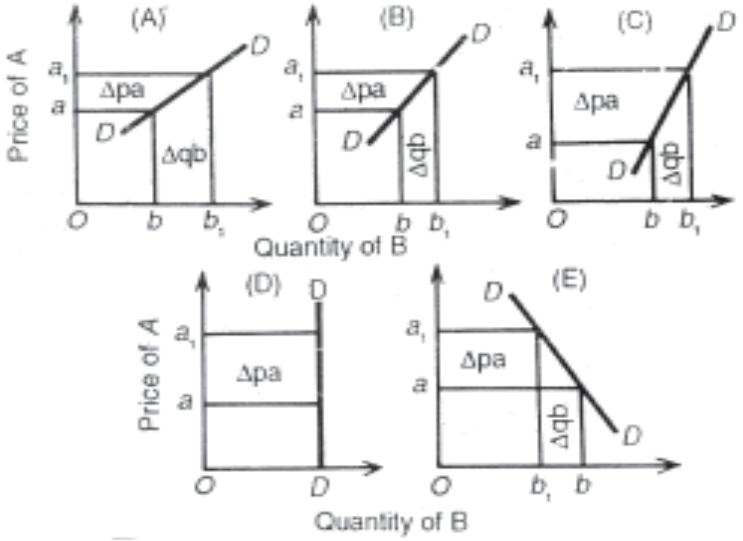

यदि दो वस्तुएँ पूरक हों अर्थात् उनकी इकट्ठी माँग हो, तो एक वस्तु की कीमत बढ़ने से दूसरी की माँग कम हो जाती है। कारों की कीमत गिरने से उनकी माँग के साथ पेट्रोल की माँग भी गिर जाएगी। इसी प्रकार कारों की कीमत गिरने से पैट्रोल की माँग बढ़ जाएगी। क्योंकि कीमत और माँग में विपरीत दिशा में परिवर्तन होता है, इसलिए माँग की प्रतिलोच ऋणात्मक है।

यदि वस्तु B की माँग-मात्रा में परिवर्तन वस्तु A की कीमत में परिवर्तन के अनुपात के ठीक समान हो, तो प्रतिलोच इकाई के बराबर होती है जैसा कि चित्र के पेनल (A) में दिखाया गया है। $\Delta qb / \Delta pa = 1$.

पूरक वस्तुओं के विषय में प्रतिलोच उस समय इकाई से अधिक होती है। $(Eba > 1)$ जब B वस्तु की माँगी गई मात्रा में परिवर्तन (Δqb) वस्तु A की कीमत में परिवर्तन (Δpa) के अनुपात से अधिक हो जैसा कि चित्र के पेनल (B) में दिखाया गया है अर्थात् $\Delta qb/\Delta pa > 1$

जब वस्तु B की माँग-मात्रा में परिवर्तन वस्तु A की कीमत में परिवर्तन से कम हो, तो प्रतिलोच इकाई से कम $(Eba < 1)$ होती है जैसा कि चित्र के पेनल (C) में दिखाया गया है। $\Delta qb/ \Delta pa < 1$.

जब वस्तु A की कीमत में परिवर्तन होने पर वस्तु B की खरीदी गई मात्रा में बिल्कुल कोई परिवर्तन नहीं होता तो माँग की प्रतिलोच शून्य $(Eba = 0)$ होती है। चित्र के पेनल (D) में वस्तु A की कीमत a में a_1 होने पर वस्तु B की माँग उतनी ही OD रहती है।

जब वस्तु A की कीमत में नाममात्र परिवर्तन से वस्तु B की खरीदी गई मात्रा में अत्यन्त व द्धि हो, तो माँग की प्रतिलोच अन्त (Eba = ∞) होती है जैसे चित्र के पेनल (E) में A की कीमत लगभग उतनी OD ही रहती और वस्तु B की माँग b से b_1 हो जाती है।

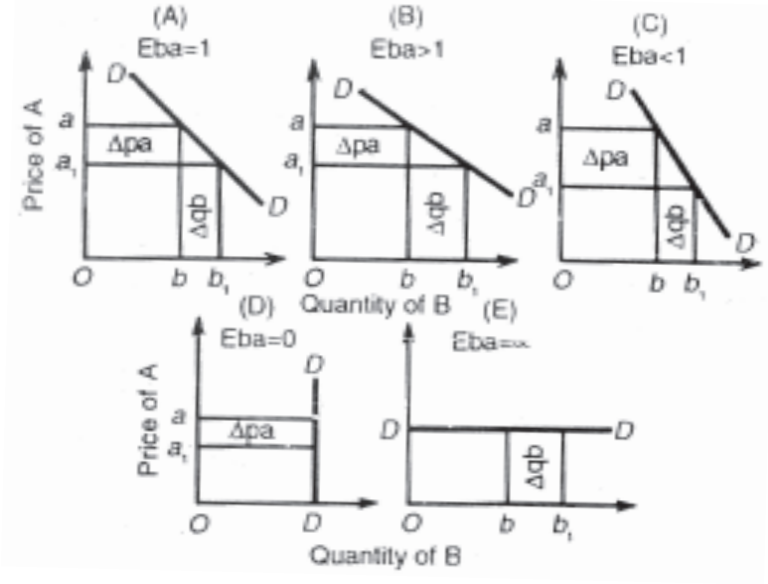

कुछ निष्कर्ष - माँग की प्रतिलोच के इस विश्लेषण से हमें निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

1. दो वस्तुओं मे, चाहे वे स्थानापन्न हों या पूरक, माँग की प्रतिलोच केवल एकमार्गी यातायात की तरह है। मक्खन और मुरब्बे की प्रतिलोच मुरब्बे और मक्खन की प्रतिलोच से भिन्न हो सकती है। मक्खन की कीमत में 10 प्रतिशत कमी होने से मुरब्बे की माँग 5 प्रतिशत कम हो सकती है, परन्तु संभव है मुरब्बे की 10 प्रतिशत गिरने से मक्खन की माँग केवल 2 प्रतिशत कम हो। इससे प्रकट होता है कि पहली स्थिति में गुणांक 0.5 और दूसरी स्थिति में 0.2 है जिससे स्थानापन्न की कीमत में परिवर्तन होता है, वह जितना बढ़िया होगा, माँग की प्रतिलोच उतनी ही अधिक होंगी

   यह नियम पूरक वस्तुओं के विषय में भी लागू होता है। यदि कार की कीमत 5 प्रतिशत गिर जाए तो पैट्रोल की माँग 15 प्रतिशत बढ़ सकती है जिससे गुणांक 3 प्राप्त होता है। परन्तु संभव है पैट्रोल की कीमत में 5 प्रतिशत कमी होने से कारों की माँग केवल 1 प्रतिशत बढ़े। इससे गुणांक 0.2 प्राप्त होगा।

2. स्थानापन्नों और पूरक दोनों प्रतिलोचों में परिवर्तन शून्य से अन्त तक हो सकता है। सामान्य रूप से स्थानापन्नों की प्रतिलोच धनात्मक और पूरकों की प्रतिलोच ऋणात्मक होती है।

3. जो वस्तुएँ निकट स्थानापन्न होती हैं, उनकी प्रतिलोच अधिक होती है और जिन वस्तुओं की प्रतिलोच कम होती है वे घटिया स्थानापन्न होती है। यह भेद उद्योग की परिभाषा सकरने में सहायक है। यहद कुछ वस्तुओं की प्रतिलोम ऊँची है, तो इसका अर्थ है कि वस्तुएँ निकट स्थापनापन्न है। जो फर्मे उन वस्तुओं को बनाती है उन्हें एक... उद्योग माना जा सकता है। अन्य वस्तुओं की तुलना में कम प्रतिलोच

वाली वस्तु को हम एकाधिकार-वस्तु मान सकते हैं, और उस वस्तु का उत्पादन करने वाले फर्म स्वयं में एक उद्योग बन जाती है। परन्तु ऊँची या कम प्रतिलोच किसी उद्योग की सीमाओं को निर्धारित करने के लिए किन्हीं निश्चित नियमों का निर्माण नहीं करती। वे केवल पथ-प्रदर्शक रेखाएँ होती हैं।

माँग की आय लोच
(Income Elasticity of Demand)

किसी उपभोक्ता की आय में परिवर्तन के परिणामस्वरूप वस्तु की माँग में होने वाले सापेक्ष परिवर्तन की मापया क्षमता ही माँग की आय लोच है, यदि वस्तु का मूल्य अपरिवर्तित रहे। इसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है : 'आय में प्रतिशत परिवर्तन से वस्तु की माँग-मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन का अनुपात माँग की आय लोच है।' इस प्रकार

$$Ey = \frac{\text{माँग - मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{आय में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

$$\frac{\Delta Q / Q}{\Delta Y / Y} = \frac{\Delta Q}{Q} \times \frac{Y}{\Delta Y} = \frac{\Delta Q}{\Delta Y} \times \frac{Y}{Q}$$

गुणांक Ey एक वस्तु की प्रक ति पर निर्भर करते हुए धनात्मक, ऋणात्मक या शून्य हो सकता है। यदि आय के बढ़ने से एक वस्तु की माँग बढ़ती है, तो आय लोच गुणांक धनात्मक होता हैं एक वस्तु जिसकी आय लोच धनात्मक होती है, वह सामान्य वस्तु है क्योंकि उपभोक्ता की आय बढ़ने के साथ उसकी अधिक मात्रा खरीदी जाती है। दूसरी ओर, यदि आय में कमी से वस्तु की माँग भी कम हो जाती है, तो आय लोच गुणांक ऋणात्मक होता है। ऐसी घटिया वस्तु कहलाती है क्योंकि आय बढ़ने से इसकी कम मात्रा खरीदी जाती है। यदि आय में परिवर्तन के बावजूद एक वस्तु की खरीदी गई मात्रा अपरिवर्तित रहती है तो माँग की आय लोच शून्य $(Ey = 0)$ होती हैं

सामान्य वस्तुएँ तीन प्रकार की होती हैं : आवश्यकताएँ विलासताएँ और सुविधाएँ। विलासिताओं के बारे में, आय लोच का गुणांक धनात्मक परन्तु ऊँचा होता है $Eb > 1$. माँग की आय लोच ऊँची होती है जब आय में व द्धि के अनुपात से वक्र वस्तु की माँग अधिक बढ़ती है। अन्य सभी वस्तुओं की कीमतें स्थिर मानते हुए, यदि उपभोक्ता की आय में 5 प्रतिशत की व द्धि होती है और परिणामस्वरूप वस्तु के क्रय 10 प्रतिशत बढ़ते हैं, तब $Ey = 10/5 = 2$ (>1) आय को अनुलंब अक्ष पर और माँगी गई मात्रा को समानांतर अक्ष पर लेते हुए, आय में व द्धि Y_1Y_2 से माँग में व द्धि Q_1Q_2 अधिक है, जैसा कि चित्र पेनल (A) में दर्शाया गया है वक्र (A) में दर्शाया गया है। वक्र Dy धनात्मक और लोचदार आय माँग दिखाता है।

आवश्यकताओं के लिए, आय लोच का गुणांक धनात्मक परन्तु नीचा होता है, $Ey < 1$.माँग की आय लोच कम होती है जब आय में व द्धि के अनुपात में एक वस्तु की माँग कम बढ़ती है। यदि एक वस्तु पर खर्च किया गया अनुपात 2 प्रतिशत बढ़ता है जब उपभोक्ता की आय में 5 प्रतिशत की व द्धि होती है, तो $Ey = 2/5 (= <1)$ चित्र का पेनल (B) एक धनात्मक परन्तु कम लोचदार आय माँग वक्र Dy दर्शाता है क्योंकि आय में व द्धि $Y_1 Y_2$ के अनुपात से माँग में व द्धि Q_1Q_2 कम है।

सुविधाओं के लिए, आय लोच का गुणांक इकाई $(Ey = 1)$ होता है, जब आय में व द्धि के अनुपात में माँग में समान व द्धि होती है। उदाहरणार्थ, आय में 5 प्रतिशत व द्धि से माँग में भी 5 प्रतिशत होती है $Ey = 5/5 = 1$. चित्र के पेनल (C) में Dy वक्र आय की लोच इकाई दर्शाता है क्योंकि माँग में व द्धि Q_1Q_2 बिल्कुल बराबर है आय में व द्धि Y_1Y_2 के।

घटिया वस्तुओं के लिए माँग की आय लोच का गुणांक ऋणात्मक होता है एक घटिया वस्तु के लिए उपभोक्ता खरीद कम कर देगा। यदि आय में 5 प्रतिश त व द्धि से माँग 2 प्रतिशत कम हो जाती है, तो Ey = 25 (<0) पेनल (D) एक घटिया वस्तु का वक्र Dy दर्शाती है जो A से B की ओर ऊपर मुड़ता है जब आय में Y_1Y_2 की व द्धि से माँग-मात्रा $Q_1 Q_2$ कम होती है।

यदि आय के बढ़ने के साथ, माँग-मात्रा अपरिवर्तित रहती है, तो आय लोच का गुणांक Ey = 0. यदि मान लीजिए, आय में 5 प्रतिशत व द्धि से माँग में कोई परिवर्तन नहीं होता है, तो Ey = 0/5 =0 पेनल (E) शून्य लोच वाला अनुलंब आय माँग वक्र Dy दर्शाता है।

माँग की आय लोच को मापना

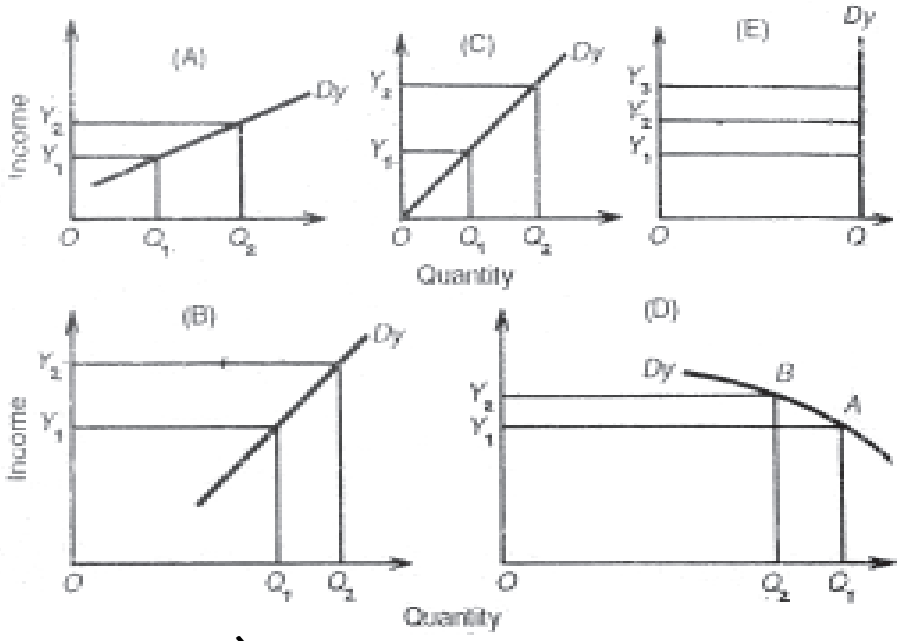

एंजिल वक्र तथा आय लोच :

ऐसे वक्र को ऐंजल वक्र कहते हैं जो आय के विभिन्न स्तरों पर उपभोक्ता द्वारा खरीदी गई एक वस्तु की मात्राओं को दर्शाता है उन्होंने यह निष्कर्ष दिया कि जैसे-जैसे आय बढ़ती है (i) मकान तथा कपड़े पर होने वाले व्यय का अनुपात स्थिर रहेगा (ii) भोजन पर होने वाले व्यय अनुपात में कमी आएगी (iii) अन्य सभी वस्तुएँ जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि व्यय अनुपात में व द्धि होगी। प्रत्येक Dy वक्र आय-मात्रा संबंध दर्शाता है। आय लोच की रेखीय ऐंजल वक्रों की सहायता से व्याख्या की हैं गैर-रेखीय ऐंजल वक्रों की आय लोच को बिन्दु फार्मूला द्वारा मापा जा सकता हैं सामान्य तीर से, ऐंजल वक्र चित्रों में दर्शाए एक $E_1 E_2$ और E_3 वक्रों की तरह लगते हैं।

1. जहाँ ऐंजल वक्र E_1 को LA रेखा बिन्दु A पर स्पर्श करती है। बिन्दु A पर माँग की आय लोच का गुणांक है।

   i. जहाँ ऐंजल वक्र E_1 को *LA* रेखा बिन्दु A पर स्पर्श करती है। बिन्दु A पर माँग की आय लोच का गुणांक है।

$$E_y = \frac{\Delta Q}{\Delta Y} \times \frac{Y}{Q} = \frac{LQ}{QA} \times \frac{QA}{OQ} = \frac{LQ}{QA}$$

यह माप दर्शाता है कि वक्र E_1 अपनी अधिकतर रेंज पर आय लोच है। जब ऐंजल वक्र धनात्मक ढलान वाला हो और E_y>1 तो यह स्थिति बिलासिता वस्तु की होती है।

ii. चित्र को लीजिए जहाँ *NB* रेखा E_1 वक्र को *B* पर आय लोच का गुणांक है

$$E_y = \frac{\Delta Q}{\Delta Y} \times \frac{Y}{Q} = \frac{NQ}{QB} \times \frac{QB}{OQ} = \frac{NQ}{OQ} < 1$$

यह दर्शाता है कि ऐंजल वक्र E_2 की आय लोच इसके अधिकतर रेंज में शून्य से अधिक लेकिन एक से कम है। जब ऐंजल वक्र धनात्मक ढलान वाला हो और E_y>1, तो वस्तु आवश्यकता होती है और आय कम लोचदार।

iii. चित्र में ऐंजल वक्र E_3 बिन्दु *B* के बाद पिछली ओर ढाल (black ward sloping) है। पिछली ओर ढाल रेंज में, एक स्पर्श रेखा *GC* बिन्दु *C* पर खींचिए। बिन्दु C पर आय लोच का गुणांक है।

$$E_y = \frac{-GQ}{GC} \times \frac{GC}{OQ} = -\frac{GQ}{OQ} < 0$$

यह माप दर्शाता है कि वक्र E_1 अपनी अधिकतर रेंज पर आय लोच है जब ऐंजल वक्र धनात्मक ढलान वाला हो और Ey >1. तो यह स्थिति विलासिता वस्तु की होती है।

2. चित्र को लीजिए जहाँ NB रेखा E_2 वक्र को B बिन्दु पर स्पर्श करती है। बिन्दु B पर आय लोच का गुणांक है।

यह दर्शाता है कि ऐंजल वक्र E_2 की आय लोच इसके अधिकतर रेंज में शून्य से अधिक लेकिन एक से कम है। जब ऐंजल वक्र धनात्मक ढलान वाला हो और Ey<1 तो वस्तु आवश्कता होती है और आय कम लोचदार।

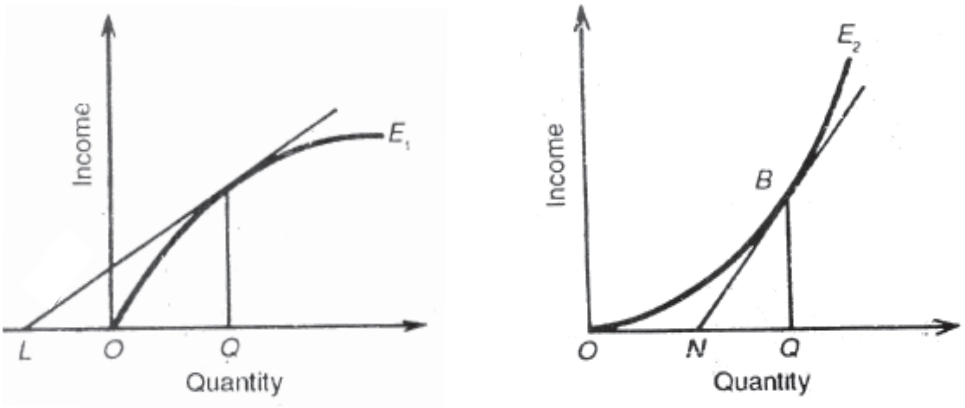

3. चित्र में ऐंजल वक्र E_3 बिन्दु B के बाद पिछली ओर ढालू है। पिछली ओर ढालू रेंज में, एक स्पर्श GC पर खींचिए। बिन्दु C पर आय लोच का गुणांक।

यह माप दर्शाता है कि जिस रेंज पर ऐंजल वक्र E_3 ऋणात्मक ढलान वाला है, Ey ऋणात्मक है और वस्तु घटिया है। परन्तु पिछली ओर मुड़ने से पहले, यह ऐंजल वक्र अपने अधिकतर रेंज में कम आय लोच होता है और आवश्यक वस्तु के बारे में बताता है।

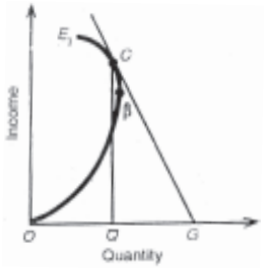

महत्त्व (Importance) - माँग की आय लोच का सिद्धान्त आवश्यक और अनावश्यक वस्तुओं में अन्तर करने में सहायक है। ऊँची आय लोच वाली वस्तुएँ विलासतापूर्ण हैं। ज्यों-ज्यों एक व्यक्ति अमीर होता जाता है, वह अपनी आय का अधिक भाग कार, आभूषण, एयर कंडीशनर आदि वस्तुओं पर खर्च करता है। माँग की कम आय लोच वाली वस्तुएँ आवश्यक होती हैं। आय में व द्धि होने पर सिगरेट, माचिस, साबुन, अखबार, जूतों आदि पर खर्च की गई आय का अनुपात कम हो जाता है। सामान्य रूप, हम यह कहते हैं कि अनावश्यक वस्तुओं के विषय में माँग की आय लोच इकाई से अधिक होती है और आवश्यक वस्तुओं के विषय में इकाई से कम। परन्तु दोनों में स्पष्ट अन्तर करना कठिन है क्योंकि एक वस्तु, जो आय के एक स्तर पर आवश्यकता की वस्तु है, आय के दूसरे स्तर पर विलासिता बन सकती है, फिर, ज्यों -ज्यों एक देश का विकास स्तर बढ़ता जाता है, कई विलासिता की वस्तुएँ सुविधाएँ आवश्यकताएँ बनती जाती हैं।

स्थानापन्नता की माँग लोच
(Demand Elasticity of substitution)

दो वस्तुओं X और Y के अनुपातों में आनुपातिक परिवर्तन का उनके कीमत-अनुपात के आनुपातिक परिवर्तन का अनुपात स्थानापन्नता की माँग लोच है। इसका संख्यात्मक गुणक

$$E_s = \frac{\text{X और Y के अनुपात में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{उनकी कीमतों के अनुपात में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$;kE_s = \frac{\Delta\left(\frac{X}{Y}\right) / \frac{X}{Y}}{\Delta\left(\frac{Px}{Py}\right) / \frac{Px}{Py}}$$

tgk¡ X/Y nks oLrqvksa X और Y के अनुपात को, $\Delta\left(\frac{X}{Y}\right)$ इन X और Y के अनुपात में परिवर्तन को, Px/Py इन X और Y के कीमत अनुपात को और $\Delta\left(\frac{Px}{Py}\right)$ उनके कीमत अनुपातों के परिवर्तन को व्यक्त करते हैं।

1. **इकाई के बराबर स्थानापन्नता-लोच (Unity substitution Elasticity)** - स्थानापन्नता की लोच का गुणांक उस समय इकाई के बराबर होता है। (Es = 1) जब X और Y की माँग के अनुपातों का आनुपातिक परिवर्तन X और Y के कीमत अनुपातों के आनुपातिक परिवर्तन के ठीक बराबर हो माना X तथा Y की मूल कीमतें रु. 10 और 12 हैं। जिन पर क्रमश 5, 4 और 6 इकाइयों की माँग की जाती है। यदि X की कीमत 8 और Y की कीमत उतनी ही रहे तो X की माँग बढ़कर 8 इकाई और Y की 10 इकाई हो जाती है। इस प्रकार,

$\frac{X}{Y}$ = , $\Delta\left(\frac{X}{Y}\right) = \frac{8}{10}$ – =

= .....(1)

और = $\frac{10}{12}$, = $\frac{8}{12} - \frac{10}{12}$ = , = $\frac{-2 / 12}{10 / 12}$ ....(2)

$$Es = \frac{2 / 15}{4 / 6} \div \frac{-2 / 12}{10 / 12} = \frac{2}{15} \times \frac{6}{4} \div -\frac{2}{12} \times \frac{12}{10} = \frac{1}{5} \times \frac{-5}{1} = 1$$

Es = 1

सरलता के लिए ऋण (minus) को चिन्ह को छोड़ दिया जाए, तो गुणक का मूल्य इकाई के बराबर है। चित्र में वक्र E दो वस्तुओं X और Y की स्थानापन्नता की इकाई लोच को प्रकट करता है।

2. **इकाई से अधिक स्थानापन्नता-लोच (Substitution Elasticity Greater than Unity) (Ex > 1)** - गुणांक Es इकाई से अधिक होता है जबकि X और Y की माँग-अनुपातों में परिवर्तन उनके कीमत अनुपातों के परिवर्तन से अनुपात में अधिक हो। ऊपर के संख्यात्मक उदाहरण को थोडा सा बदल कर इसका भी हिसाब लगाया जा सकता है। अन्य बातें पहले की भाँति स्थिर रहते हुए। यदि X की 4 इकाई की बजाए Y की माँग बढ़ कर 6 इकाई हो जाए, तो पहले की भांति $X/Y = 4/6$, परन्तु $\Delta (X/Y) = 8/6 - 4/6 = 4/6$ इस प्रकार

$$\frac{\Delta(X / Y)}{X / Y} = = \frac{4}{6} \times \frac{6}{4} = 1$$

ऊपर (2) से $\frac{\Delta(Px / Py)}{(Px / Py)}$ का मूल्य $\left(\frac{1}{5}\right)$ हमें ज्ञात है।

$$Es = 1 \div \frac{1}{5} = 1 \times \frac{5}{1} = 5 \ (>1)$$

चित्र में वक्र E_2 इकाई से अधिक स्थानापन्नता की लोच को प्रकट करता है। ऐसा तब होता है जब दो वस्तुएँ निकट स्थानापन्न हों, जैसे गंगा और सिन्थोल साबुन।

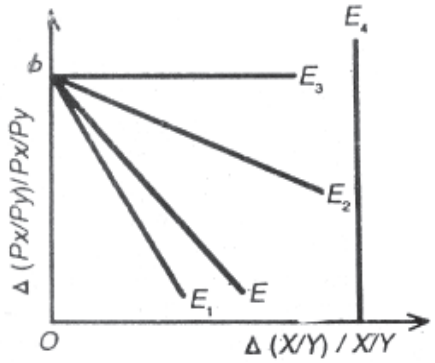

3. **इकाई से कम स्थानापन्नता-लोच** - जो वस्तुएँ घटिया स्थानापन्न हों, उनकी स्थानापन्नता की लोच इकाई से कम होती है, जैसे खांड और चाय। खांड की कीमत गिर जाने पर भी हम चाय के हर प्याले में एक दो चम्मच से अधिक खांड नहीं डाल सकते। चित्र में इकाई से कम स्थानापन्नता की लोच को प्रकट करने वाला वक्र E_1 है।

4. **शून्य स्थानापन्नता-लोच** - स्थानापन्नता की शून्य और अनन्त लोच की दो चरम स्थितियाँ भी होती हैं। जब दो वस्तुओं का निश्चित अनुपातों में प्रयोग किया जाता है तो उनका एक-दूसरी को स्थानापन्न करना सम्भव नहीं। उनके कीमत-अनुपात में कितना भी परिवर्तन क्यों न हो जाए, उनकी माँग के अनुपात में परिवर्तन शून्य रहता है। इसलिए उनके विषय में स्थानापन्नता की लोच शून्य होती है। पूरक वस्तुओं की ऐसी स्थितियाँ बहुत कम होती है। इस स्थिति में वक्र E_4 का आकार अनुलंब रेखा है।

5. **अनन्त स्थानापन्नता-लोच** ($Ex = \infty$)- दूसरी चरम स्थिति पूर्ण स्थानापन्नों की है। जब तक X की कीमत में परिवर्तन नहीं होता, X और Y दोनों की माँग रहती है। परन्तु ज्यों ही X की कीमत गिरती है, Y की कीमत स्थिर रहने पर उपभोक्ता Y के स्थान पर केवल X वस्तु को ही खरीदेगा, अर्थात् पूर्ण स्थानापन्न कर देगा। दोनों में स्थानापन्नता-लोच अनन्त है। समानान्तर वक्र E_3 स्थानापन्नता की अनन्त लोच को व्यक्त करता है।

उदासीनता वक्र विश्लेषण से स्थानापन्नता लोच की व्याख्या

उदासीनता वक्र विश्लेषण की भाषा में गुणक Es को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

$$Es = \frac{\text{X और Y के अनुपात में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{Y के लिए X की स्थानापन्नता की दर में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

दूसरे शब्दों में, स्थानापन्नता की लोच उस दर की माप करती है जिस दर पर Y की तुलना में X की स्थानापन्नता की सीमान्त दर कम होती है जबकि उपभोक्ता X की अपेक्षाक त अधिक और Y की कम मात्रा लेता है। इस प्रकार उदासीनता वक्रों की सामान्य ढलान $\left(\frac{\Delta X}{\Delta Y}\right)$ उपभोक्ता के अधिमान माप में X और Y के सापेक्ष महत्त्व को प्रकट करती है। उदासीनता वक्र जितना चपटा होगा, Y के लिए X की स्थानापन्नता की सीमान्त दर उतनी ही कम होगी। इसका अर्थ है कि Y की कम मात्रा के लिए X स्थानापन्न करता है X की एक अधिक इकाई लेने के लिए Y की कम मात्रा का त्याग किया जाता है उदासीनता वक्र पर दो वस्तुओं के विभिन्न संयोग इस प्रकार एक-दूसरे के बढ़िया स्थानापन्न हैं। Y के लिए X की स्थानापन्नता की लोच अधिक है, जैसे कि गंगा (X) और सिन्थोल साबुन (Y) में। गंगा (X) की कीमत में कमी, गंगा (X) की एक और बट्टी लेने के लिए उपभोक्ता को Y की कम मात्रा छोड़ने को प्रेरित करेगा। P से P_1 तक गति स्थानापन्नता प्रभाव को प्रकट करती है। सिन्थोल (Y) की AA_1 मात्रा की बजाए स्थानापन्न करने पर उपभोक्ता को गंगा (X) BB_1 मात्रा मिलती है। इसका ढलान $\Delta Y/\Delta X$ कम है, वक्र I चपटा हे और दो वस्तुओं की स्थानापन्नता की लोच अधिक है।

इसके विपरीत उदासीनता वक्र की ढलान जितनी तिरछी होगी, स्थानापन्नता की सीमान्त दर उतनी ही अधिक होगी। इसका अर्थ है कि X की एक अतिरिक्त इकाई लेने के लिए Y की अधिक मात्रा का त्याग किया जाएगा। इस स्थिति में Y के लिए X की स्थानापन्नता की लोच कम है। चित्र में वस्तु X की BB_1 मात्रा लेने के लिए उपभोक्ता Y की बडी मात्रा AA_1 छोड़ता है जबकि X की कीमत गिरता है। P से P_1 तक गति स्थानापन्नता प्रभाव को प्रकट करती है। $\Delta Y/\Delta X$ अपेक्षाक त बड़ा है जिसका अर्थ है कि I वक्र की ढलान अधिक तिरछी है।

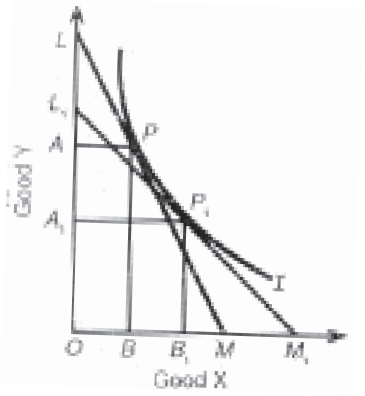

जब दो वस्तुएँ पूर्ण स्थानापन्न हों तो उदासीनता वक्र एक सरल रेखा होती है। यहाँ उदासीनता वक्र की ढलान धुर तक समान होता है और दो वस्तुओं की स्थानापन्नता की सीमान्त दर स्थिर रहती है। यदि ऐसा उदासीनता वक्र Y-अक्ष के साथ 45^0 का कोण बनाए, तो दो वस्तुओं का समान अनुपात (अर्थात् 1:1) में विनिमय होता है। दो वस्तुएँ X और Y एकरूप होती हैं और उनमें स्थानापन्नता की सीमान्त दर अनन्त होती है। क्योंकि उदासीनता वक्र कभी सरल रेखा नहीं होती, इसलिए पूर्ण स्थानापन्नों का विषय स्थानापन्नता प्रभाव के क्षेत्र से बाहर है।

कीमत लोच के सिद्धान्त का महत्त्व
(Importance of the Concept of Price Elasticity)

आर्थिक नीतियों के निर्माण और आर्थिक समस्याओं को समझने के लिए कीमत लोच के सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्त्व बहुत अधिक है।

1. **एकाधिकार कीमत निर्धारण में** - अपनी वस्तु की कीमत निर्धारित करते समय एकाधिकारी इसकी माँग की लोच को ध्यान में रखता है। यदि उसकी वस्तु की माँग लोचदार हो, तो वस्तु की कम कीमत नियत करने से उसे अधिक लाभ होगा। यदि माँग कम लोचदार तो, तो वह वस्तु की ऊँची कीमत नियत कर सकने की स्थिति में होता है यदि अन्य उत्पादकों की अपेक्षा उसकी वस्तु की माँग अधिक लोचदार है, तो वह अपनी वस्तु की कीमत कम करके अधिक ग्राहकों को आकर्षित कर सकता है। दूसरी ओर यदि वह अपनी वस्तु की कीमत को बढ़ा दे, तो अपेक्षाक त कम लोचदार माँग उपभोक्ताओं को उसे छोड़ने को प्रेरित नहीं करेगी।

2. **एकाधिकारात्मक विभेद में कीमत-निर्धारण** - एकाधिकारात्मक विभेद के अन्तर्गत दो भिन्न मार्किटों में एक ही वस्तु के कीमत-निर्धारण की समस्या भी हर मार्किट में माँग की लोच पर निर्भर करती है। विभेदक एकाधिकारी उस मार्किट में, जहाँ उसकी वस्तु की माँग अधिक लोचदार होती है, कम कीमत नियत करता है और उस मार्किट में जहाँ माँग कम लोचदार होती है, ऊँची कीमत वसूल करता है।

3. **सार्वजनिक उपयोगिता-सेवाओं की कीमतें निर्धारण में** - जिन सेवाओं की माँग बेलोच होती है, उनकी ऊँची कीमत वसूल की जाती है और लोचदार माँग वाली सेवाओं की अपेक्षाक त कम कीमत होती है। उदाहरण के लिए घरेलू प्रयोग के लिए बिजली की माँग कम लोचदार होती है, इसलिए राज्य बिजली बोर्ड ऊँची दरे नियत करते हैं। बोर्डों को पता है कि बिजली के सुविधाजनक स्थानापन्न नहीं मिलते। परन्तु फैक्ट्रियों और अन्य उत्पादक संस्थाओं के कम दरें वसूल की जाती है क्योंकि अधिकारी जानते हैं कि कोयला शक्ति, तेल या डीजल शक्ति जैसे बढ़िया स्थानापन्न मौजूद हैं।

4. **संयुक्त वस्तुओं की कीमतों के निर्धारण में** - ऊन और गोश्त, गेहूँ और चारा, रुई और बिनौला जैसी संयुक्त वस्तुओं की कीमतें निर्धारित करने के लिए माँग की लोच के सिद्धान्त का बहुत प्रयोग होता है। ऐसी स्थितियों में हर वस्तु के उत्पादन की अलग लागत का पता नहीं होता। इसलिए उसकी माँग की लोच के आधार पर हर वस्तु की कीमत नियत की जाती है। यही कारण है कि गौण उत्पादनों के रूप में प्राप्त होने वाली गोश्त, चारा और बिनौले जैसी लोचदार माँग की वस्तुओं की अपेक्षा

ऊन, गेहूँ और रुई जैसी कम लोचदार माँग की वस्तुओं की कीमत बहुत ऊँची होती है।

5. **मजदूरी निर्धारण में** - एक विशेष प्रकार के श्रम की मजदूरी निर्धारित करने में भी माँग की लोच का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। यदि एक उद्योग में श्रम की माँग लोचदार है, तो मजदूरी बढ़ाने के लिए हड़तालें तथा अन्य श्रम-संगठन व्यर्थ सिद्ध होंगे और यदि श्रम के लिए माँग बेलोच है, तो श्रम-संगठन द्वारा की गई हड़ताल की धमकी ही मालिकों को उद्योग में काम करने वाले श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाने को मजबूर कर देगी।

6. **प्रवर्त्तक लोच का आधार है** - लोच के सिद्धान्त का ज्ञान ही उत्पादकों को अपनी वस्तुओं की विज्ञान पर मुद्रा की बहुत बड़ी मात्रा खर्च करने की प्रेरणा देता है। क्योंकि वे जानते हैं कि विज्ञापन वस्तु की माँग को कम लोचदार बना देता है, जिससे कीमत बढ़ाने पर उसके विक्रय में कमी नहीं होगी। यह प्रवर्त्तक लोच के सिद्धान्त को जन्म देता है जो विज्ञापन और अन्य प्रवर्तक खर्चों से विक्रय की मात्रा के अनुपात को मापता है।

$$\text{प्रवर्त्तक लोच} = \frac{\text{विक्रय में परिवर्तन}}{\text{विक्रय का जोड़}} \times \frac{\text{प्रवर्त्तक खर्चो का जोड़}}{\text{प्रवर्त्तक खर्चो में परिवर्तन}}$$

7. **माँग की लोच का सरकारी नीतियों में महत्त्व** - अब हम विभिन्न क्षेत्रों में सरकार की नीतियों के निर्माण में माँग की लोच के सिद्धान्त के प्रयोग पर विचार करेंगे :

i. **संरक्षण प्रदान करते समय** - सरकार उन उद्योगों की वस्तुओं की माँग की लोच पर विचार करती है जो आर्थिक सहायता या संरक्षण की प्रार्थना करते हैं। आर्थिक सहायता या संरक्षण उन्हीं उद्योगों को दिया जाता है जिनकी वस्तुओं की माँग लोचदार होती है। फलस्वरूप वे विदेशी प्रतियोगिता का सामना नहीं कर सकते जब तक कि आर्थिक सहायता (Subsidy) से उनकी कीमत न घटा दी जाए अथवा भारी शुल्क लगातार आयात वस्तुओं की कीमत न बढ़ा दी जाए।

ii. **सार्वजनिक उपयोगिता का निर्णय करते समय** - सरकार का कुछ उद्योगों को सार्वजनिक उपयोगिताएं घोषित करने का निर्णय उनकी वस्तुओं की माँग की लोच कर निर्भर करती है। विभेदक एकाधिकारी उस मार्किट में, जहाँ उसकी वस्तु की माँग अधिक लोचदार होती है, कम कीमत नियत करता है और उस मार्किट में जहाँ माँग कम लोचदार होती है, ऊँची कीमत वसूल करता है।

iii. **यह प्रचुरता में दरिद्रता के विरोधाभास की व्याख्या करता है** - निजी उपक्रम अर्थव्यवस्थाओं का एक बड़ा परस्पर विरोधाभास की व्याख्या करता है - निजी उपक्रम अर्थव्यवस्थाओं का एक बड़ा परस्पर विरोधात्मक विरोधाभास प्रचुरता में दरिद्रता है। यदि वस्तु की माँग बेलोच हो तो एक अच्छी फसल उगाने वालों के लिए सम द्धि लाने की बजाए तबाही का कारण बन सकती हैं उदाहरणार्थ, गेहूँ की माँग बेलोच होती है, इसलिए अच्छी फलल उल्टे गेहूँ की कीमत को बहुत नीचे ले जाएगी। ऐसी स्थिति में किसानों को नुकसान रहेगा क्योंकि अच्छी फसल से प्राप्त उनका कुल आगम कम फसल से प्राप्त उनका

कुल आगम कम होगा। इसे चित्र में दिखाया गया है। D माँग वक्र है और S एक साधारण गेहूँ की फसल का पूर्ति वक्र है। E बिन्दु पर उनका संतुलन OP कीमत निर्धारित करता है। जिस पर OQ मात्रा खरीदी और बेची जाती है। प्रारम्भ में कुल आगम OPEQ था और अच्छी फसल के बाद जब गेहूँ की मात्रा OQ_1 होती है तो आगम $OP_1E_1O_1$ आयातों का अन्तर कुल आगम में कमी को व्यक्त करता है जो गेहूँ की पूर्ति बढ़ने से हुई है।

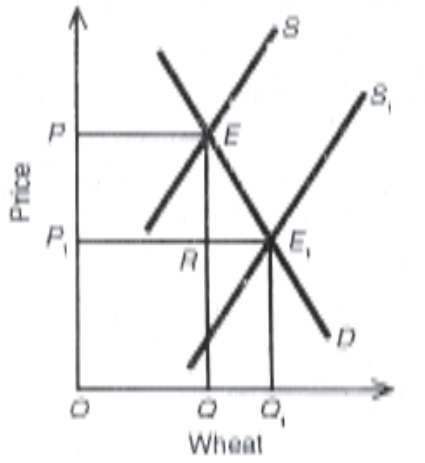

चित्र 13.20

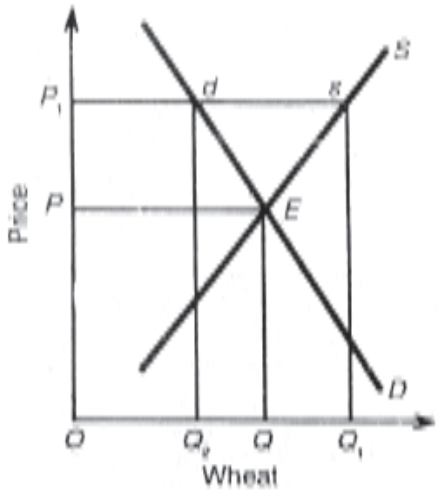

iv. **क षि वस्तुओं की न्यूनतम कीमतें निश्चित करने में** - खेतों की उपज के लिए न्यूनतम कीमतों की गारंटी की नीति, कीमत-समर्थक प्रोग्राम (price support programme) और बम्फर स्टॉक बनाने की सरकार की नीतियों का उद्देश्य क षि की कीमतों को स्थिर करना, अच्छी फसल के प्रभाव को शून्य बनाना और किसानों को अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहित करना है प्रत्याभूत (guaranteed) न्यूनतम कीमतें किस प्रकार किसानों की बिना कुल आय में नुकसान के अपनी खेतों की उपज बेचने में सहायता देती हैं इसे चित्र में दिखाया गया है। मान लीजिए कि पिछले वर्ष गेहूं की संतुलन कीमत OP थी

जिस पर OQ मात्रा खरीदी और बेची गई थी। गेहूँ की बम्पर फसल संभावना में सरकार वर्तमान वर्ष के लिए न्यूनतम कीमत OP_1 निर्धारित करती है। परन्तु इस कीमत पर पूर्ति की मात्रा OQ_1 और माँगी गई मात्रा OQ_2 होगी। अपनी कीमत नीति को प्रभावशाली बनाने के लिए सरकार को मार्किट से OP_1 कीमत पर गेहूं की $Q_2Q_1 = (=ds)$ मात्रा खरीदनी पड़ेगी और साथ की बफर स्टॉक बनाना पड़ेगा।

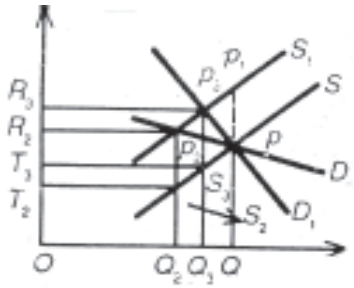

8. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याओं में महत्त्व** - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जटिल समस्याओं -जैसे आयात और निर्यात का परिणाम, व्यापार की शर्तें, व्यापार से लाभ, आयात-निर्यात कर के प्रभाव और भुगतान-शेष का विश्लेषण करने में माँग की लोच का व्यावहारिक महत्त्व बहुत अधिक है।

   i. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ निर्धारण में** - व्यापार की शर्तें उस दर का निर्देश करती हैं जिस पर कोई देश अपने निर्यात का दूसरे देश की आयात में विनिमय करती है। एक-दूसरे की वस्तुओं के लिए दो देशों की माँग की सापेक्ष लोचें उस सही दर से निर्धारित करेंगी जिस पर विनिमय होगा। और व्यापार में लाभ, अन्य बातों के अतिरिक्त, माँग की लोच और व्यापार की शर्तों पर निर्भर करेगा। यदि हम कम लोचदार माँग की वस्तुओं को निर्यात और अधिक लोचदार माँग की वस्तुओं का आयात करेंगे, तो हमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ होगा। पहली स्थिति में हम अपनी वस्तुओं की ऊँची कीमत वसूल कर सकेंगे और दूसरी स्थिति में हम दूसरे देशों से प्राप्त वस्तुओं की कम कीमत देंगे। इस प्रकार हमें दोनों तरह से लाभ होता है। और हम अपनी निर्यात और आयात की मात्रा बढ़ा सकेंगे।

   ii. **अवमूल्यन की नीति का आधार** - जो देश अवमूल्यन के द्वारा अपने प्रतिकूल भुगतान-शेष को ठीक करने का विचार कर रहा है। उसके लिए आयात और निर्यात की माँग की लोच पर ध्यान देना आवश्यक है। जो देश अवमूल्यन करता है उसका निर्यात सस्ता और आयात महँगा हो जाएगा। मान लीजिए कि हम अवमूल्यन करते हैं तो इसका पहला प्रभाव यह होगा कि हमारी आयात की कीमतें बढ़ जाएगी और हम अपनी आयात कम करने को प्रव त्त होंगे। दूसरी ओर, विदेश में हमारी निर्यात की कीमत कम होने से हम अधिक निर्यात करेंगे परन्तु यह इस बात पर निर्भर करेगा कि विदेशियों के लिए हमारी वस्तुओं की माँग की लोच कितनी है। इस प्रकार की सीमा, जिस तक हम अपनी विदेशीय विनियम की आमदनी और खर्च के अन्तर को कम कर सकते हैं, हमारी निर्यात और आयात की माँग की लोचों पर निर्भर करती है।

उपभोक्ता की बचत
(Consumer's Surplus)

परिचय

उपभोक्ता की बचत का सिद्धांत कल्याणावादी आर्थिक विश्लेषण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करता है। इस सिद्धांत को प्रतिपादित करने का श्रेय प्रायः डॉ मार्शल को दिया जाता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि इस सिद्धांत की कल्पना, सर्वप्रथम सन् 1844 में एक फ्रांसीसी अर्थशास्त्री एवं अभियन्ता द्वारा की गई थी। उनका नाम था आरसेने यूल्ज दूपू (ड्यूपिट)। उन्होंने एक बार फ्रांस में एक नदी पर पुल का निर्माण करवाया था। इस पुल के परिणामस्वरूप जनता को होने वाली उपभोक्ता की बचत को उन्होंने मापने का प्रयास भी किया था। लेकिन उपभोक्ता की बचत की धारणा की उस समय जो परिभाषा उन्होंने प्रस्तुत की थी, वह न केवल अपूर्ण थी, बल्कि उसमें वैज्ञानिकता का भी अभाव था। उदाहरणार्थ, उन्होंने उन सभी मान्यताओं को स्पष्टतः प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया था जिन पर यह धारणा आधारित थी। डॉ॰ मार्शल ने इस धारणा को न केवल वैज्ञानिक स्वरूप ही प्रदान किया, बल्कि इसमें निहित त्रुटियों को भी दूर करने का प्रयास किया था। डॉ॰ मार्शल ने सन् 1879 में 'उपभोक्ता का लगान' नामक शीर्षक के अन्तर्गत इस धारणा के प्रथम स्वरूप को अपनी पुस्तक (Pure Theory of Domestic Values) में प्रस्तुत किया था। आगे चलकर अपने महान् ग्रन्थ (Principal of Economics) में उन्होंने इस धारणा को और अधिक विकसित करके इसे "उपभोक्ता की बचत" नाम दिया था। हाल ही के वर्षो में प्रो॰ बोल्डिग ने इसे "क्रेता की बचत" कहकर सम्बोधित किया है।

उपभोक्ता की बचत की धारणा की व्याख्या

सीमान्त उपयोगिता_ह्रास नियम के अनुसार, एक निश्चित बिन्दु के उपरान्त वस्तु की प्रत्येक पूर्वगामी इकाई की तुलना में उपभोक्ता को कम सन्तुष्टि प्रदान करती है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु की तीन इकाइयाँ 1 रुपये प्रति इकाई की दर से खरीदता है तो वस्तु की प्रथम इकाई दूसरी इकाई की अपेक्षा उसे अधिक सन्तुष्टि प्रदान करेगी। इसी प्रकार, दूसरी इकाई तीसरी इकाई की अपेक्षा उपभोक्ता को अधिक सन्तुष्टि उपलब्ध न होती। चूँकि वह 1 रुपये से तीसरी इकाई खरीद लेता है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि पहली एवं दूसरी इकाइयों से उसे 1 रुपये से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। वस्तु की प्रथम इकाइयों से उपभोक्ता को जो अतिरिक्त सन्तुष्टि प्राप्त होती है, उसे हम उपभोक्ता की बचत कह सकते हैं। उपभोक्ता की बचत की धारणा बहु-इकाई वस्तु पर ही नहीं, बल्कि ऐकिक इकाई वस्तु पर भी लागू होती है। उदाहरणार्थ, यदि बिजली के लैम्प के लिए आवश्यकता पड़ने पर कोई व्यक्ति 35 रुपये तक देने के लिए तैयार हो जाता है, लेकिन वह इसे, वास्तव में, 30 रुपये पर ही प्राप्त कर लेता है, तो उसे 5 रुपये के बराबर उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है।

वास्तविक जीवन में जब कोई व्यक्ति कोई वस्तु खरीदता है जो उस वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता उसका लाभ होता है और उस वस्तु के लिए जो कीमत वह चुकाता है, वह उसकी हानि को व्यक्त करती है। उपभोक्ता द्वारा चुकाई गई कीमत ऐसी अन्य वस्तुओं को भी व्यक्त करती है जो वस्तु विशेष के स्थान पर खरीदी जा सकती थी। अतः यह कीमत उस

उपयोगिता को व्यक्त करती है जिसका वर्तमान वस्तु खरीदने हेतु उपभोक्ता परित्याग करता है। दूसरे शब्दों में, यह कीमत उस अनुपयोगिता को प्रकट करती है जिसे वह इस वस्तु को खरीदने में अनुभव करता है। प्रत्येक विचारशील उपभोक्ता वस्तु की उपयोगिता (लाभ) की तुलना उस अनुपयोगिता अथवा कीमत (हानि) से कम है तो वह वस्तु खरीदने से इन्कार कर देगा। सामान्यतया उपभोक्ता वस्तु को तभी खरीदता है जब उसकी उपयोगिता उस कीमत से अधिक होती है जो वह, वास्तव में, वस्तु के लिए चुकाता है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता वस्तु को तभी खरीदता है जब उसे इसके उपभोग से अतिरिक्त उपयोगिता अथवास सन्तुष्टि प्राप्त होने की आशा होती है। इस अतिरिक्त उपयोगिता अथवा सन्तुष्टि को ही 'उपभोक्ता की बचत' कहा जाता है। 'उपभोक्ता की बचत' उपयोगिता का वह आधिक्य है जो उपभोक्ता को किसी वस्तु का क्रय करते समय उसके द्वारा अनुभव की गई उपयोगिता की तुलना में उपलब्ध होती है। इसको मापना सरल है। किसी वस्तु से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो अधिकतम कीमत उसके लिए चुकाने को तैयार है और जो कीमत, वास्तव में, वह उसके लिए चुकाता है, इन दोनों कीमतों के अन्तर को ही 'उपभोक्ता की बचत' कहते हैं। डॉ॰ मार्शल ने इसकी परिभाषा इन शब्दों में की है: "उपभोक्ता किसी वस्तु से वंचित रहने की अपेक्षा उस वस्तु के लिए वास्तव में दिए गए मूल्य के अतिरिक्त जो अधिक मूल्य देने को तैयार हो जाता है, वह इस अधिक सन्तुष्टि की आर्थिक माप है और इसको उपभोक्ता की बचत कहा जाता है।"

वास्तविक जीवन में बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनसे उपभोक्ता को अतिरिक्त सन्तुष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार की वस्तुओं के लिए उपभोक्ता जो कुछ चुकाता है, उससे कहीं अधिक उसे उनसे सन्तुष्टि प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, नमक, समाचार-पत्र, चीनी, बिजली, परिवहन आदि सस्ती वस्तुओं से उपभोक्ता को पर्याप्त अतिरिक्त सन्तुष्टि प्राप्त होती है। विकसित देशों में उपभोक्ताओं को अधिक मात्रा में उपलब्ध होती हैं। वस्तुएँ उन्हें सस्ते दामों पर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। वास्तव में, 'उपभोक्ता की बचत' किसी देश में उपभोक्ताओं को उपलब्ध होने वाले अवसरों का परिणाम ही होती है। अल्प-विकसित एवं पिछड़े हुए देशों की अपेक्षा विकसित देशों में ये अवसर लोगों को अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। उपभोक्ता की बचत, वास्तव में, पूर्णतः पर्यावरण की उपज होती हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश की सरकार समाचार-पत्रों का प्रकाशन बन्द कर देती है, तो उस देश वासियों को निश्चय ही 'उपभोक्ता की बचत' की हानि होगी। जो मुद्रा-राशि लोग समाचार-पत्रों पर यह धनराशि इसलिए व्यय कर रहे थे क्योंकि अन्य वस्तुओं की तुलना में उन्हें समाचार-पत्रों से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती थी। अतः समाचार-पत्रों का प्रकाशन बन्द हो जाने से निश्चय ही लोगों की 'उपभोक्ता की बचत' में कमी हो जाएगी। इसी प्रकार, यदि सरकार नमक पर उत्पादन-कर लगा देती है तो इसकी कीमत बढ़ जाएगी। परिणामतः लोगों को नमक से उपलब्ध होने वाली 'उपभोक्ता की बचत' घट जाएगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति द्वारा प्राप्त 'उपभोक्ता की बचत' सारतः उसके अपने कार्यो से निर्धारित नहीं होती। यह तो 'अवसरों', 'स्थितियों' एवं 'पर्यावरणों' की उपज है। अतः 'उपभोक्ता की बचत' तो एक सामाजिक घटना है जो व्यक्तिगत कारणों की अपेक्षा सामाजिक तत्त्वों से अधिक प्रभावित होती है।

ऐकिक इकाई-क्रय पर उपभोक्ता की बचत

यह समझना कठिन नहीं है कि उपभोक्ता द्वारा खरीदी गई वस्तु की एक इकाई पर 'उपभोक्ता की बचत' कैसे उत्पन्न होती है। आइए, हम मान लें कि किसी विशेष प्रकार के रेडियो-सैट से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता उसके लिए 600 रुपये देने को तैयार है। लेकिन, वास्तव में, बाजार में रेडियो-सैट 400 रुपये पर ही उपलब्ध है। अतः इस उदाहरण में 'उपभोक्ता की बचत' 600-400=200 रुपये है।

बहु-इकाई वस्तु पर उपभोक्ता की बचत

आइए, अब एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लें जो किसी निश्चित कीमत पर एक ही वस्तु की कई इकाइयाँ खरीदता है। जो कीमत उपभोक्ता वस्तु की सभी इकाइयों के लिए चुकाता है वह, वास्तव में, वस्तु की सीमान्त इकाई की उपयोगिता की ही माप करती है। दूसरे शब्दों में, वह कीमत-वस्तु की सीमान्त उपयोगिता के ही बराबर होती है। लेकिन सीमान्त इकाई से पूर्व की इकाइयों (जिन्हें हम सीमान्त अभ्यन्तर इकाइयाँ भी कह सकते हैं) पर उपभोक्ता द्वारा चुकाई गई कीमत के ऊपर वह आधिक्य प्राप्त करता है। सभी सीमान्त अभ्यन्तर इकाइयों पर उपलब्ध होने वाली बचतों के जोड़ को 'उपभोक्ता की बचत' कहते हैं। आइए, अब हम एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लें जिसकी चीनी के लिए सीमान्त उपयोगिता अग्रांकित सारणी के अनुसार है।

रेखाक ति द्वारा स्पष्टीकरण

यहाँ हम यह मान लेते हैं कि चीनी की बाजार-कीमत 13 रुपये प्रति किलोग्राम है। इस कीमत पर उपभोक्ता 5 किलोग्राम चीनी खरीदता है। इसका कारण यह है कि इस मात्रा के खरीदने पर चीनी की कीमत उपभोक्ता द्वारा प्राप्त की गई सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाती है। दूसरे शब्दों में, 5 किलोग्राम चीनी खरीदने पर कीमत एवं सीमान्त उपयोगिता में पूर्ण समानता स्थापित हो जाती है। अतः पहले चार किलाग्रामों पर उपभोक्ता को उपयोगिता का आधिक्य प्राप्त होता है। इस परिस्थति को हम रेखाक ति द्वारा निरूपित कर सकते हैं। रेखाक ति में DD को उपभोक्ता का सीमान्त उपयोगिता वक्र है। से हम उपभोक्ता की सीमान्त उपयोगिता भी है। QM वस्तु की कीमत है। OM वस्तु की वह मात्रा है जिसे उपभोक्ता खरीदता है। QM उपभोक्ता की सीमान्त उपयोगिता भी है। इस प्रकार जब उपभोक्ता OM मात्रा खरीदता है तो उसके लिए जो कीमत वह चुकाता है, वह उसके द्वारा प्राप्त सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है। दूसरे शब्दों में, जब OM मात्रा खरीदी जाती है तो कीमत एवं उपयोगता के बीच समानता स्थापित हो जाती है। लेकिन पहले वाली इकाइयों पर उसे उपयोगिता का आधिक्य प्राप्त होता है जो इस रेखाक ति में DNQ द्वारा व्यक्त किया गया है। OM मात्रा पर उपभोक्ता द्वारा प्राप्त कुल उपयोगिता को रेखाक ति में OMQD क्षेत्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। लेकिन OM मात्रा के लिए चुकाई गई कुल धनराशि OMQN क्षेत्र द्वारा व्यक्त की गई है। दोनों के बीच का अन्तर (OMQD-OMQN) DNQ है। इसे हम 'उपभोक्ता की बचत' कह सकते हैं।

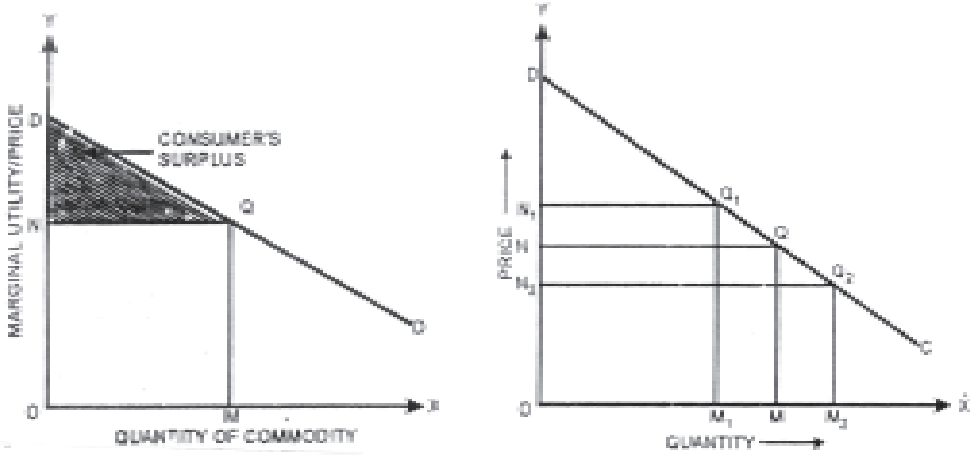

चीनी की मात्रा (किग्रा में)	सीमान्त उपयोगिता	वास्तविक मूल्य	उपभोक्ता की बचत
1	20	13	20 - 13 = 7
2	18	13	18 - 13 = 5
3	16	13	16 - 13 = 3
4	14	13	14 - 13 = 1
5	13	13	13 - 13 = शून्य
6	11	13	11 - 13 = -2

स्मरण रहे, वस्तु की कीमत एवं उपभोक्ता की बचत के बीच विपरीत सम्बन्ध होता है। यदि वस्तु की कीमत गिरती है तो उपभोक्ता की बचत बढ़ जाती है। इसके विपरीत, यदि वस्तु की कीमत बढ़ती है तो उपभोक्ता की बचत घट जाती है। रेखाक ति में यह प्रदर्शित किया गया है। जब वस्तु की कीमत ON होती है तो उसे उपलब्ध होने वाली उपभोक्ता की बचत DNQ होती है। लेकिन जब कीमत बढ़कर ON हो जाती है तो उपभोक्ता की बचत घटकी DN_1Q_1 हो जाती है। जब कीमत घटकर ON_2 हो जाती है तो उपभोक्ता की बचत DN_2Q_2 हो जाती है। इसकी व्याख्या हम सरलता से कर सकते हैं। जब कीमत बढ़ती है तो उपभोक्ता जो कीमत चुकाता है और जो कीमत चुकाने के लिए तैयार है, इन दोनों राशियों का अन्तर कम हो जाता है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत की मात्रा घट जाती है। इसी प्रकार, जब कीमत गिर जाती है तो जो कुछ उपभोक्ता चुता है और जो कुछ वह चुकाने के लिए तैयार रहता है, इन दोनों राशियों का अन्तर बढ़ जाता है और उसके साथ ही उपभोक्ता की बचत भी बढ़ जाती है।

बाजार में उपभोक्ता की बचत

व्यक्ति विशेष के सन्दर्भ में उपभोक्ता की बचत की धारणा का अध्ययन करने के उपरान्त अब हम इस धारणा को समूचे बाजार पर लागू करेंगे। यदि कुछ समय के लिए हम यह भूल जाएं कि एक समान धनराशि विभिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न उपयोगिताएँ व्यक्त करती है अथवा कुछ समय के लिए हम फैशनों, आस्वादों एवं आमदनियों के अन्तःवैयक्तिक अन्तरों की उपेक्षा कर दें तो समूचे बाजार में उत्पन्न होने वाली 'उपभोक्ता की बचत' की हम माप कर सकते हैं। माप करने की प्रक्रिया अत्यन्त सरल है। यदि सभी क्रेताओं द्वारा व्यक्तिगत रूप में प्राप्त की गई 'उपभोक्ता की बचतों' को जोड़ से बाजार माँग-वक्र खींचा जाता है, ठीक

उसी प्रकार व्यक्तिगत उपभोक्ताओं की बचतों को जोड़ने से कुल उपभोक्ता की बचत निकाली जा सकती है। अध्ययन विधि वही है। केवल व्यक्गित माँग वक्र से प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। उपर्युक्त रेखाक ति में व्यक्तिगत उपभोक्ता की बचत की व्याख्या की गई है। यदि व्यक्तिगत माँग-वक्र को बाजार माँग-वक्र मान लें तो इसी रेखाक ति से बाजार की उपभोक्ता बचत की व्याख्या की जा सकती है।

उपभोक्ता की बचत धारणा की मान्यताएँ

डॉ॰ मार्शल ने उपभोक्ता की बचत की धारणा को अनेक मान्यताओं पर निर्मित किया है। ये मान्यताएँ निम्नलिखित हैं:

1. इस धारणा को विकसित करते समय डॉ॰ मार्शल ने यह मान लिया था कि उपयोगिता एवं सन्तुष्टि के बीच निश्चित सम्बन्ध होता है। जिसका पहले हम व्याख्या कर चुके हैं। उपयोगिता से अभिप्राय है आशंसित सन्तुष्टि। जबकि सन्तुष्टि, बहुधा वस्तु की उपयोगिता एवं सन्तुष्टि में अन्तर पाया जाता है। जब व्यक्तिगत उपभोक्ता किसी वस्तु को खरीदता है तो उस समय वस्तु से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है, यद्यपि उपभोक्ता की बचत की धारणा की विवेचना करते समय डॉ॰ मार्शल स्पष्टतः इस मान्यता की चर्चा नहीं करते लेकिन फिर भी यह मान्यता उनके समूचे माँग-सिद्धांत का आधार है अतएव यह मान्यता उपभोक्ता की बचत के सिद्धांत का अभिन्न अंग है।

2. चूँकि उपभोक्ता की बचत माँग-वक्र से निकलती है, अतः इस पर वे सभी मान्यताएँ क्रियाशील होती हैं जिन पर माँग-वक्र आधारित है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, माँग-वक्र की मुख्य मान्यता यह है कि कीमत को छोड़कर माँग के अन्य निर्धारक अपरिवर्तित ही रहते हैं। अतः किसी वस्तु की विभिन्न मात्राओं की उपभोक्ता की बचत को मापते समय डॉ॰ मार्शल कीमत परिवर्तनों की ओर तो ध्यान देते हैं लेकिन माँग के अन्य निर्धारकों की उपेक्षा कर देते हैं।

3. तीसरी मान्यता यह है कि जब कोई व्यक्तिगत उपभोक्ता किसी वस्तु को खरीदता है तो विनिमय-प्रक्रिया के दौरान उसके लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है। दूसरे शब्दों में, जब वह मुद्रा के बदले कोई वस्तु खरीदता है तो मुद्रा से प्राप्त होने वाली उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती नहीं है, बल्कि विनिमय-प्रक्रिया के दौरान स्थिर रहती है। वास्तव में, यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मान्यता है। डॉ॰ मार्शल का समूचा कीमत-विश्लेषण इसी मान्यता पर आधारित है। डॉ॰ मार्शल के लिए इस मान्यता को अपनाना अनिवार्य ही था। इसके बिना वस्तु से उपलब्ध होने वाली उपयोगिता की तुलना वह उस अनुपयोगिता अथवा वस्तु के लिए चुकाई गई कीमत से तुलनात्मक उचित ही ठहराया था। उनका कहना था कि किसी विशेष समय पर किसी वस्तु पर व्यक्तिगत उपभोक्ता द्वारा किया गया व्यय साधारणतया इतना कम होता है कि वह उसके कुल व्यय का एक छोटा-सा अंश होता है। अतएव विनिमय-प्रक्रिया के दौरान मुद्रा की सीमान्त उपयोगता को सरलता से स्थिर माना जा सकता है।

4. उपभोक्ता की बचत की धारणा की चौथी मान्यता यह है कि किसी वस्तु की उपयोगिता केवल उसकी मात्रा पर ही निर्भर होती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक वस्तु

को एक स्वतंत्र वस्तु ही मान लिया जाता है। उदाहरणार्थ, यह मान लिया जाता है कि चाय की उपयोगिता केवल उसकी मात्रा से ही निर्धारित होती है, सम्बन्धित वस्तुओं की मात्राओं से नहीं।

5. डॉ॰ मार्शल यह भी मान लेते हैं कि विचाराधीन वस्तु के किसी प्रकार के कोई स्थानापन्न नहीं है अथवा विचाराधीन वस्तु सम्बन्धित वस्तुओं से पूर्ण स्वतंत्र है। इस प्रकार की मान्यता माँग-वक्र का निर्माण करने हेतु डॉ॰ मार्शल के लिए अनिवार्य ही थी। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया था कि यदि किसी वस्तु के स्थानापन्न हैं तो उनका सामूहीकरण कर उन्हें एक ही वस्तु मान लेना चाहिए।

6. समूचे बाजार की उपभोक्ता की बचत का अनुमान लगाते समय डॉ॰ मार्शल ने यह मान लिया था कि क्रेताओं में आय, आस्वाद एवं फैशन सम्बन्धी अन्तर नहीं पाए जाते हैं। चूँकि बाजार में क्रेताओं की संख्या अत्यधिक होती है, अतः क्रेताओं के ये अन्तर स्वतः ही एक-दूसरे से रद्द हो जाते हैं। डॉ॰ मार्शल के लिए यह मान्यता भी अनिवार्य ही थी क्योंकि इसके बिना वह समूचे बाजार में उपभोक्ता की बचत की मात्रा की माप नहीं कर सकते थे।

उपभोक्ता की बचत धारणा की आलोचनाएँ

आलोचकों द्वारा उपभोक्ता की बचत की धारणा की कटु आलोचना की गई है। कहा गया है कि डॉ॰ मार्शल ने अपने इस सिद्धांत का निर्माण कुछ प्रश्नास्पद मान्यताओं के आधार पर किया है। ये मान्यताएँ कुछ ऐसी हैं जो वास्तविक जीवन में सही नहीं उतरती हैं। यदि ये मान्यताएँ ही प्रश्नास्पद हैं तो इनके आधार पर निर्मित उपभोक्ता की बचत का सिद्धांत कैसे सही अथवा मान्य हो सकता है?

1. आलोचकों के अनुसार, डॉ॰ मार्शल की यह मान्यता कि उपयोगिता एवं सन्तुष्टि के बीच निश्चित सम्बन्ध होता है, हमारे अनुभव के विपरीत है। सन्तुष्टि उपयोगिता की सदैव अनुपाती नहीं होती अथवा दोनों के बीच कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं होता। आइए, एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लें जो 80 पैसे से एक पपीता खरीदता है। वह समझता है कि इसकी उपयोगिता 90 पैसे के बराबर होगी। अतः 10 पैसे के बराबर उसे 'उपभोक्ता की बचत' प्राप्त होगी। अब, मान लीजिए कि जब वह इसे काटकर खाता है तो उसे पता चलता है कि पपीता इतना अच्छा नहीं है जितना कि उसने समझा था और उससे उत्पन्न सन्तुष्टि 70 पैसे के बराबर ही है। उसकी आशंसित 10 पैसे की 'उपभोक्ता की बचत' अब 10 पैसे की 'उपभोक्ता की क्षति' में परिवर्तित हो जाती हैं यदि हम उपयोगिता पर विचार करें तो यह 'उपभोक्ता की बचत' का उदाहरण है। डॉ॰ मार्शल की यह मान्यता कि सन्तुष्टि उपयोगिता की प्रत्यक्ष अनुपाती होती हैं, वास्तविक व्यवहार में सही नहीं उतरती।

2. आलोचकों ने डॉ॰ मार्शल की इस दूसरी मान्यता को भी चुनौती दी है कि उपभोक्ता की बचत को मापते समय कीमत को छोड़कर माँग के सभी अन्य निर्धारक अपरिवर्तित ही रहते हैं। इस मान्यता को अयथार्थ समझा जाता है क्योंकि वास्तविक जीवन में माँग के सभी निर्धारक अपरिवर्तित नहीं रहते हैं। कीमत की भाँति उनमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। अतः उपभाक्ता की बचत की माप निश्चय ही माँग के गैर-कीमत निर्धारकों से प्रभावित होती है। मान लीजिए, सरकार वनस्पति घी की

खरीद पर रोक लगा देती है। इससे स्वभावतः ही लोगों को 'उपभोक्ता की बचत' की हानि होगी। इस हानि को हम a से व्यक्त करते हैं। अब हम यह मान लेते हैं कि उपलब्ध होना बन्द हो जाता है। देशी घी की अनुपलब्धि से लोगों की 'उपभोक्ता की बचत' की हानि को हम b से व्यक्त कर सकते हैं। लेकिन a+b 'उपभोक्ता की बचत' की हानि को व्यक्त नहीं करते जो वनस्पति एवं देशी घी दोनों के ही बाजार में अनुपलब्ध होने से उपभोक्ता को होती है। इसका कारण यह है कि उपभोक्ता की बचत की वह हानि जब वनस्पति घी उपलब्ध नहीं होता लेकिन देशी घी उपलब्ध होता है + उपभोक्ता की बचत की हानि जब देशी घी उपलब्ध नहीं होता लेकिन वनस्पति घी उपलब्ध होता है, यह दोनों मिलकर उपभोक्ता की उस हानि से कम होते हैं जब दोनों प्रकार के घी ही उपलब्ण नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि वनस्पति घी से प्राप्त 'उपभोक्ता की बचत' इस बात पर भी निर्भर करती है कि देशी घी उपलब्ध है अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु से उपलब्ध 'उपभोक्ता की बचत' केवल इसकी कीमत से ही नहीं, बल्कि सम्बन्धित वस्तुओं की उपलब्धि अथवा अनुलब्धि से भी निर्धारित होती हैं

3. आलोचकों ने डॉ॰ मार्शल की इस तीसरी मान्यता के विरुद्ध भी गम्भीर आपत्ति की है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है। जैसा कि पहले बताया गया है, डॉ॰ मार्शन ले 'उपभोक्ता की बचत' का निर्माण इस मान्यता पर किया था कि विनिमय-प्रक्रिया के दौरान उपभोक्ता के लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता यथास्थिर ही रहती है। आलोचकगण डॉ॰ मार्शल की इस मान्यता से सहमत नहीं हैं। वास्तव में, जब उपभोक्ता किसी विशेष वस्तु पर मुद्रा व्यय करता है तो उसी अनुपात में उसका मुद्रा-स्टॉक घट जाता है। परिणामतः मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ़ जाती है। सीमान्त उपयोगिता हास नियम के अनुसार स्टॉक जितना अधिक होता है, उपयोगिता उतनी ही कम होती है एवं विलोम-क्रम से भी। अतः जब उपभोक्ता का मुद्रा स्टॉक घट जाता है तो मुद्रा से उसकी सीमान्त उपयोगिता स्वतः ही बढ़ जाती है, उपयोगिता उतनी ही कम होती है एवं विलोम-क्रम से भी। इस प्रकार डॉ॰ मार्शल को से आलोचना का पूर्वाभास हुआ था। अतः इस आलोचना का उत्तर देते हुए डॉ॰ मार्शल ने कहा था कि उपभोक्ता प्रायः किसी वस्तु पर अपनी आय का बहुत कम अंश व्यय करता है। अतः उसकी कुल आय के इस छोटे से अंश में मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मान लेना अनुचित न होगा।

4. डॉ॰ मार्शल की चौथी मान्यता कि वस्तु की उपयोगिता केवल उसकी मात्रा पर ही निर्भर करती है, के विरुद्ध भी आलोचको द्वारा गम्भीर आपत्ति की गई है। उदाहरणार्थ, चाय की उपयोगिता इसकी मात्रा पर ही नहीं, बल्कि अन्य सम्बन्धित वस्तुओं (जैसे कॉफी) की पूर्ति पर भी निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में, आलोचकों के अनुसार कोई भी वस्तु पूर्णतः स्वतंत्र नहीं होती है।

5. इसी प्रकार, आलोचकगण डॉ॰ मार्शल की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते कि वस्तु के न तो स्थानापन्न होते हैं और न ही इससे सम्बन्धित अन्य वस्तुएँ ही होती हैं। यदि किसी वस्तु के स्थानापन्न हैं भी तो डॉ॰ मार्शल उपभोक्ता की बचत की माप करते समय उन्हें एक ही वस्तु मान लेते हैं। आलोचकों का कहना है कि वास्तविक जीवन में सम्भवतः ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जिसके स्थानापन्न न होते हों अथवा जिससे सम्बन्धित अन्य वस्तुएँ न होती हों। किसी वस्तु के विभिन्न

स्थानापन्नों को एक ही वर्ग में सम्मिलित करके उन्हें एक ही वस्तु कान लेना न तो सम्भव है और न ही वांछनीय है। अतः आलोचकों के अनुसार, डॉ॰ मार्शल की यह मान्यता कि वस्तु के स्थानापन्न नहीं होते, वास्तव में, अत्यन्त मनगढ़ंत अथवा मनमानी है।

6. आलोचकों ने डॉ॰ मार्शल की इस छठी मान्यता को भी पसन्द नहीं किया है कि समूचे बाजार की उपभोक्ता की बचत को मापते समय उपभोक्ताओं के आस्वादों, स्वभावों, फैशनों एवं अन्य सम्बन्धित अन्तरों को हमें रद्द कर देना चाहिए। उपर्युक्त मान्यताओं की भांति इस मान्यता को भी आलोचकों द्वारा अयथार्थ, अनुचित एवं आनुमानिक समझा जाता है। बाजार में असंख्य क्रेता होते हैं। उनकी आय और उनके आस्वादों एवं स्वभावों में विशाल अन्तर पाए जाते हैं। किसी विशेष आर्थिक परिस्थिति के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। अतः समूचे बाजार की उपभोक्ता की बचत मापते समय हमारे समक्ष अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती है। डॉ॰ मार्शल को इस आलोचना का भी पूर्वभास था। उनका कथन था कि चूँकि बाजार में हम विभिन्न वर्गो के असंख्या व्यक्तियों से व्यवहार करते हैं, अतः आय, आस्वाद एवं स्वभाव सम्बन्धी सभी अन्तरों को रद्द समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उपभोक्ता की बचत' की धारणा में निहित अनेक मान्यताओं के विरुद्ध की गई आलोचनाएँ यहाँ ही समाप्त नहीं हो जातीं। आलोचकों द्वारा इस सिद्धांत के विरुद्ध कुछ अन्य आपत्तियाँ भी कही गई हैं।

7. प्रो. निकोलसन ने उपभोक्ता की बचत की कटु आलोचना की है। उनके कथनानुसार, "यह कहना बिल्कुल निरर्थक है कि लन्दन की 100 पौण्ड वार्षिक आय की उपयोगिता मध्य अफ्रीका की 1,000 पौण्ड वार्षिक आय के बराबर है।" नहीं हो सकती -प्रो. निकलसन के उपर्युक्त उद्धरण में निश्चय ही सत्यता का कुछ अंश है। लेकिन इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उपभोक्ता का बचत की धारणा विशुद्धतः एक कल्पित कथा मात्र ही है। इस कथन में निश्चय ही कुछ सत्यता है कि एक देश में 100 पौण्ड वार्षिक आय से किसी व्यक्ति को उपलब्ध होने वाली सन्तुष्टि किसी दूसरे देश में 1,000 पौण्ड वार्षिक आय से प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि के बराबर होती है। इसका कारण स्पष्ट है। पहला देश विकसित है, अतः उस देश में सस्ते दामों पर अनेक वस्तुएँ खरीदने के उपभोक्ताओं को प्रचुर अवसर प्राप्त हैं। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे देश में लोगों की 'उपभोक्ता की बचत' अधिक होगी। लेकिन, इसके विपरीत, दूसरा देश पिछड़ा हुआ एवं अल्प-विकसित है। इसमें सस्ते दामों पर वस्तुएँ खरीदने के अवसर उपभोक्ताओं को उपलब्ध नहीं हैं। अतः ऐसे देश में लोगों की उपभोक्ता की बचत अपेक्षाक त कम होगी। ब्रिटेन के जीवन की मध्य अफ्रीका के जीवन से तुलना करते हुए डॉ॰ मार्शल ने स्वयं ही कहा था कि ब्रिटेन के 300 से 400 पौण्ड किसी व्यक्ति को मध्य अफ्रीका के 1,000 पौण्डों से अधिक सन्तुष्टि प्रदान कर सकते हैं।

8. डॉ॰ मार्शल के एक अन्य आलोचक, प्रो. यूलिस्स गोबी ने भी 'उपभोक्ता की बचत' की धारणा को चुनौती दी है। उनके कथनानुसार, यदि हम उपभोक्ता के सभी क्रयों को ध्यान में रखें तो किसी वस्तु विशेष के लिए जो कीमत वह चुकाता है और जो कीमत वह चुकाने के लिए तैयार है, इन दोनों का अन्तर शून्य के बराबर होता है।

उदाहरणार्थ आइए, हम मान लें कि 200 रुपये मासिक आय वाला व्यक्ति 20 रुपये कपड़े एवं 180 रुपये अन्य वस्तुओं पर व्यय करता है। जब वह अन्य वस्तुओं पर 180 रुपये व्यय कर चुका है तो कपड़े पर वह केवल 20 रुपये ही व्यय कर सकता है और वास्तव में यही राशि है जो वह कपड़े पर व्यय करता है। दूसरे शब्दों में, कपड़े के लिए तैयार है, इन दोनों राशियों मे कुछ भी अन्तर नहीं है। अतः कपड़े से उत्पन्न होने वाली उपभोक्ता की बचत शून्य है। प्रो. गोबी तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि एक ही वस्तु को लें तो भी उसकी कुल उपयोगिता उसकी कीमत के बराबर होगी अर्थात् उपभोक्ता की बचत उत्पन्न नहीं होगी। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु की किसी भी मात्रा के लिए उपभोक्ता जो कीमत चुकाने को तैयार है, वह (कीमत) वस्तु की सभी इकाइयों की उपयोगिताओं को ध्यान मे रखकर ही वह तय करता है।

9. कुछ अर्थशास्त्रियों ने उस माँग वक्र के स्वरूप की भी आलोचना की है जिससे 'उपभोक्ता की बचत' की धारणा निकाली गई है। यह बताया गया है कि जैसे-जैसे कोई व्यक्ति वस्तु की अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदता चला जाता है, वैसे-वैसे पूर्वगामी इकाइयों के प्रति उसकी इच्छा की तीव्रता घटती चली जाती है, और उनसे उसकी उपयोगिता में भी निरन्तर ह्रास होता चला जाता है। अतः परिवर्तित स्थिति को निरूपित करने हेतु माँग वक्र के पहले भाग में निरन्तर संशोधन करना पड़ता है। एक उदाहरण द्वारा हम इसका निदर्शन कर सकते हैं। मान लीजिए, कोई व्यक्ति जूते खरीदता है। पहली जोड़ी के लिए 30 रुपये और दूसरी जोड़ी के लिए वह 25 रुपये देने को तैयार है। जब वह दूसरी जोड़ी खरीदता है तो पहली जोड़ी से उसकी उपयोगिता घट जाती है। इसका कारण यह है कि दूसरी जोड़ी लेने पर जूतों के लिए उसकी इच्छा की तीव्रता में अब ह्रास हो जाता है। अतः यदि वह दो जोड़ी खरीदता है तो एक जोड़ी जूते की औसत कीमत $\frac{30+25}{2}=27.5$ रुपये होगी। अब यदि वह तीसरी जोड़ी 20 रुपये पर खरीदता है तब उसकी जूतों की औसत उपयोगिता एवं उनकी औसत कीमत घट जाएगी अर्थात् अब जूतों की औसत कीमत रुपये होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे-जैसे उपभोक्ता अतिरिक्त जूता जोड़ियाँ खरीदता चला जाता है, वैसे-वैसे ही उनकी उपयोगिता एवं औसत कीमत घटती चली जाती है। आलोचकों का कहना है कि औसत उपयोगिता में निरन्तर ह्रास के कारण माँग-वक्र का संशोधन करना पड़ता है अर्थात् जब कभी भी वस्तु की अतिरिक्त इकाई का क्रय किया जाता है, माँग-वक्र में संशोधन करना अनिवार्य हो जाता है।

10. कुछ अर्थशास्त्रियों ने उस माँग-अनुसूची की भी आलोचना की है जिसके आधार पर उपभोक्ता की बचत की माप की जाती है। जैसे कि पहले बताया गया है, माँग-अनुसूची, वास्तव में, किसी वस्तु की उन विभिन्न मात्राओं की सूची है जिनकी विभिन्न कीमतों पर माँग की जाती है। माँग अनुसूची का कीमत-स्तम्भ विभिन्न सम्भव कीमतों को प्रदर्शित करता है जबकि मात्रा-स्तम्भ उन सभी मात्राओं को व्यक्त करता है जो इन कीमतों पर खरीदी जाती है। आलोचकों के कथनानुसार, प्रचलित कीमतों पर किन-किन मात्राओं की माँग की जाएगी, यह सही बताना हमारे लिए सम्भव नहीं हैं। माँग अनुसूची मे अप्रचलित कीमतों के समक्ष व्यक्त की गई

मात्राएँ केवल अटकल मात्र ही होती हैं। उदाहरणार्थ, आइए हम मान लें कि 25 पैसे सेब की कीमत पर कोई व्यक्ति 20 सेबों की माँग करता है। अब हम इस मात्रा को माँग अनुसूची में सही सही कहना कठिन है। यदि हम कोई मात्रा बता भी दें तो वह अटकल मात्र ही होगी। अतः आलोचकों का कहना है कि माँग-अनुसूची का शेष भाग यथार्थ होता है जो प्रचलित कीमतों एवं उनके आसपास की कीमतों से ही सम्बन्धित होता है। लेकिन डॉ॰ मार्शल के लिए यह कोई दुरतिक्रम्य कठिनाई नहीं थी। उनके कथनानुसार प्रचलित कीमतों के निकट की कीमतों पर खरीदी जाने वाली विभिन्न मात्राओं के बारे में भविष्यवाणी करना हमारे लिए बिल्कुल सम्भव है।

11. कुछ आलोचकों के अनुसार जीवन की अत्यन्त आवश्यक आवश्यकताओं एवं विलासिताओं से उत्पन्न होने वाली उपभोक्ता की बचत को मापना सम्भव नहीं है। जहाँ तक विलासिताओं का सम्बन्ध है, उनकी उपयोगिता प्रायः उनकी ऊँची कीमतों के कारण ही होती है। जैसे ही किसी विलासपूर्ण वस्तु की कीमत गिरती है, वैसे ही उसकी उपयोगिता लगभग समाप्त हो जाती है और इसके साथ-ही-साथ उससे उत्पन्न होने वाली 'उपभोक्ता की बचत' भी अद श्य हो जाती है। अतः विलासिता की वस्तु के माँग-वक्र के निचले भाग का निर्माण करना कठिन होता है। इसी प्रकार, जीवनावश्यकता से उत्पन्न होने वाली 'उपभोक्ता की बचत' की उपयोगिता प्रायः बहुत ऊँची होती है जबकि उनकी कीमतें बहुत कम होती हैं। अतः उनसे अत्यधिक उपभोक्ता की बचत प्राप्त हेाती है। ऐसी वस्तुओं के लिए जो कुछ हम चुकाते हैं और जो कुछ हम चुकाने के लिए तैयार रहते हैं, इन दोनों के बीच का अन्तर अत्यधिक ऊँचा होता है। उदाहरणार्थ, रेगिस्तान में प्यास से तड़पता हुआ करोड़पति व्यक्ति एक गिलास पानी के लिए 5,000 रुपये देने को तैयार है, लेकिन वास्तव में, वह इसके लिए कुछ भी नहीं चुकाता। अतः पानी के गिलास से उत्पन्न होने वाली उसकी 'उपभोक्ता की बचत' असीमित होगी। इस प्रकार, अनिवार्य वस्तुओं के लिए माँग-वक्र के ऊपर वाले भाग का निर्माण करना कठिन होता है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद उपभोक्ता की बचत की धारणा न तो पूर्णतया काल्पनिक है और न ही पूर्णतया अव्यावहारिक है। दैनिक जीवन में अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं जिनमें रॉबर्टसन ने ठीक ही कहा है कि "यदि हम इस विचार से बहुत अधिक आशा न करें तो यह बौद्धिक रूप में सम्माननीय है तथा व्यावहारिक कार्यो में मार्ग-प्रदर्शन की द ष्टि से लाभदायक है।"

उपभोक्ता की बचत की माप

'उपभोक्ता की बचत' की धारणा के विरुद्ध एक अन्य आलोचना यह की गई है कि निजी व्यक्ति एवं बाजार दोनों के ही सम्बन्ध में इसे मापने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। उपभोक्ता किसी वस्तु का क्रय करता है तो वह इसे अनुभव करता है। लेकिन इसको मूर्त रूप में मापना उसके लिए सम्भव नहीं है। कारण स्पष्ट है, वस्तु के बदले जो कीमत उपभोक्ता चुकाता है, वह तो निश्चित राशि है लेकिन वस्तु के बदले जो राशि व चुकाने के लिए तैयार है, वह निश्चित नहीं है। यहाँ तक कि उपभोक्ता स्वयं भी नहीं जानता कि वस्तु से वंचित रहने की अपेक्षा वह उसके लिए कितनी राशि चुकाने को तैयार है। इसके अतिरिक्त, किसी एक वस्तु

से विभिन्न उपभोक्ताओं की 'उपभोक्ता की बचत' भिन्न-भिन्न होती है क्योंकि उसी वस्तु के लिए प्रत्येक उपभोक्ता भिन्न-भिन्न राशि देने को तैयार रहता है। किसी वस्तु विशेष के लिए विभिन्न उपभोक्ता कितनी-कितनी राशि चुकाने के लिए तैयार हैं, आस्वाद, स्वभाव, सम्पत्ति, स्तर सम्बन्धी व्यक्तिगत अन्तरों से निर्धारित होता है। एक अन्य कठिनाई यह है कि लगभग सभी वस्तुओं के अनेक स्थानापन्न होते हैं। इससे किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली 'उपभोक्ता की बचत' को मापना तो और भी अधिक कठिन है। इसका कारण यह है कि बाजार में अनेक अतिरिक्त जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि किसी निजी व्यक्ति द्वारा प्राप्त 'उपभोक्ता की बचत' की माप करना कठिन है तो समूचे बाजार को उपलब्ध होने वाली 'उपभोक्ता की बचत' को मापना तो और भी अधिक कठिन है। इसका कारण यह है कि बाजार में अनेक अतिरिक्त जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं जिनके कारण 'उपभोक्ता की बचत' की माप करना लगभग असम्भव-सा हो जाता है। लेकिन डॉ॰ मार्शल के कथनानुसार, इन कठिनाइयों एवं जटिलताओं के बावजूद भी 'उपभोक्ता की बचत' को मौद्रिक रूप में मापना सम्भव है, यद्यपि यह माप इतनी पूर्ण नहीं होती जितनी की होनी चाहिए।

उदासीनता वक्र विधि से माप

प्रो. जे.आर. हिक्स ने उदासीनता वक्र प्रविधि की सहायता से 'उपभोक्ता की बचत' को मापने का प्रयास किया है, जो निम्नवत् है:

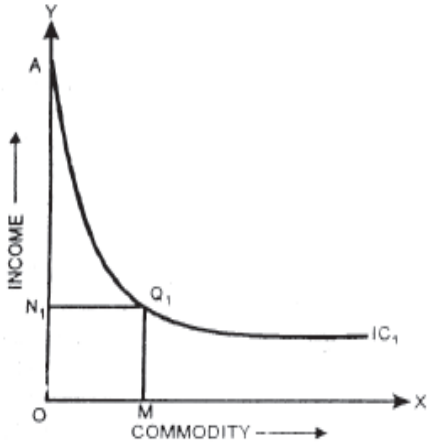

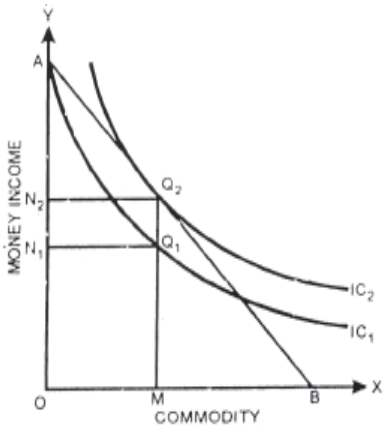

आइए, हम यह मान लें कि उपभोक्ता के पास OA की मौद्रिक आय है लेकिन वह X वस्तु की कीमत से अनभिज्ञ है। परिणामतः रेखाक ति में आय-कीमत-रेखा को प्रदर्शित नहीं किया गया है। चूँकि उपभोक्ता की मौद्रिक आय एवं X वस्तु की मात्रा को जोड़ने वाली आय-कीमत-रेखा नहीं है, इसलिए हम यह मान लेते हैं कि उपभोक्ता मौद्रिक आय एवं वस्तु X के किसी संयोग का चयन कर लेगा। आइए, हम यह माल लें कि उपभोक्ता IC_1 उदासीनता-वक्र पर स्थित Q_1 बिन्दु द्वारा व्यक्त संयोग का चयन कर लेता है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता मुद्रा की ON_1 एवं वस्तु X की OM मात्रा ग्रहण करना पसन्द करता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वस्तु X की OM मात्रा खरीदने हेतु उपभोक्ता OA की अपनी कुल आय में से AN_1 मुद्रा व्यय करने को तैयार है (चूँकि उपभोक्ता ON_1 मुद्रा अपने पास रखना चाहता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि X वस्तु की OM मात्रा खरीदने पर वह AN_1 मुद्रा कर देता है।)

आइए, अब हम यह मान लें कि उपभोक्ता X वस्तु की कीमत से परिचित है। परिणामतः उसकी अपनी आय-कीमत रेखा होगी। इसे रेखाक ति में प्रदर्शित किया गया है। इस रेखाक ति में AB आय-कीमत रेखा है। यह रेखा उदासीनता वक्र IC_2 को Q_2 बिन्दु पर स्पर्श करती है। अतः Q_2 बिन्दु पर उपभोक्ता सन्तुलनावस्था में है। इस अवस्था में उसके पास X वस्तु की OM एवं मुद्रा एवं मुद्रा की ON_2 मात्राएँ है। दूसरे शब्दों में, वह X की वस्तु की OM मात्रा की खरीद पर AN_2 मुद्रा व्यय करता है। उसका पुराना संयोग X वस्तु की OM एवं मुद्रा की ON_2 मात्राएँ हैं। नया संयोग पुराने संयोग की तुलना में बेहतर है। इसका कारण स्पष्ट है। X वस्तु की उसी OM मात्रा के लिए उपभोक्ता अब AN_2 मुद्रा व्यय करने को तैयार था। किसी वस्तु के लिए उपभोक्ताओं जो कुछ चुकाता है और जो कुछ चुकाने के लिए तैयार है, इन दोनों के अन्तर को ही 'उपभोक्ता की बचत' कहते हैं। इस रेखाक ति में X वस्तु की OM मात्रा के लिए उपभोक्ता AN_1 मुद्रा-राशि देने को तैयार है, लेकिन वास्तव में, इस मात्रा के लिए वह AN_2 धनराशि ही चुकाता है। अतः इस रेखाक ति में इन दोनों राशियों का अन्तर (अर्थात् AN_1-AN_2=N_1N_2) ही उपभोक्ता की बचत है।

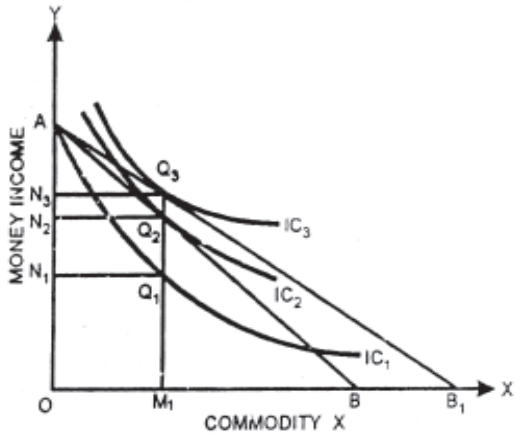

आइए, अब हम उदासीनता-वक्रों की सहायता से यह प्रदर्शित करें कि X वस्तु की कीमत में हुए परिवर्तन का 'उपभोक्ता की बचत' पर क्या प्रभाव पड़ता है। हम यह मान लेते हैं कि X वस्तु की कीमत में परिवर्तन होता है (अर्थात् X वस्तु की कीमत गिर जाती है), लेकिन उपभोक्ता की मौद्रिक आय अपरिवर्तित ही रहती है।

रेखाक ति में X वस्तु की कीमत में हुई गिरावट को हमने AB_1 की नयी कीमत-रेखा से निरूपित किया है। X वस्तु की कीमत में गिरावट से पूर्व उपभोक्ता O_2 बिन्दु पर अब उपभोक्ता सन्तुलनावस्था को प्राप्त होता है। इस बिन्दु पर वह X की OM_1 मात्रा AN_2 मुद्रा से खरीदता है। X की उसी OM_1 मात्रा के लिए उपभोक्ता अब पहले की अपेक्षा अधिक धनराशि चुकाता है। यह धनराशि रेखाक ति में AN_2 द्वारा व्यक्त की गई है। अब उपभोक्ता की सन्तुष्टि अथवा 'उपभोक्ता की बचत' में N_3N_2 की कमी हो जाती है। उपभोक्ता का निचले उदासीनता वक्र OC_2 पर पुनः लौट आना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उसकी 'उपभोक्ता की बचत' में ह्रास हुआ है। अतः उपयोगिता-विश्लेषण द्वारा प्राप्त अपने पूर्व-निष्कर्ष की हम पुष्टि करते हैं कि कीमत-गिरावट से 'उपभोक्ता की बचत' में व द्धि और कीमत-व द्धि से 'उपभोक्ता की बचत' में गिरावट होती है।

उपभोक्ता की मौद्रिक आय में हुए परिवर्तन का 'उपभोक्ता की बचत' पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे भी हम उदासीनता-वक्रों की सहायता से व्यक्त कर सकते हैं। (रेखाक ति)। लेकिन यहाँ पर हम यह मानकर चलते हैं कि वस्तु की कीमत अपरिवर्तित ही रहती है।

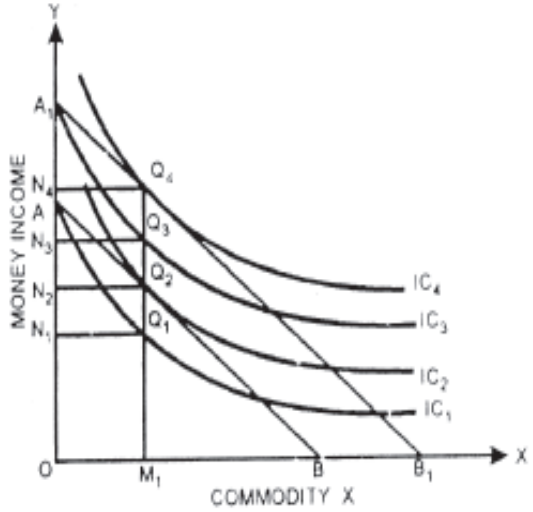

रेखाक ति में AB मूल कीमत-रेखा है। IC_2 वक्र पर स्थित Q_2 बिन्दु पर 'उपभोक्ता की बचत' को N_2N_1 अथवा Q_2Q_1 द्वारा व्यक्त किया गया है, क्योंकि इस बिन्दु पर X वस्तु की OM_1 मात्रा के लिए उपभोक्ता AN_1 मुद्रा-राशि चुकाने को तैयार है, लेकिन वास्तव में, वह इसके लिए केवल AN_2 ही चुकाता है। AN_1 ही उपभोक्ता की बचत को व्यक्त करता है। आइए अब हम वह मान लें कि उपभोक्ता की मौद्रिक आय OA से बढ़कर OA_1 हो जाती है लेकिन X वस्तु की कीमत स्थिर ही रहती है।

चूँकि उसी मौद्रिक आय OA से बढ़कर OA_1 हो जाती है, अतः हमें एक नयी कीमत-रेखा खींचनी होगी। मौद्रिक आय में व द्धि होने के उपरान्त पुराना उदासीनता वक्र IC_2 अनावश्यक हो जाता है क्योंकि इसका निर्माण इस मान्यता के आधार पर किया गया था कि उपभोक्ता की मौद्रिक आय OA थी। अब चूँकि उपभोक्ता की मौद्रिक आय OA से बढ़कर OA_1 हो गई है, अतः हमें एक अन्य उदासीनता-वक्र IC_3 खींचना होगा। मौद्रिक आय मे व द्धि हो जाने से अब उपभोक्ता X वस्तु की OM_1 मात्रा खरीदने हेतु A_1N_3 मुद्रा-राशि ही चुकाता है। अतः A_1N_3 मुद्रा-राशि चुकाने को तैयार है लेकिन वह OM_1 मात्रा के लिए केवल A_1N_4 के बीच का अन्तर ही उपभोक्ता की बचत को व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में, A_1AN_3-A_1N_4=N_3N_4 (उपभोक्ता की बचत)। प्रारम्भिक उपभोक्ता की बचत N_2N_1 थी। उपभोक्ता की मौद्रिक आय में व द्धि के उपरान्त नयी 'उपभोक्ता की बचत' प्रारम्भिक 'उपभोक्ता की बचत' के बराबर इससे अधिक अथवा इससे कम हो सकती है। यह वास्तव में, IC_1IC_2 उदासीनता वक्रों की ढालों पर निर्भर करता है। यदि दोनों उदासीनता-वक्रों की ढालें समान हैं तो नयी 'उपभोक्ता की बचत' पुरानी 'उपभोक्ता की बचत' के बराबर होगी। लेकिन 'उपभोक्ता की बचत' प्रारम्भिक' 'उपभोक्ता की बचत' से अधिक अथवा कम हो सकती है। रेखाक ति में नयी उपभोक्ता की बचत N_4N_3 प्रारम्भिक में नयी N_2N_1 के बराबर है क्योंकि उदासीनता-वक्रों (IC_1 एवं IC_3) की ढालें समान है।

प्रो. हिक्स द्वारा उपभोक्ता की बचत की धारणा का पुनर्निर्माण

ऊपर हमने देखा है कि किस प्रकार प्रो. हिक्स उदासीनता-वक्रों की सहायता से उपभोक्ता की बचत की माप करते हैं। जैसा कि पहले बताया गया है, वह 'उपभोक्ता की बचत' की माप बिल्कुल उसी तरह करते हैं जिस प्रकार डॉ॰ मार्शल ने की थी। किसी वस्तु के लिए जो धनराशि उपभोक्ता चुकाने को तैयार है और जो धनराशि वह, वास्तव में, उसके लिए चुकाता है, इन दोनों का अन्तर ही प्रो. हिक्स के अनुसार 'उपभोक्ता की बचत' कहलाती है। डॉ॰ मार्शल एवं प्रो. हिक्स के बीच केवल यही अन्तर है कि डॉ॰ मार्शल उपयोगिता-वक्रों से उपभोक्ता की बचत की माप करते हैं जबकि प्रो. हिक्स के बीच केवल यही अन्तर है कि डॉ॰ मार्शल एवं उपयोगिता वक्रों से का प्रयोग करते हैं। लेकिन बाद में चलकर प्रो. हिक्स ने 'उपभोक्ता की बचत' की जो व्याख्या की थी वह इससे थोड़ी भिन्न थी। उनके अनुसार उपभोक्ता की बचत वह मुद्रा राशि है जो उपभोक्ता की आर्थिक स्थिति में हुए परिवर्तन के परिणामस्वरूप उसे (उपभोक्ता को) इस ढंग से चुकाई जानी चाहिए अथवा उससे इस ढंग से वापस ली जानी चाहिए कि उसकी कुल सन्तुष्टि पर तनिक भी प्रभाव न (अर्थात् उपभोक्ता की कुल सन्तुष्टि अपरिवर्तित ही रहे)। उपभोक्ता की आर्थिक स्थिति में दो प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं। प्रथम, वस्तु की मात्रा मे परिवर्तन हो सकता है। दूसरे, वस्तु की कीमत में परिवर्तन हो सकता है। पहले हम मात्रा-परिवर्तन की विवेचना करेंगे।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, किसी वस्तु का क्रय करने के अवसर से ही 'उपभोक्ता की बचत' उत्पन्न होती है। यदि वस्तु-क्रय का अवसर लुप्त हो जाता है अथवा सरकार द्वारा समाप्त कर दिया जाता है तो 'उपभोक्ता की बचत' भी अद श्य हो जाएगी। मान लीजिए, सरकार बाजार में उपभोक्ताओं द्वारा चीनी की खुली खरीद समाप्त कर देती है और आदेश देती है कि परमिट के बिना कोई भी व्यक्ति बाजार से चीनी का क्रय नहीं कर सकता। आइए, हम मान लें कि किसी व्यक्ति की आय 500 रुपये मासिक है और उसके पास चीनी खरीदने का परमिट भी है। हम यह भी मान लेते हैं कि वह व्यक्ति 10 रुपये के बदले अपना परमिट छोड़ने को तैयार है। तब प्रो. हिक्स के अनुसार 10 रुपये की राशि उस हानि की पूर्ति कर देती है। आइए, अब हम मान लें कि उस व्यक्ति की आय 500 रुपये है लेकिन उसके पास चीनी का परमिट नहीं है। जब कोई अन्य व्यक्ति (जिसके पास चीनी का परमिट है) उसको चीनी का परमिट बेचना चाहता है तो पहला व्यक्ति, मान लीजिए, उस परमिट के लिए 8 रुपये चुकाने को राशि आय में हुआ मात्रा-समकारी परिवर्तन है। इसका कारण यह है कि उस व्यक्ति की द ष्टि में चीनी के परमिट सहित 492 रुपये की आय 500 रुपये के बराबर है। जब वह व्यक्ति परमिट प्राप्त करने के लिए बदले में 8 रुपये चुकाता है तब उसकी कुल सन्तुष्टि अपरिवर्तित ही रहती है। दूसरें शब्दों मे, 8 रुपये की राशि चुकाने पर उपभोक्ता को जो सन्तुष्टि की हानि होती है, उसकी पूर्ति चीनी का क्रय करने के अधिकार को प्राप्त करने से हो जाती है।

अब हम उदासीनता-वक्रों की सहायता से आय में मात्रा-तुल्य परिवर्तन एवं आय में हुए **मात्रा-प्रतिकारी परिवर्तन** की व्याख्या करेंगे।

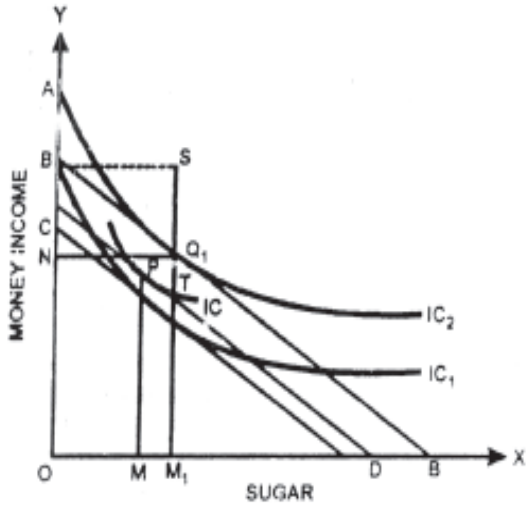

रेखाक ति में हमने चीनी को OX तथा मौद्रिक आय को OY के सहारे व्यक्त किया है। उपभोक्ता की मौद्रिक आय OB है। कीमत-रेखा BB चीनी की कीमत को प्रकट करती है। IC_2 वक्र पर स्थित Q बिन्दु पर उपभोक्ता सन्तुलनावस्था में है। इस बिन्दु पर BN मुद्रा-राशि से वह चीनी की OM_1 मात्रा खरीदता है। अब मान लीजिए कि उपभोक्ता अपने चीनी के परमिट को खो देता है। इससे चीनी क्रय करने का उसका अधिकार स्वतः ही समाप्त हो जाता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि चीनी के क्रयाधिकार के समाप्त हो जाने से उपभोक्ता को जो हानि होती है, उसकी पूर्ति करने हेतु उसे कितनी अतिरिक्त मौद्रिक आय प्रदान की जाए कि वह उसी उदासीनता वक्र IC_2 पर ही बना रहे। जैसा कि रेखाक ति मे प्रदर्शित किया गया है, यदि उपभोक्ता को AB अतिरिक्त मौद्रिक आय प्रदान कर दी जाए तो चीनी के क्रयाधिकार से वंचित होने से जो हानि उसे होती है, उसकी पूर्ति हो जाएगी और वह उसी उदासीनता-वक्र IC_2 पर ही बना रहेगा। यदि उपभोक्ता को AB की अतिरिक्त मौद्रिक आय दी जाती है तो वह Q से हटकर Y अक्ष पर स्थित A बिन्दु पर पहुँच जाएगा लेकिन फिर भी वह रहेगा उसी उदासीनता-वक्र IC_2 पर ही। दूसरे शब्दों में, उसकी स्थिति मे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा और उसकी कुल सन्तुष्टि अपरिवर्तित ही रहेगी। इसका कारण यह है कि A तथा Q उसी उदासीनता वक्र पर स्थित सम-उपयोगिता बिन्दु हैं। A बिन्दु पर उपभोक्ता चीनी की शून्य मात्रा एवं OA मुद्रा राशि का संयोग प्राप्त करता है, अतः चीनी के क्रयाधिकार से वंचित रहने से उपभोक्ता को जो हानि होती है, उसकी पूर्ति करने हेतु उसे AB अतिरिक्त मौद्रिक आय दी जानी चाहिए। इस प्रकार AB आय में हुए मात्रा तुल्य परिवर्तन को व्यक्त करता है।

आइए, अब हम यह मान लें कि प्रारम्भिक स्थिति में उपभोक्ता को चीनी का परमिट उपलब्ध नहीं है। लेकिन बाद में चलकर उसे चीनी का परमिट प्राप्त हो जाता है। इस परमिट से अब वह चीनी खरीद सकता है और उससे 'उपभोक्ता की बचत' भी प्राप्त कर सकता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उसकी 'उपभोक्ता की बचत' को तटस्थ करने हेतु उससे कितनी मौद्रिक आय वापस ले ली जाए कि उसकी आर्थिक स्थिति में कोई परिवर्तन न हो अर्थात् उसकी स्थिति में पहले की अपेक्षा न तो कोई सुधार हो और न ही कोई गिरावट हो। जैसा कि उक्त रेखाक ति में प्रदर्शित किया गया है, प्रारम्भ में उपभोक्ता अपने आपको IC_1 वक्र पर स्थित B बिन्दु पर पाता है। इस बिन्दु पर वह OB मुद्रा राशि एवं चीनी की शून्य

मात्रा का संयोग प्राप्त करता है। यह वह स्थिति है जिसमें उसे चीनी उपलब्ध नहीं होती। तब उसे चीनी का परमिट दिया जाता है और BB रेखा द्वारा व्यक्त कीमत पर वह चीनी खरीदता है। इसके परिणामस्वरूप IC_2 वक्र पर स्थित Q बिन्दु पर उपभोक्ता संन्तुलनावस्था को प्राप्त होता है। इसे बिन्दु पर उपभोक्ता पास चीनी की OM_1 एवं मुद्रा की ON मात्राएँ हैं। जैसा कि स्पष्ट है, Q बिन्दु उच्चतर उदासीनता-वक्र IC_2 पर स्थित है। यह इस बात का प्रमाण है कि पहले की अपेक्षा उपभोक्ता अब बेहतर स्थिति में है। लेकिन प्रश्न यह है कि उपभोक्ता को पहले की अपेक्षा बेहतर स्थिति में नहीं होना है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता की कुल सन्तुष्टि को अपरिवर्तित रहना है। लेकिन यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि उपभोक्ता को अपने मूल उदासीनता-वक्र पर वापस धकेल दिया जाए। जैसा कि रेखाक ति में प्रदर्शित किया गया है, उपभोक्ता को IC_1 उदासीनता वक्र पर तभी धकेला जा सकता है जब उससे BC मौद्रिक आय वापस ले ली जाए। अतः BC आय में हुए मात्रा समकारी परिवर्तन को व्यक्त करता है।

आइए, अब हम उपर्युक्त दोनों मुद्रा-राशियों की परीक्षा करें अर्थात् अब हम आय में हुए मात्रा-तुल्य परिवर्तन (AB) एवं आय में हुए मात्रा प्रतिकारी परिवर्तन (BC) के बीच के सम्बन्ध का परीक्षण करेंगे। यही नहीं, डॉ॰ मार्शल द्वारा प्रतिपादित 'उपभोक्ता की बचत' का इन दोनों मुद्रा-राशियों से जो सम्बन्ध है, उसकी भी हम विवेचना करेंगे। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, किसी वस्तु से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो कुछ उसके लिए चुकाने को तैयार होता है और जो कुछ, वास्तव में, उसके लिए चुकाता है, इन दोनों राशियों के अन्तर को ही डॉ॰ मार्शल के अनुसार उपभोक्ता की बचत कहते हैं। रेखाक ति में चीनी की OM_1 मात्रा के लिए उपभोक्ता ST मुद्रा-राशि चुकाने को तैयार है, लेकिन, वास्तव में, वह इसके लिए SQ (अथवा BN) मुद्रा-राशि ही चुकाता है। अतः उसकी उपभोक्ता की बचत QT है। यदि उपभोक्ता की आय को QT मात्रा से हटा दिया जाता है तो वह चीनी की पुरानी मात्रा मान लीजिए, OM मात्रा की खरीद सकेगा। इसका कारण यह है कि चीनी की कम मात्रा खरीदकर वह अपनी सन्तुष्टि में व द्धि कर लेगा और उच्चतर उदासीनता-वक्र पर स्थित P बिन्दु पर पहुँच जाएगा। अतएव उपभोक्ता को सन्तुष्टि के उसी स्तर पर रखने हेतु उसकी आय में BC मात्रा की कमी कर दी जाए। स्पष्ट है, QT की तुलना में BC अधिक बड़ा है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि डॉ. मार्शल द्वारा प्रतिपादित 'उपभोक्ता की बचत' (जो इस रेखाक ति में QT द्वारा व्यक्त की गई है) आय में हुए मात्रा-समकारी परिवर्तन (जो इस रेखाक ति में BC द्वारा प्रकट की गई है) से कम है अर्थात् QT, BC की तुलना में कम है। यदि उदासीनता-वक्र एक-दूसरे के समानान्तर (parallel) हैं तो डॉ. मार्शल द्वारा प्रतिपादित 'उपभोगता की बचत' QT आय में हुए मात्रा-तुल्य परिवर्तन AB के बराबर होगी। यही नहीं, यह QT आय में हुए मात्रा-प्रतिकारी परिवर्तन अर्थात् BC के भी बराबर होगी। स्मरण रहे, उदासीनता-वक्रों की समानान्तरता (parallelism) सम्बन्धी मान्यता डॉ. मार्शल द्वारा स्वीक त मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता की स्थिरता सम्बन्धी मान्यता का ही प्रतिरूप है। (It should be remembered that the assumption of parallelism of the indifference curves is the counter-part of the assumption of constancy of marginal utility of money of Marshall) इस प्रकार डॉ. मार्शल द्वारा प्रतिपादित 'उपभोक्ता की बचत' आय में हुआ मात्रा-तुल्य परिवर्तन एवं आय में हुआ मात्रा-प्रतिकारी परिवर्तन -ये तीनों मुद्रा-राशियाँ समान हैं। इन तीनों मुद्रा-राशियों का समान होना यह प्रकट करता है कि आय-प्रभाव (income effect) शून्य है।

अब तक हमने मात्रा-परिवर्तन (quantity changes) का अध्ययन किया है। अब हम कीमत-परिवर्तनों की विवेचना करेंगे।

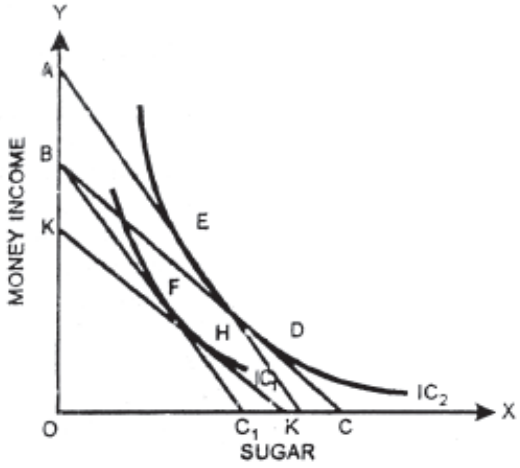

रेखाक ति में उपभोक्ता की मौद्रिक आय OB है। BC कीमत-रेखा चीनी की कीमत को प्रदर्शित करती है। D बिन्दु उपभोक्ता की प्रारम्भिक सन्तुलनावस्था को निरूपित करता है। आइए, अब हम मान लें कि चीनी की कीमत बढ़ जाती है। नयी कीमत-रेखा BC_1 चीनी की बढ़ी हुई कीमत को प्रकट करती है। F बिन्दु उपभोक्ता की नयी सन्तुलन-स्थिति को व्यक्त करता है। स्पष्टतः उपभोक्ता निम्न उदासीनता-वक्र पर लौट आया है। यह इस बात का प्रमाण है कि उसकी कुल सन्तुष्टि में ह्रास हुआ है। प्रश्न अब यह पैदा होता है कि उपभोक्ता की मौद्रिक आय में कितनी व द्धि की जाए कि वह अपने मूल उदासीनता-वक्र पर पुनः लौट आए अथवा सन्तुष्टि के अपने पुराने स्तर पर ही बना रहे। जैसा कि रेखाक ति में प्रदर्शित किया गया है, यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय को OB से बढ़ाकर OA कर दिया जाए अथवा उसकी मौद्रिक आय में AB की विशुद्ध कर दी जाए तो उपभोक्ता E बिन्दु पर सन्तुलनावस्था को प्राप्त होगा। E बिन्दु उसके मूल उदासीनता-वक्र पर ही स्थित है। अतः AB आय में हुआ कीमत-तुल्य परिवर्तन (price equivalent income variation) है।

आइए, अब हम यह मान लें कि BC_1 मूल कीमत-रेखा है और IC_1 वक्र पर स्थित F बिन्दु पर उपभोक्ता प्रारम्भिक सन्तुनास्था में है। चीनी की कीमत में हुई गिरावट नयी कीमत-रेखा BC की ढाल से व्यक्त की गई है। उच्चतर उदासीनता-वक्र IC_2 पर स्थित D बिन्दु पर अब उपभोक्ता सन्तुलनावस्था में है। दूसरे शब्दों में, चीनी की कीमत में गिरावट के परिणामस्वरूप उपभोक्ता की कुल सन्तुष्टि बढ़ गई है। अब प्रश्न यह है कि उपभोक्ता की मौद्रिक आय की कुल सन्तुष्टि बढ़ गई है। अब प्रश्न यह है कि उपभोक्ता की मौद्रिक आय में कितनी कटौती की आय कि वह अपने मूल उदासीनता-वक्र IC_1 पर पुनः लौट आए अथवा सन्तुष्टि के अपने पुराने स्तर पर ही बना रहे। जैसा कि रेखाक ति में प्रदर्शित किया गया है, उपभोक्ता को अपने मूल उदासीनता-वक्र पर लौटाने के लिए उसकी मौद्रिक आय में BK की कटौती की जानी चाहिए। अब उपभोक्ता H बिन्दु पर सन्तुलनावस्था में है। H बिन्दु भी उसी उदासीनता-वक्र पर स्थित है जिस पर F बिन्दु है। अतः यदि उपभोक्ता की आय में BK की कमी कर दी जाए तो उसकी आर्थिक स्थिति में न तो सुधार होता है और न ही गिरावट। इस प्रकार इस

रेखाकृति में BK आय में हुए कीमत-प्रतिकारी परिवर्तन (price-compensating income variation) को व्यक्त करता है।

उत्पादन फलन : सममात्रा - समलागत सिद्धान्त
(Production Function : The Isoquant - Isocost Approach)

अर्थ एवं परिभाषा

दो परिवर्ती आगतो सहित उत्पादन-फलन को समोत्पाद वक्रों के संभावित संयोगो द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है। इन्हें सममात्रा वक्र अथवा उत्पादन उदासीनता वक्र भी कहा जाता है। लेकिन हम तो इन्हें समोत्पादन वक्र कहकर ही सम्बोधित करेंगे।

कीरस्टेड के अनुसार, ''समोत्पाद वक्र दो साधनों के उन सम्भावित संयोगों को बताती है जोकि एक समान कुल उत्पादन प्रदान करते हैं।''

रेखाकृति द्वारा स्पष्टीकरण

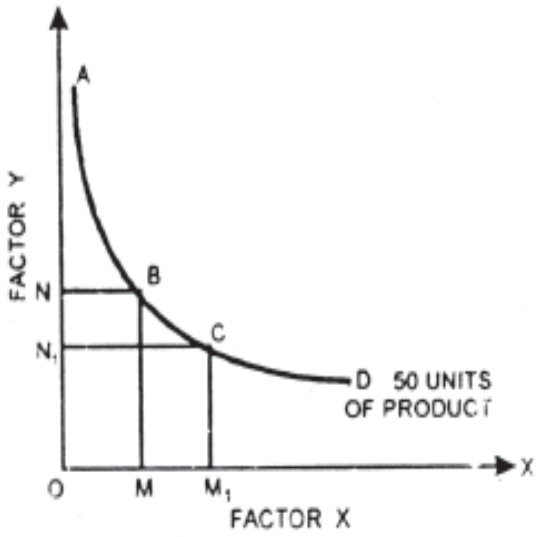

जैसा कि ऊपर बताया गया है, एक निश्चित प्रदा को फर्म द्वारा विभिन्न वैकल्पिक साधनों-संयोगों का प्रयोग करके प्राप्त किया जाता है। आइए, अब हम यह मान लें कि किसी वस्तु की 50 इकाइयों की प्रदा को उत्पन्न करने हेतु X तथा Y के निम्नलिखित वैकल्पित संयागों में से किसी एक का प्रयोग किया जाता है।

सारणी 1

साधन x		साधन y	प्रदा
1.	+	10	50 इकाइयाँ
2.	+	7	50 इकाइयाँ
3.	+	5	50 इकाइयाँ
4.	+	4	50 इकाइयाँ

यदि उपर्युक्त समोत्पाद सूची को हम रेखांकित करें तो हमें एक समोत्पाद वक्र प्राप्त होगा। (देखिए, रेखाकृति) X साधन की मात्राओं को X अक्ष के सहारे तथा Y साधन की मात्राओं को Y अक्ष के सहारे व्यक्त किया गया है। AD समोत्पाद वक्र है। यह वक्र उन सभी वैकल्पित साधन-संयोगों को प्रदर्शित करता है जिनसे 50 इकाइयों की प्रदा उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, इस वक्र पर स्थित B बिन्दु X साधन की OM मात्रा तथा Y साधन की ON मात्रा को व्यक्त करता है। इस संयोग से 50 इकाई प्रदा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार, AD वक्र पर स्थित C बिन्दु X साधन की OM_1 तथा Y साधन की ON_1 मात्राएँ वयक्त करता है। यह संयोग भी 60 इकाइयों की समान प्रदा उत्पन्न करता है। इस वक्र पर यदि हम कोई अन्य बिन्दु लें तो वह भी दोनों साधनों के एक ऐसे संयोग को व्यक्त करेगा जिससे समान प्रदा उत्पन्न होगी। यही कारण है कि AD वक्र को समोत्पाद वक्र कहा जाता है। यह वक्र दोनों साधनों के उन सभी संयोगों को व्यक्त करता है जो निश्चित प्रावैधिक परिस्थितियों में प्रदा की 50 इकाइयों को उत्पन्न करते हैं। स्मरण रहे, हम यहाँ पर यह मानकर चलते हैं कि प्रावैधिक एवं उत्पादन सम्बन्धी परिस्थितियाँ यथास्थिर रहती है तथा उन परिस्थितियों के अन्तर्गत विभिन्न साधनों का संयोजन कुशलतम ढंग से किया जाता है। अतः वर्तमान प्रावैधिक परिस्थितियों में समोत्पाद वक्र दोनों साधनों के उन विभिन्न संयागों को प्रदर्शित करता है जिनसे एक समान निश्चित प्रदा उत्पन्न होती है।

समोत्पाद वक्र एवं उदासीनता वक्र में अद्‌भुत समानता पाई जाती है। समोत्पाद वक्र दो साधनों के उन सभी संयोगों को प्रदर्शित करता है जिनसे प्रदा उत्पन्न होती है। ठीक उसी प्रकार उदासीनता वक्र दो वस्तुओं के उन सभी संयागों को व्यक्त करता है जिनसे उपभोक्ता को एक समान-स्तरीय सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

लेकिन समोत्पाद वक्र एवं उदासीनता वक्र में दो महत्त्वपूर्ण अन्तर भी पाये जाते हैं। प्रथम,समोत्पाद वक्रों को उत्पादन की इकाइयेां की संख्या के रूप में व्यक्त किया जा सकता है जबकी उदासीनता वक्रों को इस प्रकार प्रकट नहीं किया जा सकता। कठिनाई यह है कि उदासीनता-वक्रों को व्यक्त करने हेतु इकाइयाँ ही उपलब्ध नहीं है। किसी समरूप वस्तु के उत्पादन को लीटरों, मीटरों, मीट्रिक टनों, कुन्तलों एवं किलोग्रामों जैसी भौतिक इकाइयों में व्यक्त किया जा सकता है लेकिन उपभोक्ता द्वारा प्राप्त सन्तुष्टि को मापने हेतु भौतिक इकाइयों का हमारे पास पूर्ण अभाव है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता की सन्तुष्टि को मापने के लिए हमारे पास उदासीनता वक्रों को हम IC_1, IC_2, IC_3 इत्यादि जैसे अनिश्चित एवं सामान्य संख्याओं द्वारा चिह्नित करते हैं। इस द ष्टिकोण से समोत्पाद वक्र उदासीनता वक्रों की तुलना में श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि समोत्पाद वक्र हमारे समक्ष मात्राएँ प्रस्तुत करते हैं जबकि उदासीनता वक्र ऐसा नही करते। दूसरे, यदि हम निम्नतर तथा उच्चतर समोत्पाद वक्र खींचे अथवा यदि हम समोत्पाद मानचित्र का निर्माण करें तो हम सरलता से कह सकते हैं कि एक समोत्पाद वक्र दूसरे समोत्पाद वक्र की तुलना में कितनी अधिक अथवा कितनी कम मात्रा को व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ, इस रेखाकृति में दूसरा समोत्पाद वक्र 100 इकाइयों की उपज को व्यक्त करता है। यह उपज प्रथम समोत्पाद वक्र द्वारा निरूपित उपज से 50 इकाइयाँ अधिक है।

इसी प्रकार, तीसरा समोत्पाद वक्र 150 इकाइयाँ उपज प्रकट करता है। यह दूसरे समोत्पाद वक्र द्वारा व्यक्त उपज से 50 इकाइयाँ अधिक है (दूसरा समोत्पाद वक्र 100 इकाइयाँ उपज को ही निरूपित करता है।) अतः समोत्पाद मानचित्र की सहायता से हम विभिन्न वक्रों से

सम्बन्धित उपजों की भौतिक मात्राओं की माप करते हैं। इसी प्रकार, समोत्पाद मानचित्र में स्थित विभिन्न बिन्दुओं द्वारा निरूपित भौतिक उपज की मात्राओं की तुलना करना भी सम्भव हो जाता है लेकिन उपभोक्ता के उदासीनता-मानचित्र के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उदासीनता मानचित्र में स्थित एक बिन्दु द्वारा व्यक्त सन्तुष्टि दूसरे बिन्दु द्वारा निरूपित सन्तुष्टि से कितना अधिक अथवा कम है, यह सही-सही बताना हमारे लिए सम्भव नहीं है क्योंकि सन्तुष्टि को भौतिक इकाइयों के रूप में मापना सम्भव नहीं है। अतः जब हम उदासीनता मानचित्र की तुलना समोत्पाद मानचित्र से करते हैं तो उदासीनता मानचित्र की यह त्रुटि स्पष्तः द ष्टिगोचर होती है।

समोत्पाद वक्रों की विशेषताएं

अब हम समोत्पाद वक्रों की विशेषताओं पर विचार करेंगे-

1. **समोत्पाद वक्र दार्यी ओर नीचे झुकते हैं -** जैसा कि ऊपर बताया गया है,समोत्पाद वक्रों एवं उदासीनता वक्रों में कई समरूपताएँ पाई जाती हैं। उदासीनता वक्रों की भाँति समोत्पाद वक्र भी दार्यी ओर नीचे झुकते हैं। यदि समोत्पाद वक्र दार्यी ओर नीचे न झुकते तो वे बार्यी ओर ऊपर उठते अथवा क्षितिजीय होते। यदि कोई समोत्पाद वक्र दार्यी ओर ऊपर उठता, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि X तथा Y के दोनों साधनों के बढ़ने अथवा घटने से उत्पादन की मात्रा पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् उत्पादन की मात्रा स्थिर ही रहती। दूसरे शब्दों में, X तथा Y की अधिक मात्राओं वाला संयोग X एवं Y की कम मात्राओं वाले संयोग दोनों समान उपज प्रदान करते। वास्तव में, यह असंगत ही नहीं, बल्कि मूर्खतापूर्ण बात प्रतीत होती है। जब दोनो साधनों की अधिक अथवा कम मात्राओं का प्रयोग किया जाता है तो दोनों स्थितियों में उपज एक समान नहीं हो सकती। यह बात रेखाकृति से स्पष्ट हो जाती है।

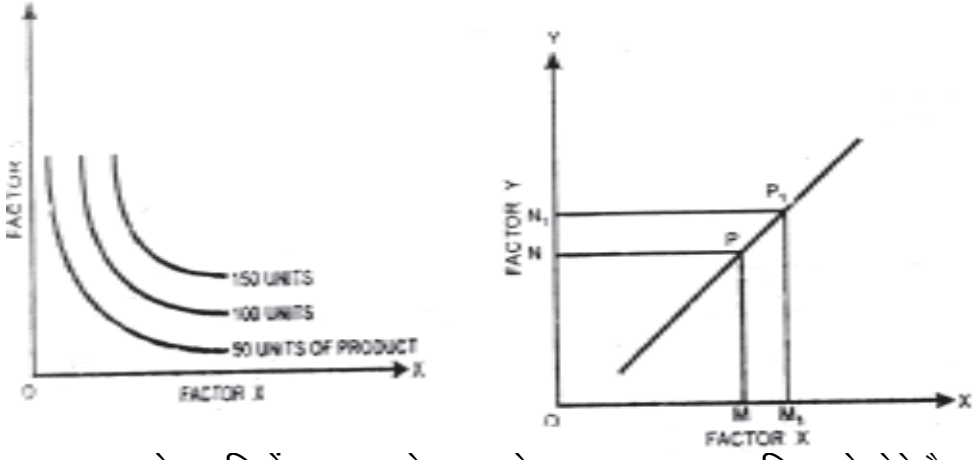

इस रेखाकृति में ऊपर उठते हुए समोत्पाद वक्र पर हम P बिन्दु को लेते है। यह बिन्दु X की OM तथा Y की ON मात्राओं के संयोग को व्यक्त करता है। इसी प्रकार, उसी वक्र पर P_1 बिन्दु X की OM_1 तथा Y की ON_1 मात्राअें के संयोग को प्रकट करता है। चूंकि P तथा P_1 दोनों बिन्दु उसी वक्र पर स्थित है, अतः X तथा Y के दोनों संयागों से समान उपज प्राप्त होनी चाहिए। लेकिन क्या इन दोनों संयोगो द्वारा समान उपज प्रदान करना सम्भव है? स्पष्टतः नहीं। P_1 बिन्दु द्वारा निरूपित X की

OM_1 तथा Y की ON_1 मात्राओं वाला संयोग P बिन्दु पर व्यक्त X की OM तथा Y की ON मात्राओं वाले संयोग से निश्चिय ही अधिक उपज प्रदान करता है। अतः यह कहना कि समोत्पाद वक्र दायीं ओर ऊपर उठता है, वास्तव में निरर्थक ही है। इसी प्रकार यह कहना कि समोत्पाद वक्र क्षितिजीय होता है तार्किक अनर्गलता के सिवाय कुछ नहीं है। इस बात को रेखाकृति में स्पष्ट किया गया है।

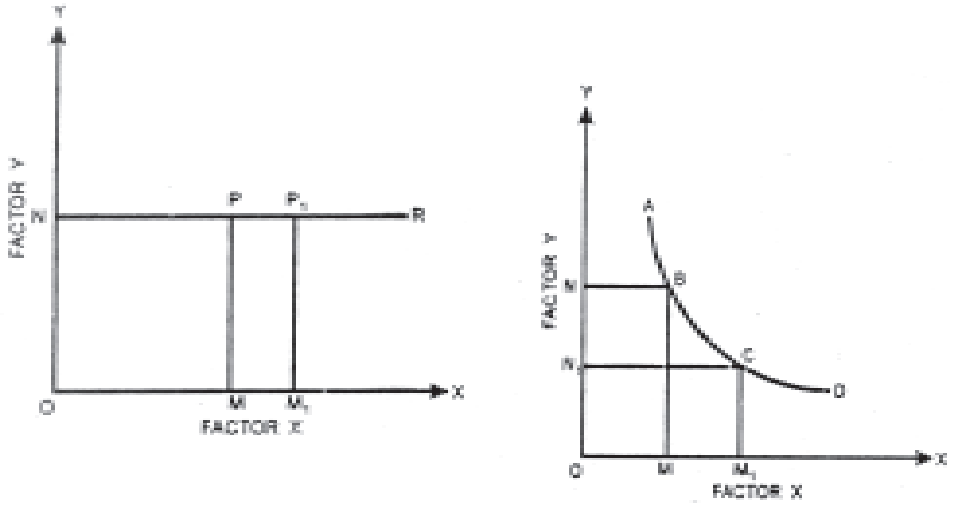

आइए हम यह मान लें कि NR क्षितिजीय समोत्पाद वक्र है जैसा कि रेखाकृति में प्रदर्शित किया गया है। इस वक्र पर स्थिति P बिन्दु X की OM एवं Y की ON मात्राओं के संयोग को प्रदर्शित करता है। उसी वक्र पर स्थित P_1 बिन्दु X की OM_1 तथा Y की ON मात्राओं के संयोग को प्रकट करता है। चूंकि P तथा P_1 बिन्दु दोनों ही उसी समोत्पाद वक्र पर स्थिति हैं अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि X तथा Y के दोनों संयोग समान उपज प्रदान करते हैं। लेकिन क्या दोनों संयागों के लिए समान उपज प्रदान करना सम्भव है? क्या P_1 बिन्दु वाला संयोग (अर्थात् X की OM_1 तथा Y की ON मात्राओं वाला संयोग) P बिन्दु वाले संयोग (अर्थात् X की OM तथा Y की ON मात्राओं के संयोग) से अधिक उपज प्रदान नहीं करेगा? स्पष्टतः प्रथमोक्त संयोग पश्चादुक्त संयोग से अधिक उपज प्रदान करेगा। दूसरे शब्दों में X की OM_1 तथा Y की ON मात्राओं वाला संयोग X की OM तथा Y की ON मात्राओं वाले संयोग से अधिक उपज देगा क्योंकि प्रथमोक्त संयोग में पश्चादुक्त संयोग की अपेक्षा MM_1 की सीमा तक X की मात्रा अधिक है। इसके अलावा, प्रतिफल के नियमों के अनुसार जब X जैसे 'परिवर्ती' साधन की अधिकाधिक इकाइयों को Y जैसे 'स्थिर' साधन से संयोजित किया जाता है तो जनित उपज पहले की अपेक्षा अधिक अथवा कम हो सकती है। यदि वर्धमान प्रतिफल नियम कार्यशील है तो उपज पहले की अपेक्षा अधिक होगी। इसके विपरीत, यदि ह्रासमान प्रतिफल नियम क्रियाशील होता है तो उपज पहले की अपेक्षा कम होगी। उपज स्थिर नहीं रह सकती। चूंकि उपयुक्त रेखाकृति में P तथा P_1 बिन्दुओं द्वारा निरूपित साधनों के दोनों संयोग समान उपज प्रदान नहीं करते, इसलिए समोत्पाद वक्र क्षितिजीय नहीं हो सकता। उपयुक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समोत्पाद वक्र न तो दायीं ओर ऊपर उठता है और न ही यह क्षितिजीय होता है। अतः समोत्पाद वक्र दायीं ओर नीचे गिरता है। जैसे कि एक साधन की मात्रा घटती है, दूसरे साधन

की मात्रा बढ़ जाती है। जैसा कि रेखाकृति में प्रदर्शित किया गया है, इस वक्र पर स्थित X तथा Y के दोनों साधनों के सभी संयोगों से समान उपज प्राप्त होती है।

जैसा कि रेखाकृति में प्रदर्शित किया गया है, X की OM तथा Y की ON मात्राओं वाला संयोग भी ठीक उतनी ही उपज प्रदान करता है जिनी X की OM_1 तथा Y की ON_1 मात्राओं वाला संयोग देता है। जब हम समोत्पाद वक्र के सहारे B से C की ओर जाते हैं तो Y की मात्रा घटती है जबकि X की मात्रा बढ़ती जाती है। परिणामतः उपज समान ही रहती है।

2. समोत्पाद वक्र उद्‌गम-बिन्दु की ओर उन्नतोदर (convex) होते हैं-

उद्‌गम बिन्दु की ओर उन्नतोदर होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि समोत्पाद वक्र के सहारे एक साधन का दूसरे साधन के रूप में सीमान्त महत्त्व अथवा उनकी सीमान्त प्रतिस्थापन-दर घटती चली जाती है। जब कोई व्यक्ति विभिन्न संयागों में एक दिए हुए उदासीनता वक्र के सहारे दो वस्तुओं का उपभोग करता है तो एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में सीमान्त महत्त्व अथवा सीमान्त प्रतिस्थापन दर वक्र के साथ घटती चली जाती है। X वस्तु के Y वस्तु के रूप में सीमान्त महत्त्व से अभिप्राय Y वस्तु की उस मात्रा से है जिसे X वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई के लिए छोड़ा जा सकता है। उदासीनता वक्र के साहारे X वस्तु का Y वस्तु के रूप में सीमान्त महत्त्व घअता जाता है (अथवा Y की X द्वारा सीमान्त प्रतिस्थापन दर घटती जाती है) इसे रेखाकृति द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

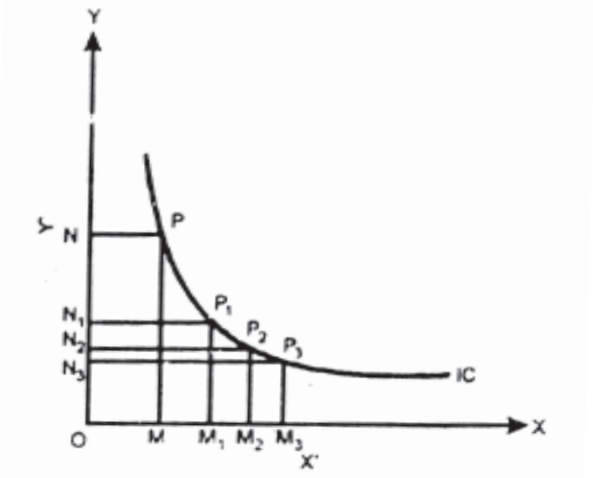

इस रेखाकृति में हम यह मान लेते हैं कि IC वक्र पर स्थित P बिन्दु पर उपभोक्ता X की OM तथा Y की ON मात्राएँ खरीदता है। X की एक और इकाई (अर्थात् MM_1) प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता को Y वस्तु की NN_1 मात्रा का परित्याग करना पड़ेगा। X की अतिरिक्त इकाई (अर्थात् M_1M_2) को प्राप्त करने हेतु उपभोक्ता को अब Y वस्तु की N_1N_2 मात्रा का परित्याग करना पड़ेगा। इसी प्रकार X की एक अन्य इकाई (अर्थात् M_2M_3) को हासलि करने के लिए उसे Y वस्तु की N_2N_3 मात्रा छोड़नी पड़ेगी। X की MM_1 मात्रा को Y के रूप में सीमान्त महत्त्व Y की NN_1 बराबर है। इसी प्रकार X की M_1M_2 का Y के रूप में सीमान्त महत्त्व Y की N_1N_2 के बराबर है, लेकिन रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि N_1N_2, NN_1 की तुलना में कम है। अतः इसका अभिप्राय यह है कि Y के रूप में X का सीमान्त महत्त्व घट गया है। इसी प्रकार X की M_2M_3

मात्रा का Y के रूप में सीमान्त महत्त्व Y की N_2N_3 के बराबर है। अब N_2N_3 N_1N_2 की तुलना में कम है। इसका अभिप्राय यह है कि Y के रूप में X का सीमान्त महत्त्व और भी घट गया है। अतः जैसे जैसे Y की उत्तरोत्तर कम इकाइयों को छोड़कर X की अधिकाधिक इकाइयों को प्राप्त किया जाता है, वैसे वैसे ही Y के रूप में X की सीमान्त महत्त्व घटता जाता है।

उत्पादन साधनों के बारे में भी ह्रासमान सीमान्त महत्त्व की धारणा सत्य उतरती है। Y साधन के रूप में X साधन की सीमान्त महत्त्व Y की वह मात्रा है जिसका X की एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए परित्याग किया जा सकता है। समोत्पाद वक्र के सहारे Y के रूप में X का सीमान्त महत्त्व घटता चला जाता है। इसे भी उपर्युक्त रेखाकृति द्वारा निदर्शित किया जा सकता है। आइए, हम यह मान लें कि उपर्युक्त रेखाकृति में प्रस्तुत IC वक्र वास्तव में, समोत्पाद वक्र है। X साधन X तथा Y साधन Y को व्यक्त करते हैं। जो कुछ हमने ऊपर उदासीनता वक्र के बारे में कहा है वह समोत्पाद वक्र भी लागू होता है। P बिन्दु पर उत्पादक X की OM तथा Y की ON मात्रा का संयोजन करता है। इस संयोग से उसे 50 इकाइयों के बराबर उपज प्राप्त होती है। अब यदि उत्पादक X साध्न की एक और इकाई (अर्थात् MM_1) का उपयोग करना चाहता है लेकिन साथ ही साथ वह उसी समोत्पाद वक्र पर रहना चाहता है लेकिन साथ ही साथ वह उसी समोत्पाद वक्र का रहना भी जारी रखना चाहता है तो उसे Y साधन की NN_1 का परित्याग करना होगा। इस इस प्रकार X की MM_1 मात्रा का सीमान्त महत्त्व Y की NN_1 के बराबर है और X की M_1M_2 की मात्रा का सीमान्त महत्त्व Y की N_1N_2 मात्रा के समान है। Y के रूप में X की सीमान्त महत्त्व स्पष्टः गिर चुका है तथा X की M_2M_3 मात्रा का सीमान्त महत्त्व Y के रूप में X का सीमान्त महत्त्व और भी गिर गया है। अतः X की प्रत्येक अतिरिकक्त इकाई को प्राप्त करने के लिए Y की उत्तरोत्तर कम इकाइयों का परित्याग करना पड़ता है। परिणामतः समोत्पाद वक्र के सहारे - सहारे Y के रूप में X का सीमान्त महत्त्व गिरता चला जाता है। यही कारण है कि समोत्पाद वक्र उद्‌गम- बिन्दु के प्रति उन्नतोदर होता है।

3. दायीं ओर स्थित समोत्पाद वक्र अधिक ऊँचे स्तर को निरूपित करता है –

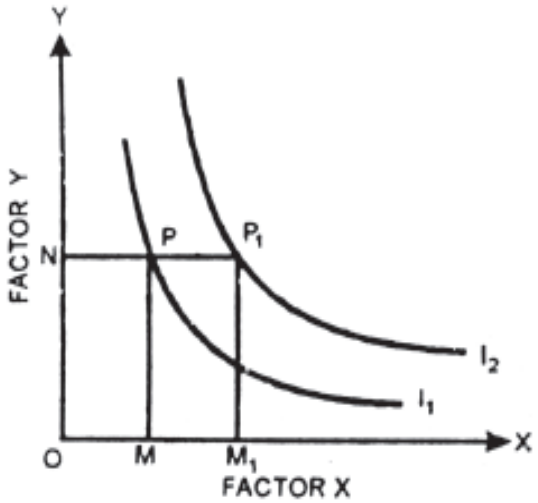

जिस प्रकार दायीं ओर स्थिति उदासीनता वक्र अधिक सन्तुष्टि को व्यक्त करता है, ठीक उसी प्रकार दायीं ओर स्थित समोत्पाद वक्र अधिक ऊँचे स्तर अर्थात् अधिक उत्पादन स्तर को प्रकट करता है। इसे रेखाकृति में प्रदर्शित किया गया है। इस रेखाकृति में P तथा P_1 बिन्दु क्रमशः l_1 & l_2 समोत्पाद वक्रों पर स्थित है। l_1 वक्र पर स्थित P बिन्दु X की OM तथा Y की ON मात्राओं के संयोग को व्यक्त करता है। इस संयोग से एक निश्चित उपज प्राप्त होती है। l_2 पर स्थित P_1 बिन्दु X की OM_1 तथा Y की ON मात्राओं के संयोग को निरूपित करता है इस संयोग से प्रथमोक्त संयोग की तुलना में अधिक उपज प्राप्त होगी। P_1 संयोग P की तुलना में X की अधिक मात्रा को निरूपित करता है। P_1 संयोग में X की OM_1 मा.ाा है जबकि P संयोग में X की मात्रा केवल OM ही है। चूँकि P_1 संयाग में X की मात्रा अधिक है, अतः P संयोग की तुलना में P_1 संयोग से अधिक उपज प्राप्त होगी, यद्यपि Y की मात्रा दोनों संयोगों में समान ही है (अर्थात् ON है) अतः यदि दायीं ओर स्थित समोत्पाद वक्र अधिक उपज को निरूपित करता है।

4. समोत्पाद वक्र कभी भी एक दूसरे को नहीं काटते -

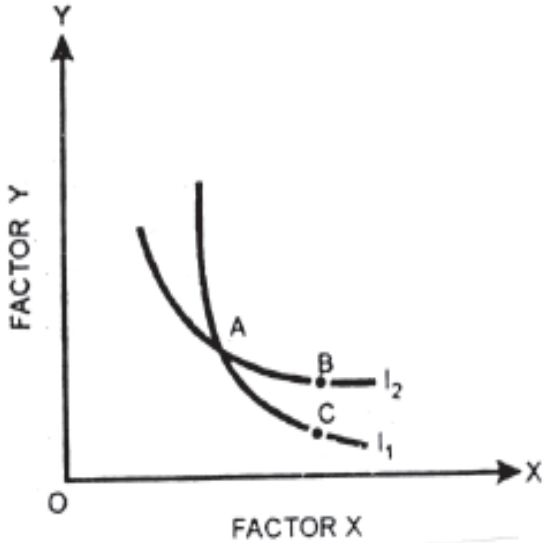

उदासीनता वक्रा का भाात समात्पद वक्र कभा भा एक दूसर का नहीं काट सकते। इसे रेखाकृति में प्रदर्शित किया गया है। इस रेखाकृति में l_1 तथा l_2 दो उादासीनता वक्र हैं। ये एक दूसरे को काटते हुए दिखाए गए हैं। वास्तव में ऐसा हो नहीं सकता। सच पूछिए तो यह तार्किक अनर्गलता का ही उदाहरण है। B बिन्दु l_2 उदासीनता वक्र पर X तथा Y का एक संयोग निरूपित करता है। इसी प्रकार, C बिन्दु उदासीनता वक्र l_1 पर X तथा Y के अन्य संयोग को व्यक्त करता है। अतः C का संयोग की तुलना में B संयोग उपभोक्ता को अधिक सन्तुष्टि प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में B संयोग C संयोग की तुलना में बेहतर है। लेकिन A बिन्दु उसी l_2 वक्र पर स्थित है जिस पर B बिन्दु भी है। अतः A संयोग उपभोक्ता के लिए उतना ही अच्छा है जितना B संयोग। इसी प्रकार, A बिन्दु उसी वक्र l_1 पर स्थित है जिस पर C भी है। अतः यह संयोग उतना ही अच्छा है जितना C संयोग। चूँकि A बिन्दु दोनों ही उदासीनता वक्रों पर स्थित है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि B, C के बराबर है अथवा B उतना ही अच्छा है जितना C लेकिन यह वास्तव में एक अयुक्तिक निष्कर्ष ही है।

अतः दो उदासीनता वक्र एक दूसरे को नहीं काट सकते। इसी तर्क के आधार पर हम यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि दो समोत्पाद वक्र एक दूसरे को नहीं काट सकते। B बिन्दु समोत्पाद वक्र l_2 पर स्थित है। इसी प्रकार C बिन्दु समोत्पाद वक्र l_1 पर स्थित है अतः C संयोग की तुलना में B सयांग अधिक उत्पादक है। लेकिन A संयोग भी उतना ही उत्पादक है जितना कि B संयोग क्योंकि ये दोनों ही संयोग समोतपाद वक्र l_2 पर स्थित हैं। इसी प्रकार A संयोग भी उतना ही उत्पादक है जितना कि C संयोग क्योंकि ये दोनों ही संयोग l_1 समोत्पाद वक्र पर स्थित है। चूंकि A दोनों में ही उभयनिष्ठ है, अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि C संयोग भी उतना ही उत्पादक है जितना कि B संयोग। लेकिन यह निष्कर्ष स्पष्टतः असंगत है। यह निष्कर्ष उपर्युक्त विशेषता नं. 3 से मेल नहीं खाता कि दायीं ओर स्थित समोत्पाद वक्र अधिक उत्पादन को निरूपित करता है। अतः हमारा निष्कर्ष यह है कि समोत्पाद वक्र एक दूसरे को नहीं काट सकते।

5. समोत्पाद वक्र रिज रेखाओं (अथवा मेड़ रेखाओं) को अंकित करने में सहायक होते हैं। —

समोत्पाद वक्रों की एक अन्य विशेषता यह है कि ये वक्र व्यावसायिक फर्म के लिए उपयुक्त उत्पादन क्षेत्र का सीमांकन करते हैं अर्थात् ये वक्र फर्म को यह बताते हैं कि किन सीमाओं के बीच उत्पादन करना फर्म के लिए लाभदायक होगा। जैसा कि विदित है, ये वक्र पीछे की ओर झुकते हैं। और इनके दोनों सिरे ऊपर की ओर चढ़ते हैं। इसे निम्नांकित रेखाकृति द्वारा व्यक्त किया गया है।

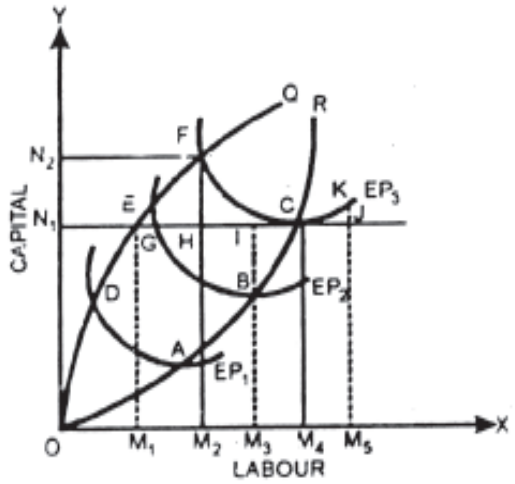

इस रेखाकृति में EP_1, EP_2 तथा EP_3 नाम तीन समोत्पाद वक्र दिखाए गए हैं। ये सभी पीछे की ओर झुकते हैं और इनके दोनों सिरे ऊपर की ओर चढ़ते हैं। EP_1 दो बिन्दुओं D तथा A पर पीछे की ओर झुकता है। इसी प्रकार, EP_2 एवं EP_3 वक्र E, B तथा F, C बिन्दुओं पर पीछे झुकते हैं। A, B & C बिन्दुओं को जोड़ने से OR रेखा प्राप्त होती है। इसी प्रकार D, E तथा F को जोड़ने से OQ रेखा प्राप्त होती है। प्राविधिक भाषा में OR तथा OQ रेखाओं को रिज रेखाएँ कहा जाता है। ये दोनों रेखाएँ उस क्षेत्र को सीमांकित करती हैं जिसके भीतर रहकर फर्म लाभदायक उत्पादन कर सकती है। समोत्पादक वनों के वे भाग जो रिज रेखाओं के भीतर आते हैं, लाभदायक उत्पादन के लिए उपयुक्त हैं लेकिन जो भाग रिज रेखाओं के बाहर पड़ते हैं, वे लाभदायक उत्पादन के लिए उपयुक्त नहीं है।

रेखाकृति में श्रम की विभिन्न मात्राओं को X अक्ष के सहारे व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार पूँजी की विभिन्न मात्राओं को Y अक्ष के साथ-साथ प्रकट किया गया है। श्रम की OM_4 तथा पूँजी की ON_1 मात्राओं के संयोग से एक ऐसा उत्पादन होता है जिसे EP_3 वक्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यदि फर्म EP_3 वक्र के सहारे नीचे की आरे प्रस्थान करती है तो वह पूँजी का श्रम से अधिकाधिक प्रतिस्थापन करती चली जाएगी अर्थात् वह श्रम का अधिक और पूँजी का कम प्रयोग करेगी, यहाँ तक कि वह EP_3 वक्र पर स्थित C बिन्दु पर पहुँच जाएगी। C बिन्दु श्रम का OM_4 तथा पूँजी की ON_1 मात्राओं को व्यक्त करता है। चूँकि फर्म EP_3 वक्र पर ही रहती है, अतः उत्पादन स्थिर रहता है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अब यदि पूँजी की मात्रा को ON_1 पर स्थिर रखते हुए हम श्रम की मात्रा को C बिन्दु के आगे बढ़ाते हैं तो कुल उत्पादन में कमी हो जाएगी। उदाहरणार्थ, यदि श्रम की मात्रा को OM_5 तक बढ़ा दिया जाता है तो फर्म J बिन्दु पर पहुँच जाएगी। J बिन्दु EP_3 वक्र से नीचे स्थित हैं यह इस बात का प्रतीक है कि J बिन्दु पर उत्पादन में गिरावट हुई है। लेकिन प्रश्न यह है कि उत्पादन में क्योंकि गिरावट आई? इसका कारण यह है कि C बिन्दु के दायीं ओर श्रम की सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक हो जाती है। परिणामतः C बिन्दु के दायीं ओर श्रम की अतिरिक्त मात्राओं को लगाने से उत्पादन में हास होता है दूसरे शब्दों में C बिन्दु पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य हैं लेकिन C बिन्दु के बायीं ओर श्रम की सीमान्त उत्पादकता धनात्मक है क्योंकि पूँजी को ON_1 पर स्थिर रखते हुए यदि हम C बिन्दु के बायीं ओर श्रम की मात्राओं को बढ़ाते जाएँ तो उत्पादन में व द्धि होती चली जाएगी। इससे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि C बिन्दु के बायीं ओर श्रम की सीमान्त उत्पादकता धनात्मक होती है। मान लीजिए कि फर्म G बिन्दु पर है। इस बिन्दु पर फर्म OM_1 श्रम और ON_1 पूँजी लगा रही है। G बिन्दु पर होने वाला उत्पादन EP_1 वक्र द्वारा व्यक्त उत्पादन से अधिक होगा। अब मान लीजिए कि फर्म G से चलकर H बिन्दु पर पहुँचती है। H बिन्दु पर फर्म श्रम की मात्रा को OM_1 से बढ़ाकर OM_2 कर देती है यद्यपि पूँजी की मात्रा ON_1 पर ही स्थिर रहती है। यदि H बिन्दु में से गुजरता हुआ एक नया समोत्पाद वक्र बनाया जाए तो वह एक ऐसे उत्पादन को प्रकट करेगा जो EP_2 वक्र द्वारा व्यक्त उत्पादन से अधिक होगा। इसी प्रकार, यदि फर्म H से चलकर I बिन्दु पर पहुंचती है तो पहले की अपेक्षा उसका उत्पादन बढ़ जाएगा। स्मरणीय बात यह है कि C बिन्दु पर श्रम की सीमान्त उत्पादक शून्य है, C के दायीं ओर यह ऋणात्मक है और C के बायी ओर यह धनात्मक है। अब यदि फर्म C बिन्दु के दायीं ओर OM_5 तक श्रम की मात्रा को बढ़ती है यद्यपि पूँजी की मात्रा ON_1 पर ही स्थिर रहती है, तो वह J बिन्दु पर पहुँच जाएगी। J बिन्दु EP_3 वक्र से नीचे स्थित है। अतः यह बिन्दु कम उत्पादन को व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में श्रम, की अधिक मात्रा के बावजूद उत्पादन में कमी हो जाती है। यदि फर्म उत्पादन की इस गिरावट को रोकना चाहती है अथवा C बिन्दु के दायीं ओर उत्पादन को पुराने स्तर पर ही बनाए रखना चाहती है तो उसे दोनों साधनों (अर्थात् श्रम एवं पूँजी) की अतिरिक्त मात्राओं को लगाना होगा। उदाहरणार्थ, यदि फर्म EP_3 वक्र पर स्थित K बिन्दु पर पहुँचना चाहती है तो उसे श्रम की OM_5 और पूँजी की ON_1 से अधिक मात्राओं का प्रयोग करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में C बिन्दु के दायीं ओर उत्पादन के पुराने स्तर को बनाए रखने के लिए फर्म को दोनों साधनों की अधिक मात्राओं का प्रयोग करना होगा। अतः C बिन्दु के दायीं ओर जाना फर्म के लिए गैर-आर्थिक (अथवा हानिकारक) होगा। वास्तव में C बिन्दु श्रम एवं पूँजी के युक्तिक संयोगों की बाह्य सीमा को व्यक्त करता है क्योंकि इस बिन्दु पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य है। C के दायीं ओर गैर आर्थिक उत्पादन का क्षेत्र प्रारंभ हो जाता है। कोई भी फर्म उस क्षेत्र में प्रविष्ट होना पसंद नहीं करेगी।

इसी प्रकार EP_3 वक्र के संदर्भ में F बिन्दु श्रम एवं पूँजी के युक्तिक संयोग की सीमा को व्यक्त करता है क्योंकि इस बिन्दु पर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता शून्य के बराबर है। F बिन्दु के बायीं ओर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक है। अतः F बिन्दु के बायीं ओर जाना फर्म के लिए उचित नहीं होगा क्योंकि F बिन्दु के बायीं ओर का क्षेत्र गैर-आर्थिक उत्पादन का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में फर्म को यदि पुराना उत्पादन स्तर बनाए रखना है तो उसे श्रम एवं पूँजी दोनों की अतिरिक्त मात्राओं का प्रयोग करना होगा।

जहाँ तक EP_3 वक्र का सम्बन्ध है, C एवं F बिन्दु आर्थिक उत्पादन के क्षेत्र की बाह्य सीमाओं को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार, E तथा B बिन्दु समोत्पाद वक्र EP_2 की और D एवं A बिन्दु EP_1 वक्र की बाह्य सीमाओं को प्रकट करते हैं।

रेखाकृति में दो रिज रेखाओं को दिखाया गया है। ये हैं OR तथा OQ। इन दोनों रेखाओं के बीच स्थित क्षेत्र आर्थिक उत्पादन का क्षेत्र है। लेकिन इन दोनों के बाहर पाया जाने वाला क्षेत्र गैर-आर्थिक है। दूसरे शब्दों में, यह क्षेत्र आर्थिक उत्पादन के लिए उपयुक्त नहीं है।

समोत्पादक वक्र तथा सर्वोत्तम साधन संयोग

हमने देखा था कि किस प्रकार उदासीनता वक्र उपभोक्ता को दो वस्तुओं का एक ऐसा संयोग प्रदान करने में सहायक होते हैं जिससे उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है इसी प्रकार, समोत्पाद वक्र भी उत्पादक को एक ऐसा संयोग देने में सहायक होते है जिससे वह न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन कर सकता है। इस प्रकार के साधन-संयोग को सर्वोतम अथवा अनुकूलतम संयोग कहा जाता है। वास्तव में, एक निश्चित स्तर के उत्पादन को प्राप्त करने के लिए उत्पादक के समक्ष कई वैकल्पित साधन संयोग होते हैं। लेकिन युक्तिक स्वभाव का संगठनकर्ता उत्पादन को ''अनुकूलतम'' अथवा ''न्यूनतम लागत'' संयोग की सहायता से करना चाहेगा। उत्पादक विभिन्न साधनों का सामंजस्य (मिलन) इस ढंग से करेगा कि उत्पादक चाहे कितना ही हो, लेकिन प्रति इकाई लागत न्यूनतम होनी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति में समोत्पाद वक्र उत्पाद को बड़ी मूल्यवान सहायता देते हैं। दूसरे शब्दों में समोत्पाद वक्र फर्म को सन्तुलनावस्था प्राप्त करने में ठीक उसी प्रकार सहायक होते हैं। जिस प्रकार उदासीनता वक्र उपभोक्ता को सन्तुलन की प्राप्ति में सहायता देते हैं। सत्य तो यह है कि उत्पादन सिद्धान्त में सामोत्पाद वक्रों को बिलकुल वही स्थान प्राप्त है जो उपभोग सिद्धान्त में उदासीनता वक्रों को दिया जाता है।

उपभोक्ता को सन्तुलनावस्था प्राप्त करने हेतु दो उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। (i) उदासीनता मानचित्र तथा (ii) बजट अथवा कीमत रेखा। ठीक इसी प्रकार सन्तुलनावस्था को प्राप्त करने के लिए एक फर्म को भी दो उपकरणों की जरूरत पड़ती है। (i) समोत्पाद मानचित्र तथा (ii) सम लागत रेखा। दूसरे शब्दों में दोनों उपकरणों के बिना फर्म अनुकूलन संयोग अथवा न्यूनतम लागत संयोग प्राप्त नहीं कर सकती।

समोत्पाद मानचित्र की व्याख्या ऊपर पहले ही की जा चुकी है। यह मानचित्र वस्तु की विभिन्न मात्राओं का उत्पादन करते हेतु उत्पादक के समक्ष जो विभिन्न तकनीकी संभावनाएँ होती हैं, उनका विस्त त ब्यौरा प्रस्तुत करता है। यही नहीं, यह मानचित्र एक निश्चित स्तर का उत्पापदन करने के लिए विभिन्न वैकल्पिक साधन-संयोगों को भी फर्म के समक्ष प्रस्तुत करता है।

सम लागत रेखा की धारणा भी कोई बिलकुल नयी धारणा नहीं है। उत्पादन के सिद्धान्त में इस रेखा को वही स्थान प्राप्त है जो उपभोग सिद्धान्त में बजट रेखा को दिया जाता है। सम-लागत रेखा दो साधनों के उन विभिन्न संयोगों को व्यक्त करती है जिन्हें फर्म एक दी हुई राशि से दी हुई कीमतों पर खरीद सकती है। इस प्रकार सम-लागत रेखा दो बातों को व्यक्त करती है- 1. दोनों साधनों की कीमतें,, तथा 2. फर्म द्वारा किया जाने वाला कुल व्यय। अब हम एक काल्पनिक उदाहरण के आधार पर सम लागत रेखा बनाएंगे। आइए, हम मान लें कि फर्म के पास 5000 रुपये की धनराशि है जिसे वह दो साधनों (अर्थात् मशीनों एवं श्रमिकों) पर व्यय करना चाहती है। यह भी मान लीजिए कि एक मशीन की कीमत, 1,000 रुपये है और एक श्रमिक की दैनिक मजदूरी 10 रुपये है। स्पष्टतया, 5,000 रुपये के व्यय से फर्म या तो 5 मशीनें खरीद सकती है और/या OM 500 श्रमिकों को और ON 5 मशीनों को व्यक्त करते है। यदि हम N तथा M बिन्दुओं को जोड़ दें तो हमें NM सम लागत रेखा प्राप्त होगी। यह NM सम लागत रेखा मशीनों तथा श्रमिकों के उन सभी संयोगों को प्रदर्शित करती है जो फर्म दी हुई कीमतों पर 5,000 रुपये की धनराशि से खरीद सकती है। सम-लागत रेखा सदैव एक सीधी रेखा होती है। यह सीधी सम-लागत रेखा दो बातों को व्यक्त करती है। 1. क्रेता फर्म का सम्बन्धित उत्पादन साधनों की बाजार कीमतों पर कोई नियन्त्रण नहीं है तथा 2. फर्म चाहे दोनों साधनों की कितनी ही इकाइयाँ खरीदे, लेकिन इसका साधनों की कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

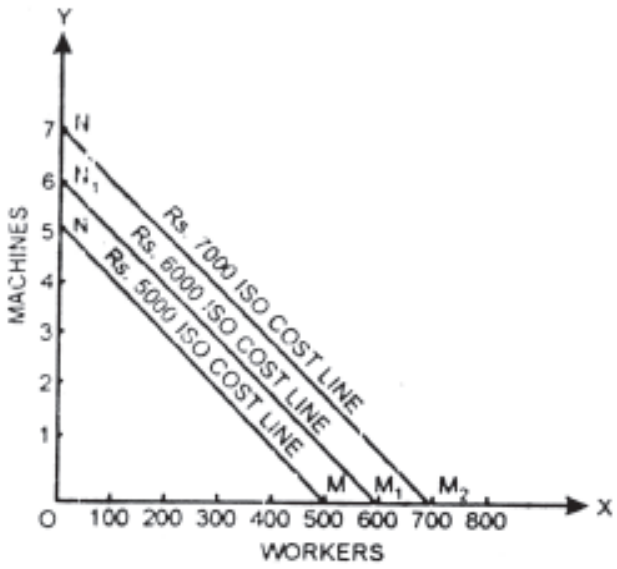

अब यदि फर्म अपने व्यय को 5,000 रुपये से बढ़ाकर 6,000 रुपये कर देती है तो सम-लागत रेखा दायीं ओर खिसक जाएगी, बशर्ते दोनों (अर्थात् मशीनों एवं श्रमिकों) की कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं होता है। नयी सम-लागत रेखा अब N_1M_1 होगी। यदि फर्म के व्यय को और अधिक बढ़ाकर 7,000 रुपये कर दिया जाता है तो सम-लागत रेखा और दायीं ओर खिसक जाएगी, लेकिन शर्त यह है कि दोनों साधनों की कीमतों में कोई परिवर्तन न हो। इस प्रकार, यदि फर्म के व्यय को उत्तरोतर बढ़ाया जाता है तो सम-लागत रेखा बराबर बायीं ओर खिसकती रहेगी। लेकिन यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण बात स्मरणीय है। उपर्युक्त रेखाकृति में प्रदर्शित विभिन्न सम लागत रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर है। इसका कारण यह है कि फर्म के व्यय में व द्धि के बावजूद दोनों साधनों की कीमतें अपरिवर्तित ही रहती हैं।

सम लागत रेखा की ढाल दो बातों से निर्धारित होती है : 1. फर्म का व्यय, तथा 2. दोनों साधनों (अर्थात् मशीनों एवं श्रमिकों) की कीमतें। यह सम-लागत रेखा श्रम की कीमत (अर्थात् मजदूरी) तथा मशीनों की कीमत के अनुपात को व्यक्त करती है। उपर्युक्त रेखाकृति में सम-लागत रेखा NM की हैं।

अर्थात् मजदूरी तथा P_m मशीनों की कीमत को व्यक्त करता है। यदि दोनों में किसी एक साधन की कीमत में परिवर्तन होता है तो सम-लागत रेखा की ढाल में समानुपातिक परिवर्तन होगा।

अब हम यह बताएँगे कि समोत्पाद वक्रों एवं सम-लागत रेखाओं की सहायता से फर्म किसी प्रकार अनुकूलतम (सर्वोत्तम) साधन-संयोग अथवा न्यूनतम लागत साधन संयेाग को प्राप्त करती है। इसे रेखाकृति में स्पष्ट किया गया है।

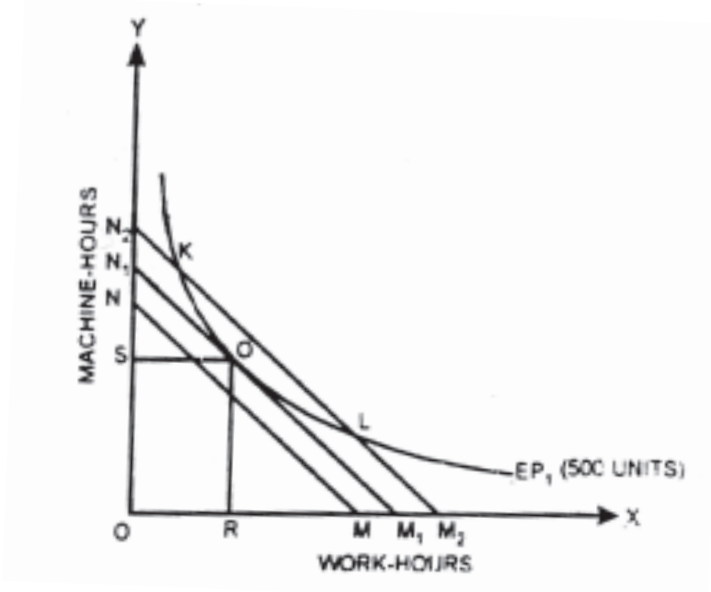

आइए, हम यह मान लें कि फर्म 500 इकाइयों का उत्पादन करने का निर्णय लेती है। इसे रेखाकृति में समोत्पाद वक्र EP_1 द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यह तो स्वाभाविक ही है कि फर्म इस उत्पादन को न्यूनतम लागत पर करना चाहेगी क्योंकि ऐसा करके ही फर्म अधिकतम लाभ कमा सकती है। दूसरे शब्दों में, इस उत्पादन स्तर को प्राप्त करने हेतु फर्म दोनों साधनों के अनुकूलतम संयोग को प्राप्त करने का प्रयास करेगी। जैसा कि रेखाकृति में दिखाया गया है, 500 इकाइयों के इस उत्पादन को फर्म K, Q, L जैसे किसी भी साधन-संयोग से प्राप्त कर सकती है क्योंकि ये सभी साधन संयोग उसी EP_1 समोत्पाद वक्र पर स्थित है। लेकिन फर्म उस साधन संयोग का चयन करेगी जिस पर सम-लागत रेखा N_1M_1 समोत्पाद वक्र EP_1 को स्पर्श करती है। इस रेखाकृति में Q साधन संयोग अनुकूलतम अथवा न्यूनतम लागत संयोग है क्योंकि इस संयोग की सहायता से फर्म 500 इकाइयों का उत्पादन न्यूनतम लागत पर कर सकती है। समोत्पाद वक्र EP_1 पर स्थित किसी अन्य बिन्दु (उदाहरणार्थ K तथा L) पर उत्पादन लागत न्यूनतम नहीं हो सकती। ये दोनों ही बिन्दु अधिक ऊँची सम लागत रेखा N_2M_2 पर स्थित है। यदि इन साधन संयोगों से 500 इकाइयों का उत्पादन किया जाता है तो लागतें ऊँची होंगी। अतः फर्म K तथा L साधन संयोगों का चयन नहीं करेगी। Q ही एक ऐसा साधन-संयोग है जो 500 इकाइयों का उत्पादन करने के

लिए अनुकूलतम अथवा न्यूनतम लागत-संयोग का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे शब्दों में, 500 इकाइयों का उत्पादन करने के लिए फर्म OR कार्य घण्टों का संयोजन SO मशीनी घण्टों के साथ करती है। जिस बिन्दु पर समोत्पाद वक्र सम लागत रेखा को स्पर्श करता है वही बिन्दु एक निश्चित स्तर का उत्पादन करने के लिए अनुकूलतम अथवा न्यूनतम लागत संयोग का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ स्पर्शिता का अभिप्रायन्यूनतम लागत से है।

अनुकूलतम साधन-संयोग की व्याख्या तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRTS) एवं दोनों साधनों के कीमत अनुपात से भी की जा सकती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि किसी विशिष्ट बिन्दु पर समोत्पाद वक्र की ढाल पर बिन्दु पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के भी व्यक्त करती है। इसी प्रकार, किसी विशिष्ट बिन्दु पर सम-लागत रेखा की ढाल दोनों साधनों के कीमत अनुपात को भी प्रकट करती है। फर्म का अनुकूलतम साधन संयोग उस बिन्दु द्वारा व्यक्त किया जाता है जहाँ पर समोत्पाद वक्र एवं सम - लागत रेखा दोनों की ढाल एक समान होती है। इसे ऐसे भी व्यक्त किया जा सकता है कि फर्म का अनुकूलतम संयोग उस बिन्दु पर स्थिति होगा जहाँ पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRTS) तथा कीमत - अनुपात एक दूसरे के बराबर होते हैं। K बिन्दु पर फर्म 500 इकाइयों का उत्पादन नहीं करेगी क्योंकि इस बिन्दु पर मशीनी घण्टों के स्थान पर कार्य घण्टों की तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर दोनों साधनों के कीमत अनुपात से अधिक है। K बिन्दु पर समोत्पद वक्र EP_1 की ढाल सम लागत रेखा N_2M_2 पर स्थित उसी बिन्दु की ढाल से अधिक है। अतः फर्म मशीन घण्टों के स्थान पर कार्य घण्टों का अधिकाधिक प्रयोग करेगी (अथवा मशीनी घण्टों का कार्य घण्टों से प्रतिस्थापन करेगी) और EP_1 वक्र पर नीचे की ओर चलती चली जाएगी। Q बिन्दु पर मशीनी घण्टों के स्थान पर कार्य घण्टों की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर दोनों साधनों के कीमत अनुपात के बराबर है। इस बिन्दु पर EP_1 समोत्पाद वक्र एवं सम-लागत रेखा N_1M_1 दोनों की ढालें बराबर है। अतः Q साधन संयोग ही वास्तव में अनुकूलतम संयोग है। फर्म L बिन्दु पर 500 इकाइयों का उत्पादन करना नहीं चाहेगी क्योंकि यह बिन्दु अधिक ऊँची सम-लागत रेखा N_2M_2 पर स्थित है। इस L बिन्दु पर मशीनी घण्टों के स्थान पर मशीनी घण्टों का अधिकाधिक प्रयोग करेगी और यह प्रक्रिया तक तक जारी रहेगी जब तक फर्म अन्ततः Q बिन्दु पर नहीं पहुँच जाती है। इस प्रकार Q बिन्दु समोत्पाद वक्र EP_1 तथा सम-लागत रेखा N_1M_1 की स्पर्शिता को व्यक्त करते हैं। इस स्पर्शिता बिन्दु पर समोत्पाद वक्र एवं सम-लागत रेखा दोनों की ढालें बराबर हैं। समोत्पाद वक्र की ढाल दोनों साधनों की सीमान्त भौतिक उत्पादकताओं के अनुपात को प्रकट करती है। यह ढाल दोनों साधनों की तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को भी व्यक्त करती है। इसके विपरीत, सम-लागत रेखा की ढाल दोनों साधनों के कीमत अनुपात का प्रतिनिधित्व करती है। यह मानते हुए कि C मशीनी घण्टों तथा L कार्य घण्टों को व्यक्त करते हैं।

समलागत वक्र
(Isocost Curves)

दिए हुए दो साधनों के संयोग से फर्म के उत्पादन की संभावनाओं को प्रकट करने वाले सम मात्रा वक्रों का अध्ययन कर लेने के बाद हम साधनों की कीमतों पर आते हैं जिन्हें सम लागत-वक्र कहते हैं। इन वक्रों को व्यय-रेखाएँ, लागत कीमत रेखाएँ, साधन-लागत रेखाएँ, स्थिर व्यय रेखाएँ आदि भी कहते हैं। प्रत्येक समलागत-वक्र दो साधनों के भिन्न-भिन्न

संयोगों को प्रकट करता है जिन्हें एक दी हुई मुद्रा की मात्रा से प्रत्येक साधन की दी हुई कीमत पर खरीद सकती है।

चित्र में तीन समलागत वक्र दिखाए गए हैं जो क्रमशः रु. 50, 75 और 100 के कुल व्यय को प्रकट करते हैं। फर्म रु. 75 से पूँजी की OC या श्रम की OD मात्रा प्राप्त कर सकती है। OC मात्रा OD की 2/3 है। जिसका अभिप्राय है कि पूँजी की एक इकाई से श्रम की एक इकाई की कीमत 1 1/3 गुणा कम है। CD रेखा पूँजी और श्रम के कीमत अनुपात को प्रकट करती है। यदि साधनों की कीमतें स्थिर रहें और कुल व्यय बढ़ा दिया जाए तो समलागत वक्र ऊपर की ओर दाएँ को सरक जाएगा जैसे CD के समानान्तर EF; और यदि कीमतों को स्थिर रखते हुए कुल व्यय घटा दिया जाए तो वह वक्र नीचे की ओर बाएँ को सरका जाएगा जैसे AB। समलागत-वक्र सरल रेखाएँ होती हैं क्योंकि साधन कीमतें स्थिर रहती हैं, चाहे फर्म का कुल व्यय कुछ भी हो। समलागत-वक्र दो आगत दो साधनों के सभी संयोगों के बिन्दु-पथ का वर्णन करते हैं। जिनसे कुल लागत समान होती है। यदि श्रम (L) को प्रति इकाई लागत W है और पूँजी (C) की प्रति इकाई लागत r, तो कुल लागतः TC = WL + r C। समलागत रेखा की ढलान श्रम और पूँजी की कीमतों का अनुपात होती है : W/y।

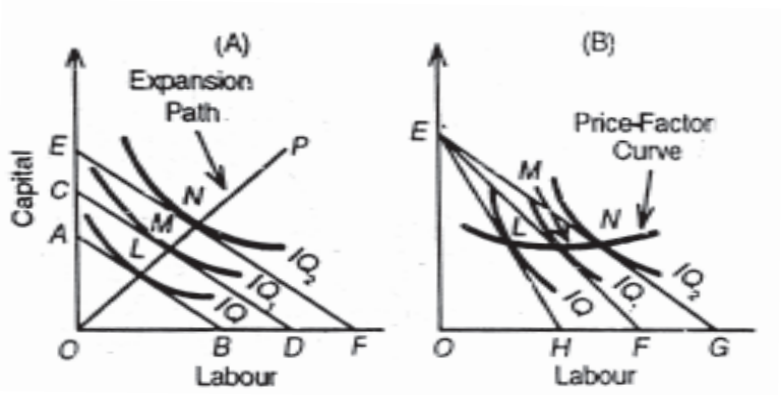

वह बिन्दु जिस पर समलागत रेखा और समलागत वक्र एक दूसरे को स्पर्श करती है, एक निश्चित उत्पादन के लिए न्यनतम-लागत संयोग को प्रकट करता है। यदि सब स्पर्श बिन्दुओं जैसे L, M, N को मिला दिया जाए तो इससे फर्म का न्यूनतम-व्यय वक्र या फर्म का विस्तार मार्ग OP बनता है। यह प्रकट करता है कि फर्म का विस्तार होने पर दो साधनों के अनुपातों में किस प्रकार परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ चित्र में न्यूनतम लागत पर 100 (IQ) इकाइयों या 300 (IQ_2) इकाइयों के उत्पादन के लिए दो साधनों, श्रम और पूँजी का अनुपात 200 (IQ_1) इकाइयों के लिए प्रयोग किए जाने वाले श्रम और पूँजी के अनुपात से भिन्न है।

उदासीनता वक्र विश्लेषण के कीमत आय वक्र की भाँति, यदि एक साधन की कीमत स्थिर रहे और दूसरा साधन सस्ता हो जाए तो समलागत रेखा दाईं ओर फैल जाएगी। यदि एक साधन दूसरे की अपेक्षा महँगा हो जाता है, तो समलागत रेखा बाईं ओर अन्दर को सिकुड जाएगी। पूँजी की कीमत दी होने पर, यदि श्रम की कीमत कम हो जाती है, तो समलागत रेखा EF चित्र के पैनल में दाई ओर फैलकर EG हो जाएगी, और यदि श्रम की कीमत बढ़ जाती है, तो समलागत रेखा EF बाई ओर अन्दर को सिकुडकर EH हो जाएगी। यदि संतुलन बिन्दुओं L, M, N को एक रेखा द्वारा मिलाया जाए तो वह कीमत-साधन वक्र कहलाती है।

तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर का नियम
(The Principle of Marginal Rate of Technical Substitution)

तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर का नियम (MRTS) उत्पादन फलन पर आधारित है, जहाँ दो साधनों को परिवर्तीय अनुपातों में इस ढंग से स्थानापन्न किया जा सकता है कि उत्पादन के स्थिर स्तर का उत्पादन किया जा सके।

दो साधनों C (पूँजी) और L (श्रम) में तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर ($MRTS_{LC}$) वह है जिस पर उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन किए बिना वस्तु X के उत्पादन में C के स्थान पर L को स्थानापन्न किया जा सकता है। हम जैसे-जैसे सममात्रा-वक्र पर नीचे की ओर दाएँ को आते हैं, तो उस वक्र पर प्रत्येक बिन्दु पूँजी के स्थान पर श्रम की स्थानापन्नता की व्यक्त करता है। MRTS पूँजी की उन निश्चित इाकइयाँ की हानि है जिनकी उस वस्तु पर श्रम की अतिरिक्त इकाइयों से ठीक क्षति-पूर्ति हो जाएगी। दूसरे शब्दों में, पूँजी के लिए श्रम की तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर एक बिन्दु पर सममात्रा-वक्र की ढलान है। इसलिए,

सममात्रा वक्र की ढलान $= MRTS_{LC} = - \Delta C/\Delta L$. इसे सममात्रा अनुसूची की सहयता से समझा जा सकता है।

संयोग	श्रम	पूँजी	$MRSTS_{LC}$	उत्पादन
1	5	9	-	100
2	10	6	3 : 5	100
3	15	4	2 : 5	100
4	20	3	1 : 5	100

तालिका यह प्रदर्शित करती है कि उत्पादन को 100 इकाइयों पर स्थिर रखने के लिए दूसरे संयोग में पूँजी की 3 इकइयाँ घटा देने पर श्रम की 5 अतिरिक्त इकाइयों की आवश्यकता है, $MRTS_{LC} = 3 : 5$. तीसरे संयोग में पूँजी की 2 इकइयों की हानि की क्षतिपूर्ति श्रम की 5 इकाइयाँ से होती है, इत्यादि।

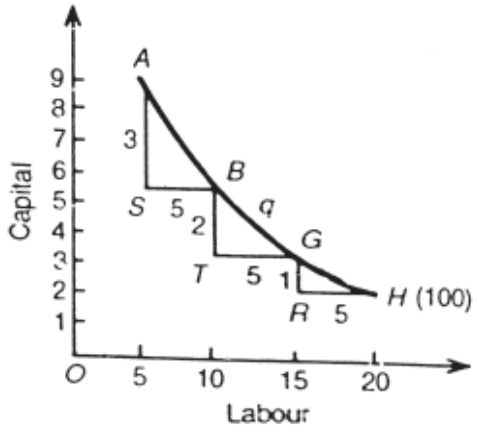

चित्र में तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर बिन्दु B पर AS/SB, बिन्दु G पर BT/TG और बिन्दु H पर GR/RH है।

तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर को यों भी व्यक्त कर सकते हैं कि कि यह श्रम के सीमान्त भौतिक उत्पादन का पूँजी के सीमान्त भौतिक उत्पादन से अनुपात है।''

या $MRTS_{LC} = MP_L/MP_C$

यद्यपि उत्पादन स्थिर रहता है, तो भी स्थानापन्नता की प्रक्रिया परिवर्तन लाती है। पूँजी की कुछ इकइयाँ हटाने से उत्पादन कम होता है, जो श्रम की अतिरिक्त इकाइयाँ लगाने से पुनः प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार, पूँजी की इकइयाँ हटाने से उत्पादन में कमी $(dC \times MP_C)$ बराबर है उत्पादन में श्रम की अतिरक्ति इाकइयां लागने से उत्पादन में लाभ $(dL \times MP_L)$। इसलिए $-dC/dL = MP_l/MP_C$, यहाँ MP_L और MP_C श्रम और पूजी की सीमांत उत्पादकताएँ हैं।

इन संबंधों को गणितीय रूप में व्यक्त किया जा सकता है। एक दिए हुए उत्पादन q के लिए, सममात्रा वक्र पर उत्पादन फलन है : $q = f(C,L)$।

सममात्रा वक्र की ढलान है : $MRTS_{LC} = -dC/dL$, जहाँ d परिवर्तन है। उत्पादन फलन का कुल अवकल है,

$dg = MP_C . dC \times MP_L . dL.$

परन्तु एक सममात्रा वक्र के साथ गति के लिए dq उत्पादन स्थिर है। इस प्रकार ऊपर के समीकरण में $dq = O$ स्थानापन्न करके,

$O = MP_C\ dC \times MP_L . dL$

क्योंकि परिभाषा द्वारा $MRTS_{LC} = -dC/dL$

$MRTS_{LC} = -dC/dL = MP_L MP_C$

अतः तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर बराबर है श्रम की पूँजी के साथ सीमांत उत्पादकता के अनुपात के।

चित्र में, सममात्रा वक्र AH के q पर ढलान = BT/TG मान लीजिए कि पूँजी की BT इकाइयाँ हटाने से, उत्पादन की एक इकाई कम हो जाती है। यह पूँजी की सीमांत उत्पादकता का उलट है, अर्थात् $1/MP_C$ और उत्पादन की इस इकाई की हानि की चतिपूर्ति करने के लिए श्रम की TG इकइयाँ चाहिए। यह श्रम की सीमांत उत्पादकता का उलट है। अर्थात् $1/MP_L$ इस प्रकार बिन्दु q पर

$$MRTS_{LC} \quad = \quad q = \quad = \frac{1}{MP_C} \div \frac{1}{MP_L} = \frac{MP_L}{MP_C}$$

चित्र में सममात्रा वक्र AH यह प्रकट करता है कि वस्तु X की 100 इकाइयों के उत्पादन के लिए साधन संयोग में जैसे-जैसे श्रम की इकाइयाँ उत्तरोत्तर बढ़ाई जाती हैं पूँजी की इकाइयों में कमी कम होती जाती है। इसका मतलब है कि तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर घटती जाती है। तकनीकी स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर का यह सिद्धान्त उदासीनता के स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर के नियम के समानान्तर है। तालिका और चित्र से साधनों की घटती सीमान्त स्थानापन्न योग्यता की प्रव त्ति स्पष्ट है। $MRTS_{LC}$ 3:5 से 1:5 तक घटती जाती है, जबकि चित्र में, अनुलम्ब रेखाओं के नीचे सममात्रा-वक्रों पर त्रिभुज छोटे होते जाते हैं, ज्यों-ज्यों हम सममात्रा-वक्र पर नीचे की ओर आते हैं $GR < BT < AS$। जैसा कि ऊपर परिभाषा दी जा चुकी है, पूँजी के लिए श्रम की MRTS उनकी सीमान्त भौतिक उत्पादकताओं के अनुपात के बराबर होती है। उत्पादन को स्थिर रखने के लिए पूँजी की

इकाइयों की हानि की क्षतिपूर्ति के पूर्ति के लिए ज्यों-ज्यों श्रम की अधिक इकइयों को प्रयोग किया जाते है, त्यों-त्यों श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पादकता घटती है और पूँजी की सीमान्त भौतिक उत्पदकता बढती है। इसलिए जब पूँजी के स्थान पर श्रम को स्थानाप्नन करते हैं, तो तकनीकी स्थानापन्नता की दर घटती जाती है। इसका अभिप्राय है कि सममात्रा-वक्र हर बिन्दु पर मूल बिन्दु के उन्नतोदर होता है।

सीमाएँ - तकनीकी स्थानापन्नता की घटतीसीमान्त दर का नियम इस मान्यता पर आधारित है कि श्रम और पूँजी को अस्थिर दर पर स्थानापन्न किया जा सकता हे। यह मान्यताएं वास्तविक हैं क्योंकि उत्पादक इकाइयों में ऐसी दशाएं होती हैं। पर इस नियम की दो सीमाएं भी हैं : एक, जहाँ श्रम और पूँजी में स्थानापन्नता बिलकुल संभव न हो और दूसरे, जहाँ वे एक-दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न हों। इनकी विवेचना नीचे की जा रही है।

1. **साधनों का निश्चित अनुपातों में प्रयोग** - चित्र में उत्पादन की तकनीकी स्थितियाँ निश्चित अनुपातों में श्रम और पूँजी के प्रयोग की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार बिन्दु A पर उत्पादन की 50 इकाइयों का उत्पादन करने के लिए, पूँजी की OC और श्रम की OL इकाइयों का प्रयोग होता है। 100 इकाइयों के उत्पादन के लिए, पूँजी की OC_1 और श्रम की OL_1 इकाइयों की जरूरत है। उत्पादन की मात्रा दुगुनी करने के लिए पूँजी और श्रम की दुगुनी इकाइयों का प्रयोग किया जाता है। L के आकार का सममात्रा वक्र यह बतलाता है कि उत्पादन को बढ़ाने के लिए श्रम और पूँजी दोनों में आनुपातिक व द्धि की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में साधन पूरक होते हैं और बिल्कुल भी स्थानापन्न नहीं किए जा सकते। सममात्रा वक्रों के अनुलम्ब भाग पर पूँजी के लिए श्रम की स्थानापन्नता की दर शून्य है, क्योंकि सममात्रा-वक्रों का ढलान बिल्कुल नहीं हैं; जबकि क्षैतिज भाग में तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर अनन्त हैं

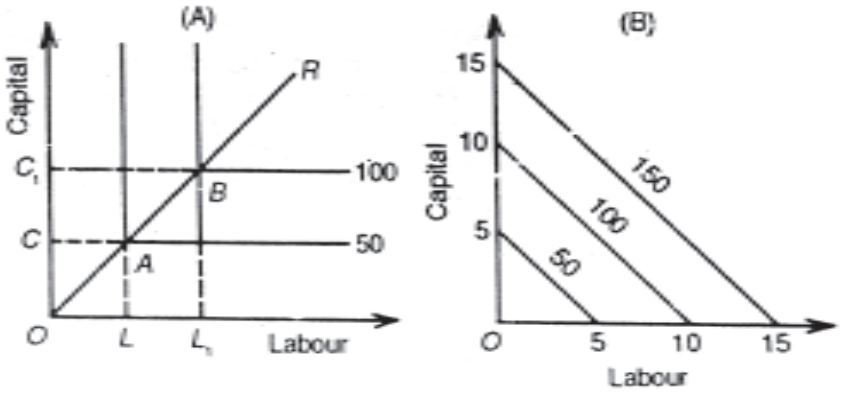

2. पूर्ण स्थानापन्न साधन - चित्र में इसके विपरीत स्थिति दिखाई गई है, जहाँ पूँजी और रम पूर्ण स्थानापन्न हैं। सममात्रा-वक्र उत्पादन की क्रमशः 50, 100 और 150 इकाइयों को प्रकट करते हैं। उत्पादन की 50 इकाइयों का उत्पादन करने के लिए या तो पूँजी की 5 और श्रम की शून्य इकाई या फिर श्रम की 5 और पूँजी की शून्य इकाई का प्रयोग होता है। इसी प्रकार श्रम या पूँजी की 10 और 15 इकाइयाँ उत्पादन की क्रमशः 100 और 150 इकाइयों का उत्पादन कर सकती हैं। इस प्रकार सममात्रा-वक्रों के सब बिन्दुओं पर पूँजी के लिए श्रम की तकनीकी स्थानापन्नता की

सीमान्त दर स्थिर है, जो न तो शून्य और न अनन्त। यह बहुत है। अवास्त विकास स्थिति है क्योंकि और श्रम और पूँजी समान साधन नहीं और इसलिए वे पूर्ण स्थानापन्न नहीं है।

निष्कर्ष - हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दो साधनों में तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर न तो शून्य होती है और न अनन्त और न ही स्थिर बल्कि यह घटती जाती है क्योंकि सममात्रा-वक्र न तो L के आकार के होते हैं और न ही सरल रेखाएँ, बल्कि वे मूल बिन्दु के उन्नतोदर होते हैं।

साधन स्थानापन्नता की लोच
(Elasticity of Substitution)

साधन स्थानापन्नता या तकनीकी स्थानापन्नता की लोच दो साधनों के बीच स्थानापन्न योग्यता की कोटि को मापती है। इस सिद्धान्त के निर्माता जे.आर. हिक्स ने इसकी परिभाषा यों की है : ''यह उस स्थिति का माप है जिसमें अन्य साधनों के स्थान पर एक परिवर्तनशील साधन को स्थानापन्न किया जा सकता है।'' यदि एक वस्तु की इकाई के लिए दो साधन निचित अनुपातों में (1 मशीन + 2 श्रमिक) चाहिए, तो उनकी स्थानापन्नता की लोच शून्य होती हैं यदि श्रम और पूँजी लगभग समरूप हों, जिससे एक दूसरे का पूर्ण स्थानापन्न हो, तो उन दोनों में स्थानापन्नता की लोच अनन्त होती हैं जब श्रम की मात्रा में व द्धि से पूँजी की सीमान्त उत्पादकता उसी अनुपात में बढ जाए जिस अनुपात में कुल उत्पादन बढ़ता है, तो स्थानापन्नता की लोच इकाई कहलती है। अतः स्थानापन्नता की लोच (σ) का मूल्य शून्य और अनन्त में कहीं भी हो सकता है। η का मूल्य जितना अधिक होगा उतनी ही दो साधनों के बीच स्थानापन्नता अधिक होगी।

पर श्रीमती जॉन राबिन्सन ने स्थानापन्नता की लोच की यह परिभाषा की है, ''यह साधनों की मात्राओं के अनुपात में आनुपातिक परिवर्तन को, उनकी सीमान्त भौतिक उत्पादकताओं के अनुपात में आनुपातिक परिवर्तन से विभक्त करने पर प्राप्त होती है।'' यदि श्रम (L) और पूँजी के दो साधन हों और उनकी सीमान्त भौतिक उत्पादकताओं अनुपात को r द्वारा व्यक्त किया जाए तो स्थानापन्नता की लोच है,

$$es = \frac{d(C / L)}{C / L} \div \frac{dr}{r}$$, जहाँ d परिवर्तन को प्रकट करती है।

जहाँ d परिवर्तन को प्रकट करती है।

प्रोफेसर हिक्स अपने Revised Version में एक प्रकार से राबिन्सन की परिभाषा को स्वीकार करता है जब वह कहता है कि पूर्ण प्रतियोगिता और पैमाने के स्थिति प्रतिफल में ''जहाँ केवल दो साधन हों, तो हम इस प्रकार एक वक्र खींच सकते हैं कि एक अक्ष पर साधनों की प्रयोग की गई मात्राओं के अनुपात को मापा जाए और साधनों के प्रति इकाई मूल्यों के अनुपात को दूसरे अक्ष पर। इस वक्र की लोच को हम स्थानापन्नता की लोच कहते हैं।''

क्योंकि दो साधनों की सीमान्त भौतिक उत्पादकता के अनुपात को तकनीकी सीमान्त उत्पादकता की दर (MRTS) कहते हैं, इसलिए स्थानापन्नता की लोच के सिद्धान्त की सममात्रा-वक्र विश्लेषण की भाषा में यों परिभाषित की जा सकती है, "साधनों के अनुपात

में आनुपातिक परिवर्तन को तकनीक स्थानापन्नता की सीमान्त दर में आनुपातिक परिवर्तन से विभक्त करना।"

गणितीय विधि से, दो साधनों श्रम और पूँजी में स्थानापन्नता की लोच है,

$$es_{LC} = \frac{Percentage\ in\ capita\ /\ labour\ ratio}{Percentage\ change\ in\ MRTS_{LC}}$$

$$\text{या } es_{LC} = \frac{d(C/L)/(C/L)}{d(MRTS_{LC})/MRTS_{LC}}$$

$$es_{LC} = \frac{d(C/L)}{(MRTS_{LC})} \times \frac{MRTS_{LC}}{C/L}$$

यह परिभाषा प्रकट करती है कि तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर में साधनों के अनुपात से उलट परिवर्तन होता है। यदि हम तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर को Y-अक्ष पर अंकित करें आदि पूँजी-श्रम अनुपात को X-अक्ष पर, तो परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाला वक्र TS स्थानापन्नता वक्र है जो चित्र में स्थानापन्नता की लोच को मापता है। बिन्दु M पर OM किरण की ढलान C/L है। इसी प्रकार, R बिन्दु M पर स्पर्श रेखा t_1 की ढलान $MRTS_{LC}$ और बिन्दु R पर स्पर्श रेखा t_2 की ढलान भी $MRTS_{LC}$ अतः इन दोनों स्पर्श रेखाओं की ढलानों के बीच का अन्तर $d(MRTS_{LC})$ है। इस प्रकार, जिस क्षेत्र में स्थानापन्नता वक्र TS चपटा है, उसमें स्थानापन्नता की लोच बहुत अधिक होती है जैसे कि L और P के बीच में। इस स्थिति में, पूँजी और श्रम अच्छे स्थानांपन्न हैं। जहाँ स्थानापन्नता वक्र प्रणाती हो, स्थानापन्नता की लोच कम होती है जैसे TS वक्र R और L के बीच। यहाँ श्रम और पूँजी अच्छे स्थानापन्न नहीं है। M बिन्दु पर जहाँ स्थानापन्नता वक्र अनुलम्ब है, स्थानापन्नता की लोच शून्य बन जाती है। क्योंकि $MRTS_{LC}$ में एक निश्चित प्रतिशत परिवर्तन नहीं होता। S स्थनापन्नता की अनन्त लोच का बिन्दु है, जहाँ $MRTS_{LC}$ में एक निश्चित प्रतिशत परिवर्तन से पूँजी-श्रम अनुपात में बहुत ही अधिक परिवर्तन हो जाता है। बिन्दु L के गिर्द स्थानापन्नता की लोच इकाई है क्योंकि MRTS में एक निश्चित प्रतिशत परिवर्तन से पूँजी-श्रम अनुपात में बराबर का परिवर्तन होता है।

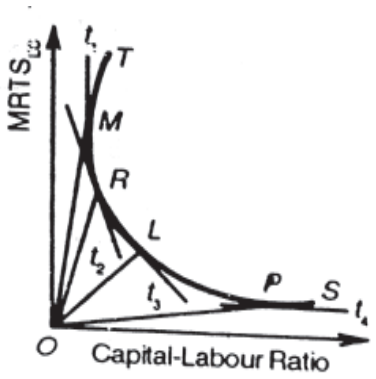

स्थानापन्न्ता की लोच के इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जब स्थानापन्नता की लोच इकाई हो, तो उत्पादन स्थिर प्रतिफल के नियम का पालन करता है, इकाई से अधिक लोच, बढ़ते प्रतिफल और इकाई से कम लोच, घटते प्रतिफल से सम्बन्ध प्रकट करती है।

परिवर्तनशील अनुपातों का नियम
(The Law of Variable Proportions)

सममात्रा वक्र विश्लेषण की सहायता से हम परिवर्तनशील अनुपातों के नियम के व्यवहार या उस अल्पकालीन उत्पादन-फलन की व्याख्या कर सकते हैं जबकि एक साधन स्थिर हो, और दूसरा परिवर्तनशील।

मान लीजिए कि पूँजी स्थिर साधन है और श्रम परिवर्तनशील साधन है। चित्र में OA और OB कूट रेखाएँ हैं तथा उनके बीच पूँजी एवं श्रम की आर्थिक द ष्टिकोण से संभव इकाइयाँ, उत्पादन की 100, 200, 300,400 एवं 500 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए लगाई जा सकती हैं। इसका अभिप्राय है कि सममात्र वक्रों के इन भागों में पूँजी एवं श्रम की उत्पादकता धनात्मक है। दूसरी ओर, जहाँ, कूट रेखाएँ सममात्रा वक्रों को काटती हैं, साधनों का सीमान्त उत्पादकता शून्य है। उदाहरणार्थ, H बिन्दु पर पूँजी का सीमान्त उत्पादकता शून्य है तथा बिन्दु L पर श्रम का सीमांन्त उत्पादकता शून्य है। जिस सममात्रा वक्र का भाग कूट रेखा से बाहर होगा, उस साधन का समांत उत्पादकता ऋणात्मक होगा। उदाहरण के तौर पर, पूँजी की सीमांनत उत्पादकता G बिन्दु पर तथा श्रम का सीमांत उत्पाद R बिन्दु पर ऋणात्मक है।

परिवर्तनशील अनुपातों का नियम यह बताता है कि उत्पादन की तकनीक दी होने पर, एक परिवर्तनशील साधन जैसे श्रम की अधिक-से-अधिक इकाइयाँ एक स्थिर साधन, जैसे पूँजी, पर लगाने से उत्पादन में अनुपात से अधिक व द्धियाँ होंगी, जब तक कि एक विशेष बिन्दु नहीं आ जाते है और उसके बाद उत्पादन में अनुपात से कम व द्धियाँ होंगी। क्योंकि यह नियम उत्पादन में व द्धियों के बारे में बताता है, इसलिए यह सीमांत उत्पाद से संबंधित हैं इस नियम को समझाने के लिए पूँजी को स्थिर साधन तथा श्रम को परिवर्तनशील साधन लिया गया है। चित्र में सममात्रा वक्र उत्पादन के विभिन्न स्तर दर्शाते हैं। OC पूँजी की स्थिर मात्रा है जो एक समानान्तर रेखा CD द्वारा दिखाई गई है। जब हम इस रेखा पर दाईं ओर C से D की ओर चलते हैं तो इस पर विभिन्न बिन्दू पूँजी की स्थिर मात्रा OC के साथ लगातार बढती हुई श्रम की मात्राओं के सयोगों के प्रभाव को दिखाते हैं।

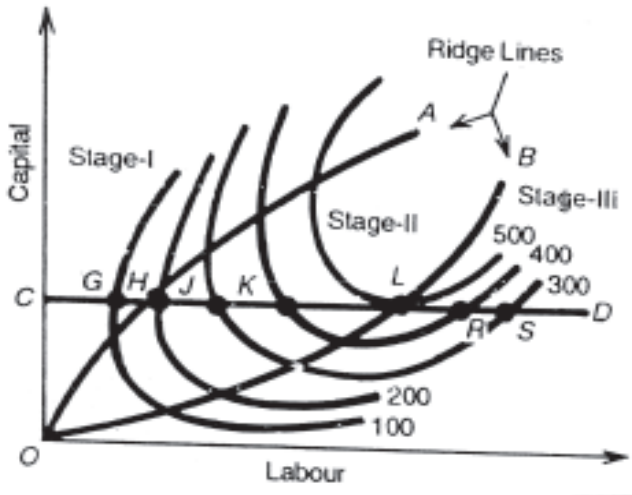

प्रारंभ में जब हम C से G और H पर पहुँचते हैं, तो यह परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की प्रथम स्टेज, बढते सीमान्त प्रतिफल को दिखाती है। जब OC पूँजी के साथ CG श्रम लगाया जाता है तो उत्पादन 100 होता है। उत्पादन की 200 इकाइयों उत्पादित करने के लिए, श्रम

की मात्रा GH बढा दी जाती है जबकि पूँजी की मात्रा OC स्थिर ही रहती है। उत्पादन तो दुगुना हो जाता है परन्तु श्रम की मात्रा उत्पादन के अनुपात में नहीं बढाई गई है, GH > CG इसका मतलब है कि श्रम शक्ति में छोटी व द्धियों से उत्पादन में समान व द्धियाँ हुई हैं। अतः C से H`परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की प्रथम स्टेज है जिसमें सीमान्त उत्पाद बढ़ता है क्योंकि जब अधिक उत्पादन किया जाता है तो श्रम का प्रति इकाई उत्पादन बढता है।

परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की दूसरी अवस्था सममात्रा-वक्रों का वह भाग है जो दो कूट-रेखाओं OA और OB के बीच स्थित है। जब श्रम की अधिक मात्रा लगाई जाती है तो लगाई गई श्रम की मात्रा की व द्धि के अनुपात से कुल उत्पादन में कम व द्धि होती है। यह H और L बिन्दुओं के बीच घटते सीमान्त प्रतिफलों की स्टेज है। उत्पादन को 200 से 300 इकाइयों पर लाने के लिए श्रम की HJ मात्रा लगाई जाती है। फिर, उत्पादन को 300 से 400 बढाने के लिए श्रम की JK मात्रा तथा 400 से 500 बढाने के लिए श्रम की और अधिक मात्रा KL अपेक्षित है। अतः उत्पादन की 100 इकाइयाँ बढाने के लिए हर बार परविर्तनशील साधन की उत्तरोत्तर अधिक इकाइयाँ स्थिर साधन के लिए लगानी पड़ती हैं, KL > JK > HJ. जिसका अभिप्राय है कि H और K के बीच श्रम का सीमान्त उत्पाद क्रमशः कम होता जाता है जब इसकी अधिक इकाइयाँ लगाई जाती हैं। यह परिवर्तनशील अनुपातें के नियम की दूसरी अवस्था है जिसे घटते प्रतिफल की अवस्था कहते हैं।

यदि श्रम की मात्रा और बढा दी जाए, तो हम नीची कूट-रेखा OB के बाहर आ जाते हैं और परितर्वनशील अनुपातों के नियम की तीसरी अवस्था में प्रवेश करते हैं। इस क्षेत्र में, जो कूट रेखा OB से नीचे स्थित है। इस प्रकार श्रम से बहुत अधिक काम लिया जा रहा है और उसकी उत्पादकता ऋणात्मक हो गई। इस प्रकार श्रम से बहुत अधिक काम किया जा रहा है और उसका सीमांत उत्पाद ऋणात्मक हो गया है। दूसरे शब्दों में, जब श्रम की मात्रा LR और RS बढाई जाती है तो उत्पादन बढने के अपेक्षा 500 से 400 से 300 इकाइयाँ कम हो जाता है। यह ऋणात्मक सीमान्त प्रतिफल की स्टेज है।

हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की दूसरी अवस्था में उत्पादन करना ही फर्म के लिए लाभदायक है क्योंकि कूटरेखा के बाएँ और दाएँ के भागों में जो नियम की क्रमशः पहली और तीसरी अवस्था बनाते हैं, उत्पादन करना हानिकर होगा।

पैमाने के प्रतिफल के नियम
(The Laws of Returns of Scale)

पैमाने के प्रतिफल के नियमों की भी सममात्रा वक्रों की धारणा से व्याख्या की जाते सकती है। पैमाने के प्रतिफल के नियमों से अभिप्राय साधनों के पैमाने में परिवर्तन के उत्पादन पर प्रभावों से है जब साधनों के संयोग किसी अनुपात में परिवर्तित किए जाते हैं। यदि दो साधनों, श्रम और पूँजी, को समान अनुपात में बढा देने से उत्पादन बिलकुल उसी अनुपात में बढ़ता है, तो पैमाने के प्रतिफल स्थिर होते हैं। यदि उत्पादन में समान व द्धियाँ प्राप्त करने के लिए, दोनों साधनों को बडी आनुपातिक इकाइयों में बढा दिया जाता है, तो पैमाने के घटते प्रतिफल होते हैं। यदि उत्पादन में समान व द्धियाँ प्राप्त करने के लिए, दोनों साधनों को थोड़ी आनुपातिक इकाइयों में बढ़ा दिया जाता है, तो पैमाने के बढ़ते प्रतिफल होते हैं।

पैमाने के प्रतिफलों के चित्र में एक प्रसार पथ पर 'उत्पादन-के-बहु-स्तर' क्रमिक सममात्रा वक्रों के बीच अन्तर द्वारा दिखाया जा सकता है, अर्थात्, सममात्रा वक्र जो उत्पादन के ऐसे स्तर दर्शाते हों जो उत्पादन के किसी आधार स्तर के गुणज हैं, जैसे 100, 200, 300 आदि।

पैमाने के बढते प्रतिफल

चित्र में पैमाने के बढ़ते प्रतिफलों को दर्शाता है जहाँ उत्पादन की समान व द्धियाँ प्राप्त करने के लिए, दोनों साधनों, श्रम और पूँजी, की उत्तरोत्तर कम आनुपातिक व द्धियाँ चाहिए। जैसे चित्र में

उत्पादन में 100 इकाइयों के लिए चाहिए 3C + 3L

उत्पादन में 200 इकाइयों के लिए चाहिए 5C + 5L

उत्पादन में 300 इकाइयों के लिए चाहिए 6C + 6L

जिससे प्रसार पथ OR पर OA > AB > BC इस स्थिति में, उत्पादन फलन एक से अधिक कोटि का समरूप है।

पैमाने के बढ़ते प्रतिफल मशीनों, प्रबंधकर्ता, श्रम, वित्त आदि में अविभाज्यताओं के कारण पाए जाते हैं। कुछ उपकरणों या क्रियाओं के न्यूनतम आकार होते हैं और उन्हें छोटे आकारों में विभाजित नहीं किया जा सकता है जब कोई व्यावसायिक इकाई फैलती है, तो पैमाने के प्रतिफल बढते हैं क्योंकि अविभाज्य साधनों को उनकी पूरी क्षमता तक लगाया जाता है।

पैमाने के बढते प्रतिफल विशेषीकरण और श्रम विभाजन का भी परिणाम होते हैं। जब फर्म का पैमाना फैलता है तो विशेषीकरण और श्रम विभाजन का क्षेत्र विस्त त होता है जिससे दक्षता बढती है और पैमाने के प्रतिफलों में व द्धि होती है। आगे, जब फर्म फैलती है तो उसे उत्पादन की आन्तरिक किफायतें प्राप्त होती हैं जिससे वह बेहतर मशीनें लगा सकती है, अधिक आसानी से वस्तुओं को बेच सकती है, सस्ती दर पर मुद्रा उधार ले सकती है, अधिक कुशल प्रबंधकों और श्रमिकों की सेवाएँ प्राप्त कर सकती है। ये सभी किफायतें पैमाने के प्रतिफलों को अनुपात से अधिक बढ़ाने में सहायक होती है।

केवल इतना ही नहीं, बाहरी किफायतों के कारण भी फर्म पैमाने के बढ़ते प्रतिफलों के लाभ उठाती है। जब अपनी दीर्घकालीन माँग को पूरा करने के लिए उद्योग अपना विस्तार करता है तो बाहरी किफायतें उत्पन होती हैं, जिनके उद्योग की सभी फर्मो को लाभ होते हैं। जैसे बहुत सी फर्मो के एक स्थान पर केन्द्रित होने से कुशल श्रम, उधार और यातातयात की सुविधाओं का आसानी से मिलना। सहायक उद्योगों की स्थापना, व्यापार पत्रिकाओं, शोध और अनुसंधान केन्द्रों का खुलना आदि जो फर्मो की उत्पादन क्षमता को बढाने में सहायक होते हैं। इस प्रकार की बाहरी किफायतों से पैमाने के प्रतिफल बढते हैं।

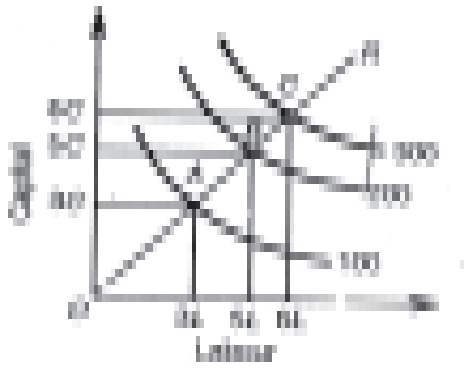

पैमाने के घटते प्रतिफल

चित्र में घटते प्रतिफलों को दर्शाता है, जहाँ उत्पादन में समान व द्धियाँ प्राप्त करने के लिए, उत्तरोत्तर श्रम और पूँजी दोनों की आनुपातिकता से अधिक व द्धियाँ चाहिए। जैसे चित्र में

उत्पादन की 100 इकाइयों के लिए चाहिए 2C + 2L

उत्पादन की 200 इकाइयों के लिए चाहिए 5C + 5L

उत्पादन की 300 इकाइयों के लिए चाहिए 9C + 9L

जिससे प्रसार पथ OR पर OG < GH < HK.

इस स्थिति में, उत्पादन फलन एक से कम कोटि का समरूप है पैमाने के घटते प्रतिफल निम्नलिखित कारणों से प्रारंभ हो सकते हैं। अविभाज्य साधन अकुशल और कम उत्पादक हो सकते हैं। व्यापार भारी-भरकम हो सकता है जिससे ताल-मेल और देख-भाल की समस्याएँ खडी हो सकती हैं। प्रबन्ध का विस्तार होने से नियंत्रण और कठोरताओं की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन आन्तरिक अमितव्ययिताओं के साथ पैमाने की बाहरी अमितव्ययिताएँ मिल जाती हैं। ये ऊँची साधन कीमतों या साधनों की घटती उत्पादकता से उत्पन्न होती हैं। जब उद्योग का विस्तार जारी रहता है, तो प्रशिक्षित श्रम, भूमि, पूँजी आदि की माँग बढ़ जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता के कारण मजदूरी लगान और ब्याज की दरें बढ़ जाती हैं। कच्चे माल की कीमतें भी बढ़ जाती हैं। यातायात और मार्किटिंग की समस्याएं पैदा हो जाती हैं। इन सब कारणों से लागतें बढ़ने लगती हैं और फर्मो के विस्तार से पैमाने का प्रतिफल घटने लगता है।

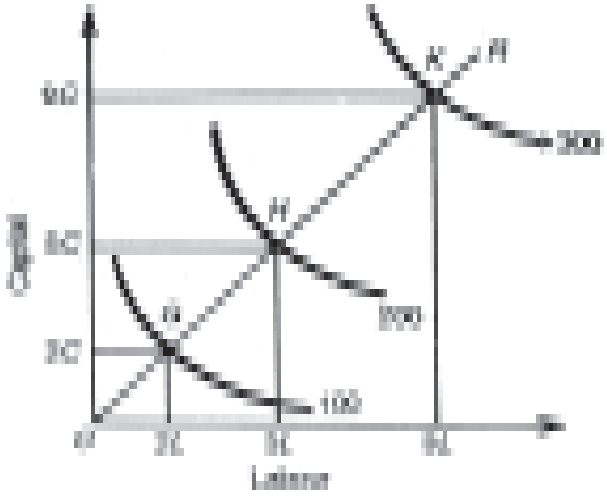

पैमाने के स्थिर प्रतिफल

चित्र में पैमाने के स्थिर प्रतिफल दर्शाता है, जहाँ सममात्रा वक्रों 100, 200 और 300 के बीच अन्तर OR प्रसार पथ पर समान है, अर्थात् OD = DE = EF इसका अभिप्राय है कि यदि श्रम और पूँजी दोनों साधनों की इकाइयों को दुगुना कर दिया जाता है तो उत्पादन भी दुगुना हो जाता है। उत्पादन को तिगुना करने के लिए दोनो साधनों की इकाइयों को तिगुना कर दिया जाता है। जैसे चित्र में

उत्पादन की 100 इकाइयों के लिए चाहिए। (2C + 2L) = 2C + 2L

उत्पादन की 200 **इकाइयों के लिए चाहिए** $2(2C + 2L) = 4C + 4L$

उत्पादन की 300 **इकाइयों के लिए चाहिए** $3(2C + 2L) = 6C + 6L$

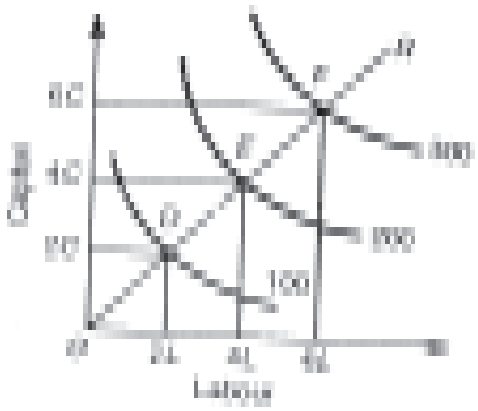

पैमाने के प्रतिफल स्थिर होते हैं जब एक फर्म द्वारा प्राप्त आंतरिक किफायतें और आंतरिक अमितव्ययिताएँ निष्प्रभावित हो जाती है, जिससे उत्पादन उसी अनुपात में बढता है। दूसरा कारण बाहरी किफायतों और बाहरी अमितव्ययिताओं को बराबर होना है। पैमाने के स्थिर प्रतिफल इस कारण भी होते हैं जब उत्पादन के साधन विभाज्य, स्थानापन्न और समरूप हों तथा दी हुई कीमतों पर उनकी आपूर्तियाँ पूर्ण लोचदार होती है। इसलिए पैमाने के स्थिर प्रतिफलों के लिए उत्पादन फलन समरूप एक कोटि का होता है।

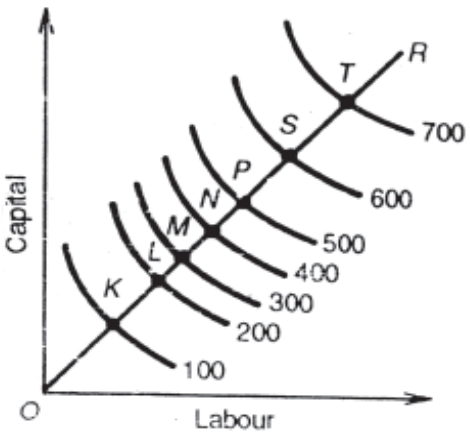

हमने ऊपर पैमाने के तीनों नियमों की अलग-अलग व्याख्या इस मान्यता पर की है कि फर्म की तीन प्रक्रिया उत्पादन के समस्त रेंजों पर एक ही प्रतिफल दर्शाती है, जैसे कि चित्र केवल बढते प्रतिफल, चित्र केवल घटते प्रतिफल और चित्र केवल स्थिर प्रतिफल। फिर भी, उत्पादन की तकनीकी स्थितियां ऐसी हो सकती हैं कि पैमाने के प्रतिफल उत्पादन की विभिन्न रेंजों पर बदल सकते हैं। कुछ रेंज पर, हमें पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त हो सकते हैं, जबकि दूसरी रेंज पर हमें पैमाने के बढते या घटते प्रतिफल प्राप्त हो सकते हैं।

इसे समझाने के लिए हम मूल बिन्दु से एक विस्तार पथ OR **खींचते हैं। उत्पादन की समान व द्धियों अर्थात्** 100, 200, 300 **इत्यादि को प्रकट करने वाले क्रमिक सममात्रा विस्तार पथ को टुकडों में बांट देते हैं। जैसे-जैसे हम विस्तार पथ के साथ-साथ चलते हैं, क्रमिक**

सममात्रा वक्रों में अन्तर घटता जाता है। यह पैमाने के बढते प्रतिफल की स्थिति है। चित्र में यह अवस्था K से M तक दिखाई गई है जहाँ KL और LM में अन्तर क्रमिक रूप से घटता जाता है; $LM < KL$. इस प्रकार, फर्म को उत्पादन की समान व द्धियों का उत्पादन करने के लिए श्रम और पूँजी की कम मात्रा में व द्धि की जरूरत पडती है।

यदि सममात्रा-वक्रों के दो खण्डों का अन्तर समान हो तो पैमाने का प्रतिफल स्थिर होता है। यदि श्रम और पूँजी की मात्रा दुगुनी कर दी जाए तो उत्पादन भी दुगुना हो जाएगा। इस प्रकार जब उत्पादन 300 से बढकर 400, और 500 इकाइयों पर आता है, तो इन उत्पादन के स्तरों को प्रकट करने वाले सममात्रा वक्र बिन्दु P तक, विस्तार पथ पर समान खण्ड काटते हैं अर्थात् $MN = NP$.

यदि पैमाने का प्रतिफल घटता हुआ हो, तो विस्तार पथ पर दो सममात्रा-वक्रों के बीच की दूरी बड़ी हो जाएगी। $ST > PS$. इसका अभिप्राय है कि उत्पादन में समान व द्धियों लिए श्रम और पूँजी की मात्रा में अपेक्षाक त अधिक व द्धि चाहिए। इस प्रकार, एक ही प्रसार पथ पर K से M तक पैमाने के बढते प्रतिफल हैं, M से P तक पैमाने के स्थिर प्रतिफल हैं और P से T तक पैमाने के घटते प्रतिफल हैं।

पैमाने के प्रतिफल और साधन के प्रतिफल में संबंध
(Relation Between Returns to Scale and Returns to a Factor)

एक साधन के प्रतिफल का संबंध अल्पकालीन उत्पादन संतुलन से है जब अधिक उत्पादन करने के लिए एक साधन को परिवर्तित और दूसरे साधन को स्थिर रखा जाता है, तो परिवर्तनशील साधन के सीमांत प्रतिफल या सीमांत भौतिक उत्पादकता कम होते हैं। दूसरी ओर, पैमाने के प्रतिफल का संबंध दीर्घकालीन उत्पादन फलन से होता है, जब एक फर्म अपने एक या अधिक साधनों को परिवर्तित करके अपने उत्पादन के पैमाने को बदलती है। पैमाने के प्रतिफल स्थिर होते है। जब उत्पादन उसी अनुपात में बढता है जिस अनुपात में साधनों की इकाईयाँ बढती हैं। पैमाने के प्रतिफल बढते हैं जब उत्पादन में व द्धि अनुपात में व द्धि अनुपात में साधनों की इकाइयों में व द्धि से अधिक होती है। पैमाने के प्रतिफल घटते हैं यदि उत्पादन में व द्धि अनुपात में साधनों की इकाइयों में व द्धि से कम होती है।

हम एक साधन के प्रतिफल और पैमाने के प्रतिफल में संबंध की विवेचना निम्नलिखित मान्यताओं के आधार पर करते हैं:

1. उत्पादन के केवल दो साधन, श्रम और पूँजी हैं।
2. श्रम परिवर्तनशील साधन है और पूँजी स्थिर साधन है।
3. उत्पादन फलन समरूप है।

ये मान्यताएँ दी होने पर, हम पहले पैमाने के स्थिर प्रतिफल और एक परिवर्तनशील साधन के प्रतिफल को चित्र द्वारा समझाते हैं जहाँ OS प्रसार पथ है जो पैमाने के स्थिर प्रतिफल दर्शाता है, क्योंकि प्रसार पथ पर दो सममात्रा वक्रों 100 और 200 के बीच अन्तर बराबर है, अर्थात् $OM = MN$. उत्पादन की 100 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए $OC + OL$ पूँजी ओर श्रम की मात्राएँ लगाने से फर्म M बिन्दु पर पहँचती है। उत्पादन की दुगुनी (200) इकाइयों के लिए श्रम और पूँजी की दुगुनी मात्राएँ $OC_2 + OL_2$ लगाने से फर्म N बिन्दु पर पहुँचती है। इस प्रकार, पैमाने के प्रतिफल स्थिर हैं क्योंकि $OM = MN$.

यह सिद्ध करने के लिए कि परिवर्तनशील साधन के प्रतिफल कम होते हैं। हम पूँजी की OC मात्रा को स्थिर साधन लेते हैं जिसे CC_1 रेखा द्वारा दिखाया गया है। C को स्थिर रखते हुए यदि श्रम की मात्रा को LL_2 द्वारा दुगुना कर दिया जाता है, तो हम K बिन्दु पर पहुँचते हैं जो सममात्रा वक्र 200 की अपेक्षा एक नीचे सममात्र वक्र 150 पर स्थित है। C को स्थिर रखते हुए, यदि उत्पादन का 100 से 200 इकाइयाँ करके दुगुना करना हो, तो श्रम की L_3 इकाइयों की आवश्यकता पड़ेगी। परन्तु $L_3 > L_2$. इस प्रकार, C को स्थिर रखकर श्रम की इकाइयाँ दुगुनी करने से, उत्पादन दुगने से कम होता है। यह P बिन्दु पर 200 इकाइयों की बजाए K बिन्दु पर 150 इकाइयाँ है। यह दर्शाता है कि परिवर्तनशील साधन, श्रम के सीमांत प्रतिफल कम हुए हैं। जैसाकि स्टोनियर और हेग ने व्यक्त किया है, ''इसलिए, यदि उत्पादन फलन सदैव प्रथम कोटि का समरूप हो तो और यदि पैमाने के प्रतिफल सदैव स्थिर हों तो सीमांत भौतिक उत्पादकता (प्रतिफल) सदैव कम होंगे।''

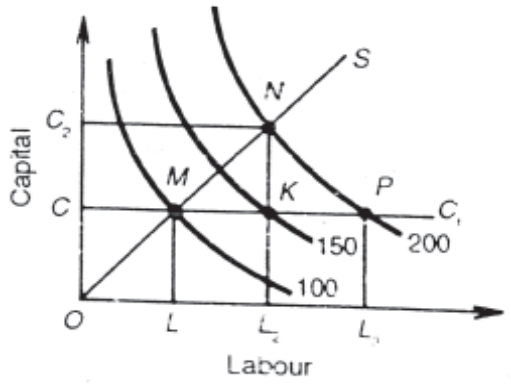

पैमाने के घटते प्रतिफल और परिवर्तनशील साधन के प्रतिफल में संबंध को चित्र द्वारा समझाया गया है, जहाँ प्रसार पथ OS पैमाने के घटते प्रतिफल दर्शाता है क्योंकि इसका खंड MN > OM. इसका अभिप्राय है कि उत्पादन को दुगुना 100 से 200 करने के लिए दोनों साधनों की दुगुने से अधिक मात्राएँ चाहिए विकल्प में, यदि साधनों को $OC_2 + OL_2$ पर दुगुना कर दिया जाता है, तो वे फर्म को उत्पादन के कम स्तर सममात्रा वक्र 175 के बिन्दु R पर ले जाएंगे जो सममात्र वक्र 200 से नीचे है। यह पैमाने के घटते प्रतिफल दर्शाता है। यदि C को स्थिर रखा जाए और परिवर्तनशील साधन, श्रम, की मात्रा को LL_2 द्वारा दुगुना कर दिया जाए, तो हम बिन्दु K पर पहुँचते है कि परिवर्तनशील साधन,श्रम के सीमांत प्रतिफल (या सीमांत भौतिक उत्पादकता) कम होते हैं।

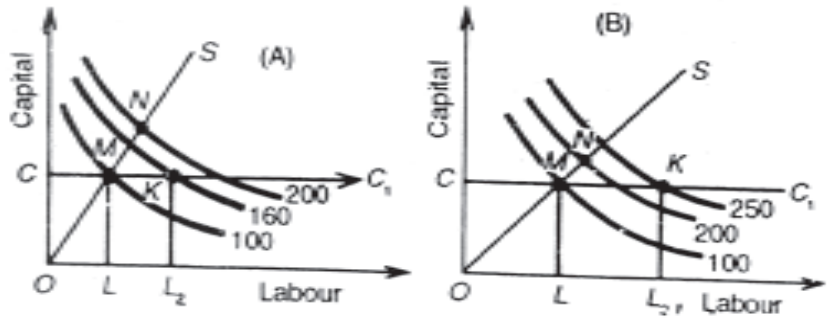

अब हम पैमाने के बढते प्रतिफल और परिवर्तनशील साधन के प्रतिफल के बीच संबंध लेते हैं। इसे चित्र में दर्शाया गया है। पेनल में, प्रसार पथ OS पैमाने के बढते प्रतिफल को व्यक्त करता है, क्योंकि भाग OM > MN. इसका मतलब है कि उत्पादन को 100 से 200 करने के लिए, दोनों साधनों की दुगुनी से कम मात्राएँ चाहिए। यदि C को स्थिर रखा जाता है और परिवर्तनशील साधन, श्रम, की मात्रा को LL_2 द्वारा दुगुना कर दिया जाता है, तो उत्पादन का K स्तर सममात्रा 200 से नीचे सममात्रा वक्र 160 पर पहुँचता है जो घटते सीमांत प्रतिफल को व्यक्त करता है।

यदि पैमाने के प्रतिफल तेजी से बढते हैं, अर्थात् वे बहुत धनात्मक हैं, तो वे परिवर्तनशील साधन, श्रम, के घटते प्रतिफलों को निष्क्रिय कर देंगे। ऐसी स्थिति बढते सीमांत प्रतिफल लाती है। इसकी पेनल द्वारा व्याख्या की गई है जहाँ प्रसार पथ OS पर भाग OM ? MN पैमाने के बढते प्रतिफल दर्शाता है। जब परिवर्तनशील साधन, श्रम, को LL_2 मात्रा द्वारा दुगुना किया जाता है, C को स्थिर रखकर, तो हम सममात्रा वक्र 250 के बिन्दु K पर पहुँचते हैं जो सममात्रा वक्र 200 से ऊपर स्थित है। यह सिद्ध करता है कि परिवर्तनशील साधन, श्रम के सीमांत प्रतिफलों में व द्धि हुई है जबकि पैमाने के प्रतिफल बढ़ रहे हैं।

निष्कर्ष - ऊपर के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक समरूप उत्पादन फलन के अन्तर्गत जब एक स्थिर साधन का परिवर्तनशील साधन के साथ संयोग किया जाए, तो परिवर्तनशील साधन के प्रतिफल घटते हैं जब पैमाने के प्रतिफल स्थिर, घटते और बढते रहते हैं। फिर भी, यदि पैमाने के तेजी से बढते प्रतिफल हों, तो परिवर्तनशील साधन के सीमांत प्रतिफल घटने की बजाए बढते हैं।

लागतों की प्रक ति तथा लोच
(The Nature of Costs and Cost Elasticity)

फर्म की लागत उसकी पूर्ति को निर्धारित करती है पूर्ति और माँग द्वारा कीमत निर्धारित होती है। कीमत निर्धारण की प्रक्रिया और पूर्ति शक्तियों को समझने के लिए हमें लागत की प्रक ति को समझना होगा। इस अध्याय में हम लागतों की कुछ महत्त्वपूर्ण धारणाओं, लागतों के परम्परागत और आधुनिक सिद्धांत और लागतों की लोच का अध्ययन करेंगे।

लेखांकन और आर्थिक लागतें
(Accounting and Economic Costs)

किसी फर्म द्वारा एक वस्तु के उत्पादन में किए गए कुल मुद्रा व्यय को मुद्रा लागतें कहते हैं। इसमें श्रम की मजूदरी और वेतन; कच्चे माल कम लागत; मशीनों और उपकरणों का खर्च; मशीनों के मूल्यह्रास और घिसने और ब्याज; बिल्डिंग तथा अन्य पूँजी-पदार्थ और बिल्डिंग का किराया; उधार ली हुई पूँजी का ब्याज; बिजली, ईंधन, यातायात और विज्ञापन; तथा बीमे का खर्च और सब प्रकार के कर शामिल हैं। ये लेखांकन लागतें हैं जो एक उद्यमी उत्पादन के विभिन्न साधनों को भुगतान करने के लिए ध्यान में रखता है। ये मुद्रा लागतें सुनिश्चित लागतें (explicit costs) कहलाती हैं जो एक लेखाकार फर्म की लेखा पुस्तकों में दर्ज करता है। लेकिन एक अन्य प्रकार की भी आर्थिक लागतें होती हैं जिन्हें अंतर्निहित लागतें (imputed costs) कहते हैं। उद्योग के अपने स्रोतों और सेवाओं का आरोपित मूल्य (imputed value) अंतर्निहित लागत हैं। प्रबन्धकर्ता-मालिक का वेतन, जो वेतन न लेकर सामान्य लाभ से ही संतुष्ट है; यदि बिल्डिंग उद्योगपति की अपनी हो, तो उसका अनुमानित किराया; और मार्किट

की ब्याज दर पर उद्योगपति की अपनी लगाई हुई पूँजी का ब्याज, लागत में आते हैं। अतः आर्थिक लागतों में लेखांकन लागतें जमा अंतर्निहित लागतें शामिल होती हैं, अर्थात् सुनिश्चित तथा अंतर्निहित दोनों प्रकार की लागतें।

उत्पादन लागतें
(Production Costs)

उत्पादन की इन कुल लागतों को दो भागों में बाँटा जाता है; परिवर्तनशील लागतें और स्थिर लागतें।

कुल परिवर्तनशील लागतें (Total Variables Costs) - वे खर्च होते हैं जो फर्मों का उत्पादन में परिवर्तन होने पर परिवर्तित हो जाते हैं। अधिक उत्पादन के लिए श्रम, कच्चे माल, शक्ति, ईंधन आदि उपकरणों की अधिक मात्रा की जरूरत होती है, जिनसे उत्पादन का खर्च बढ़ जाता है। जब उत्पादन कम हो जाता है, तो परिवर्तनशील लागतें भी घट जाती हैं और उत्पादन के बिल्कुल बन्द हो जाने पर वह समाप्त हो जाती है। मार्शल ने परिवर्तनशील लागतों को उत्पादन की प्रमुख लागतें (prime costs) कहा है।

कुल स्थिर लागतें (Total fixed costs) - जिन्हें मार्शल पूरक लागतें (supplementary costs) कहता है, उत्पादन के वे खर्च होते हैं, जो उत्पादन में परिवर्तन होने पर परिवर्तित नहीं होते। किराए और ब्याज का भुगतान, अवमूल्यन खर्च, स्थायी स्टॉफ की मजदूरी और वेतन स्थायी लागतें हैं, जो अस्थायी रूप से उत्पादन बन्द हो जाने पर भी फर्म को खर्च करनी पड़ती हैं। क्योंकि ये लागतें उत्पादन के सामान्य खर्चों के अतिरिक्त होती हैं, इसलिए इन्हें व्यापार की भाषा में उपरि लागतें (overhead costs) कहते हैं।

कुल लागत, परिवर्तनशील लागत और स्थिर लागत के संबंध को तालिका में दिखाया गया है जिसमें पहला स्तम्भ (column) 0 से 10 इकाई तक उत्पादन के भिन्न स्तरों को प्रकट करता है। स्तम्भ (2) बताता है कि उत्पादन के भिन्न स्तरों पर स्थिर लागत रु. 300 रहती है। स्तम्भ (3) से कुल परिवर्तनशील लागतें हैं, जो शून्य उत्पादन पर शून्य हैं और उत्पादन में व द्धि के साथ-साथ लगातार बढती जाती हैं। प्रारम्भ में वे तेजी से बढ़ती हैं। पर बाद में, जब फर्म बड़े पैमाने की किफायतों का उपभोग करती है तो वे धीमी हो जाती हैं, और आगे चलकर उत्पादन में और व द्धि होने पर, पैमाने की अमितव्ययिताओं (diseconomies) के कारण परिवर्तनशील लागतें फिर तेजी से बढ़ने लगती हैं। चौथे स्तम्भ का सम्बन्ध कुल लागत से है जो स्तम्भ (2) और (3) का जोड़ है अर्थात् TC = TFC + TVC। जब फर्म उत्पादन प्रारम्भ करती है तो परिवर्तशील लागतों के साथ-साथ कुल लागतों में भी परिवर्तन होता जाता है।

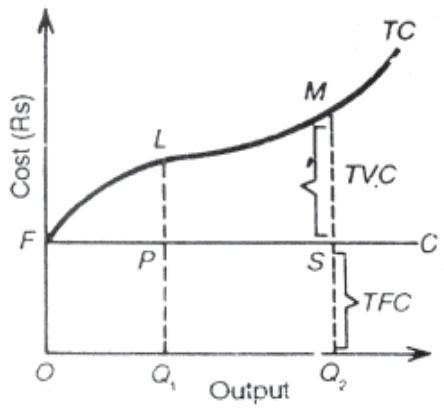

कुल उत्पादन (*TO*)	कुल स्थिर लागत (*TFC*)	कुल परिवर्तनशील (*TVC*)	कुल लागत (*TC*)	औसत स्थिर (AFC)	औसतन परिवर्तनशील (*AVC*) (*or AC*)	औसत लागत (*ATC*)	सीमान्त लागत (*MC*)
(1)	(2)	(3)	(4) (2 + 3)	(5) (2 + 1)	(6) (3 - 1)	(7) (4 - 1)	(8) (4 से)
	रुपये	रुपये	रुपये	रुपये	रुपये	रुपये	रुपये
0	300	0	300	0	300	-	
1	300	300	600	300	600	-	
2	300	400	700	150	200	350	100
3	300	450	750	100	150	250	50
4	300	500	800	75	125	200	50
5	300	600	900	60	120	180	100
6	300	720	1020	50	120	170	120
7	300	890	1190	42.9	127.1	170	170
8	300	1100	1400	37.5	137.5	175	210
9	300	1350	1650	33.3	150	183.3	470
10	300	2000	2300	30	200	230	650

लागतों के संबंध को चित्र में दिखाया गया है जहाँ समानांतर वक्र FC और X-अक्ष के बीच का अंतर कुछ स्थिर लागतों को मापता है और कुछ परिवर्तनशील लागतें FC वक्र के उपर का भाग है, अर्थात् TC और TFC के बीच का अंतर है। इस प्रकार OQ_1 उत्पादन स्तर पर, TC = TFC + TVC बराबर हैः $Q_1L = Q_1P + PL$ इसी प्रकार OQ_2 उत्पादन स्तर पर $Q_2M = Q_2S+SM$.

महत्त्व (Importance) - स्थिर और परिवर्तनशील लागतों में यह केवल अल्पकाल में ही सही होता है। अल्पकालीन में कोई फर्म अपनी वस्तु को घाटे में बेच सकती है परन्तु वह तब तक उत्पादन करती रहेगी, जब तक कि वह परिवर्तशील लागतों को पूरा कर लेती है। दीर्घकाल में समस्त लागतें परिवर्तनशील होती हैं क्योंकि फर्म अपनी लगी हुई मशीनें, उपकरण, श्रम की मात्रा आदि को परिवर्तित कर सकती है। इस प्रकार दीर्घकालीन में सब लागतें परिवर्तनशील बन जाती हैं और वर्तमान कीमत पर फर्म को इन्हें पूरा करना पड़ेगा अन्यथा इसका अस्तित्त्व समाप्त हो जाएगा। इसलिए दीर्घकाल में परिवर्तनशील और स्थिर लागतों में भेद समाप्त होता है।

वास्तविक लागत
(Real costs)

उत्पादक के द ष्टिकोण से उत्पादन के खर्च मुद्रा-लागत हैं परन्तु वे इस बारे में कुछ नहीं बताते कि इन लागतों के पीछे क्या है। मार्शल का विचार था कि एक वस्तु के उत्पादन में समाज के विभिन्न सदस्यों द्वारा किया गया प्रयत्न और त्याग (efforts and sacrifices) उत्पादन की वास्तविक लागतें हैं। पूँजीपति द्वारा बचत करने और मुद्रा को लगाने, श्रमिक द्वारा अपने अवकाश को छोड़ने और भूमिपति द्वारा भूमि के प्रयोग के लिए किए गए प्रयत्न और त्याग कुल मिलाकर वास्तविक लागतें बनाते हैं।

परन्तु वास्तविक लागतें कभी उत्पादन के मुद्रा खर्चों के बराबर नहीं होती। मार्शल ने स्वयं यह लिखकर इस बात को स्वीकार किया था कि "यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति प्रयत्न की भाषा में लगभग, स्थिर रहती है और यदि प्रतीक्षा के लिए पारिश्रमिक की दर लगभग स्थिर रहती है, तो लागतों की मुद्रा माप वास्तविक लागतों के अनुरूप होती है परन्तु इस प्रकार की अनुरूपता को आसानी से नहीं मान लिया जा सकता।" जो काम अरुचिकर होता है, उसकी मजदूरी अधिक नहीं होती और जो काम हल्का होता है उसकी मजदूरी कम नहीं होती। पाँच रुपये बचाने वाले व्यक्ति के त्याग को पाँच रुपये मजदूरी पाने वाले श्रमिक के कष्टपूर्ण प्रयत्न के समान भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अल्पकालीन या दीर्घकालीन में मुद्रा-लागतें और उत्पादन की वास्तविक लागतें एक-दूसरे के अनुरूप नहीं होती बल्कि यह हमें अवास्तविकता के जंजाल और भ्रमपूर्ण उपकल्पना में ले जाती है।

अवसर लागत (Opportunity Cost) वह लागत होती है जो एक के बजाए दूसरी वस्तु को लेने में अवसर छिन जाने या वैकल्पिक त्याग में अथवा एक के स्थान पर दूसरी साधन-सेवा का प्रयोग करने में आती हैं। क्योंकि स्रोत दुर्लभ हैं, इसलिए एक साथ सब वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए उनका उपयोग नहीं किया जा सकता। अतः यदि एक वस्तु के उत्पादन में उन्हें प्रयोग करना है, तो अन्य प्रयोगों से उनको हटा लेना होगा। इस प्रकार एक की लागत दूसरे की लागत का वैकल्पिक त्याग है। बैनहम के शब्दों में, 'किसी वस्तु की अवसर लागत वह दूसरा सबसे अच्छा विकल्प है जिसका उन्हीं साधनों से या उनके समान उतनी ही मुद्रा लागत के साधनों से समूह से उसकी उपेक्षा उत्पादन किया जा सकता था।' गेहूँ के उगाने के लिए भूमि के प्रयोग की लागत उस वैकल्पिक फसल का मूल्य है जो उस पर लगाई जा सकती थी। श्रम की वास्तविक लागत वह है जो उसे किसी अन्य रोलगार में मिल सकती थी। पूँजीपति के लिए पूँजी का लागत वह ब्याज है जो उसे कहीं और मिल सकता था। प्रबन्धकर्ता की सामान्य कमाई वह है जो उद्योगपति को किसी संयुक्त स्टॉक कम्पनी के प्रबन्धक के रूप में मिल सकती थी। इस प्रकार वास्तविक लागत छिने हुए अवसर या वैकल्पिक त्याग की लागत है।

अवसर लागत में सुनिश्चित (explicit) और अंतर्निहित (implicit) दोनों प्रकार ही लागतें शामिल होती हैं सुनिश्चित लागतें वे सीधे खर्चे हैं जो एक फर्म को वस्तुएँ खरीदने के लिए किए जाते हैं। उसमें मजदूरी और वेतन, कच्चे माल, बिजली, ईंधन, विज्ञापन, परिवहन और कर के खर्च शामिल हैं। अंतर्निहित लागतें उद्यमी द्वारा अपने संसाधनों और सेवाओं का आरोपित (imputed) मूल्य है। दूसरे शब्दों में, स्वनियोजित (self-employed) और निजी स्वामित्व संसाधन अपने सबसे बढ़िया वैकल्पिक प्रयोग में जो कमा सकते थे, वे उनकी अंतर्निहित लागतें हैं, इस प्रकार अंतर्निहित मजदूरी, लगान और ब्याज का संबध सबसे ऊँची मजदूरी, लगान और ब्याज से है, जो एक उद्यमी अपने श्रम, बिल्डिंग और पूँजी का स्वयं प्रयोग न करके दूसरों को उधार देकर अथवा उनकी सेवा में लगाकर प्राप्त कर सकता था। परन्तु इसका वह मतलब नहीं कि केवल अंतर्निहित लागतें ही अवसर लागत में शामिल होती हैं और सुनिश्चित लागतें इसमें शामिल नहीं होती। वास्तव में, किसी भी फर्म की अवसर लागत में सभी त्यागे गए विकल्प (alternatives forgone) चाहे वे सुनिश्चित अथवा अंतर्निहित हों, शामिल होते हैं।

अवसर लागत की धारणा को चित्र में उत्पादन संभावना वक्र PP_1 द्वारा व्याख्या की गई है। इस वक्र में संयोग A पर फर्म OL_1 श्रम और OK_1 पूँजी का प्रयोग करती है। यदि वह L_1L_2 अधिक श्रम प्रयोग करना चाहती है तो उसे K_1K_2 पूँजी का त्याग करना पड़ेगा। इस प्रकार L_1L_2 श्रम की अवसर लागत K_1K_2 पूँजी का मात्रा है।

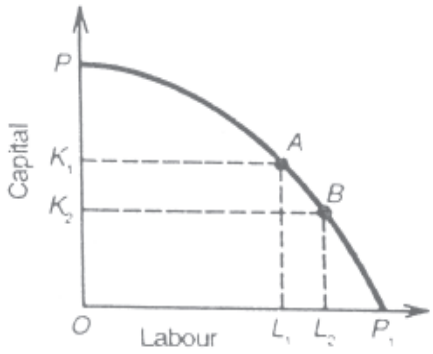

इसका महत्त्व (Its importance) - अवसर लागत की धारणा की आर्थिक समस्याओं में बहुत व्यवहार होता है। साधन-कीमतों के निर्धारण में यह लागू होती है। उपयोग और सार्वजनिक व्यय में भी इसका व्यवहार किया जा सकता है। सिनेमा देखने की लागत वह पैन है जिसे खरीदने से विद्यार्थी को वंचित रहना पड़ता है। समाज के लिए, हथियारों की फैक्टरी की लागत नागरिकों के वे लाभ हैं जिनका त्याग करना पड़ता है। अन्तिम, अवसर लागत कीमत की तथ्य की व्याख्या करती है क्योंकि वस्तुएँ और साधन सेवाएँ दुर्लभ हैं, उनका वैकल्पिक नहीं होंगे जिनका त्याग किया जाए, इसलिए ना ही अवसर लागत और ना ही कीमत होगी।

इसकी सीमाएँ (Its Limitations) - फिर भी अवसर लागत की धारणा कुछ सीमाओं से मुक्त नहीं है। प्रथम, यह उन साधन सेवाओं पर लागू नहीं होती जो स्थिर हैं। किसी निश्चित या स्थिर साधन का कोई विकल्प नहीं होता, इसलिए इसकी अवसर लागत शून्य है। दूसरे, यदि साधनों की गति रोक दी जाए, या वे अन्य विकल्पात्मक व्यवसायों में जाने को तैयार न हों, तो उनकी कीमतों में अवसर लागत नहीं झलकती। तीसरे, एक व्यक्ति और समाज की लागतों में अन्तर हो सकता है। नगर के बीच में एक धुएँ वाली फैक्टरी का वैकल्पिक त्याग, स्वास्थ्य संकट के रूप में बहुत अधिक हो सकता है जिसका मुद्रा माप संभव नहीं। चौथे, त्यागे हुए विकल्प प्रायः स्पष्ट रूप से भी नहीं जाने का सकते। यदि विकल्प आसानी से जाने जा सकें तब तो कोई समस्या ही नहीं। यदि साधन सघन हों क्योंकि आधुनिक जटिल उत्पादन व्यवस्था में, तो एक बार लगाए जाने के बाद उनका कोई वैकल्पिक प्रयोग नहीं हो सकता। टिकाऊ पूँजी उपकरणों की कोई अवसर लागत नहीं होती। परन्तु इसकी गाति उस वस्तु की कीमत में प्रवेश नहीं करती जिसका उत्पादन करने में यह सहायक है। अन्तिम, यह पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है जो वास्तव में नहीं पाई जाती है।

निजी और सामाजिक लागतें
(Private and Social Costs)

निजी और सामाजिक लागतों की धारणा का प्रयोग सर्वप्रथम पीगू (Pigou) ने अपनी पुस्तक में किया था। निजी लागतें एक फर्म द्वारा एक वस्तु या सेवा के उत्पादन पर किया गया खर्च है। इनमें सुनिश्चित और अंतर्निहित दोनों प्रकार की लागतें शामिल होती है। फिर भी, एक फर्म की उत्पादन क्रियाएँ, दूसरों के लिए आर्थिक लाभ अथवा हानि ला सकती है। उदाहरणार्थ, स्टील, रबड़ और रसायन जैसी वस्तुओं का उत्पादन वातावरण को प्रदूषित करता है जिससे सामाजिक लागतें होती हैं। दूसरी ओर, शिक्षा, सफाई, पार्क आदि की सेवाओं का निर्माण सामाजिक लाभ लाता है। उदाहरणार्थ, शिक्षा को ही लीजिए, जो न केवल प्राप्तकर्ताओं को ऊँची आय और अन्य संतुष्टियाँ प्रदान करती है बल्कि समाज को अधिक

प्रबुद्ध (enlightened) शहरी भी प्रदान करती है। यदि हम उत्पादन को निजी लागतों और वातावरणीय प्रदूषण जैसी दूसरों पर हानियों को इकट्ठा जोड़ दे तो हमें सामाजिक लागतें प्राप्त होंगी।

लागत फलन
(The Cost function)

लागत फलन कुल लागत और उस निर्धारण करने वाले तत्त्वों के बीच फलनात्मक संबन्ध को व्यक्त करता है। प्रायः वे तत्त्व जो एक फर्म के उत्पादन की कुल लागत (C) को निर्धारित करते हैं, वे हैं: उत्पादन (Q) प्रौद्योगिकी का स्तर (T), साधनों की कीमतें (P_f) और स्थिर साधन (F) इस प्रकार लागत फलन बन जाता है,

$$C = f (Q, T, P_f, F)$$

ऐसे विस्त त लागत फलन के लिए बहु-आयामी चित्रों की आश्यकता पड़ती है जिन्हें खींचना बहुत कठिन है।

लागत फलन के विश्लेषण को सरल बनाने के लिए कुछ मान्यताएँ ली जाती हैं। यह मान लिया जाता है कि फर्म केवल एक अकेली समरूप वस्तु (q) का कुछ उत्पादन के साधनों की सहायता से उत्पादन करती है। अल्पकाल में फर्म का उत्पादन स्तर चाहे कुछ भी हो, इनमें से कुछ साधन स्थिर मात्राओं में लगाए जाते हैं। इसलिए वे दिए हुए मान लिए जाते हैं। बाकी के साधन परिवर्तनशील हैं जिनकी पूर्ति का ज्ञान है और वे स्थिर मार्किट कीमतों पर उपलब्ध हैं। आगे, वस्तु के उत्पादन के लिए जो प्रौद्योगिकी प्रयोग की जाती है, उसका ज्ञान होता है और वह स्थिर मान ली जाती है। अन्तिम, यह मान लिया जाता है कि फर्म परिवर्तनशील साधनों को इस प्रकार समायोजित (adjust) करती है कि वस्तु q का दिया हुआ उत्पादन Q, न्यूनतम लागत C पर प्राप्त होता है। इस प्रकार कुछ लागत फलन ऐसे व्यक्त किया जाता है,

$$C = f (Q)$$

जिसका मतलब है कि कुल लागत (C) उत्पादन (Q) का फलन, (*f*) है, अन्य साधनों को स्थिर मानते हुए।

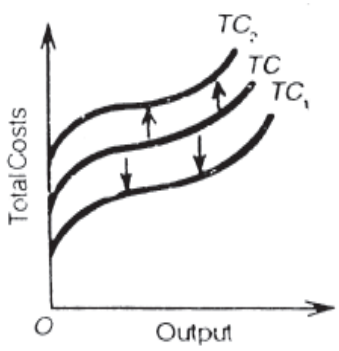

लागत फलन को चित्र में एक कुल लागत (TC) वक्र द्वारा दिखाया जाता है। उत्पादन को समानांतर अक्ष पर और कुल लागत को अनुलंब अक्ष पर लेकर TC वक्र खींचा जाता है, जैसाकि चित्र में दिखाया गया है। यह एक निरंतर वक्र है जिसकी आक ति यह दर्शाती है कि उत्पादन के बढ़ने के साथ कुल लागत भी बढ़ती है। कुल लागत फलन और TC वक्र, दी हुई शर्तों के अन्तर्गत, उत्पादन के साथ कुल लागत का संबंध बतलाते हैं। परन्तु यदि दी

हुई शर्तों में से कोई एक जैसे उत्पादन की तकनीक में परिवर्तन होता है, तो लागत फलन बदल जाता है। उदाहरणार्थ, यदि उत्पादन की तकनीक में सुधार होता है, तो एक दी हुई उत्पादन की मात्रा के लिए उत्पादन की लागत पहले से कम होगी जो नए लागत वक्र TC_1 को पुराने वक्र TC के नीचे सरका देगी, जैसाकि चित्र में दिखाया गया है। दूसरी ओर, यदि साधनों की कीमतें बढ़ जाती हैं, तो उत्पादन लागत में व द्धि होगी, जो लागत वक्र TC को ऊपर की ओर TC_2 पर सरका देगी, जैसाकि चित्र में है।

लागत फलन अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों में पाया जाता है। अल्पकालीन लागतें वे उत्पादन लागतें होती हैं जिन पर एक फर्म एक दी हुई अवधि में कार्य करती है। जब एक या अधिक उत्पादन के साधनों की मात्राएँ स्थिर होती हैं। इसलिए फर्म की कुछ स्थिर लागतें और कुछ परिवर्तनशील लागतें होती हैं। दूसरी ओर, "दीर्घकालीन लागतें नियोजन लागतें अथवा प्रत्याशित लागतें होती हैं, इसलिए कि वह उत्पादन के प्रसार के लिए इष्टतम संभावनाएँ प्रस्तुत करती हैं और इस प्रकार उद्यमी को अपनी भावी क्रियाओं को नियोजित करने में सहायक होती हैं।" दीर्घकाल में, उत्पादन के स्थिर साधन बिल्कुल नहीं होते हैं और इसलिए न ही स्थिर लागतें होती हैं। दीर्घकाल में, सभी साधन परिवर्तनशील होने के कारण, सभी लागतें परिवर्तनशील होती हैं। इसलिए फर्म के स्थिर पूँजी साधन दिए होने पर, वह भविष्य के लिए नियोजन करती है। परन्तु वह प्रत्येक प्लांट से संबंधित अल्पकालीन लागत वक्रों पर संचालन करती है।

लागत फलन दिए होने पर, हम लागातों के परंपरागत और आधुनिक सिद्धांतों की विवेचना करते हैं।

लागातों का परंपरागत सिद्धांत
(The Traditional theory of costs)

लागतों का परंपरागत सिद्धांत अल्पकाल और दीर्घकाल में लागत वक्रों के व्यवहार का विश्लेषण करता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अल्पकालीन और दीर्घकालीन लागत वक्र U-आकार के होते हैं लेकिन दीर्घकालीन लागत वक्र अल्पकालीन लागत वक्रों की अपेक्षा चपटे होते हैं।

क) फर्म के अल्पकालीन लागत वक्र (Firm's Short-Run Costs Curves)

अल्पकालीन वह समय होता है जिसमें फर्म अपनी मशीनें, उपकरण और उत्पादन के पैमाने को परिवर्तित नहीं कर सकती। बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए, फर्म अपने उत्पादन को अधिक श्रम और कच्चा माल लगाकर या वर्तमान श्रम शक्ति से अधिक समय काम कराकर ही बढ़ा सकती हैं।

उत्पादन का पैमाना स्थिर होने के कारण, अल्पकालीन कुल लागतें (TC) कुल स्थिर लागतों (TFC) और कुल परिवर्तनशील लागतों (TVC) में विभक्त की जाती हैः

$$TC = TFC + TVC$$

कुल लागतें (Total costs)- कुल लागतें एक वस्तु की दी हुई मात्रा को उत्पादित करने में एक फर्म के कुल खर्चे हैं। उनमें लगान, ब्याज, मजदूरी, कर, कच्चे माल, बिजली, पानी, विज्ञापन आदि के खर्च शामिल होते हैं।

कुल स्थिर लागतें (Total Fixed Costs) - ये उत्पादन की वे लागतें हैं जो उत्पादन के साथ परिवर्तित नहीं होती हैं। वे उत्पादन के स्तर से स्वतंत्र होती है। वास्तव में, फर्म को ये लागते

उठानी ही पड़ती हैं, यदि फर्म थोड़े समय के लिए उत्पादन बंद भी कर देती है। इनमें भूमि और बिल्डिंग लगान पर लेने, उधार ली गई मुद्रा पर ब्याज, इंश्योरैंस, सम्पत्ति कर, मूल्यहास, स्थायी स्टाफ की मजदूरी और वेतन, आदि भुगतान शामिल होते हैं। इन्हें ऊपरी लागतें (overhead costs) भी कहते हैं।

कुल परिवर्तनशील लागतें (Total Variable Costs) - वे लागतें हैं जो उत्पादन के साथ सीधे तौर से बदलती हैं। वे उत्पादन के बढ़ने के साथ बढती हैं और उत्पादन के कम होने के साथ कम होती हैं। उनमें कच्चे माल, बिजली, पानी, कर अस्थायी श्रम का नियोजित करना, विज्ञान आदि के खर्चे शामिल होते हैं। उन्हें प्रत्यक्ष लागतें (direct costs) भी कहते हैं।

इन तीनों लागतों से संबंधित लागत वक्र कों को चित्र में दिखाया गया है। TC एक निरंतर वक्र है जो यह दर्शाता है कि उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ कुल लागते बढ़ती हैं। यह वक्र अनुलंब अक्ष को मूल से ऊपर एक बिन्दु पर काटता है। और बाएँ से दाएँ ऊपर को निरंतर बढ़ता है। ऐसा इस कारण कि जब फर्म कुछ भी उत्पादन नहीं करती, उसे स्थिर लागतें उठानी पड़ती हैं। TFC वक्र को उत्पादन अक्ष के समानांतर दिखाया गया है क्योंकि कुल स्थिर लागतें प्रत्येक उत्पादन स्तर पर समान रहती हैं। TVC वक्र उलटा S-आकार का होता है और मूल O से आरंभ होता है, क्योंकि जब उत्पादन शून्य है तो कुल परिवर्तनशील लागतें भी शून्य होती हैं। उत्पादन के बढ़ने के साथ वे अनुपात में परिवर्तनशील साधन कम प्रयोग करती है, कुल परिवर्तनशील लागतें घटती दर से बढती हैं। परन्तु एक बिन्दु के बाद स्थिर साधनों के अनुपात में परिवर्तनशील साधनों के अधिक प्रयोग से, वे तीव्रता से बढ़ती हैं। ऐसा परिवर्तनशील अनुपातों के नियम के लागू होने से होता है। क्योंकि TFC वक्र समानांतर सीधी रेखा है, इसलिए TVC वक्र के साथ-साथ TC वक्र समान अनुलंब अंतर पर चलता है।

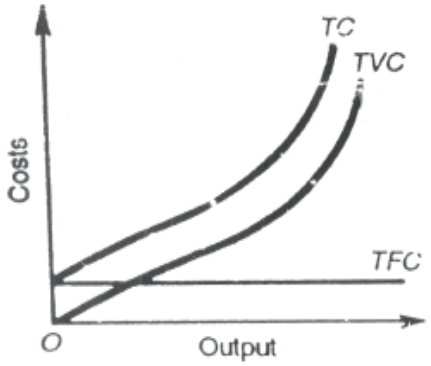

अल्पकालीन औसत लागतें
(Short-Run Average Costs)

फर्म के अल्पकालीन विश्लेषण में, कुल लागतों से औसत लागतें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उत्पादन की जो इकाइयाँ फर्म उत्पादित करती है वे उसे समान लागत की मात्रा पर प्राप्त नहीं होती हैं। परन्तु उन्हें समान कीमत पर बेचना पड़ता है। इसलिए फर्म को प्रति इकाई लागत या औसत लागत का जानना बहुत जरूरी है। फर्म की अल्पकालीन औसत लागतों में औसत स्थिर लागतें, औसत परिवर्तनशील लागतें और औसत कुल लागतें शामिल होती हैं।

औसत स्थिर लागतें (Average Fixed Costs) - औसत स्थिर लागतें कुल स्थिर लागातों को कुल उत्पादन से विभक्त करने पर प्राप्त होती हैं: $AFC = \frac{TFC}{Q}$

क्योंकि उत्पादन के सब स्तरों पर कुल स्थिर लागतें उतनी ही रहती हैं, उत्पाउन के बढ़ने पर औसत स्थिर लागतें कम हो जाती हैं। इसलिए AFC वक्र की ढलान नीचे की दाएँ को होती है और वह आयताकार अतिपखलय (rectangular hyperbola) होता है जैसाकि चित्र में दिखाया गया है।

अल्पकालीन औसत परिवर्तनशील लागतें (Short-Run Average Variable Costs) - औसत परिवर्तनशील लागत, कुल परिवर्तनशील लागत को कुल उत्पादन से विभक्त करने पर प्राप्त होती है : $SAVC = \frac{TVC}{Q}$

औसत परिवर्तनशील लागतें उत्पादन के बढ़ने के साथ पहले कम होती हैं, जब परिवर्तनशील साधनों की अधिक मात्राएँ स्थिर प्लांट और उपकरणों पर लागू की जाती हैं। परन्तु अन्ततः वे घटते प्रतिफल के नियम के कारण बढ़ना प्रारंभ कर देती हैं। इसलिए SAVC वक्र U-आकर का होता है, जैसाकि चित्र में दर्शाया गया है।

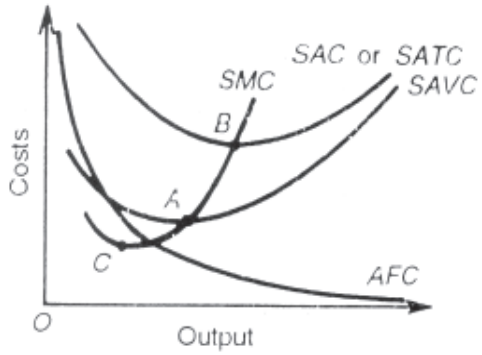

अल्पकालीन कुल औसत लागतें - SAC या SATC किसी दी हुई उत्पादन मात्रा को उत्पादित करने की औसत लागतें हैं। यदि उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर कुल लागतों को उत्पादित की गई वस्तु की इकाइयों से विभक्त कर दें तो ये प्राप्त होती हैं :

$$\text{SAC या SATC} = \frac{\text{TC}}{\text{Q}} = \frac{\text{TFC}}{\text{Q}} + \frac{\text{TVC}}{\text{Q}} = \text{AFC} + \text{AVC}$$

इस प्रकार, कुल औसत लागतें औसत स्थिर लागतों तथा औसत परिवर्तनशील लागतों का जोड़ हैं और उनके प्रभाव को व्यक्त करती हैं। पहले, उत्पादन के कम स्तरों पर औसत कुल लागतें ऊँची होती हैं, क्योंकि औसत स्थिर और औसत परिवर्तनशील लागतें दोनों ही अधिक होती हैं। परन्तु जब उत्पादन बढ़ता है तो औसत कुल लागतें तीव्रता से गिरती हैं। ऐसा औसत स्थिर लागतें और औसत परिवर्तनशील लागतों में नियमित कमी के कारण होता है, जब तक कि वे न्यूनतम बिन्दु पर नहीं पहुँच जाती हैं। यह आंतरिक किफायतों, वर्तमान प्लांटो, श्रम के बेहतर प्रयोग आदि के परिणामस्वरूप होता है। चित्र में न्यूनतम बिन्दु B इष्टतम क्षमता को व्यक्त करता है। जब उस बिन्दु के बाद उत्पादन बढ़ता है, तो औसत कुल लागतें तीव्रता से बढ़ती हैं, क्योंकि बढ़ रही औसत परिवर्तनशील लागतों में व द्धि की तुलना

में औसत स्थिर लागतों में कमी मामूली-सी होती है। SAC वक्र का ऊपर की ओर गति करता भाग क्षमता से अधिक उत्पादन और प्रबंध, श्रम आदि की आंतरिक अमितव्ययिताओं के परिणामस्वरूप होता है। इस प्रकार SAC वक्र U-आकार का है, जैसाकि चित्र से स्पष्ट है।

SAC वक्र की U-आक ति की व्याख्या परिवर्तनशील अनुपात के नियम द्वारा भी की जाती है। यह नियम बताता है कि जब अन्य साधनों की मात्रा को स्थिर रखकर, एक परिवर्तनशील साधन की मात्रा को बढाया जाए तो कुल उत्पादन बढ़ता है परन्तु एक निश्चित सीमा के बाद घटता चला जाता है अल्पकालीन में किसी भी फर्म की मशीनें, उपकरण और उत्पादन का पैमाना परिवर्तित नहीं होते, इसलिए ये इसके स्थिर साधन हैं। जबकि श्रम, कच्चा माल जैसे साधन परिवर्तशील होते हैं। स्थिर साधनों पर इन परिवर्तनशील साधनों की मात्रा को लगातार बढाते चले जाने से ही, परिवर्तनशील अनुपात का नियम लागू होता है। जब एक परिवर्तनशील साधन जैसे श्रमिकों की मात्रा को समान इकाइयों में बढाया जाता है तो एक सीमा तक उत्पादन बढता है, जब तककि मशीनों, उपकरणों आदि स्थिर साधनों का उनकी पूरी क्षमता तक प्रयोग नहीं होता। इस अवस्था में उत्पादन बढ़ने के साथ फर्म की औसत लागतें कम होती जाती हैं। क्योंकि उसे कई प्रकार की आन्तरिक किफायतों के कारण भी बढ़ते प्रतिफल प्राप्त होते हैं। बढ़ते प्रतिफल के नियम की क्रियाशीलता के कारण श्रमिकों की संख्या को और बढ़ाने से फर्म मशीनों की इष्टतम क्षमता पर जब पहुँचती है तो उसका उत्पादन भी इष्टतम होता है और इसी स्तर पर औसत लागत न्यूनतम होगी जो चित्र में SAC वक्र का न्यूनतम बिन्दु B दर्शाती है। इस अवस्था के बाद यदि फर्म श्रमिकों की संख्या को और बढ़ाने का प्रयत्न करती है तो मशीनों, उपकरणों व प्रबन्ध आदि स्थिर साधनों का क्षमता से अधिक प्रयोग होगा जिससे आन्तरिक अलाभों के कारण घटते प्रतिफल प्राप्त होंगे और औसत लागतें तीव्र गति के साथ बढ़ती चली जाएँगी। अतः फर्म में परिवर्तनशील अनुपात का नियम लागू होने के कारण भी अल्पकालीन औसत लागत वक्र U-आक ति का होता है।

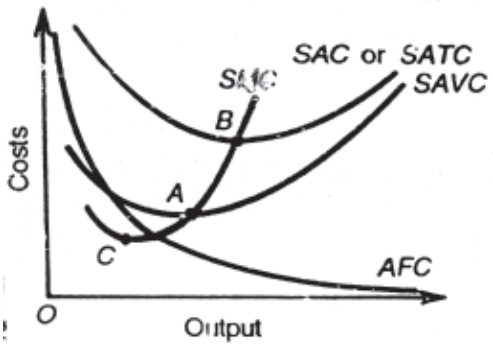

सीमान्त लागत (MC) - फर्म के उत्पादन के सही स्तर को निर्धारित करने की आधारभूत धारणा सीमान्त लागत है। $MC = \Delta TC/\Delta Q$. बीजगणित से, यह उत्पादन की $n + 1$ इकाइयों और n इकाइयों की लागतों का अन्तर होती है, $MC_n = TC_n - TC_{n-1}$. क्योंकि कुल स्थिर लगातें उत्पादन के साथ नहीं बदलतीं, इसलिए सीमांत स्थिर लागत शून्य होती है। इसलिए सीमान्त लागत को कुल परिवर्तजनशील लागतों अथवा कुल लागतों से गणना की जा सकती है दोनों तरह से परिणाम समान ही होगा। क्योंकि कुल परिवर्तनशील लागतें या कुल लागतें पहले गिरती हैं और फिर बढ़ती हैं, इसलिए सीमान्त लागत भी इसी प्रकार व्यवहार करती है और SMC वक्र भी U- आकार का होता है, जैसाकि चित्र में दिखाया गया है।

अल्पकालीन लागत वक्रों में संबंध
(Relationships of Short-Run Cost Curves)

अल्पकालीन लागत वक्रों के बीच संबंधों को चित्र द्वारा व्यक्त किया गया है

क) AFC वक्र निरंतर गिरता जाता है और दोनों अक्षों से समान दूरी पर गति करता है परन्तु X-अक्ष अथवा Y-अक्ष को छूता नहीं है। यह अतिपरवलयाकार (rectangular hyperbola) है।

ख) SAVC वक्र पहले गिरता है फिर A बिन्दु पर न्यूनतम होता है और उसके पश्चात् बढ़ता है। जब SAVC वक्र अपने न्यूनतम बिन्दु A पर पहुँचता है, तो SMC वक्र उसके बराबर होता है, अर्थात् उस बिन्दु पर काटता है।

ग) SAC वक्र पहले गिरता है, न्यूनतम बिन्दु B पर पहुँचता है और उसके बाद ऊपर की ओर बढ़ता है। जब SAC वक्र अपने न्यूनतम बिन्दु B पर पहुँचता है तो SMC वक्र उसके बराबर होता है, क्योंकि SAC= AFC + SAVC, इसलिए SAC और SAVC वक्रों के बीच अनुलंब दूरी AFC वक्र होती है। अतः अलग से एक AFC वक्र खींचने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब उत्पादन कम होता है तो SAC और SAVC वक्रों के बीच की अनुलंब दूरी कम होती जाती है, क्योंकि AFC वक्र निरंतर गिरता है।

घ) AC और MC वक्रों में संबंध (Relation between AC and MC Curves) - AC और MC वक्रों में सीधा संबंध होता है। AC और MC वक्र दोनों U-आकार के होते हैं, जैसाकि चित्र में दिखाया गया है। जब AC वक्र गिरता है तो AC वक्र से MC वक्र नीचे होता है। ऐसा इसलिए कि MC में कमी उत्पादन की एक इकाई से संबंधित होती है, जबकि AC के बारे में वही कमी उत्पादन की सभी इकाइयों में फैलती है। यह कारण है कि AC में कमी कम होती है और MC में अधिक। यह इस तथ्य की भी व्याख्या करता है कि AC वक्र के अपने न्यूनतम बिन्दु B पर पहुँचने से पहले MC वक्र अपने न्यूनतम बिन्दु C पर पहुँचता है। अतः जब MC वक्र ऊपर को बढ़ना प्रारंभ करता है तो AC वक्र अभी गिर रहा होता है।

जब AC वक्र अपने न्यूनतम बिन्दु पर होता है, तो MC वक्र उसके बराबर होता है और उसे नीचे से उसके न्यूनतम बिन्दु B पर काटता है, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है।

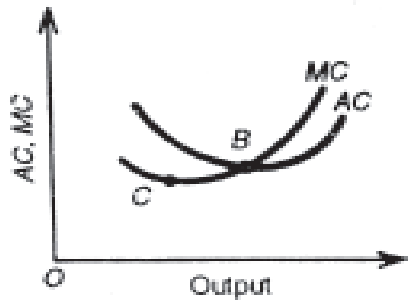

जब AC वक्र ऊपर की ओर बढ़ रहा होता है, तो MC वक्र उससे ऊपर होता है परन्तु MC वक्र में व द्धि AC वक्र से अधिक होती है। ऐसा में व द्धि AC वक्र से अधिक होती है। ऐसा इसलिए कि MC में व द्धि उत्पादन की एक इकाई के कारण होती है, जबकि AC के लिए वही व द्धि उत्पादन की सभी इकाईयों में फैलती है।

यह ध्यान देने योग्य है कि जब AC बढ़ती या कम होती है, तो हम MC वक्र की दिशा के बारे में कुछ नहीं कर सकते। जब AC कम हो रही होती है, तो यह आवश्यक नहीं कि MC भी अवश्यक कम हो। MC बढ़ या कम हो सकती है, पर यह निश्चित है कि AC वक्र से MC वक्र नीचे होगा। इसी प्रकार, जब AC बढ़ रही होती है, तो यह आवश्यक नहीं कि MC भी अवश्य बढ़े। MC बढ़ या कम हो सकती है लेकिन यह निश्तित है कि MC वक्र AC वक्र से ऊपर होगा। परन्तु यदि यदि AC स्थिर है तो MC अवश्य स्थिर होगी, अर्थात् AC और MC वक्र एक समानांतर रेखा होगा।

AC और MC में यह संबंध अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों में लागू होगा। दोनों अवस्थाओं में केवल AC और MC वक्रों के आकार में अंतर होगा।

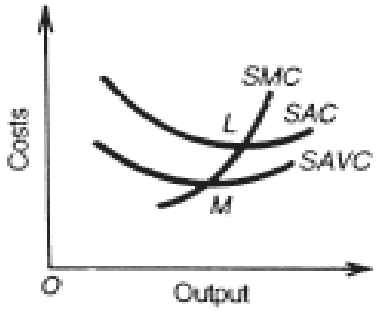

घ) SMC और SAVC वक्रों में संबंध (Relation betwene SMC and SAVC Curves) - SMC वक्र का AVC और SAC वक्रों के साथ निकट का संबंध है। जब तक SMC वक्र SAVC और SAC वक्रों के नीचे स्थित होता है, यह गिरता जाता है और इसकी गिरने की दर SAVC और SAC वक्रों की दर से अधिक होती है। परन्तु जहाँ MC वक्र उनको काटता है उन बिन्दुओं से SAVC और SAC वक्र ऊपर की ओर बढ़ने लगते हैं जैसा कि चित्र में क्रमशः बिन्दु M और L हैं। ये दोनों वक्रों के न्यूनतम बिन्दु हैं। परन्तु AVC वक्र का न्यूनतम बिन्दु M , वक्र SAC के न्यूनतम बिन्दु L के बाई ओर हैं जिसमें से SMC वक्र पहले गुजरता है। इसका कारण यह है कि SAV \ SAVC + AFC इसलिए जब SAVC अपने न्यूनतम बिन्दु पर होती हैं तो AFC कम हो रही होती है और SAC को अपने न्यूनतम बिन्दु तक पहुचंने में समय लगता है। इस तरह M और L क्रमशः SAVC और SAC वक्रा कें के न्यूनतम बिन्दु हैं। इन बिन्दुओं के बाद SMC वक्र तेजी के साथ ऊपर की ओर बढ़ता है और SAVC और SAC वक्रों से ऊपर होता है।

निष्कर्ष : इस प्रकार, एक फर्म के अल्पकालीन वक्र SAVC, AFC, SAC और SMC होते हैं। इन चार वक्रों में से AFC वक्र फर्म के उत्पादन स्तर को निर्धारण करने में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। यही कारण है कि इसकी लागत विश्लेषण में उपेक्षा की जाती है।

ख) फर्म के दीर्घकालीन लागत वक्र (Firm's Long-Run Cost Curves)

दीर्घकाल में उत्पादन के स्थिर साधन नहीं होते हैं, इसलिए स्थिर लागतें भी नहीं होती हैं, धर्म अपने प्लांट का आकार या पैमाना बदल सकती है और कम अथवा अधिक साधन लगा सकती है। इस तरह दीर्घकाल में सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। अतः सभी लागतें परिवर्तनशील हैं।

LAC वक्र - फर्म का दीर्घकाल औसत कुल लागत या LAC वक्र सभी संभव अल्पकालीन औसत लागत वक्रों (SAC) से उत्पादन के विभिन्न स्तरों को उत्पादित करने की न्यूनतम

औसत लागत को दर्शाता है। अतः SAC वक्रों से LAC वक्र को व्युत्पन्न किया जाता है। LAC वक्र को इस प्रकार समझा जा सकता हैः यह एक वैकल्पिक अल्पकालीन स्थितियों की श्रंखला है, जिनमें से फर्म किसी एक में जा सकती है। प्रत्येक SAC वक्र एक विशेष आकार के प्लांट को व्यक्त करता है जो उत्पादन की एक विशेष रेंज के लिए उपयुक्त है। इसलिए फर्म, विभिन्न प्लांटों का उस स्तर तक ही प्रयोग करेगी, जहाँ तक उत्पादन में व द्धि के साथ अल्पकालीन औसत लागतें कम होती जाएंगी। वह फर्म सब प्लांटों को इकट्ठा प्रयोग करके उत्पादन की न्यूनतम अल्पकालीन औसत लागत के स्तर के बाद और उत्पादन नहीं करेगी।

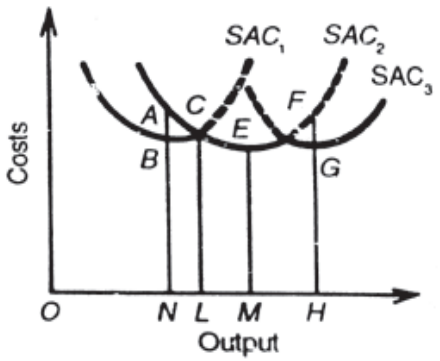

मान लीजिए कि फर्म के तीन प्लांट हैं जिन्हें SAC_1,SAC_2 और SAC_3 वक्रों द्वारा चित्र 19.8 में व्यक्त किया गया है। प्रत्येक वक्र फर्म के पैमाने को प्रकट करता है। SAC_1 छोटे पैमाने की सूचना देता है जबकि SAC_2 वक्र से SAC_3 पर जाना यह बताता है कि फर्म का आकार बढ़ गया है।

फर्म का यह पैमाना दिए होने पर, वह उत्पादन की प्रति-इकाई की न्यूनतम लागत तक उत्पादन करेगी। उत्पादन की ON मात्रा के लिए फर्म SAC_1 या SAC_2 प्लांट का प्रयोग कर सकती है। पर फर्म SAC_1 द्वारा प्रकट किए गए प्लांट का प्रयोग करेगी क्योंकि उत्पादन की ON मात्रा के उत्पादन की औसत लागत NB है जो इस मात्रा के SAC_2 प्लांट पर उत्पादन की लागत NA से कम है। यदि फर्म को उत्पादन की OL मात्रा का उत्पादन करना हो, तो वह दोनों में से किसी एक प्लांट पर उत्पादन करेगी। परन्तु OL उत्पादन के लिए फर्म को SAC_2 प्लांट का प्रयोग करना लाभदायक रहेगा क्योंकि इस प्लांट से निम्नतम औसत लागत ME पर उत्पादन की अपेक्षाक त अधिक मात्रा OM प्राप्त की प्लांट की औसत लागत HF से SAC_3 प्लांट की औसत लागत HG कम है। अतः दीर्घकाल में फर्म उत्पादन की किसी भी मात्रा का उत्पादन करने के लिए उस प्लांट का प्रयोग करेगी जिस पर प्रति-इकाई लागत न्यूनतम होती हैं यदि फर्म अपने पैमाने को क्रमशः SAC_1, SAC_2 और SAC_3 वक्रों द्वारा व्यक्त की गई अवस्थाओं में फैलाती है, तो इन वक्रों के गहरी तरंगों जैसे भाग दीर्घकालीन औसत लागत वक्र बनाते हैं। SAC वक्रों के बिन्दुकित भाग दीर्घकालीन में कोई महत्त्व नहीं रखते क्योंकि प्लांटों के इन भागों पर उत्पादन करने की बजाए फर्म प्लांट के पैमाने को बदल देगी।

परन्तु दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC को SAC वक्र कां के साथ जुड़े हुए समतल वक्र के रूप में इस प्रकार दिखाया जाता है कि वह किसी-न-किसी बिन्दु पर उन वक्रों को स्पर्श करे जैसा कि चित्र में, जहाँ वक्र SAC_1, SAC_2, SAC_3, SAC_4 और SAC_5 अल्पकालीन औसत

लागत वक्र हैं। LAC वक्र इन SAC वक्रों को स्पर्श करता है पर एक वक्र को केवल उसके न्यूनतम बिन्दु पर ही। चित्र में वक्र SAC, के निम्नतम बिन्दु E पर LAC स्पर्श करता है, और OQ इष्टतम उत्पादन है। यह प्लांट SAC_3 जो न्यूनतम लागत QE पर इष्टतम उत्पादन OQ उत्पादित करता है, इष्टतम प्लांट है और जो फर्म इस इष्टतम प्लांट से इष्टतम उत्पादन का न्यूनतम लागत से उत्पादन करती है, इष्टतम् फर्म कहलाती है। यदि फर्म उत्पादन की इष्टतम मात्रा OQ से कम उत्पादन करती है, तो वह अपने प्लांटों को पूरी क्षमता तक नहीं चला रही और यदि OQ से अधिक उत्पादन करती है, तो वह क्षमता से अधिक प्लांटों से चला रही है। दोनों अवस्थाओं में औसत उत्पादन लागत ऊँची होने के कारण फर्म न्यूनतम लागत QE पर ही उत्पादन करेगी। क्योंकि SAC_2 और SAC_4 प्लांटों की औसत उत्पादन लागतें SAC_3 प्लांट से अधिक है।

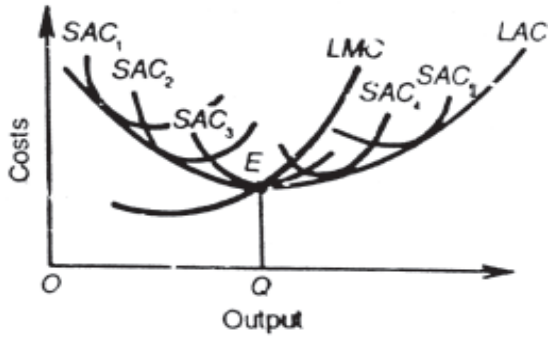

LAC वक्र को लिफाफा वक्र (envelope curve) कहते हैं क्योंकि यह सब SAC वक्रों को लपेट लेता है। स्टोनियर और हेग के अनुसार, "एक प्रकार से वेष्टन शब्द भ्रामक है। शारीरिक रूप से लिफाफा उस पत्र से भिन्न होता है जो उसमें है। परन्तु दीर्घकालीन लागत लिफाफा वक्र का हर बिन्दु उन अल्पकालीन लागत वक्रों का भी बिन्दु होता है जिन्हें वह लपेटता है।" प्रोफेसर चैम्बरलेन के अनुसार, "यह प्लांट वक्रों का बना होता है, इसलिए यह प्लांट वक्र है। परन्तु इसे "योजना" वक्र कहना अधिक उचित है क्योंकि दीर्घकाल में फर्म उत्पादन के पैमाने का विस्तार करने की योजना बनाती है।

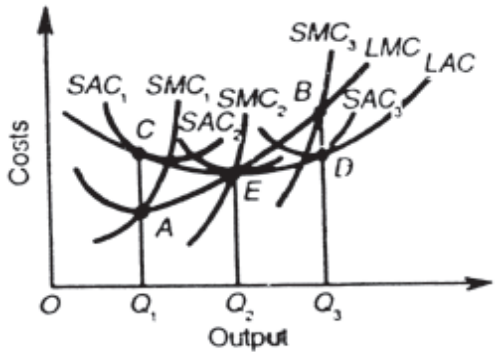

LMC वक्र - फर्म का दीर्घकालीन सीमांत लागत (LMC) वक्र SAC वक्रों से व्युत्पन्न किया जाता है, जैसाकि चित्र 18.10 में दर्शाया गया है जहाँ SAC_1, SAC_2 और SAC_3 वक्र क्रमशः बिन्दुओं C, E और D पर LAC वक्र द्वारा स्पर्श होते हैं। X-अक्ष पर इन बिन्दुओं से क्रमशः CQ_1, EQ_2 और DQ_3 लंब गिराओं। जब A, E और B बिन्दुओं पर, जहाँ SMC_1, SMC_2 और SMC_3 वक्र इन अनुलंब रेखाओं को काटते हैं, उन्हें मिला दिया जाए तो वे LMC वक्र को ट्रेस

करते हैं। SAC_2 और LAC वक्रों को LMC वक्र न्यूनतम बिन्दु E पर काटता है, जिससे LCM - $LAC = SAC_2 = SAC_2$, इस प्रकार, सीमांत और औसत लागत वक्रों में सामान्य संबंध बनाए जाते हैं। E के बाई ओर LAC > LMC और इसके दाई ओर LMC > LAC.

SAC वक्र की अपेक्षा LAC अधिक चपटा (LAC curve flatter than SAC curve)

यद्यपि LAC वक्र U के आकार का होता है, फिर भी, यह SAC वक्र की अपेक्षा अधिक चपटा होता है। इसका अभिप्राय है कि LAC वक्र पहले धीरे-धीरे नीचे को जाता है और न्यूनतम बिन्दु आने के बाद धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता है। व्यक्तिगत साधनों के मितव्ययी प्रयोग, बढ़े हुए विशेषीकरण और तकनीकी रूप से बढ़िया मशीनों और साधनों के प्रयोग से पैमाने की कुछ किफायतें प्राप्त होने के कारण शुरू में LAC वक्र धीरे-धीरे नीचे को ढाले होता है। दीर्घकालीन में पैमाने के प्रतिफल का नियम फर्म के उत्पादन पर लागू होता है जिसके कारण प्रारम्भ में उत्पादन के साधनों की अविभाज्यता साधनों से उनकी अधिकतम क्षमता के अनुसार काम लिया जाता है जिससे प्रति इकाई लागत कम होती है। चैम्बरलेन ऊपर व्यक्त किए गए कॉलडर और जॉन राबिन्सन की अविभाज्यता की धारणा को स्वीकार नहीं करता। वह विशेषीकरण और श्रम-विभाजन को पैमाने के बढ़ते प्रतिफल का कारण मानता है। जब फर्म के पैमाने का विस्तार होता है तो श्रम और उपकरणों का विशेषीकरण बढ़ जाता है। काम छोटे-छोटे भागों में बाँटा जाता है और श्रमिक, प्रक्रियाओं के छोटे क्षेत्रों की ओर ध्यान दे सकते हैं। इसके लिए विशेषीक त उपकरण लगाए जाते हैं और दक्षता बढ़ती है जिससे पैमान का प्रतिफल बढता है और औसत लागत कम होती है। इतना ही नहीं, फर्म बाहरी किफायतों के कारण भी पैमाने के बढ़ते प्रतिफल का उपभोग करती है। जब दीर्घकालीन में उद्योग का विस्तार होता है जो बहुत-सी बाहरी किफायतें प्रकट होती हैं जिनका उद्योग की सभी फर्में बाँटकर उपभोग करती हैं जैसे कुशल श्रम, उधार, परिवहन आदि की सुविधाएँ जिनसे प्रति इकाई दीर्घकालीन लागत कम होती जाती है।

जब दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का न्यूनतम बिन्दु आ जाता है तो उसके बाद उत्पादन के पैमाने के विस्तार के साथ उत्पादन के लिए निश्चित क्षेत्र में LAC वक्र चपटा हो जाता है। तब मितव्ययिताएँ और अमितव्ययिताएँ एक-दूसरे को संतुलित करती हैं और LAC वक्र का आधार डिस्क-आकार हो जाता है। पैमाने का और विस्तार होने पर तालमेल, प्रबन्ध, श्रम और यातायात की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनसे LAC वक्र बढ़ती है शुरू कर देता है। कॉलडर के अनुसार ऐसा तब होता है जब उत्पादन के पैमाने के बहुत अधिक बढ़ने से अविभाज्य साधन दक्षतारहित और कम उत्पादक बन जाते हैं। जबकि चैम्बरलेन का यह कथन है कि प्रबन्ध और नियन्त्रण की कठिनाइयाँ उत्पन्न होने से प्रति इकाई लागत बढती है। इन आन्तरिक अमितव्ययिताओं के साथ बाहरी अमितव्ययिताएँ भी मिल जाती हैं जो ऊँची साधन कीमतों या साधनों की घटती उत्पादकता से उत्पन्न होती हैं। जब उद्योग का विस्तार जारी रहता है तो प्रशिक्षित श्रम, पूँजी आदि की माँग बढ़ जाती है। जिससे मजदूरी, ब्याज, लगान आदि बढ़ते हैं। कच्चे माल की कीमतें भी चढ़ जाती हैं। यातायात और मार्किटिंग की समस्या भी पैदा हो जाती हैं। इन सब कारणों से जब पैमाने की प्रतिफल घटता है तो लागतें बढ़ने लगती हैं। दोनों में से हर स्थिति में LAC वक्र SAC वक्र की अपेक्षा अधिक धीरे गिरता या चढ़ता है क्योंकि दीर्घकालीन में सब लागतें परिवर्तनशील बन जाती हैं और स्थिर लागत कोई नहीं होती। प्लांट और उपकरण बदल तथा उत्पादन के अनुरूप बनाए जा सकते हैं। वर्तमान साधनों को पूरी तरह और अधिक दक्षता से काम में लाया जा सकता है जिसके

कारण अल्पकालीन की अपेक्षा दीर्घकालीन में औसत स्थिर तथा औसत परिवर्तन दोनों ही लागतें कम होती हैं। यही कारण है कि SAC वक्र की अपेक्षा LAC वक्र अधिक चपटा होता है।

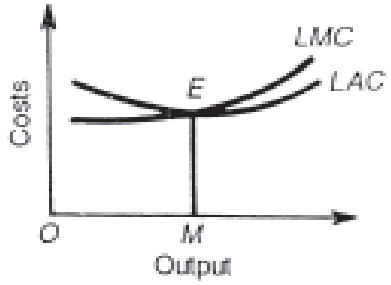

इसी प्रकार, SMC वक्र की अपेक्षा LMC वक्र अधिक चपटा होता है क्योंकि सब लागतें परिवर्तनशील होती हैं और स्थिर लागत कोई नहीं होती है।। अल्पकालीन में सीमान्त लागत स्थिर और परिवर्तनशील दोनेां लागतों से सम्बन्धित होती है। परिणामस्वरूप SMC वक्र LMC वक्र की अपेक्षा अधिक तेजी से गिरता और चढता है। LMC वक्र का LAC वक्र से सामान्य सम्बन्ध ही होता है। यह पहले गिरता है और LAC वक्र से सामान्य सम्बन्ध ही होता है। यह पहले गिरता है और LAC वक्र के नीचे होता है। फिर चढता है और LAC वक्र को न्यूनतम बिन्दु E पर काटता है और फिर सदैव LAC वक्र से ऊपर रहता है जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

लागतों का आधुनिक सिद्धांत
(THE MODERN THEORY OF COSTS)

लागतों का आधुनिक सिद्धांत लागतों के परंपरागत सिद्धांत से लागत वक्रों के आकार में भिन्न है। परंपरागत सिद्धांत में, लागत वक्र U-आकार के होते हैं। परन्तु आधुनिक सिद्धांत में जो आनुभविक प्रमाणों पर आधारित हैं। SAVC वक्र और SMC वक्र एक दूसरे के साथ मेल खाते हैं और उत्पादन के एक विस्त त रेंज पर एक समानांतर सीधी रेखा होते हैं। जहाँ तक LAC और LMC वक्रों की बात है, वे U-आकार की बजाए L-आकार के होते हैं। हम अल्पकालीन और दीर्घकालीन लागत वक्रों की प्रक ति की विवेचना करते हैं।

1. अल्पकालीन लागत वक्र - परंपरागत सिद्धान्त की तरह, लागतों के आधुनिक सिद्धान्त में AFC] SAVC, SAC और SMC अल्पकालीन लागत वक्र होते हैं। वे भी कुल लागतों से व्युत्पन्न किए जाते हैं जो कुल स्थिर लागतों और कुल परिवर्तनशील लागतों में विभाजित होती हैं।

   परन्तु आधुनिक सिद्धांत में, SAVC और SMC वक्रों की U-आक ति न होकर तश्तरी या कटोरा आक ति होती है। क्योंकि AFC वक्र आयताकार अतिपरवलय होता है, इसलिए SAC वक्र की आक ति आधुनिक व्याख्या में भी U-आकार की होती है। अर्थशास्त्रियों ने SAC वक्रों के इस व्यवहार ढांचे की आनुभविक अध्ययनों के आधार पर जांच की है। उनके अनुसार, एक आधुनिक फर्म ऐसा प्लांट चुनती है जो वह उपलब्ध परिवर्तनशील प्रत्यक्ष साधनों से सुगमता के साथ चला सकती है। एसे प्लांट में कुछ रिजर्व क्षमता और बहुत लोचशीलता पाई जाती है। फर्म अपनी वस्तु की माँग में व द्धि को पूरा करने हेतु, विस्त त रेंज में अधिकतम उत्पादन की दर उत्पादित करने के लिए, इस प्रकार के प्लांट को स्थापित करती है। तश्तरी-आकार के SAVC और SMC वक्रों को चित्र में दिखाया गया है। प्रारंभ में, दोनों वक्र पहले बिन्दु A तक गिरते हैं और SAVC वक्र से ऊपर SMC वक्र स्थित होता है। SAVC वक्र

का गिरता भाग, स्थिर साधन के बेहतर उपयोग और परिणामस्वरूप परिवर्तनशील साधन (श्रम)की दक्षताओं और उत्पादकता में व द्धि के कारण, लागतों में कमी को दर्शाता है। बेहतर दक्षताओं के साथ कच्चे मालों के अपव्यय भी कम होते हैं। तथा समस्त प्लांट के बेहतर उपयोग पर पहुँच जाते हैं। जहाँ तक उत्पादन की Q_1Q_2 रेंज पर तश्तरी आकार के SAVC वक्र के चपटे भाग का संबंध है, आनुभविक प्रमाण यह व्यक्त करता है कि इस विस्त त रेंज में एक प्लांट का कार्यकरण पैमाने के स्थिर प्रतिफल दर्शाता है। तश्तरी-आक ति के SAVC वक्र का कारण यह है कि स्थिर साधन विभाज्य है। SAV लागतें एक बड़ी रेंज पर उस बिन्दु तक स्थिर होती हैं जिस पर समस्त स्थिर साधन प्रयोग होता है। फिर, फर्म की SAV लागतें उत्पादन के एक विस्त त रेंज पर स्थिर होती हैं क्योंकि जो प्लांट चालू रखे जाते हैं उनमें श्रम और पूँजी के इष्टतम संयोग से हटने की आवश्यकता नहीं हे। अतः उत्पादन की इस बड़ी रेंज पर SAVC वक्र चपटा होगा, SMC वक्र इसके बराबर होगा और प्रति इकाई उत्पादन स्थिर होगा। इसलिए फर्म प्लांट की Q_1Q_2 रिजर्व क्षमता के बीच उत्पादन करती रहेगी, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

B बिन्दु के बाद, SAVC और SMC वक्र ऊपर की ओर चढ़ना प्रारंभ करते हैं। जब फर्म Q_2 से आगे उत्पादन की ऊँची दरें प्राप्त करने के लिए अपने प्लांट के सामान्य या लोड फैक्टर से परे हटती है, तो इससे SAVC और SMC दोनों बढ़ती हैं। लागतों में व द्धि पुराने और कम दक्ष प्लांट को ओवरटाइम चलाने से हो सकती है, जिससे बार-बार मशीनों का खराब होना, कच्चे माल का अपव्यय, श्रम उत्पादकता में कमी और ओवरटाइम कार्य करने से श्रम लागत में व द्धि का होना है। B बिन्दु के आगे SAVC वक्र के बढ़ते भाग में SMC वक्र उससे ऊपर होता है।

अल्पकालीन औसत कुल लागत वक्र SAC या SATC को उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर AFC वक्र और SAVC वक्र को अनुलंब तौर से जोड़कर प्राप्त किया जाता है। जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है SAC वक्र उत्पादन के Q स्तर तक गिरता चला जाता है इस स्तर पर प्लांट की रिजर्व क्षमता पूरी तरह से समाप्त हो जाती है। इस उत्पादन स्तर के पश्चात् SAC वक्र उत्पादन बढने के साथ ऊपर की ओर गति करता है। उत्पादन के Q स्तर तक SAC वक्र की समतल और निरंतर गिरावट, इस कारण है कि AFC वक्र आयताकार अतिपरवलय है और SAVC वक्र पहले गिरता है और फिर रिजर्व क्षमता के रेंज के बीच समानांतर हो जाता है। उत्पादन स्तर Q के आगे, यह सीधा ऊपर की ओर बढ़ना शुरू कर देता है। परन्तु SAC वक्र का न्यूनतम बिन्दु M, जहाँ SMC वक्र इस को काटता है, SAVC वक्र के बिन्दु E के दाई ओर है। ऐसा इसक कारण कि SAVC E बिन्दु सीधा ऊपर बढ़ना प्रारंभ करता है जबकि AFC वक्र बहुत कम दर से गिर रहा है।

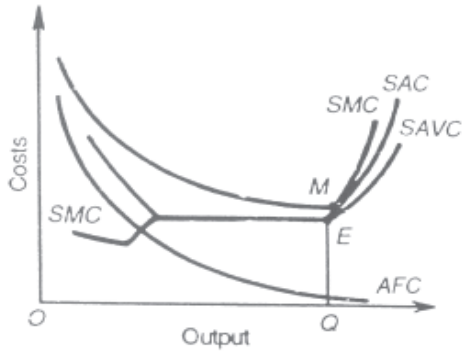

2. **दीर्घकालीन लागत वक्र (Long-Run Cost Curves)** - दीर्घकालीन औसत लागत के बारे में आनुभविक प्रमाण बताते हैं कि LAC वक्र L आक ति का होता है न कि U-आक ति का। शुरू में, LAC वक्र तीव्रता से गिरता है परन्तु एक बिन्दु के पश्चात् वक्र चपटा रहता है, या अपने दाएँ हाथ के छोर पर नीचे की ओर धीरे से ढालू हो सकता है। अर्थशास्त्रियों ने LAC वक्र के L-आक ति के होने के लिए निम्नलिखित कारण दिए हैं।

उत्पादन और प्रबंधकीय लागतें
(Production and Managerial Costs)

दीर्घकाल में, समस्त लागतें परिवर्तनशील होने के कारण, जब औसत लागतों पर उत्पादन के प्रसार के प्रभाव पर विचार किया जाता है, तो फर्म की उत्पादन और प्रबंधकीय लागतों को ध्यान में रखा जाता है जब उत्पादन बढ़ता है तो उत्पादन लागतें लगातार कम होती जाती हैं, जबकि प्रबंधकीय लागतें उत्पादन के बहुत बड़े पैमाने पर बढ़ सकती है। परन्तु उत्पादन बढ़ने के साथ LAC वक्र गिरता है। हम LAC वक्र की L-आक ति को समझने के लिए उत्पादन और प्रबंधकीय लागतों के व्यवहार का विश्लेषण करते हैं।

उत्पादन लागतें (Production Costs) - जब एक फर्म अपने उत्पादन के पैमाने को बढ़ाती है, तो प्रांरभ में उसकी उत्पादन तीव्रता से कम होती हैं और फिर धीरे-धीरे। ऐसा फर्म द्वारा बढ़े पैमाने की तकनीकी किफायतें प्राप्त करने से होता है। शुरू में, ये किफायतें काफी होती हैं। परन्तु उत्पादन के एक विशेष स्तर के बाद जब अधिकतर या सभी किफायतें प्राप्त हो जाती हैं, तो फर्म न्यूनतम इष्टतम पैमाने या न्यूनतम दक्ष पैमाने पर पहुँच जाती है। उद्योग ने की प्रोद्यौगिकी दी होने पर, फर्म न्यूनतम दक्ष पैमाने से अधिक उत्पादन स्तर पर निम्न कारणों से कुछ तकनीकी किफायतों का लाभ उठा सकती है : (क) आगे और विकेन्द्रीकरण तथा श्रम की उत्पादकता और कुशलताओं में सुधार में; (ख) फर्म के एक विशेष आकार पर पहुँचने के बाद कम मरम्मत लागतों से; और (ग) दूसरी फर्मों से खरीदने की बजाए, स्वयं कुछ साज-सामान और उपकरण का सस्ता उत्पादन करके, जिनकी फर्म को आवश्यकता होती है।

प्रबंधकीय लागतें (Managerial Costs) - आधुनिक फर्मों में, प्रत्येक प्लांट के बिना रुकावट के कार्यकरण के लिए एक प्रबंधकीय ढाँचा होता हैं प्रबंध के विभिन्न स्तर होते हैं, जिनमें से प्रत्येक की एक अलग प्रबंध तकनीक होती है जो उत्पादन के एक विशेष स्तर पर लागू होती है। इस प्रकार, एक प्लांट के लिए एक प्रबंध ढांचा दिया होने पर, इसकी प्रबंधकीय लागतें उत्पादन के बढ़ने के साथ पहले गिरती हैं और उत्पादन के केवल बहुत थोड़े पैमाने पर वे धीरे-धीरे बढ़ती है।

संक्षेप में, उत्पादन के बहुत बड़े पैमानों पर, उत्पादन बिना रुकावट के गिरती हैं और प्रबंधकीय लागतें धीरे-धीरे बढ़ती हैं। परन्तु उत्पादन लागतों में कमी प्रबंधकीय लागतों में व द्धि को अधिक निष्प्रभावित करती है जिससे LAC वक्र उत्पादन के बहुत बड़े पैमाने पर निर्विघ्न गिरता है या चपटा हो जाता है। इससे LAC वक्र की L-आक ति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार का LAC वक्र खींचने के लिए हम तीन अल्पकालीन औसत लागत वन SAC_1, SAC_2 और SAC_3 लेते हैं जो समान प्रौद्योगिकी के तीन प्लांटों का व्यक्त करते हैं, जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है। प्रत्येक SAC वक्र में उत्पादन लागतें, प्रबंधकीय लागतें, अन्य स्थिर लागतें और सामान्य लाभ के लिए अतिरिक्त राशि शामिल होती हैं प्रत्येक प्लांट का पैमाने

(SAC) एक विशिष्ट लोड फैक्टर क्षमता से प्रतिबंधित होता, जिससे A, B और C बिन्दु प्रत्येक प्लांट के उत्पादन के न्यूनतम इष्टतम पैमाने को व्यक्त करते हैं। एक बड़ी संख्या के SACs के A, B, C आदि जैसे सभी बिन्दुओं को मिलाने से हमें एक निर्विघ्न निरंतर LAC वक्र होता है, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है। यह वक्र उत्पादन के बहुत बड़े पैमाने पर ऊँचे की ओर नहीं मुड़ता है। यह SAC वक्रों को नहीं घेरता। यह SAC वक्रों को नहीं घेरता बल्कि प्रत्येक प्लांट के उत्पादन के इष्टतम पैमाने पर उन्हें काटता है।

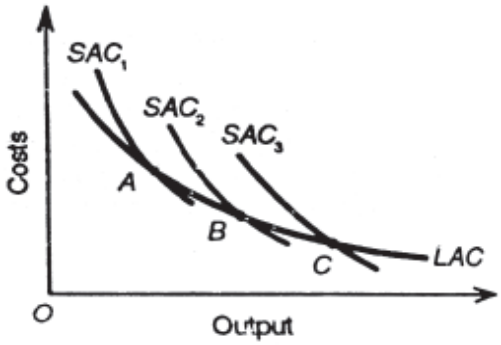

तकनीकी उन्नति
(Technical Progress)

लागतों के आधुनिक सिद्धांत में LAC वक्र की L-आक ति होने का एक अन्य कारण तकनीकी उन्नति है। लागतों का परंपरागत सिद्धांत तकनीकी उन्नति की मान्यता को नहीं लेता है, जब वह U-आक ति के LAC वक्र की व्याख्या करता है। परन्तु दीर्घकालीन लागतों से संबंधित आनुभविक परिणाम फर्मों में तकनीकी उन्नति के कारण पैमाने की विस्त त मितव्ययिताओं के होने की पुष्टि करते हैं जिस समय अवधि के बीच तकनीकी उन्नति हुई हैं, दीर्घकालीन औसत लागतों की गिरने की प्रव त्ति को दर्शाते हैं। अमितव्ययिताओं के बारे में प्रमाण बहुत कम निश्चित हैं। इसलिए पैमाने के अन्तिम छोर पर ऊपर की ओर LAC का मोड़ नहीं देखा गया हैं। तकनीकी उन्नति के कारण LAC वक्र की L-आक ति को चित्र में समझाया गया है।

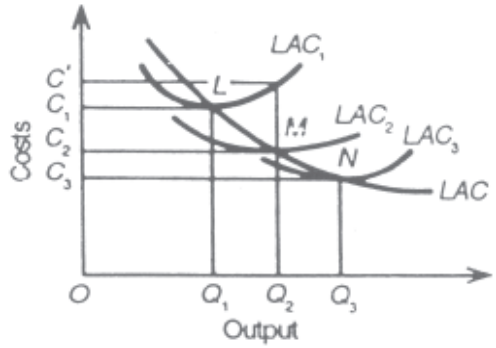

मान लीजिए कि फर्म LAC_1 वक्र पर प्रति इकाई OC_1 लागत से OQ_1 उत्पादन करती है। यदि फर्म की वस्तु की माँग बिना तकनीकी परिवर्तन के बढ़कर OQ_2 हो जाती है, तो फर्म प्रति इकाई OC लागत पर LAC_1 वक्र के साथ OQ_2 उत्पादन करेगी। यदि फर्म में तकनीकी उन्नति करेगी। यदि फर्म में तकनीकी उन्नति होती है, तो वह दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC_2 नया प्लांट लगाएगी। इस प्लांट पर वह कम प्रति इकाई लागत OC_2 प्श्र OQ_2 उत्पादन करती है। इसी प्रकार, यदि फर्म अपनी वस्तु की माँग में और व द्धि को पूरा करने के लिए अपने उत्पादन को OC_3 तक बढ़ाने का निर्णय लेती है तो तकनीकी उन्नति इतने उन्नत स्तर तक पहुँच चुकी है कि वह LAC_3 वक्र वाला प्लांट लगाती है। अब यह और भी कम प्रति इकाई

लागत OC_3 पर OQ_3 उत्पादन करती है। यदि इन दीर्घकालीन U-आक ति के औसत लागत वक्रों LAC_1, LAC_2 और L, M और N बिन्दुओं को रेखा द्वारा जोड़ा जाए, तो इससे एक नीचे की ओर धीरे से ढालू L-आक ति का LAC वक्र बनता है।

जानकारी
(Learning)

L-आक ति वाले दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का एक और कारण जानकारी प्रक्रिया है। जानकारी अनुभव से प्राप्त होती है। यदि इस संदर्भ में अनुभव को उत्पादित वस्तु की मात्रा से मापा जा सकता है, तो जितना अधिक उत्पादन होगा, प्रति इकाई लागत उतनी ही कम होगी। जानकारी के परिणाम बढ़ते हुए प्रतिफल की तरह हैं। पहला, बड़े स्तर पर किए गए कार्य से प्राप्त जानकारी को भुलाया नहीं जा सकता। दूसरा, जानकारी होने से उत्पादकता की दर बढ़ जाती हैं। तीसरा, अनुभव को उत्पादित किए गए कुल उत्पादन द्वारा तब से आंका जाता है जबसे फर्म ने शुरू में उत्पादन प्रारम्भ किया था। जब फर्में नई वस्तुएँ उत्पादित करना शुरू करती हैं, तो करने से जानकारी देखी गई है। जब वे पहली इकाई उत्पादित कर लेती हैं, तो उत्पादन के लिए जितना समय चाहिए उसे कम कर लेती हैं, तो उत्पादन के लिए जितना समय चाहिए उसे कम कर लेती हैं, और इस प्रकार वे प्रति इकाई लागतें कम करती हैं। उदाहरणार्थ, यदि फर्म जहाज के ढाँचे बनाती है, तो दीर्घकालीन औसत लागतों में देखी गई गिरावट एक विशेष प्रकार के जहाज के ढाँचे का उत्पादन करने के अनुभव के कारण होती है न कि सामान्य जहाज के ढाँचों में । इसलिए व्यक्ति 'एक जानकारी वक्र' बना सकता है जो कि फर्म द्वारा हवाई जहाज के ढाँचे बनाने से लेकर अभी तक बनाए गए कुल हवाई जहाज के ढांचों की तुलना में प्रति ढांचे की लागत से सम्बन्धित है। चित्र एक जानकारी वक्र LAC दर्शाता है जो एक दिए हुए उत्पादन की लागत को समस्त समय अवधि के ऊपर कुमल उत्पादन से संबंधित करता है। वस्तु बनाने के साथ बढ़ रहे अनुभव से लागतें गिरती जाती हैं जबकि इसकी अधिक से अधिक मात्रा उत्पादित की जाती है। जब फर्म जानकारी की सभी संभावनाओं का उपयोग कर लेती है, तो लागतें न्यूनतम स्तर, M पर पहुँच जाती हैं, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। इस प्रकार करने से जानकारी के कारण LAC वक्र L-आक ति का होता है। LAC और LMC वक्रों में संबंध।

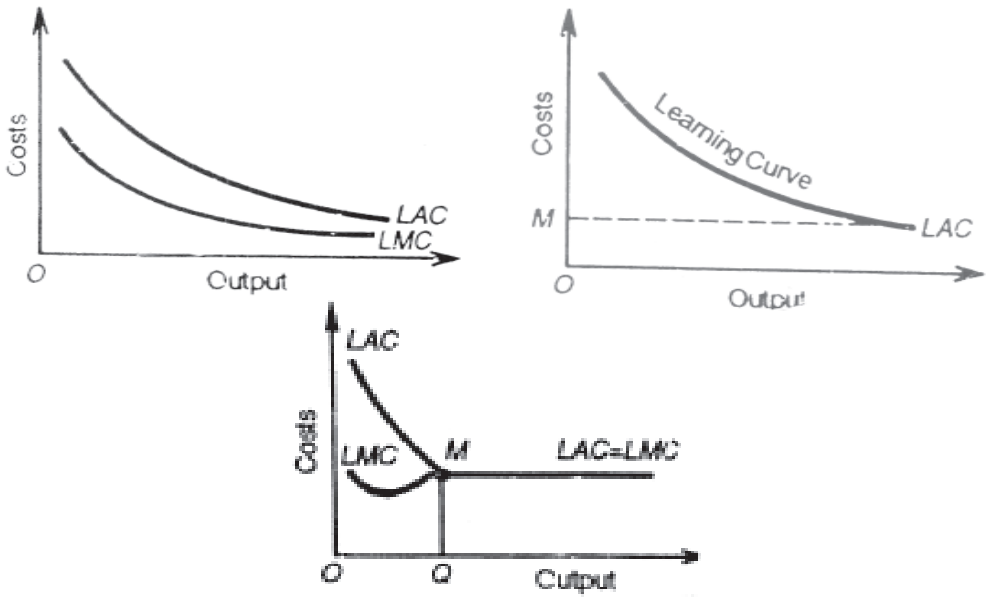

आधुनिक लागत-सिद्धांत में, यदि LAC वक्र उत्पादन के बहुत बड़े पैमानों पर भी निर्विघ्न और लगातार गिरता है, तो LAC वक्र की समस्त लंबाई के नीचे LMC वक्र स्थित होगा, जैसा कि में दिखाया गया है।

यदि प्लांट के एक न्यूनतम इष्टतम पैमाने या प्लांट के एक न्यूनतम दक्ष पैमाने के बिन्दु तक, जिसके बाद पैमाने की और किफायतें नहीं पाई जाती हैं, तो LAC t वक्र X-अक्ष के समांनातर हो जाता है। इस स्थिति में LAC वक्र से नीचे LMC वक्र स्थित होता है जब तक न्यूनतम दक्ष पैमाने का बिन्दु, M नहीं पहुँच जाता है और इस बिन्दु के बाद LAC वक्र मिल जाता है, जैसा कि चित्र में दर्शाया गया हैं

निष्कर्ष

अधिकतर आनुभविक लागत अध्ययन ये सुझाव देते हैं कि परंपरागत सिद्धांत द्वारा उपकल्पित U- आक ति के लागत वक्र वास्तविकता में नहीं देखे जाते हैं। इन अध्ययनों से दो मुख्य परिणाम निकलते हैं। प्रथम, SAVC और SMC वक्र उत्पादन के विस्त त रेंज पर स्थिर हैं। द्वितीय, उत्पादन के नीचे स्तरों पर LAC वक्र तीव्रता से गिर है और जब उत्पादन का पैमाना बढ़ता है तो बाद में व्यवहारिकता में स्थिर रहता है इसका मतलब है कि LAC वक्र U-आक ति का न होकर, L-आक ति का है। बहुत कम अवस्थाओं में पैमाने की अमितव्ययिताएँ पाई गईं और वे भी उत्पादन के बहुत ऊँचे स्तरों पर।

दीर्घकालीन कुल लागत वक्र को उत्पादन फलन के प्रसार पथ से व्युत्पन्न करना (Derivation of LTC from Production function or Expansion path)

हम दीर्घकालीन कुल लागत वक्र को उत्पादन कर सकते हैं। चित्र पर विचार कीजिए जिसमें यह मान लिया गया है कि एक फर्म दो साधनों, पूँजी और श्रम, से अपनी एक वस्तु का उत्पादन करती है। यह भी मान्यता है कि साधन कीमतें स्थिर हैं, जिन्हें समानांतर समलागत वक्रों C_1L_1, C_2L_2, C_3L_3 और C_4L_4 द्वारा दर्शाया गया है। फर्म के सममात्रा वक्र 10ए 20ए 30 और 40 वस्तु X के उत्पादन स्तरों को व्यक्त करते हैं। उत्पादन की 10 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए न्यूनतम-लागत साधन संयोग को P द्वारा दिखाया गया है जहाँ सममात्रा वक्र 10 समलागत रेखा C_1L_1 म को स्पर्श करता है। इसी तरह, उत्पादन की 20 इकाईयों का न्यूनतम लागत साधन संयोग Q द्वारा, उत्पादन की 30 इकाइयों का न्यूनतम-लागत साधन संयोग R द्वारा, उत्पादन की 40 इकाइयों का न्यूनतम-लागत साधन संयोग S द्वारा व्यक्त किया गया है। इन स्पर्श बिन्दुओं को मिलाने से प्रकार पथ EP प्राप्त होता है। उत्पादन फलन और साधन-कीमत अनुपात दिए होने पर, प्रसार पथ साधनों के संयोगों को दर्शाता है तो फर्म को न्यूनतम लागत पर वस्तु के उत्पादन के विभिन्न स्तर उत्पादित करने की क्षमता प्रदान करते हैं।

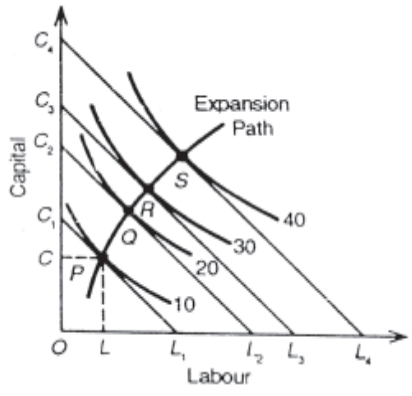

केवल श्रम और पूँजी दो साधनों पर आधारित प्रसार पथ दिया होने पर, दीर्घकालीन कुल लागत वक्र व्युत्पन्न किया जा सकता है। प्रसार पथ पर प्रत्येक बिन्दु दीर्घकाल में वस्तु X की एक निश्चित मात्रा उत्पादित करने के लिए साधनों के न्यूनतम-लागत संयोग को दर्शाता है। चित्र वस्तु X की न्यूनतम कुल लागत को दिखाता है जहाँ A, B, C, और D बिन्दु चित्रके बिन्दु P, Q, R और S के साथ मेल खाते हैं। चित्र में बिन्दु P लीजिए जो उत्पादन स्तर 10 के साथ मेल खाता है। यह बिन्दु P समलागत रेखा C_1L_1 पर है जिसका मतलब है कि लागत, चित्र में X की 10 इकाइयाँ उत्पादित करने की लागत OT_1 के बराबर है। इसी प्रकार, उत्पादन की 20 इकाइयाँ और कुल लागत OT_2 संयोग B प्रदान करते हैं;, उत्पादन की 30 इकाइयाँ और कुल लागत OT_3, संयोग C; और कुल लागत OT_4 संयोग D प्रदान करते हैं। A,B, C और D बिन्दुओं के मिलाने से दीर्घकालीन कुल लागत वक्र LTC प्राप्त होता है।

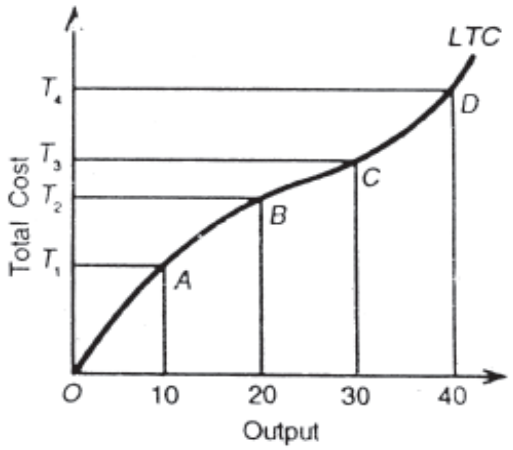

LAC और LMC वक्रो को LTC वक्र से व्युत्पन्न करना
(Derivation of LAC and LMC curves from LTC curve)

दीर्घकालीन कुल लागत वक्र (LTC) से दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) वक्र और दीर्घकालीन सीमांत लागत (LMC) वक्र निम्न ढंग से व्युत्पन्न किए जा सकते हैं।

LAC वक्र की व्युत्पत्ति - चित्र में LTC वक्र से LAC वक्र की व्युत्पत्ति दर्शाता है। औसत कुल लागत (ATC) = TC / Q. चित्र पर, एक निश्चित उत्पादन की औसत लागत कुल लागत वक्र पर मूल से एक रेखा या किरण की ढलान द्वारा दिखाई जाती है। चित्र का पेनल (A), कुल लागत वक्र LTC दिखा है। OQ_1 उत्पादन स्तर पर कुल लागत OT_1 है। अतः इस उत्पादन स्तर पर औसत कुल लागत, $ATC = OT_1/OQ_1$, यह LTC वक्र पर बिन्दु A पर मूल O से खींची गई किरण की ढलान है, जो प्रपाती है। OQ_1 को चित्र के पेनल (B) में बिन्दु H पर अंकित किया गया है। OQ_2 उत्पादन स्तर पर, औसत कुल लागत न्यूनतम है क्योंकि मूल से LTC वक्र के बिन्दु B पर किरण उसको स्पर्श करती है। इस बिन्दु पर, किरण की ढलान छोटी है और औसत कुल लागत OT_2/OQ_2 है। इसे पेनल (B) में, बिन्दु M पर T_2/Q_2 अंकित किया गया है। LTC वक्र के बिन्दु C पर किरण की ढलान अधिक है, तो यह दर्शाती है कि बिन्दु B की तुलना में OQ_3 उत्पादन स्तर पर औसत कुल लागत OT_3/OQ_3 ऊँची है। इसे चित्र के पेनल (B) में बिन्दु R पर T_1/Q_1 अंकित किया गया है। H, M और R बिन्दुओं को मिलाने से LAC वक्र प्राप्त होता है जो प्रारंभ में ऊँचा है, फिर गिरता है, न्यूनतम बिन्दु M पर पहुँचता है और उसके पश्चात् बढ़ना शुरू कर देता है।

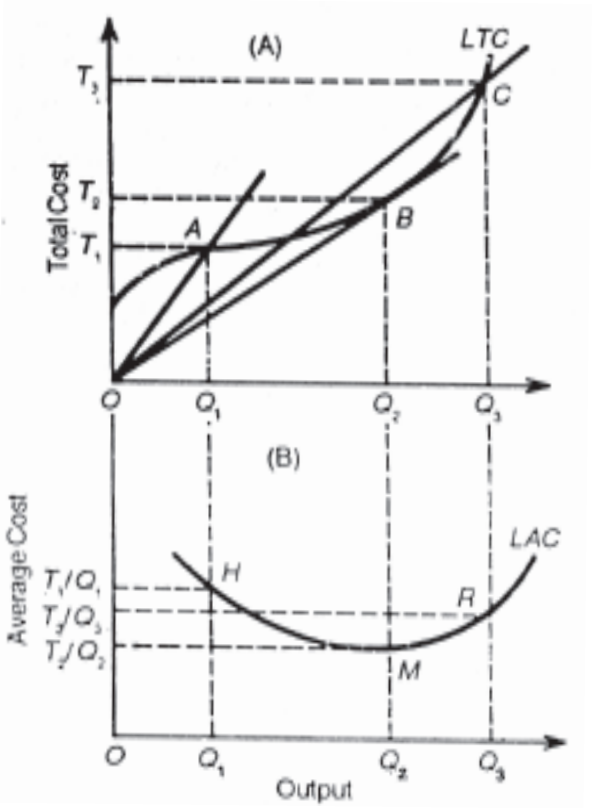

LMC वक्र की व्युत्पति - दीर्घकालीन सीमांत लागत (LMC) वक्र की व्युत्पत्ति को दीर्घकालीन कुल लागत (LTC) वक्र से चित्र में दर्शाया गया है। वस्तु की एक इकाई में परिवर्तन से कुल लागत में जो परिवर्तन होता है, वह सीमान्त लागत है। चित्र में, LTC वक्र के किसी एक विशेष बिन्दु पर खींची गई एक स्पर्श रेखा की ढलान स्पर्श B बिन्दु पर स्पर्श रेखा की ढलान सबसे छोटी है, जिससे उत्पादन-स्तर OQ_1 पर LMC न्यूनतम है, जैसाकि चित्र.I के पेनल (B) में अंकित किया गया है। LTC वक्र के बिन्दु C पर मूल से किरण स्पर्श करती है। परन्तु इसकी ढलान बिन्दु B की उपरेखा प्रपाती है। इसका मतलब है कि OQ_2 उत्पादन स्तर पर LMC बढ़ रही है क्योंकि चित्र में बिन्दु C पर किरण की ढलान बराबर है बिन्दु B पर चित्र में, इसलिए OQ_2 उत्पादन स्तर पर, LMC = LAC लेकिन चित्र में, LTC वक्र पर बिन्दु C के बाईं ओर LMC वक्र की ढलान कम है। इसलिए, मूल से OQ_2 उत्पादन स्तर तक LAC वक्र से LMC वक्र नीचे है और OQ_2 स्तर पर LMC वक्र बराबर है LAC वक्र के तथा उसे नीचे से काटता है। चित्र में LTC वक्र के बिन्दु D पर स्पर्श रेखा बहुत प्रपाती है, इसलिए LMC वक्र तिरछा ऊपर की ओर चढ़ता है और OQ_3 उत्पादन स्तर पर LMC > LAC.

पैमाने की किफायतें और LAC वक्र
(Economies of Scale and the LAC curve)

दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) की आक ति मूल रूप से पैमाने की आंतरिक किफायतों और अमितव्ययिताओं पर निर्भर करती है, जबकि LAC वक्र का सरकना पैमाने की बाहरी किफायतों और अमितव्ययिताओं पर निर्भर करता है।

LAC वक्र प्रारंभ से धीरे-धीरे गिरता है और फिर एक न्यूनतम बिन्दु पर पहुँचने के बाद धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता है। प्रारंभ में LAC वक्र इसलिए नीचे की ओर ढालू होता है क्योंकि

एक फर्म को पैमाने की कुछ आंतरिक किफायतें उपलब्ध होती हैं, जैसे अविभाज्य साधनों का किफायतों प्रयोग, बढ रहा विशेषीकरण, तकनीकी तौर से अधिक दक्ष मशीनों का प्रयोग, बेहतर प्रबंधकीय और विपणन संगठन और बाह्य मितव्ययिताओं के लाभ आदि। ये सभी किफायतें पैमाने के बढ़ते प्रतिफल लाती हैं। इसका अर्थ है कि जब उत्पादन बढता है, तो LAC वक्र गिरता है जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है जहाँ LAC वक्र धीरे-धीरे M बिन्दु तक गिरता है।

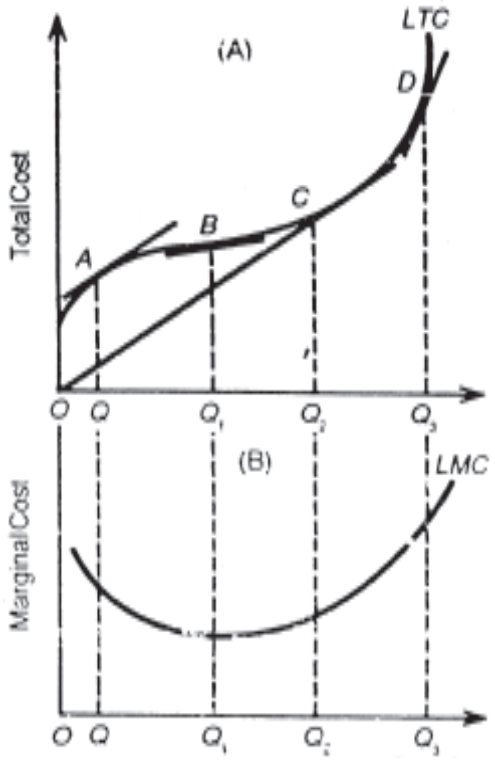

पैमाने की बचतें केवल उस बिन्दु तक पाई जाती हैं जो LAC वक्र का इष्टतम बिन्दु है। यदि फर्म इस इष्टतम बिन्दु से आगे अपने उत्पादन को बढ़ाती है, तो पैमाने की अमितव्ययिताएँ उत्पन्न होती हैं, पैमाने की अमितव्ययिताएँ समन्वय के अभाव, प्रबंध की अदक्षताओं, विपणन की समस्याओं और साधनों की कीमतों में व द्धियों से उत्पन्न होती हैं जब फर्म अपने पैमाने का प्रसार करती है। परिणामस्वरूप, पैमाने के प्रतिफल घटते हैं, जो LAC वक्र को ऊपर की ओर मोड़ देते हैं, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है जहाँ LAC वक्र M बिन्दु के बाद ऊपर की ओर गति करना प्रांरभ कर देता है। इस प्रकार पैमाने की आंतरिक किफायतें और अमितव्ययिताएं LAC वक्र की आक ति की बनावट में विद्यमान होती है क्योंकि वे फर्म की अपनी क्रियाओं से प्राप्त होती हैं जब वह अपने उत्पादन के स्तर को बढ़ाती है। वे केवल दीर्घकाल से संबंधित होती हैं।

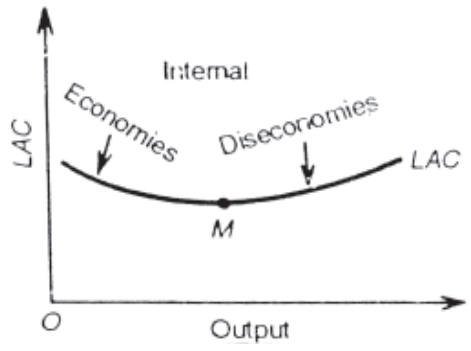

दूसरी ओर, पैमाने की बाह्य किफायतें और अमितव्ययिताएँ LAC वक्र की स्थिति को प्रभावित करती हैं। बाह्य किफायतें एक फर्म को बाहर से अन्य फर्मों द्वारा प्राप्त होती है जब समस्त उद्योग फैलता है। वे एक उद्योग में फर्मों की परस्पर निर्भरता को व्यक्त करती हैं। वे अन्य फर्में आविष्कार करती हैं और उत्पादन प्रक्रियाओं प्रति इकाई लागत कम होती है। वे एक फर्म को उद्योग में साधन कीमतों में कमियों से भी प्राप्त होती है जिससे प्रति इकाई लागत कम होती है और LAC वक्र नीचे की ओर सरक जाता है जैसाकि चित्र में LAC वक्र को LAC_1 पर शिफ्ट करना दिखाया गया है।

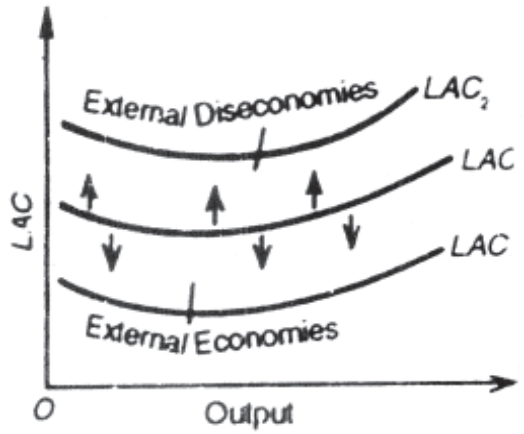

इसके विपरीत, बाह्य अमितव्ययिताएँ बाह्य अमितव्ययिताएँ केवल एक उद्योग द्वारा प्रयोग किए गए साधनों की बाजार कीमतों में व द्धि से उत्पन्न होती हैं। जब उद्योग फैलता है, तो श्रम, पूँजी, उपकरण, कच्चे माल, बिजली आदि की माँग बढ़ती है और जब कमियों के कारण उद्योग इन साधनों की माँग को पूरा करने में असमर्थ होता है तो फर्मों की प्रति इकाई लागत बढ़ती है। परिणामस्वरूप, LAC वक्र ऊपर की ओर सरक जाता है जैसा कि चित्र में LAC वक्र के ऊपर की ओर LAC_2 पर शिफ्ट करना दिखाया गया है।

लागतों की लोच
(Elasticity of costs)

यदि उत्पादन Q कुल लागत T द्वारा उत्पादित होता है जो लागत फलन होता है : $T = f(Q)$ कुल लागत की लोच कुल लागत में आनुपातिक परिवर्तन तथा उत्पादन में आनुपातिक परिवर्तन का अनुपात होता है।

इस प्रकार लिखा जा सकता है :

$$k = \frac{dT}{T} \div \frac{dQ}{Q} = \frac{dT}{T} \times \frac{Q}{dQ} = \frac{dT}{dQ} \cdot \frac{Q}{T} = \frac{dT}{dQ} \div \frac{T}{Q} = \frac{MC}{AC}$$

अतः लागत-लोच (k) सीमांत लागत (dt/dQ) का औसत लागत (T/Q) के साथ अनुपात के बराबर होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि $MC \gtreqless AC$ तो $K \gtreqless 1$ इसका मतलब यह है कि जब MC>AC हो तो k>1. चित्र में, जब MC वक्र AC वक्र से ऊपर होता है तो k>1. जैसा कि चित्र में बिन्दु E के दाईं ओर का क्षेत्र है। यह हासमान प्रतिफल व्यक्त करता है। जब MC = AC तो k =1. चित्र में यह स्थिति बिन्दु E जहाँ MC वक्र AC वक्र को व्यक्त नीचे से काटता है। यह स्थिर प्रतिफल की अवस्था है। जब MC < AC तो k<1 यह चित्र में E बिन्दु के बाईं ओर का क्षेत्र है, जहाँ MC वक्र गिर रहा है और AC वक्र से नीचे है। यह बढ़ते प्रतिफल की अवस्था है।

क्योंकि औसत लागत एवं सीमांत लागत उत्पादन से संबद्ध कुल लागत से व्युत्पन्न की जाती हैं, AC वक्र तथा MC वक्र के आकार कुल लागत वक्र आकार से भी जाने जा सकते हैं। यदि एक दिए उत्पादन Q स्तर पर P कुल लागत वक्र पर बिन्दु हो, तब औसत लागत OP की ढलान तथा P तथा स्पर्श रेखा सीमांत लागत पढ़नी चाहिए। यह चित्र में दर्शाया गया है। चित्र आगे यह भी बताता है कि कुल लागत की लोच यह भी बताता है कि कुल लागत की लोच उत्पादन की व द्धि के साथ निरन्तर इकाई से कम से लेकर इकाई से अधिक तक बढती जाती है। पहले, थोडे उत्पादनों के लिए लागत-लोच इकाई से कम होती है और अन्त में, बड़े उत्पादनों के लिए यह इकाई से अधिक होती है। दूसरों शब्दों में, यदि उत्पादन का एक निश्चित स्तर मान लो α लिया जाए तो उत्पादन $Q < \alpha$ के लिए $k < 1$, और उत्पादन $Q > \alpha$ के लिए $k > 1$. जब $Q = \alpha$ हो तो $k = 1$ होता है। यह चित्र में दर्शाया गया है।

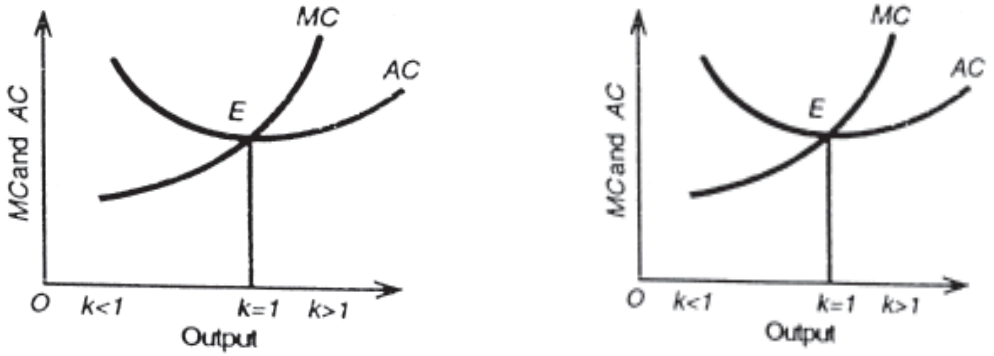

औसत लागत की लोच (Elasticity of Average Cost) - कुल लागत की लोच k है : $E(T) = \frac{dT}{dQ} \cdot \frac{Q}{T}$, और औसत लागत है T/Q. इसलिए, T को T/Q से स्थानापन्न करके

$$E(T/Q) = \frac{d(T/Q)}{dQ} \cdot \frac{Q}{T/Q}$$

$$= \frac{d}{dQ}(T/Q) \cdot \frac{Q^2}{T}$$

$$= \frac{Q^2}{T}\left(\frac{Q\frac{dT}{dQ} - T}{Q^2}\right)$$

$$= \frac{Q^2}{T} \cdot \frac{1}{Q^2}\left(Q\frac{dT}{dQ} - T\right)$$

$$= \frac{Q^2}{T} \cdot \frac{dT}{dQ} - 1 = k - 1$$

इससे ये निष्कर्ष निकलते हैः (1) यदि k (कुल लागत की लोच) इकाई से अधिक, बराबर या कम हो तो औसत लागत की लोच शून्य से अधिक, बराबर या कम होती है। (2) कुल लागत

की लोच औसत लागत की लोच से इकाई से अधिक होती है, अर्थात् $E(T/Q) = k - 1$ or $k - E(T/Q) = 1$.

सीमांत लागत की लोच (Elasticity of Marginal Cost) - जैसाकि हम जानते हैं, कुल लागत की लोच है : $E(T) = dT/dQ. Q/T$ इसलिए, सीमांत लागत है $dT/dQ. T$ को dT/dQ से स्थानापन्न करके

$$E\left(\frac{dT}{dQ}\right) = d\frac{(dT/dQ)}{dQ}.\frac{Q}{(dT/dQ)}$$

$$= \frac{d}{dQ}(dT/dQ).\frac{Q}{(dT/dQ)}$$

क्योंकि 1 निम्न द्वारा दिया है,

$$k = Q/T.dT/dQ \text{ or } Tk/2 = dT/dQ$$

(2) का मूल्य (1) में स्थानापन्न करने से, हमें प्राप्त होता है,

$$E\left(\frac{dT}{dQ}\right) = \frac{d}{dQ}\left(\frac{dT}{dQ}\right).\frac{Q^2}{T_k}$$

इकाई-2

विभिन्न बाजार स्थितियों में साधन कीमत निर्धारण
(Commodity Pricing in Different Market Structure)

विभिन्न अर्थशास्त्रियों में वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त काफी प्रिय रहा है। यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधन-कीमत निर्धारण की समस्या को केवल मांग पक्ष की ओर से अध्ययन करता है और पूर्ति पक्ष की उपेक्षा करता है। साधन-कीमत निर्धारण की समस्या के एक पूर्ण सिद्धान्त को मांग एवं पूर्ति दोनों ही पक्षों की ओर से अध्ययन करना चाहिए। इसे साधन-कीमत निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त साधन-कीमत निर्धारण के कुछ अन्य वास्तविक भेद भी हैं जिनका अपूर्ण प्रतियोगिता से सम्बन्ध है 1. साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता और वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता 2. साधन बाजार पूर्ण प्रतियोगिता और वस्तु बाजार एकाधिकार 3. साधन बाजार में एकक्रयाधिकार और वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता, तथा 4. साधन बाजार में एकक्रयाधिकार तथा वस्तु बाजार में एकाधिकार।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधन कीमत निर्धारण

एक उत्पादन के साधन की कीमत, एक वस्तु की कीमत समान, मांग और पूर्ति शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। यद्यपि प्रत्येक साधन की मांग एवं पूर्ति की शर्तें अलग-अलग होती है, फिर भी अर्थशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियम निर्धारित किए हैं जिनके आधार पर यह विश्लेषण किया जा रहा है।

मान्यतांए -

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधन कीमत निर्धारण का विश्लेषण निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित हैः

1. साधन बाजार तथा वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है।
2. साधन-सेवाओं के क्रेताओं एवं विक्रेताओं की संख्या अधिक है।
3. एक साधन की सभी इकाइयां समरूप हैं।
4. उत्पादन के साधन पूर्णतया गतिशील हैं।
5. वस्तुओं तथा साधनों की इकाइयों में पूर्ण स्थानापन्नता पाई जाती है।
6. सभी साधन-इकाइयां विभाज्य हैं।

7. साधन सेवाओं के क्रेताओं और विक्रेताओं को बाजार की अवस्थाओं का पूर्ण ज्ञान है।

7. साधन सेवाओं के क्रेताओं एवं विक्रेताओं को बाजार में प्रवेश करने तथा छोड़ने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है।

9. परिवर्ती अनुपात का नियम लागू होता है।

साधन सेवा की मांग - किसी भी साधन सेवा की मांग व्युत्पन्न मांग होती है जो कि उस वस्तु की मांग पर निर्भर करती है जिसे यह साधन बनाने में सहायता करता है। यदि वस्तु के लिए मांग अधिक हो तो साधन के लिए मांग भी अधिक होगी। इसके विपरीत, यदि वस्तु की मांग कम है तो साधन के लिए मांग भी कम होगी। वास्तव में, किसी साधन सेवा की मांग केवल उसकी वस्तु की मांग पर ही निर्भर नहीं करती बल्कि उसकी मांग की लोच पर निर्भर करती है वस्तु की मांग की लोच जितनी अधिक होती है, उस साधन सेवा की मांग की लोच भी अधिक होगी जो इसके उत्पादन में प्रयोग की गई है। इसके विपरीत, वस्तु की मांग की लोच कम होने पर इससे संबंधित साधन सेवा की मांग की लोच भी कम होगी।

एक साधन सेवा की मांग की लोच इस बात पर निर्भर करती है कि यह साधन कहां तक किसी अन्य साधन द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है। जितने सस्ते और अच्छे इसके स्थानापन्न होंगे, उतनी ही अधिक इसकी मांग की लोच होगी। इसका अभिप्राय यह है कि एक साधन सेवा की मांग दूसरे साधनों की कीमतों पर भी निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, यदि श्रम की अपेक्षा मशीनें सस्ती हो जाती हैं तो वे श्रम के स्थान पर स्थानापन्न की जा सकती हैं। यदि मशीनें बहुत महंगी हो तो भी मजदूरी बढ़ने से श्रम की मांग कम नहीं होगी, यदि श्रम के लिए मांग कम लोचदार हो।

वास्तव में एक फर्म की साधन सेवा के लिए मांग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर करती है। सीमान्त उत्पादकता से अभिप्राय सीमान्त भौतिक उत्पाद से है जो कम हो जाती है, जबकि साधन सेवा की अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है। परन्तु साधन सेवा के सीमान्त भौतिक उत्पाद का कोई अर्थ नहीं होता, जब तक उसे मुद्रा में व्यक्त न किया जाए। क्योंकि मार्किट पूर्ण प्रतियोगी होती है इसलिए फर्म साधन की प्रत्येक इकाई को बाजार कीमत पर बेचती है। इस प्रकार, साधन सेवा के सीमान्त उत्पाद का मूल्य इसके सीमान्त भौतिक उत्पाद को इसकी कीमत से गुणा करके निकाला जाता है $VMP = MPP \times Price$ परन्तु VMP उपभोक्ता की साधन सेवा का मूल्यांकन है। हमें फर्म द्वारा साधन सेवा के मूल्यांकन को भी द ष्टिगोचर रखना है अर्थात् साधन सेवा की सीमान्त इकाई कुल आगम में कितनी व द्धि करती है। यह साधन की सीमांत आगम उत्पाद है जो साधन सेवा के सीमान्त भौतिक उत्पाद को सीमान्त आगम से गुणा करके प्राप्त किया है, $MRP = MPP \times MRA$ क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत AR सीमान्त आगम के बराबर होती है इसलिए $VMP = MRP$. तालिका में एक साधन सेवा की उपकल्पित मांग सूची दी गई है।

(1) साधन की इकाइयां	(2) कुल उत्पादन	(3) सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP)	(4) उत्पादन की प्रति इकाई कीमत (रुपए)	(5) = (3 × 4) सीमान्त उत्पाद की मूल्य (VMP) (रुपए)	(6) = (2 × 4) कुल आगम	(7) सीमान्त आगम उत्पाद (MRP)
1	10	10	5	50	50	50
2	25	15	5	75	125	75
3	37	12	5	60	185	60
4	45	8	5	40	225	40
5	50	5	5	25	250	25
6	53	3	5	15	265	15
7	53	0	5	0	265	0

साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता होने के कारण उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर उत्पादन की प्रति इकाई कीमत समान ही रहती है, अर्थात् रु. 5 साधन की दूरी इकाई काम पर लगाने के बाद कुल उत्पादन घटती दर से बढ़ता है। परिवर्ती अनुपातों का नियम लागू होने से सीमान्त भौतिक उत्पाद भी गिरता है और इसके साथ सीमान्त उत्पाद मूल्य का मूल्य भी गिरता है। सीमान्त आगम उत्पादन फर्म की मांग वक्र है। परन्तु इसका ऋणात्मक झुकाव वाला भाग, जो दाई ओर नीचे को जाता है, एक फर्म का साधन सेवा के लिए मांग वक्र है। पूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त उत्पाद का मूल्य सीमान्त आगम उत्पाद के बारबर होता है। इसलिए VMP तथा MRP वक्र अनुरूप होते हैं जो कि चित्र में दिखाया गया है।

साधन सेवा की पूर्ति- एक साधन का मालिक एक विशेष कीमत पर साधन की जितनी इकाइयां बेचता है, वह साधन सेवा की पूर्ति कीमत होती है। एक साधन की पूर्ति तथा कीमत में सीधा संबंध पाया जाता है। ऐसा अल्पकाल में होता है, जब साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार नहीं होती। अधिक कीमत पर इसकी अधिक मात्रा और कम कीमत पर इसकी कम मात्रा की पूर्ति की जाएगी। इस प्रकार एक साधन की पूर्ति वक्र बाएं से दांए को ढलान वाला होता है, अर्थात् इसका झुकाव धनात्मक होता है। इसका कारण यह है कि एक साधन सेवा की मार्किट में पूर्ति उसकी अवसर या स्थानान्तरण आय पर निर्भर करती है जो किसी साधन सेवा द्वारा अपने अगले श्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग में अर्जित राशि होती है। जब किसी साधन सेवा की अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है तो इसकी अवसर लागत बढ़ने की संभावना होती है। इसकी अधिक इकाइयों का एक मार्किट में प्रयोग करने के लिए उन इकाइयों को अन्य वैकल्पिक प्रयोगों से हटाना पड़ेगा। इस तरह उन इकाइयों को इस प्रयोग में कम प्राप्त होगा जिससे उनका मूल्य अन्य प्रयोगों में बढ़ जाएगा।

एक साधन सेवा की पूर्ति की लोच, एक फर्म की साधन सेवा के क्रेता के रूप में उसके सापेक्ष महत्त्व द्वारा निर्धारित होगी। पूर्ण प्रतियोगी साधन बाजार में एक उत्पादकीय सेवा के बहुत से क्रेता होते हैं। अतः एक एकल फर्म कुल साधन सेवा का केवल थोड़ा-सा भाग ही खरीदती है और किसी भी प्रकार से इसकी बाजार कीमत को प्रभावित नहीं करती। यह एक साधन सेवा की कीमत को दी हुई मानती है और उस कीमत पर जितनी इकाइयों की आवश्यकता होती है लगाती है। इस प्रकार फर्म के लिए दीर्घकाल में साधन सेवा की पूर्ति दी हुई कीमत पर पूर्णतया लोचदार होती है। इसके परिणामस्वरूप फर्म के लिए उत्पादकीय सेवा की औसत साधन लागत तथा सीमान्त साधन लागत साधन की कीमत के बराबर होती है, AFC=MFC= Price of the Factor Service इस संबंध को तालिका द्वारा दिखाया गया है। साधन सेवा का

पूर्ति वक्र (AFC) X- अक्ष के सामानान्तर होगा और सीमान्त साधन वक्र (MFC) इसके अनुरूप, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

तालिका

(1) साधन की इकाइयां	(2) साधन की कीमत (रुपए)	(3) कुल लागत (रुपए)	(4) औसत साधन लागत (AFC) (रुपए)	(5) सीमान्त साधन उत्पाद की (MFC) (रुपए)
1	5	5	5	–
2	5	10	5	5
3	5	15	5	5
4	5	20	5	5

साधन कीमत का निर्धारण-साधन सेवा की मांग एवं पूर्ति की ऊपर वर्णित स्थितियां दी हुई होने पर फर्म एक साधन की अधिक इकाइयों को तब तक उत्पादन के लिए लगाती रहेगी, जब तक कि साधन की अतिरिक्त इकाइयों से प्राप्त अतिरिक्त आगम उनके लगाने से जो अतिरिक्त लागत होती है, उससे अधिक है। यह उस बिन्दु पर अधिकतम लाभ अर्जित करेगी जिस पर सीमान्त आगम उत्पाद सीमान्त साधन लागत के बराबर होता है। यदि फर्म इस स्तर से कम साधन की इकाइयों को लगाती है तो MFC से MRP अधिक होगा तथा इसके लिए साधन की और अधिक इकाइयों की लागत लाभदायक होगी क्योंकि वे लागतों की अपेक्षा आगम में अधिक व द्धि करेंगी। यदि फर्म MRP तथा MFC की समानता के स्तर से आगे और अधिक इकाइयां लगाने का निश्चयकरती है तो वह हानि में होगी क्योंकि आगम में लागतें बढ़ जाएंगी। अतः पूर्ण प्रतियोगी साधन बाजार में फर्म तब संतुलन में होगी, जब MRP = MFC जिसका अभिप्राय दो शर्तो से है : प्रथम, MRP = MFC, और द्वितीय, संतुलन बिन्दु पर MRP वक्र MFC वक्र को ऊपर से काटे।

एक साधन सेवा की कीमत-निर्धारण चित्र में वर्णन किया गया है। इसमें VMP = MRP मांग तथा वक्र है तथा AFC = MFC साधन सेवा का पूर्ति वक्र है। फर्म के लिए साधन सेवा की कीमत OP दी हुई और स्थिर होने पर, MFC वक्र को MRP वक्र ऊपर से E बिन्दु पर काटता है। यह फर्म का संतुलन बिन्दु है जिस पर यह साधन सेवा की OQ इकाइयां लगाती हैं। MFC वक्र को MRP वक्र R बिन्दु पर भी काटता है। परन्तु यह संतुलन बिन्दु नहीं हो सकता है क्योंकि MRP वक्र MRP वक्र को नीचे से काटता है। परन्तु यह संतुलन बिन्दु नहीं हो सकता क्योंकि MRP वक्र MFC वक्र नीचे से काटता है। यह फर्म के लिए अधिकतम लाभ का बिन्दु नहीं है क्योंकि R बिन्दु के आगे MFC से MRP अधिक होता है। अतः पूर्ण प्रतियोगी साधन बाजार में E संतुलन बिन्दु है, जबकि MRP = VMP = MFC = AFC = Price

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधन तथा वस्तु मार्किटों में एक फर्म अल्पकाल में लाभ या हानि की अवस्था में हो सकती है। परन्तु दीर्घकाल में यह सामान्य लाभ ही अर्जित कर सकती हैं। इन तीनों स्थितियों को रेखाचित्र में दर्शाने के लिए हमें सीमान्त आगम उत्पाद वक्र (MRP) के तदनुरूप औसत आगम उत्पाद वक्र खीचना पडेगा।

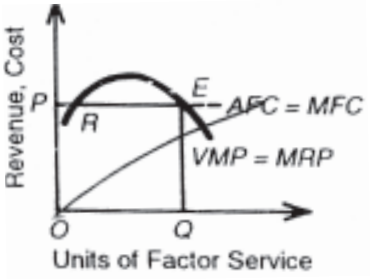

चित्र (A) में फर्म बिन्दु A पर संतुलन में है जहां MFC वक्र को MFC वक्र ऊपर से काटता है। फर्म OP कीमत पर साधन सेवा की OQ इकाइयां लगाती है। इस स्थिति में औसत साधन लागत QA औसत आगम उत्पाद QB से BA (=QA-QB) प्रति साधन इकाई अधिक है। अतः फर्म अल्पकाल में PABC हानि उठाती है। दीर्घकाल में कुछ फर्मे जो हानि नहीं उठा सकती, उद्योग को छोड़ जाएंगी। इसके परिणामस्वरूप, साधन सेवा के लिए मांग कम हो जाएगी, इसकी कीमत कम हो जाएगीऔर AFC वक्र नीचे को सरक जाएगा। दूसरी ओर, कुछ फर्मो के उद्योग को छोड़ जाने से उद्योग का उत्पादन कम हो जाएगा, वस्तु की कीमत बढ़ेगी तथा ARP एवं MRP वक्र ऊपर को सरक जाएंगे। इस प्रकार AFC (= MFC) वक्र के नीचे सरकने तथा ARP एवं MRP वक्रों के ऊपर सरकने से एक नया संतुलन बिन्दु E स्थापित हो जाएगा जहां MRP वक्र के सबसे ऊंचे बिन्दु पर AFC वक्र स्पर्श करता है तथा MRP वक्र भी इसी बिन्दु में से गुजरता है। इस प्रकार दीर्घकाल में सभी फर्मे केवल सामान्य लाभ कमाती है जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

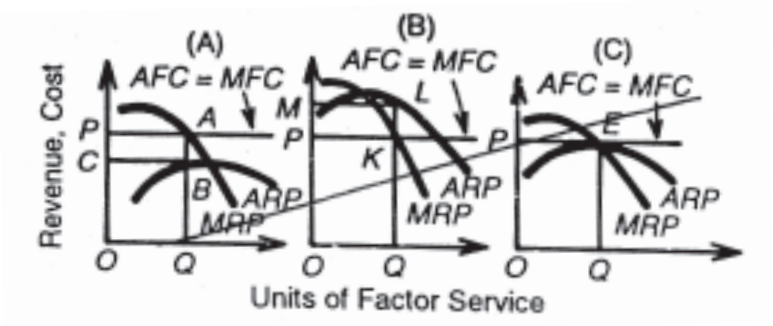

चित्र (B) में फर्म बिन्दु K पर संतुलन में है। यहां MFC वक्र को MRP वक्र ऊपर से काटता है। फर्म अल्पकाल में OP कीमत पर OQ साधन की इकाइयां लगाकर PKLM असमान्य लाभ अर्जित कर रही है। क्योंकि औसत आगम उत्पादन QL औसत साधन लागत QK से प्रति साधन इकाई KL (= QL = QK) अधिक है, इसलिए दीर्घकाल में अधिक लाभों द्वारा आकर्षित होकर नई फर्मे इस उद्योग में प्रवेश कर जाएंगी। इससे उद्योग द्वारा प्रयोग की जा रही साधन सेवा की मांग बढ़ जाएगी। इसके परिणामस्वरूप, इस साधन सेवा की कीमत बढ़ जाएगीतथा AFC वक्र ऊपर को सरक जाएगा। दूसरी ओर, नई फर्मो के प्रवेश से उद्योग के उत्पादन में व द्धि होगी, वस्तु की कीमत कम हो जाएगीतथा ARP एवं MRP वक्र नीचे सरक जाएंगे। इस प्रकार AFC (=MFC) वक्र के ऊपर की ओर तथा ARP एवं MRP वक्रों के नीचे की ओर सरक जाने से सामान्य लाभों की दीर्घकालीन संतुलन स्थिति आ जाएगी, जहां AFC वक्र ARP वक्र को उससे सबसे उंचे बिन्दु E पर स्पर्श करता है जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। E पूर्ण संतलुन का बिन्दु है जहां सभी फर्मे और सारा उद्योग संतुलन में है। फर्मो में उद्योग को छोड़ने या उसमें प्रवेश करने की प्रव त्ति नहीं पाई जाती है तथा सभी फर्मे सामान्य लाभ अर्जित करती हैं। ऐसी अवस्था में AFC = MFC = MRP = ARP दीर्घकाल में एक दूसरे के बराबर होते हैं।

अपूर्ण प्रतियोगिता में साधन कीमत निर्धारण

अपूर्ण प्रतियोगिता या एकाधिकार के अन्तर्गत साधन कीमत निर्धारण का तीन श्रेण्यिों में अध्ययन किया जाता है।

1. जब साधन बाजार पूर्ण प्रतियोगी और वस्तु बाजार अपूर्ण प्रतियोगी या एकाधिकार हों
2. जब साधन बाजार में एकक्रयाध्किार और वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता हो, तथा
3. साधन बाजार में एकाधिकार और वस्तु बाजार में एकाधिकार हो।

हम अपूर्ण प्रतियोगिता में साधन कीमत निर्धारण के इन तीनों विभेदों की विवेचना नीचे करते हैं।

1. **साधन बाजार पूर्ण प्रतियोगी तथा वस्तु बाजार अपूर्ण प्रतियोगी तथा एकाधिकार-** एक पूर्ण प्रतियोगी साधन बाजार में साधन सेवा के लिए फर्म की कीमत दी हुई होती है जो साधन की फर्म द्वारा खरीदी जाने वाली इकाइयों को प्रभावित नहीं करती, जिस कारण साधन का पूर्ति या लागत वक्र X=अक्ष के सामानान्तर होता है, अर्थात AFC = MFC परन्तु वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता या एकाधिकार होने के कारण MRP वक्र सीमान्त उत्पादन के मूल्य (VMP) वक्र से नीचे स्थित होगा। हमें ज्ञात है कि वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता या एकाधिकर होने पर सीमान्त आगम (MR) वस्तु की कीमत (AR) से कम होता है, इसलिए सीमान्त आगम उत्पाद (MRP) सीमान्त उत्पादन के मूल्य (VMP) से कम होगा, MRP < VMP क्योंकि MR < P अपूर्ण प्रतियोगिता में AR तथा MR वक्र दोनों ही नीचे की ओर ढालू होते हैं)।

   फर्म उस स्थान पर संतुलन में होगी जहां MRP = MFC. यह चित्र में E बिन्दु द्वारा दिखाया गया है जहां फर्म OP कीमत पर साधन सेवा की OQ इकाइयां लगती है। यहां OQ इकाइयां लगाने की सीमान्त आगम उत्पादन QE है जो कि सीमान्त उत्पादन के मूल्य QA से कम है। अतः साधन सेवा को उसके सीमान्त उत्पादन के मूल्य (VMP) से EA मात्रा कम प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त जब फर्म MRP को MFC के बराबर करती है तो यह साधन सेवा की कम इकाइयों को, वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण लगाती है। इस प्रकार, यह साधन की OQ इकाइयों लगाती है, जबकि पूर्ण प्रतियोगी वस्तु बाजार में E, बिन्दु पर OQ इकाइयां लगाएगी जहां VMP = MFC । इस कारण अपूर्ण प्रतियोगी वस्तु बाजार में साधन के लिए मांग Q, Q कम होगी।

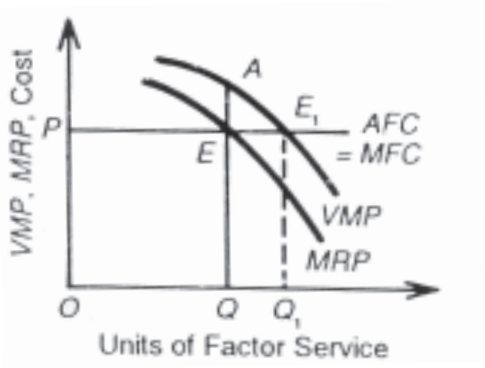

2. **साधन बाजार में एकक्रयाधिकार तथा वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता -** एकक्रयाधिकारी मार्किट में एक विशेष साधन का एकल क्रेता होता है। क्योंकि इस स्थिति में फर्म

ही साधन की मार्किट होती है, इसलिए एकक्रयाधिकारी के लिए साधन सेवा की पूर्ति इसकी मार्किट के प्रति पूर्ति के बराबर होती है। अतः फर्म के लिए पूर्ति वक्र (AFC) बांए से दांए ऊपर की ओर ढालू होता है। फर्म साधन सेवा की अधिक इकाइयों को प्रति इकाई अधिक कीमत देकर लगाती है। इसलिए AFC वक्र का MFC वक्र भी ऊपर की ओर ढालू होगा तथा AFC वक्र के ऊपर रहेगा जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। AFC तथा MFC के सम्बन्ध को तालिका में दर्शाया गया है। स्तम्भ तथा 2. विभिन्न कीमतों पर साधन की इकाइयों की पूर्ति व्यक्त करते हैं। स्तम्भ 3. साधन की प्रत्येक इकाई को लगाने की कुल लागत को दिखाता है (स्तम्भ (1) x (2) । स्तम्भ) 4. औसत साधन लागत AFC को व्यक्त करता है जो स्तम्भ 3. (कुल लागत) को स्तम्भ 1. (साधन सेवा की इकाइयां) द्वारा विभक्त करके प्राप्त की गई है। परिणामतः यह है कि स्तम्भ 4. स्तम्भ 1. के बराबर है, अर्थात AFC = Price। स्तम्भ 5. सीमान्त लागत (MFC) को दर्शाता है जो एक अतिरिक्त साधन इकाई को लगा करके कुल लागत में व द्धि है। यह स्तम्भ 3. में दिखाई गई कुल लागत में क्रमशः अन्तर है, जैसे दूसरी इकाई की सीमान्त साधन लागत 12=22-10। इस प्रकार तालिका यह स्पष्ट करती है कि MFC > AFC = Price

तालिका

(1) साधन सेवा की इकाइयां	(2) साधन सेवा की कीमत	(3) = (2 × 1) कुल लागत	(4)=3÷1 औसत साधन लागत (AFC)	(5) सीमान्त साधन लागत (MFC)
1.	10	10	10	-
2.	11	32	11	12
3.	12	36	12	14
4.	13	52	13	16

क्योंकि हम वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता मान रहे हैं, इसलिए सीमान्त उत्पाद का मूल्य (VMP) सीमान्त आगम उत्पाद (MRP) के बराबर होगा (देखिए तालिका) फर्म के लिए वस्तु की कीमत दी हुई होने पर वह इसकी कीमत को प्रभावित किए बिना कोई भी मात्रा बेच सकती है। यह कारण है कि VMP = MRP तथा ये दोनों वक्र तदनुरूप होते हैं जैसे चित्र में दिखाया गया है।

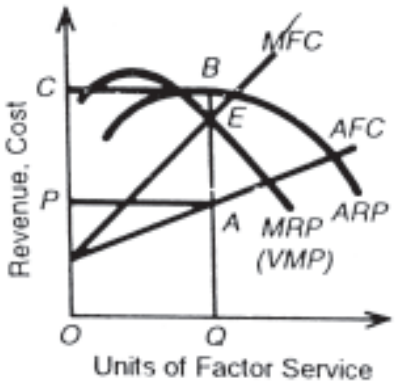

चित्र 4 में फर्म E बिन्दु पर संतुलन में है, जहां MFC वक्र को MRP वक्र ऊपर से काटता है और इस बिन्दु पर दोनों बराबर होते हैं। फर्म OP (= QA) कीमत पर साधन सेवा की OQ इकाइयां लगाती हैं साधन बाजार में एकक्रयाधिकार होने के

कारण यह PABC असामान्य लाभ अर्जित करती है। इस स्थिति, साधन का एकक्रयाधिकार शोषण होता है क्योंकि साधन सेवा को उसके सीमान्त आगम उत्पाद (MRP) से कम प्राप्त होता है। OQ इकाइयों के लिए साधन को QA (= OP) कीमत दी जा रही है जबकि इसका सीमान्त आगम उत्पाद QE है। साधन को दी गई कीमत तथा उसके सीमान्त आगम उत्पाद का अन्तर AE (= QA-QE) प्रति इकाई साधन का एकक्रयाधिकारात्मक शोषण है।

3. **साधन बाजार में एकक्रयाधिकार तथा वस्तु बाजार में एकाधिकार-** जब साधन बाजार में एकक्रयाधिकार तथा वस्तु बाजार में एकाधिकार हो तो MRP < VMP और MFC > AFC. इसका अभिप्राय यह है कि साधन बाजार में साधन सेवा का सीमान्त आगम उत्पादन से अधिक है और औसत साधन लागत से सीमान्त साधन अधिक है। दोनों स्थितियों में, MRP वक्र VMP वक्र नीचे रहेगा तथा औसत साधन लागत AFC वक्र सीमान्त साधन लागत वक्र के ऊपर रहेगा। जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। पहले की तरह ही फर्म E बिन्दु पर संतुलन में है जहां MFC वक्र को MRP वक्र ऊपर से काटता है और इसके बराबर होता है। फर्म साधन सेवा की OQ

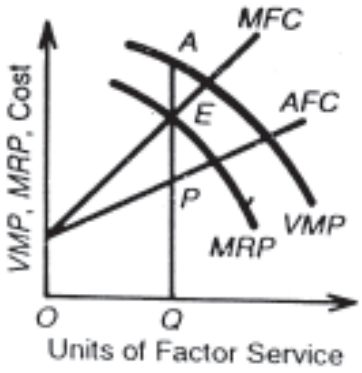

इकाइयों को QP कीमत पर लगाती है, यह कीमत QP साधन के सीमान्त आगम उत्पाद QE से कम है। इस प्रकार साधन बाजार में अपनी एकक्रयाधिकारात्मक स्थिति के कारण, फर्म साधन सेवा की प्रयोग की गई इकाइयों का PE (= QE-QP) शोषण करती हैं दूसरी ओर, वस्तु बाजार में फर्म की एकाधिकारात्मक स्थिति होने के कारण साधन की MRP इसकी VMP से कम होती है तथा फर्म साधन सेवा की इकाइयों को EA मात्रा से और शोषित करती है। इस प्रकार कुल शोषण PA होता है। हम यह निष्कर्ष दे सकते हैं कि साधन बाजार में एकक्रयाधिकार तथा वस्तु बाजार में एकाधिकार होने पर फर्म द्वारा प्रयोग में लाया गया साधन दोहरा शोषित होता है। प्रथम, साधन का MRP उसकी कीमत से अधिक होने के कारण, तथा दूसरे, साधन का VMP उसके MRP से अधिक होने के कारण।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म तथा उद्योग का संतुलन
(Equilibrium of the Firm and Industry Under Perfect Competition)

पिछले अध्यायों में हम आगम, लागत मांग एवं पूर्ति वक्रों की प्रक ति पर विचार कर चुके हैं। अब पूर्ण प्रतियोगिता मार्किट में फर्म और उद्योग के संतुलन के अध्ययन में हम उनका प्रयोग करेंगे।

1. पूर्ण प्रतियोगिता
(Perfect Competition)

सबसे पहले पूर्ण प्रतियोगी मार्किट की प्रक ति का अध्ययन लाभदायक होगा। इसकी हम पहले भी चर्चा करते रहे हैं। पूर्ण प्रतियोगी मार्किट वह होता है जिसमें क्रेताओं और विक्रेताओं की संख्या बहुत बड़ी हो और जो किसी समय पर मार्किट का पूर्ण ज्ञान रखते हुए किसी भी प्रकार के बनावटी बंधनों के बिना, किसी समरूप वस्तु की खरीद और बेच में लगे हों। जोन राबिन्सन (John Robinson) के शब्दों में, "पूर्ण प्रतियोगिता तब पाई जाती है जबकि प्रत्येक उत्पादक की उत्पादन के लिए माँग पूर्णतया सापेक्ष हो। इसके अन्तर्गत, प्रथम विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है, जिससे किसी भी एक विक्रेता का उत्पादन वस्तु के कुल उत्पादन का एक बहुत तुच्छ भाग होता है, और दूसरे, सभी क्रेता विभिन्न प्रतियोगी विक्रेताओं के बीच चुनाव करने के सम्बन्ध में समान द ष्टि रखते हैं जिससे मार्किट पूर्ण हो जाती है।"

पूर्ण प्रतियोगी मार्किट की ये शर्तें हैं:

1. **क्रेताओं और विक्रेताओं की बड़ी संख्या-** पहली शर्त यह है कि क्रेताओं और विक्रेताओं की संख्या इतनी बड़ी हो कि कोई भी एक व्यक्ति कुल उद्योग के उत्पादन और कीमत को प्रभावित न कर सके। दूसरे शब्दों में, वस्तु की कुल माँग की तुलना से व्यक्तिगत क्रेता की मांग इतनी कम होती है कि वह अकेला बाजार की मांग को प्रभावित नहीं कर सकता। इसी प्रकार एक विक्रेता की पूर्ति कुल उत्पादन का इतना थोड़ा भाग होती है कि वह अकेला कुल पूर्ति को प्रभाावित नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, एक विक्रेता वस्तु की पूर्ति को बढ़ाकर या कम करके वस्तु की कीमत को प्रभावित करने में असमर्थ होता है। वह उत्पादन समायोजन (output adjuster) होता है। अतः अपने व्यक्तिगत प्रयत्न से कोई भी एक व्यक्ति कीमत में परिवर्तन नहीं ला सकता। उसे सम्पूर्ण उद्योग के लिए नियत कीमत को स्वीकार करना पड़ता है। वह कीमत-स्वीकर्ता (price taker) होता है।

2. **फर्मों को आने-जाने की स्वतंत्रता (Freedom of Entry or Exit of Fils) -** अगली शर्त यह है कि फर्मो को उद्योग में आने या उसे छोड़ने की स्वतंत्रता हो। इसका मतलब है कि जब उद्योग में बहुत अधिक लाभ होता है, तो आकर्षित होकर नई फर्मे उद्योग में आ जाती हैं। यदि उद्योग में हानि हो रही हो तो, कुछ फर्मे उसे छोड़ जाती है। दीर्घकालीन में यह शर्त तब पूरी होती है जबकि सब फर्मो को सामान्य लाभ प्राप्त होता है।

3. **समरूप वसतु (Homogeneous Product) -** प्रत्येक फर्म समरूप वस्तु का उत्पादन और विक्रय करती है जिससे एक क्रेता का अन्य उत्पादकों की अपेक्षा किसी एक विक्रेता की वस्तु के लिए अधिमान नही होता। यह तभी संभव है जब भिन्न-भिन्न विक्रेताओं द्वारा उत्पादन की गई वस्तु की इकाइयाँ पूर्ण स्थानापन्न हों। दूसरे शब्दों में, विक्रेताओं की वस्तुओं की प्रतिलोच अनन्त होती है। किसी भी विक्रेता की स्वतंत्र कीमत नहीं होती। नमक, गेहूं, रूई और कोयले जैसी वस्तुओं की प्रक ति समरूप होती है। वह अपनी वस्तु की कीमत नहीं बढ़ा सकता। यदि वह कीमत बढ़ाए, तो उसके ग्राहक उसे छोड़ जाएंगे और वस्तु को उसकी वर्तमान कम कीमत पर अन्य विक्रेताओं से खरीद लेंगे।

ये दोनों शर्ते मिलकर व्यक्तिगत या फर्म के औसत आगम वक्र को पूर्ण लोचदार बना देती हैं और वह X अक्ष के समानान्तर हो जाता है इसका मतलब है कि एक फर्म किसी वस्तु की वर्तमान कीमत पर उसकी कम या अधिक मात्रा तो बेच सकती है परन्तु उसकी कीमत को प्रभावित नहीं कर सकती क्योंकि वस्तु समरूप है और विक्रेताओं की संख्या बहुत बड़ी है।

4. **कृत्रिम बंधनों का अभाव** (Absence of Artificial Restrictions) - अगली शर्त यह है कि वस्तुओं की खरीद और बेच में पूरी छूट होती है। विक्रेता जिसको भी चाहें अपनी वस्तु स्वतंत्रता से बेच सकते हैं। दूसरें शब्दों में, क्रेताओं और विक्रेताओं की ओर से कोई भेदभाव नहीं होता। और फिर, मांग पूर्ति की स्थितियों के अनुसार कीमतें स्वतंत्रता से बदल सकती हैं। उत्पादक, सरकार या किसी अन्य एजेंसी की ओर से वस्तुओं की पूर्ति, मांग या कीमत को नियंत्रित करने का कोई प्रयत्न नहीं होता। कीमतों में उतार चढ़ाव बिना रोकटोक होता है।

5. **लाभ अधिकतमकरण उद्देश्य** (Profit Maximisation Goal) - हर एक फर्म का एक ही उद्देश्य होता है कि वह अपने लाभ को अधिकतम करे।

6. **वस्तुओं और साधनों की पूर्ण गतिशीलता-** पूर्ण प्रतियोगिता की एक और शर्त यह है कि वस्तुएँ और साधन एक से दूसरे उद्योग में स्वतंत्रतापूर्वक आ जा सकें। वस्तुएं वहां जाने में स्वतंत्र होती हैं जहाँ, उनकी कीमत उच्चतम हो। साधन भी कम कीमत देने वाले उद्योग से ऊँची कीमत देने वाले उद्योग मे जा सकते हैं।

7. **मार्किट की स्थितियों का पूर्ण ज्ञान** (Perfect Knowledge of Market Conditions)- इस शर्त का अभिप्राय है कि क्रेताओं और विक्रेताओं में निकट का संपर्क होता है। क्रेताओं और विक्रेताओं को उन कीमतों पर पूरा ज्ञान होता है जिन पर वस्तुएं खरीदी या बेची जा रही हैं, और उन कीमतों का भी ज्ञान होता है जिन पर दूसरे खरीदने और बेचने को तैयार हैं। उन्हें उस स्थान का भी पूरा ज्ञान होता है जहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय हो रहा है। मार्किट की स्थितियों का ऐसा ज्ञान विक्रेता को अपनी वस्तु मार्किट की वर्तमान कीमत पर बेचने को और क्रेता को उसे उस कीमत पर खरीदने को विवश करता है।

8. **यातायात लागतों का अभाव** (Absence of Transport Costs) - अन्तिम शर्त यह है कि वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में कोई लागत नहीं आती। पूर्ण प्रतियोगिता के लिए यह शर्त आवश्यक है क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता इस बात की अपेक्षा रखती है कि किसी भी समय वस्तु की कीमत हर जगह पर समान हो। यदि वस्तु की कीमत में यातायात की लागत भी पड़ती है तो एक समरूप वस्तु की कीमतें भिन्न-भिन्न होंगी, जो इस बात पर निर्भर करेंगी कि पूर्ति के स्थान से यातायात की लागत कितनी है।

पूर्ण प्रतियोगिता और विशुद्ध प्रतियोगिता में प्रायः अन्तर किया जाता है, परन्तु दोनों में थोड़ा-सा ही अन्तर है। पहली पांच शर्तो का संबंध विशुद्ध प्रतियोगिता से है जबकि पूर्ण प्रतियोगिता के अस्तित्त्व के लिए बाकी तीन शर्ते भी आवश्यक हैं। चैम्बरलिन के अनुसार, विशुद्ध प्रतियोगिता का अर्थ है, ऐसी प्रतियोगिता जिसमें एकाधिकार के तत्त्वों का मिश्रण नहीं है जबकि पूर्ण प्रतियोगिता का व्यवहारिक महत्त्व अधिक नहीं हैं क्योंकि प्रमुख खाद्य वस्तुओं

और कच्चे माल के मार्किट को छोड़कर पूर्ण प्रतियोगी मार्किट नहीं के बराबर है। इसीलिए चैम्बरलिन कहते हैं कि "पूर्ण प्रतियोगिता एक असाधारण अवस्था है।"

यद्यपि वास्तविक जगत् में पूर्ण प्रतियोगिता की शर्ते पूरी नहीं होतीं फिर भी, पूर्ण प्रतियोगिता के अध्ययन का सामान्य कारण यह है कि इससे अर्थव्यवस्था के कार्यकरण को समझने में सहायता मिलती है, जहाँ प्रतियोगी व्यवहार से संसाधनों का श्रेष्ठतम आबंटन और उत्पादन का दक्षतम संगठन करता है। पूर्ण प्रतियोगी उद्योग का उपकल्पित आदर्श किसी भी अर्थव्यवस्था की आर्थिक संस्थाओं के चालन और संगठन को समझने का आधार प्रदान करता है।

फर्म और उद्योग का संतुलन
(Equilibrium of the firm and Industry)

फर्म की संतुलन की शर्ते (Conditions of Equilibrium of the Firm) - एक फर्म उस समय संतुलन की स्थिति में होती है, जब वह अपने उत्पादन के स्तर में परिवर्तन नहीं करना चाहती है। वह न तो अपने उत्पादन के स्तर को बढ़ाना चाहती है और न घटाना। फर्म संतुलन में अपनी सीमांत लागतो को सीमांत आगम के बराबर लाकर अधिकतम लाभ कमाती है। फर्म की लाभ अधिकतम करने की शर्त को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: $\pi = TR - TC$ (देखिए चित्र) जहां फर्म के लाभ हैं, TR कुल आगम और TC कुल लागत। रेखा चित्र के रूप में, फर्म के संतुलन की दो शर्ते हैं: (1) MC वक्र को MR वक्र के बराबर होना चाहिए। यह प्रथम कोटि और आवश्यक शर्त है। परन्तु यह पर्याप्त शर्त नहीं है जो पूरी की जाए फिर भी फर्म संतुलन में नहीं हो सकती। (2) MR वक्र अवश्य नीचे से काटे और संतुलन बिन्दु के बाद वह MR वक्र अवश्य नीचे से काटे और संतुलन बिन्दु के बाद वह MR वक्र से ऊपर हो। यह द्वितीय कोटि की शर्त है।

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में, एक फर्म का MR वक्र उसके AR वक्र के अनुरूप होता है। MR वक्र X अक्ष के समानान्तर होता है। इसलिए फर्म उस समय संतुलन की स्थिति में होती है, जब MC=MR=AR (कीमत)।

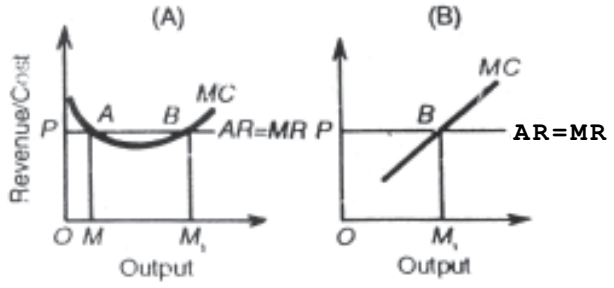

चित्र में MR वक्र को MC वक्र पहले बिन्दु A पर काटता है। यह MC = MR की शर्त को पूरा करता है, परन्तु यह अधिकतम लाभ का बिन्दु नहीं है क्योंकि A के बाद MC वक्र MR वक्र से नीचे रहता है। न्यूनतम उत्पादन, फर्म के लिए लाभदायक नहीं है क्योंकि OM से अधिक उत्पादन करके फर्म अपेक्षाक त अधिक लाभ उठा सकती है। B अधिकतम लाभ बिन्दु है जहां दोनों शर्ते पूरी हो जाती हैं। A तथा B बिन्दुओं के बीच फर्म को अपना उत्पादन बढ़ाने से लाभ होता है क्योंकि MR > MC, अर्थात् वह अपनी कुल लागतों की अपेक्षा कुल आगम में अधिक व द्धि कर रही है जिससे उसके कुल लाभ बढ़ रहे हैं। हाँ, OM पर पहुँचकर फर्म आगे उत्पादन बंद कर देगी।

ये सामान्य शर्ते हैं जो पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार और एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में लागू होती हैं। OM उत्पादन का वह स्तर है जहाँ संतुलन की दोनों शर्ते पूरी हो जाती हैं अर्थात् MC=MR और MR को MC वक्र नीचे से काटता है। यदि फर्म OM से अधिक उत्पादन करना चाहती है, तो उसे हानि उठानी पड़ेगी क्योंकि संतुलन बिन्दु B के बाद MC>MR अर्थात् TR से TC अधिक बढ़ रही हैं। यही निष्कर्ष उस समय भी ठीक उतरते हैं जब MC वक्र एक सरल रेखा हो, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। मात्रा मे बहुत थोड़ी व द्धि या कमी लाभ को अधिक नहीं करेगी। "इसका मतलब है कि उत्पादन उस स्तर पर है जहाँ लाभ वक्र (चित्र में नही दिखाया गया) न तो पहाड़ी के ऊपर को जा रहा है और न नीचे को। परन्तु ऐसे समतल स्थान पर जहाँ पहाड़ी की चोटी (अधिकतम लाभ), उच्चस्थली और घाटियों (न्यूनतम लाभ) की वही विशेषताएँ हैं, इसलिए वे समतल हैं अर्थात् वे शून्य सीमांत लाभ के बिन्दु हैं जहाँ सीमांत लागत और सीमांत आगम बराबर हैं।"

उद्योग के संतुलन की शर्ते
(Conditions of Industry Equilibrium)

एक उद्योग उस समय संतुलन की स्थिति (i) फर्मो की उद्योग में आने या उसे छोड़ने की प्रव त्ति न हो, (ii) जब प्रत्येक फर्म भी संतुलन में हो। पहली शर्त का मतलब है कि उद्योग की सब फर्मो के औसत लागत वक्र उनके औसत वक्रों पर स्थित हैं। वे केवल सामान्य लाभ उठा रही हैं, जो फर्मो के औसत लागत वक्रों में शामिल है। दूसरी शर्त का मतलब है कि MC और MR बराबर हैं तथा MR को MC वक्र नीचे से काटता है।

एक पूर्ण प्रतियोगी उद्योग में इन दो शर्तो का संतुलन बिन्दु पर होना आवश्यक है अर्थात्

$$MC = MR \qquad (i)$$

$$AC = AR$$

$$AR = MR$$

$$MC = AC = AR$$

ऐसी स्थिति उद्योग के पूर्ण संतुलन (Full equilibrium) को प्रकट करती है।

ये दोहरी शर्ते एकाधिकार और एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में पूरी नहीं होगी क्योंकि AR वक्र MR वक्र के ऊपर स्थित होता है।

(क) फर्म का अल्पकालीन संतुलन (Short Run Equilibrium of the Firm)

अल्पकालीन, समय की वह अवधि है जिसमें अधिकतम लाभ उठाने के लिए या हानि को न्यूनतम करने के लिए कोई फर्म उत्पादन के परिवर्तनशील साधनों में परिवर्तन करके अपने उत्पादन के स्तर को बदल सकती है। उद्योग में फर्मो की संख्या स्थिर होती है क्योंकि न तो वर्तमान फर्मे उसे छोड़ सकती हैं, और न ही नई फर्मे उसमें आ सकती हैं।

फर्म संतुलन में तब होती है जब यह अधिकतम लाभ कमा रही हो जो कुल आगम और कुल लागत का अन्तर होता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह दो शर्ते पूरी करें: (1) MC = MR और MR वक्र को MC वक्र को संतुलन बिन्दु पर नीचे से काटे और ऊपर की ओर चला जाए। जिस कीमत पर प्रत्येक फर्म अपने उत्पादन को बेचती है वे मांग और पूर्ति की मार्किट शक्तियों द्वारा निश्चित होती है। प्रत्येक फर्म उस कीमत पर जितना चाहे बेच सकती है।

परन्तु प्रतियोगिता के कारण वह बाजार कीमत से ऊँची कीमत पर बिल्कुल नहीं बेच सकेगी। इसलिए उस कीमत पर फर्म का मांग वक्र समानान्तर होगा ताकि फर्म के लिए P = D = AR = MR.

सीमांत विश्लेषण तथा कुल लागत आगम विश्लेषण की सहायता से फर्म के अल्पकालीन संतुलन की व्याख्या की जा सकती है। हम पहले समरूप तथा भिन्न लागत स्थितियों के अन्तर्गत सीमान्त विश्लेषण को लेते हैं।

1. **समरूप लागत स्थितियाँ (Identical Cost Condition) -** समरूप लागत स्थितियों के अन्तर्गत फर्म तथा उद्योग के संतुलन का विश्लेषण इन मान्यताओं पर आधारित है कि सब साधन स्थिर हैं और स्थिर साधन दी हुई कीमतों पर आसानी से मिलते हैं जिनके कारण फर्मो के लागत वक्र समरूप होते हैं। मान लीजिए कि प्रतियोगी मार्किट में, उद्योग की वस्तु की OP कीमत मांग वक्र D तथा पूर्ति वक्र S के E बिन्दु पर संतुलन द्वारा निर्धारित होती है जैसे कि चित्र (A) में दिखाया गया है जिसके कारण फर्मो का औसत आगम वक्र (AR) उनके सीमांत आगम वक्र (MR) के अनुरूप होता है जैसे कि चित्र (B) में। इस कीमत पर प्रत्येक फर्म L बिन्दु पर संतुलन की स्थिति पर काटता है। प्रत्येक फर्म अधिकतम औसत कुल लागत QL पर उत्पादन की OQ मात्रा का उत्पादन करेगी और सामान्य लाभ कमाएगी। कोई भी फर्म सामान्य लाभ उस समय कमाती है जब MR रेखा AC रेखा के न्यूनतम बिन्दु पर स्पर्श करें।

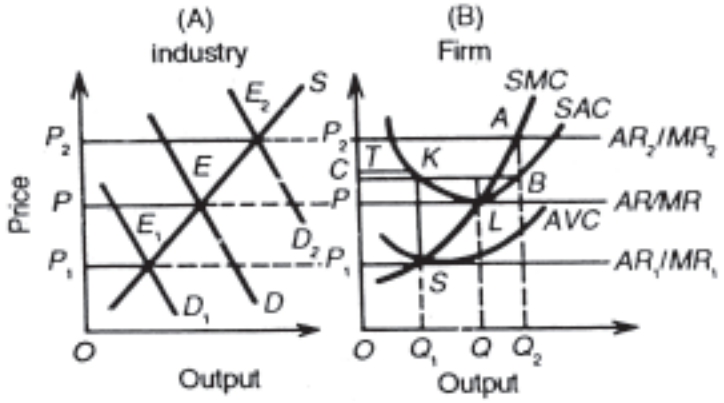

यदि न्यूनतम औसत कुल लागतों (SAC) से कीमत बढ़ जाए, तो प्रत्येक फर्म सामान्य से बहुत अधिक लाभ कमाएगी। मान लीजिए कि कीमत बढ़कर OP_2 हो जाती है जहाँ कि SMC वक्र नए सीमांत आगम वक्र MR_2 (AR_2) को नीचे से बिन्दु A पर चित्र (B) में काटता है जो फर्म का नया संतुलन बिन्दु है। इस स्थिति में प्रत्येक फर्म OQ_2 मात्रा का उत्पादन करती है और सामान्य से अधिक लाभ कमाती है जो आयत P_2ABC के क्षेत्र के बराबर है।

यदि कीमत गिरकर OP_1 हो जाती है तो फर्म को P_1SKT के बराबर हानि होगी। फर्म अल्पकाल में OP कीमत पर OQ वस्तु की मात्रा उत्पादित करती और बेचती रहेगी जब तक कि कीमत फर्म की औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) को पूरा करती है। इसलिए S फर्म का बन्द होने का बिन्दु (Shut down point) है जिस पर फर्म SK प्रति

इकाई के बराबर हानि उठा रही है। यदि कीमत OP_1 से नीचे गिरती है तो फर्म बन्द हो जाएगी क्योंकि वह न्यूनतम औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) को भी पूरा नहीं कर सकेगी। इसलिए OP_1 बन्द होने की कीमत (Shut down price) है।

इस विवेचन के आधार पर हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि फर्म का सामान्य से अधिक लाभ या सामान्य लाभ कमाना या घाटे में चलना वस्तु की कीमत पर निर्भर करता है।

2. **भिन्न लागत स्थितियाँ (Different Cost Conditions)** - यदि उद्यमियों की दक्षता में अन्तर हो, तो फर्मो के लागत वक्र-एक-दूसरे से भिन्न होंगे। अधिक दक्ष उद्यमियों वाली फर्मे अन्य फर्मो की अपेक्षा कम लागत पर उत्पादन करेंगी। इस प्रकार एक निश्चित कीमत पर एक वस्तु को बेचनेवाली फर्म भिन्न लागतों पर भिन्न-भिन्न मात्राओं का उत्पादन करेंगी। हम फर्मो को पाँच प्रकारों में बांट सकते हैं जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

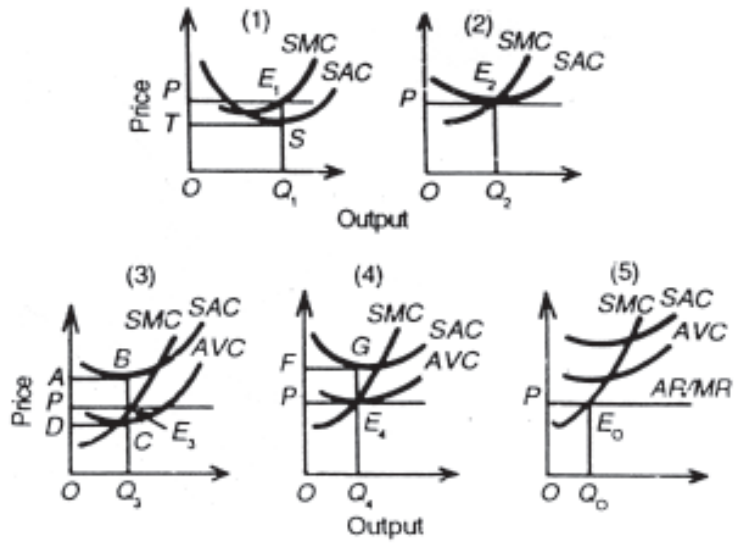

पहले प्रकार की फर्मे, जिनके उद्यमी सबसे अधिक दक्ष हैं, चित्र के पेनल (1) में बिन्दु E_1 पर संतुलन की स्थिति में हैं जहाँ वे OQ_1 मात्रा का उत्पादन करती हैं और सामान्य से अधिक लाभ $PTSE_1$ प्राप्त करती है।

दूसरे प्रकार की फर्मे E_2 बिन्दु पर पेनल (2) में अल्पकालीन संतुलन में है। जहाँ SMC=MR = SAC = AR (कीमत)। इस प्रकार वे उत्पादन के OQ_2 स्तर पर सामान्य लाभ प्राप्त करती है।

तीसरे प्रकार की फर्में पेनल (3) में, जिनके उद्यमी अभी भी दक्ष हैं, औसत परिवर्तनशील लागत Q_3C को तथा थोड़ी बहुत औसत स्थिर लागत को उत्पादन के OQ_3 स्तर पर पूरा कर लेती हैं क्योंकि ऐसी फर्मे औसत कुल लागत के BE_3 भाग को पूरा नहीं कर पातीं जो कीमत से अधिक है, इसलिए फर्म को APE_3B हानि होती है।

चौथे प्रकार की फर्मे पेनल (4) में, केवल अपनी परिवर्तनशील लागत (AVC) को ही पूरा कर पाती हैं। AVC वक्र कीमत रेखा को E_4 पर स्पर्श करता है। अल्पकालीन

में ऐसी फर्में बन्द होने की अपेक्षा उत्पादन करके और FPE_4G हानि उठाकर भी कार्य करती रहेंगी।

क्योंकि पांचवे प्रकार की फर्में पेनल (5) में, उत्पादन के OQ_3 (अर्थात् किसी भी) स्तर पर औसत परिवर्तनशील लागत भी पूरी नहीं कर पातीं, इसलिए उन्हें तो बन्द हो जाना पड़ेगा।

निष्कर्ष यह कि भिन्न लागत स्थितियों के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रकार की फर्में या तो सामान्य से अधिक लाभ उठाती हैं या सामान्य लाभ या फिर घाटें में चलती है।

3. **कुल लागत-आगम विश्लेषण (Total Cost Revenue Analysis)** -फर्मो के अल्पकालीन संतुलन को कुल लागत तथा कुल आगम वक्रों की सहायता से भी स्पष्ट किया जा सकता है। फर्म उत्पादन के उस स्तर पर अपने लाभ को अधिकतम बना सकती है, जहाँ जब कुल आगम और कुल लागत में अन्तर अधिकतम हो। इसे चित्र में दिखाया गया है, जहाँ TR कुल आगम वक्र है और TC कुल लागत वक्र। कुल आगम वक्र ऊपर को ढालू सरल रेखा है और वक्र बिन्दु O से प्रारम्भ होता है। इसका कारण यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म अपने उत्पादन की कम या अधिक मात्रा को एक निश्चित कीमत पर बेचती है। यदि फर्म कोई उत्पादन न करे, तो कुल आगम शून्य होगा। फर्म जितना अधिक उत्पादन करेगी, उसके कुल आगम में उतनी ही व द्धि होगी। इसलिए TR वक्र रेखीय (Linear) और ऊपर को ढालू है।

फर्म उत्पादन के उस स्तर पर अपने लाभ को अधिकतम बना सकेगी, जहाँ TR वक्र और TC वक्र के बीच का अन्तर अधिकतम होगा। रेखागणित से, यह वह स्तर है जहाँ कुल लागत वक्र पर खींची गई स्पर्श रेखा की ढलान कुल आगम वक्र की ढलान के बराबर होता है। चित्र में उत्पादन के OQ स्तर पर लाभ की मात्रा को TP द्वारा मापा गया है। A और B बिन्दुओं के बीच उत्पादन की OQ से कम या अधिक मात्रा पर फर्म का लाभ कम हो जाता है। यदि फर्म उत्पादन की OQ मात्रा तक उत्पादन करती है, तो उसको अधिकतम हानि होती है क्योंकि TC वक्र TR से ऊपर है। OQ_1 पर उसके लाभ शून्य हैं। ऐसी ही स्थिति Q_2 पर पाई जाती हैं क्योंकि MR कुल आगम TR वक्र की ढलान के बराबर होता है और MC कुल सीमांत लागत TC की स्पर्श रेखा की ढलान के बराबर होता है, इसलिए यह परिणाम निकलता है कि जहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बढ़ती सीमान्त लागत (जहाँ TC वक्र TR से नीचे स्थित हो) के क्षेत्र मे अधिकतम लाभ का बिन्दु स्थित होता है और अधिकतम हानि का बिन्दु, घटती सीमांत लागत के क्षेत्र में (जहाँ TC वक्र TE के ऊपर स्थित हो)।

फर्म के अधिकतम लाभ वाले उत्पादन स्तर को जानने की एक अन्य विधि कुल लाभ वक्र द्वारा है। कुल लाभ वक्र कुल आगम और कुल लागत वक्रों के अन्तर को उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर दर्शाता है। चित्र में PC कुल लाभ वक्र है जिसका उच्चतम बिन्दु E अधिकतम लाभ EQ को OQ उत्पादन पर दिखाता है, जो TR एवं TC वक्रों के अन्तर TP के बराबर है। OQ_1 उत्पादन स्तर तक PC वक्र X अक्ष के नीचे है जो ऋणात्मक लाभ या फर्म का हानि स्तर है। Q_1 पर लाभ शून्य हैं क्योंकि PC वक्र इस बिन्दु पर X अक्ष को काटता है। Q_1 से Q के बीच लाभ उत्पादन के साथ-साथ उत्तरोत्तर बढ़ते चले जाते हैं और OQ उत्पादन पर लाभ अधिकतम हैं, अर्थात् EQ यदि फर्म इस स्तर के आगे उत्पादन बढ़ाती है तो उसके लाभ कम होते जाएंगे और OQ_2 पर शून्य हो जाएंगे।

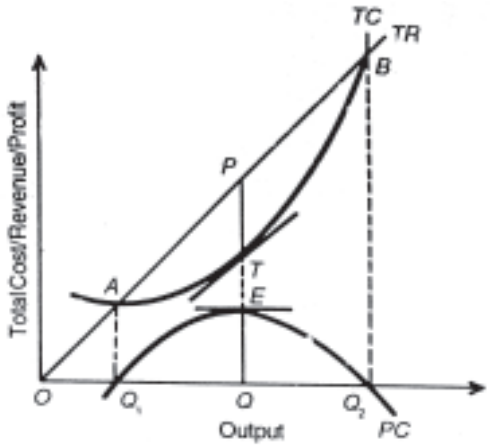

कुल लागत आगम वक्रों के प्रयोग से फर्म के संतुलन की व्याख्या उससे अधिक प्रकाश नहीं डालती, जो सीमांत लागत-आगम से पड़ता है। वह केवल ऐसे कुछ सीमांत निर्णयों में लाभदायक है, जहाँ उत्पादन के एक निश्चित क्षेत्र में कुल आगम वक्र भी रेखीय हो। परन्तु वह फर्म के संतुलन को भारी भरकम और विश्लेषण को कठिन बना देता है, विशेष रूप से उस समय जब हमें उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन के परिणामस्वरूप लागत और आगम में होने वाले परिवर्तन की तुलना करनी पड़ती है। फिर अधिकतर लाभों को एकदम नहीं जाना जा सकता। उसके लिए कई स्पर्श रेखाएं खींचनी पड़ती हैं जो वास्तविक कठिनाई है।

(ख) उद्योग का अल्पकालीन संतुलन (Short Run Equilibrium of the Industry)

एक उद्योग तब संतुलन में होता है जब इसका कुल उत्पादन स्थिर रहता है और उसके बढ़ने अथवा कम होने की कोई प्रव त्ति नहीं होती। यदि सभी फर्मे संतुलन में हों तो उद्योग भी संतुलन में होता है। अल्पकाल में उद्योग का पूर्ण संतुलन होने के लिए , सभी फर्मों को केवल सामान्य लाभ कमाने जरूरी हैं। इसके लिए शर्त हैं: SMC = MR = AR (= Price)= SAC परन्तु उद्योग का पूर्ण संतुलन अचानक ही होता है, क्योंकि अल्पकाल में कुछ फर्मे सामान्य से अधिक लाभ कमा रही होती हैं और कुछ हानि उठा रही होती हैं। फिर भी, अल्पकाल में उद्योग संतुलन में होता है जब उसकी वस्तु की मांग और पूर्ति की मात्राएं उस कीमत पर बराबर होती हैं जो मार्किट को साफ (Clear) कर देती है। इसे चित्र में दर्शाया गया है जहाँ पेनल (A) में उद्योग E बिन्दु पर संतुलन में हैं जहाँ उसका मांग वक्र D उसके पूर्ति वक्र S को काटता है जो OP कीमत निर्धारित करते हैं जिससे कुल उत्पादन OQ मार्किट से साफ हो जाता है। परन्तु चालू कीमत OP पर कुछ फर्मे PE_1ST सामान्य से अधिक लाभ कमा रही हैं जैसा कि पेनल (B) से स्पष्ट है, जबकि कुछ अन्य फर्मे FGE_2P हानि उठा रही हैं जैसाकि चित्र के पेनल (C) में दर्शाया गया है।

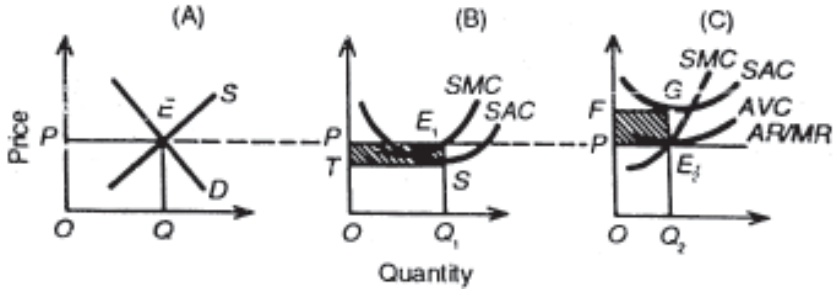

(ग) फर्म का दीर्घकालीन संतुलन (Long Run Equilibrium of the Firm)

दीर्घकालीन में, अल्पकालीन की अपेक्षा अधिक समायोजन (adjustment) दिए जा सकते हैं। फर्म अपने प्लांट की क्षमता और उत्पादन के पैमाने की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार व्यवस्था कर सकती है। इसलिए सभी लागतें परिवर्तनशील होती है। फर्मे केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर सकती हैं। यदि कीमत दीर्घकालीन औसत लागत से अधिक हो, तो फर्मे असामान्य लाभ कमायेंगी जिनसे आकर्षित होकर उद्योग में नई फर्मे आ जाएगी और फर्मो में प्रतियोगिता से असामान्य लाभ समाप्त हो जाएंगे। यदि कीमत दीर्घकालीन औसत लागत से कम हो, तो कुछ फर्मे उद्योग को छोड़ जाएंगी। परिणाम यह होगा कि कोई भी फर्म सामान्य से अधिक लाभ प्राप्त नहीं कर सकती है। इस प्रकार, "दीर्घकाल में फर्मे संतुलन में होती हैं जब उन्होंने अपने प्लांटों को इस ढंग से समायोजित किया होता है कि वे अपने दीर्घकालीन AC वक्र के न्यूनतम बिन्दु पर उत्पादन करती हैं जो (इस बिन्दु पर) मार्किट कीमत द्वारा परिभाषित मांग (AR) वक्र को स्पर्श करता है" ताकि वे सामान्य लाभ कमाती हैं।

हम यह मान लेते हैं कि सब उद्यमी बराबर की क्षमता रखते हैं। सब साधन समरूप हैं और स्थिर तथा समान कीमतों पर मिल सकते हैं, अतः फर्मो के लागत वक्र समरूप हैं। प्रत्येक फर्म उत्पादन के उस स्तर पर संतुलन में होगी, जहाँ LMC वक्र MR के बराबर होगा और MR को नीचे से काटेगा तथा उसी रेखा पर AR वक्र LAC वक्र के न्यूनतम बिन्दु के बराबर होगा अर्थात् LMC=MR=AR=LAC अपने न्यूनतम बिन्दु पर। दीर्घकाल में एक फर्म मार्किट की मांग एवं कीमत स्थितियों के अनुसार अपने पैमाने तथा प्लांट की क्षमता को बदल सकती है। मान लीजिए कि फर्म SAQ_1 वक्र द्वारा व्यक्त प्लांट चला रही है, जैसे चित्र (B) में I OP_1 कीमत पर फर्म बिन्दु A पर संतुलन में है जहाँ $SMC_1 = LMC = MR_1 = AR_1 = P_1$ इस कीमत पर यह OM_1 उत्पादन पर प्रति इकाई AB हानि उठा रही है। क्योंकि सभी फर्मो की लागतें समरूप हैं, कुछ फर्मे जो हानि नहीं उठा सकेंगी, उद्योग को छोड़ जाएंगी। परिणामस्वरूप, पूर्ति कम हो जाएगीतथा उद्योग का पूर्ति वक्र S_1 बाई ओर S वक्र के रूप में शिफ्ट कर जाएगा तथा कीमत गिरकर OP हो जाएगी जैसा कि पेनल (A) में दिखाया गया है।

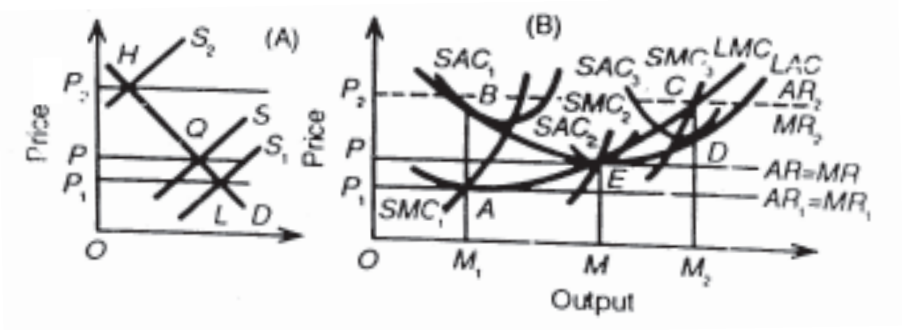

इस OP कीमत पर फर्म SAC_2 वक्र द्वारा व्यक्त प्लाट चला रही है तथा E बिन्दु पर संतुलन में है। इस बिन्दु पर संतुलन शर्त पूरी हो जाती है, अर्थात् $SMC_2 = LMC = MR = AR = PSAC_2 = LAC$ अपने न्यूनतम बिन्दु पर यह सामान्य लाभ कमा रही है। अतः SAC_2 प्लांट ही इष्टतम पैमाने का प्लांट है। क्योंकि हमने उद्योग की सभी फर्मो की समान लागतें मानी है इसलिए सभी फर्मे संतुलन में होंगी। इस कीमत OP पर न तो किसी फर्म की उद्योग को छोड़ने या नई फर्मो की समान लागतें मानी है इसलिए सभी फर्मे संतुलन में होंगी। इस कीमत OP पर न तो किसी फर्म की उद्योग को छोड़ने और न ही प्रवेश करने की प्रव त्ति होगी।

सामान्य लाभ कमाएंगी और उनकी उद्योग को छोड़ने या प्रवेश करने की कोई प्रव ति नहीं होगी।

(घ) उद्योग का दीर्घकालीन संतुलन (Long Run Industry Equilibrium)

एक उद्योग दीर्घकाल में उस समय संतुलन में होता है जब वह सामान्य लाभ कमाता है। फर्मो के लिए उद्योग को छोड़ने या नई फर्मो को प्रवेश करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं होता है। सभी साधन समरूप होने पर और उनकी कीमतें दी होने पर और प्रोद्योगिकी दी होने पर प्रत्येक फर्म और समस्त उद्योग पूर्ण संतुलन में होते हैं जहाँ LMC = MR = AR (=P) = LAC अपने न्यूनतम बिन्दु पर। ऐसी संतुलन स्थिति उस समय प्राप्त होती है जब उद्योग की वस्तु की कुल मांग और पूर्ति की समानता द्वारा निर्धारित होती है। उद्योग के दीर्घकालीन संतुलन को चित्र (A) में दर्शाया गया है जहाँ मांग वक्र D और पूर्ति वक्र S के E बिन्दु पर काटने से दीर्घकालीन कीमत OP निर्धारित होती है। इस OP कीमत तथा OM उत्पादन स्तर पर पेनल (B) में A बिन्दु पर फर्में संतुलन में हैं जहाँ LMC=SMC=MR=P=(=AR)=SAC = LAC न्यूनतम बिन्दु पर। इस स्तर पर फर्मे सामान्य लाभ कमाती हैं और उनके उद्योग को छोड़ने या नई फर्मो के प्रवेश करने की कोई प्रेरणा नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दीर्घकाल मे उद्योग में प्रत्येक फर्म भी संतुलन में है। यदि फर्मे और उद्योग दोनों ही दीर्घकालीन संतुलन में हैं तो वे अल्पकाल में भी संतुलन में होते हैं।

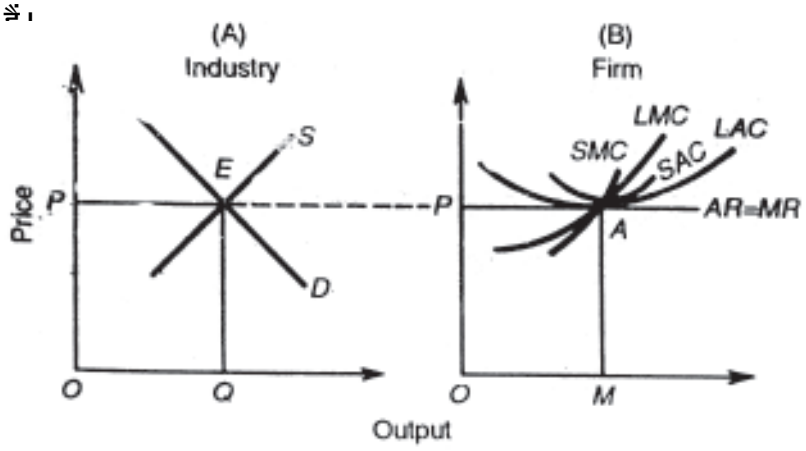

यद्यपि दीर्घकालीन में पूर्ण प्रतियोगी उद्योग में सभी फर्मो के लागत वक्र समान होते हैं फिर भी फर्मे विभिन्न दक्षता की हो सकती हैं। बेहतर प्रबंधन जैसे बेहतर संसाधन प्रयोग करने वाली फर्मो को उन्हें अधिक वेतन देना पड़ता है अन्यथा वे नई फर्मो के पास चले जाएंगे जो उन्हें अधिक वेतन देंगे। इस प्रकार, प्रतियोगिता की शक्तियां अधिक दक्ष फर्मो को उनकी अवसर लागत पर बेहतर संसाधनों को ऊँची कीमतें देंगी। परिणामस्वरूप, अधिक दक्ष फर्मो का LAC वक्र ऊपर को शिफ्ट कर जाएगा और उन्हें उद्योग द्वारा निश्चित ऊँची दीर्घकालीन कीमत पर अधिक उत्पादन बेच कर लाभ होगा। संसाधनों को ऊँची कीमतें न दे सकने के कारण कम दक्ष फर्मे प्रतियोगिता द्वारा उद्योग से बाहर हो जाएंगी। नई फर्मे जो उन्हें अधिक कीमतें दे सकती हैं और नई ऊँची मार्किट कीमत द्वारा आकर्षित होकर उद्योग मे प्रवेश करेंगी। परन्तु उद्योग की नई दीर्घकालीन संतुलन कीमत पर, सभी फर्मे न्यूनतम LAC पर उत्पादन करेंगी। इसे चित्र में दर्शाया गया है जहाँ उद्योग का मूल संतुलन E न्दि पर चित्र के पेनल (A) में OP कीमत पर है तथा अधिक दक्ष फर्मे अन्य फर्मो की तरह पेनल (B) में A बिन्दु पर संतुलन में हैं। क्योंकि उद्योग संतुलन में है, इसलिए नई फर्मे विद्यमान नहीं हैं

क्योंकि वे OP कीमत पर अपनी लागतों को पूरा करने की क्षमता नहीं रखती हैं। जब अधिक दक्ष फर्मे अपने संसाधनों को ऊँची कीमतें देती हैं तो उनका LAC वक्र ऊपर को सरककर LAC_1 हो जाता है। उद्योग की दीर्घकालीन कीमत OP_1 निश्चित होने से अधिक दक्ष फर्मे पेनल (B) में $P_1 = LAC_1$ के न्यूनतम बिन्दु A_1 पर संतुलन में हैं। अब वे अधिक उत्पादन OM_1 कर रही हैं यद्यपि वे सामान्य लाभ कमा रही हैं। नई फर्मे भी पेनल (C) में A_2 बिन्दु पर सामान्य लाभ कमा रही हैं। परन्तु वे अधिक दक्ष फर्मो द्वारा उत्पादित मात्रा OM_1 से कम OM_2 उत्पादित कर रही हैं।

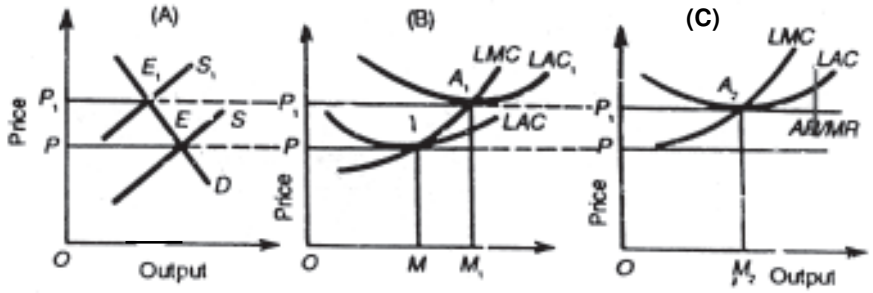

3. पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत संसाधन आबंटन
(Resource Allocation under Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत संसाधन आबंटन की समस्या के दो पहलू हैं: आशिंक और सामान्य।

आंशिक संतुलन के अन्तर्गत संसाधन आबंटन (Resource Allocation under Partial Equilibrium) दीर्घकाल में एक पूर्ण प्रतियोगी अर्थव्यवस्था उपभोक्ता संतुष्टि को अधिकतम करने के लिए अपने संसाधनों का आबंटन बहुत दक्ष तरीके से करती है। इसलिए, निम्न कारणों से पूर्ण प्रतियोगिता सामाजिक तौर से संसाधनों का इष्टतम आबंटन लाती है:

1. दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म न्यूनतम लागत प्लांट का निर्माण करती है और इसको उत्पादन के इष्टतम स्तर पर चलाती है ताकि प्रति इकाई लागत (LAC) न्यूनतम हो।
2. फर्मे अपने प्लांटों को पूर्ण क्षमता तक चलाती हैं ताकि उद्योगों के बीच और उद्योगों में संसाधनों का आबंटन अधिक दक्षता के साथ हो।
3. उद्योग में पैमाने की पर्याप्त किफायतें नहीं होती हैं।
4. उपभोक्ता अधिमानों को न्यूनतम कीमतों पर वस्तुओं की अधिकतम मात्राओं द्वारा पूरा किया जाता है।
5. उपभोक्ताओं की आय और रुचियां दी होने पर समग्र उपभोक्ता संतुष्टि को अधिकतम किया जाता है, क्योंकि उपभोक्ताओं की मांगों के अनुसार उनमें वस्तुओं का वितरण होता है।
6. लोचशील वस्तु और साधन कीमतों के कारण संसाधनों का इष्टतम आबंटन होता है। इससे अर्थव्यवस्था में संसाधन पूर्ण रोजगार में लगे होते हैं।
7. संसाधनों का इष्टतम आबंटन होता है क्योंकि कीमत वस्तु की सीमांत लागत के बराबर होती है।

8. फर्मे अपने लाभों को अधिकतम करती हैं जिसका मतलब है कि वे केवल सामान्य लाभ ही कमाती हैं। यह शर्त इस समीकरण से पूरी होती है:

LMC = P = AR = MR = LAC अपने न्यूनतम बिन्दु पर।

पूर्ण प्रतियोगी उद्योग की ये शर्ते दी होने पर, हम संसाधनों के इष्टतम आबंटन की नीचे व्याख्या करते हैं।

एक पूर्ण प्रतियोगी मार्किट में फर्मे कीमत स्वीकारक (Price takers) और मात्रा-समयोजक (quantity adjuster) होती हैं। वे उद्योग की कुल मांग और कुल पूर्ति द्वारा निर्धारित कीमत को स्वीकार करती हैं। प्रत्येक फर्म और समस्त उद्योग के लिए ऐसी स्थिति को चित्र (A) और (B) में दर्शाया गया है। पेनल (A) में, OP कीमत, उद्योग द्वारा निश्चित की जाती हैं जो प्रत्येक फर्म द्वारा स्वीकार की जाती है जिससे उसका मांग वक्र (AR=MR) एक समानांतर रेखा होता है, जैसा कि पेनल (B) में दिखाया गया है। फर्म का लाभ - अधिकतमकरण उत्पादन स्तर OM हैं क्योंकि वह इस मात्रा को सप्लाई करने का निर्णय लेती है जो इसके सीमांत वक्र (जो इसका पूर्ति वक्र है) द्वारा व्यक्त होती है। इस प्रकार, बिन्दु A पर कीमत और सीमांत लागत की समानता एक पूर्ण प्रतियोगी फर्म द्वारा संसाधनो के इष्टतम आबंटन की शर्त को पूरा करती है, अर्थात् LMC=P=AR=MR.

पूर्ण प्रतियोगी मार्किट में संसाधनों के इष्टतम आबंटन की एक और महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि प्रत्येक फर्म सामान्त लाभ अवश्य कमाएं। यह मानते हुए कि पैमाने की पर्याप्त किफायतें नहीं हैं, जब कीमत सीमांत लागत के बराबर होती है तो वह LAC के न्यूनतम स्तर के बराबर भी अवश्य हो। यह पेनल (B) में दिखाया गया है जहाँ कीमत रेखा P=AR=MR को तथा LAC वक्र को स्पर्श करती है। प्रत्येक फर्म लाभ-अधिकतमकरण उत्पादन OM करती है और उसे OP कीमत पर बेचती है तथा सामान्य लाभ कमाती है। इससे संसाधनों का इष्टतम आबंटन होता है क्योंकि पूर्ण संतुलन की शर्त पूरी होती है, अर्थात् LMC=P=AR=MR=LAC अपने न्यूनतम पर। यदि पर्याप्त पैमाने की किफायतें उपलब्ध हों, तो LAC वक्र नीचे की ओर ढालू होगा तथा दीर्घकालीन संतुलन नहीं होगा। छोटी फर्मे जिनकी लागतें ऊँची होंगी, वे प्रतियोगिता द्वारा उद्योग को छोड़ जाएंगी। अंततः इससे पूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार भी हो सकता है।

हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जब प्रतियोगी उद्योग में प्रत्येक फर्म उस बिन्दु पर उत्पादित करती है जहाँ $P=LMC_1$ तो संसाधनों का इष्टतम आबंटन होता है। फिर, जब प्रत्येक फर्म अपने LAC वक्र के न्यूनतम बिन्दु पर उत्पादन करती है और केवल सामान्य लाभ ही कमाती है तथा उपभोक्ता वस्तु को न्यूनतम कीमत पर प्राप्त करते हैं, तो भी संसाधनों का इष्टतम आबंटन होता है।

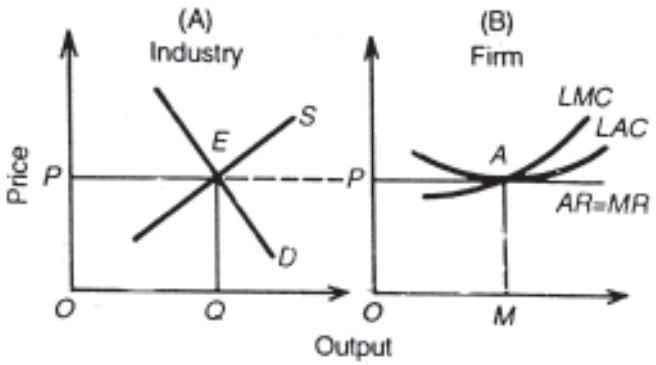

सामान्य संतुलन संसाधन आबंटन
(Resource Allocation Under General Equilibrium)

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत संसाधन आबंटन की व्याख्या करने का अन्य तरीका यह मानता है कि अर्थव्यवस्था केवल दो वस्तुएँ उत्पादित करती है और उन्हें इष्टतम तौर से उस बिन्दु पर आबंटन करती है, जहाँ एक उदासीनता वक्र उत्पादन संभावना या रूपांतरण वक्र को स्पर्श करता है। यह विश्लेषण निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है:

1. बाजार में तैयार वस्तुओं की मांग में पूर्ण प्रतियोगिता होती है।
2. सभी वस्तुओं का समाज में अनुपम रूप से वितरण होता है।
3. समाज में रुचियाँ एवं प्रौद्योगिकी अपरिवर्तित रहती हैं।
4. समाज का प्रत्येक सदस्य हर वस्तु की अधिक मात्रा को प्राथमिकता देता है न कि कम को।
5. संसाधनों के नियोजन का स्तर दिया हुआ है।
6. उपभोग एवं उत्पादन में कोई बाह्य प्रभाव नहीं होते।
7. समुदाय के उदासीनता वक्र एक दूसरे को नहीं काटते।
8. अर्थव्यवस्था मे केवल दो ही वस्तुओं X तथा Y, का उत्पादन होता है।

ये मान्यताएँ दी होने पर चित्र पर ध्यान दीजिए। इसमें वस्तु X का उत्पादन क्षैतिज अक्ष पर तथा वस्तु Y का उत्पादन अनुलम्ब अक्ष पर मापा गया है। I, I_1 तथा I_2 समुदाय उदासीनता वक्र हैं जो इन वस्तुओं के समाज को उपलब्ध होने वाले विविध संयोगों को प्रदर्शित करते हैं। किसी भी बिन्दु पर उदासीनता वक्र वस्तुओं का ढलान इन दो X तथा Y के बीच स्थानापन्नता की दर को (MRS_{xy}) प्रकट करता है। TC उत्पादन वक्र है जो दिए हुए संसाधनों तथा प्रोद्योगिकी से संभव विविध उत्पादन संयोगों को प्रकट करते हैं। किसी भी बिन्दु पर उत्पादन संभावना वक्र का ढलान वस्तु Y की सामाजिक सीमांत लागत से वस्तु X की सामाजिक सीमांत लागत (SMC) के अनुपात को मापता है। उत्पादन संभावना वक्र का ढलान दो वस्तुओं X तथा Y के बीच रूपान्तरण की सीमांत दर है। इस प्रकार $MRT_{xy}=MSC_x / MSC_y$ और कीमत रेखा PL है जिसका ढलान P_x / P_y को प्रकट करता है।

समाज बिन्दु E पर इष्टतम उत्पादन की स्थिति उपलब्ध कर लेता है, जहाँ पर कि रूपान्तरण वक्र TC उच्चतम संभव समुदाय उदासीनता वक्र I को स्पर्श करता है। इस इष्टतम स्तर पर समाज वस्तु X का OX_1 तथा वस्तु Y का OY_1 उत्पादन एवं उपभोग गिरता है। यदि TC वक्र पर बिन्दु E से परे कोई भी गति होगी, तो समुदाय अपेक्षाक त अधिक नीचे उदासीनता वक्र पर, जैसे कि I वक्र पर, और इष्टतम से अपेक्षाक त नीचे स्तर पर आ जाएगा।

यह इष्टतम उत्पादन वास्तव में प्रतियोगी उत्पादन है। क्योंकि यह पूर्ण प्रतियोगिता है और बाह्य प्रभावों का अभाव है, इसलिए सारे बाजार में दोनों वस्तुओं की कीमतें एक सार रहती हैं। इस प्रकार मांग पक्ष की ओर से, बिन्दु E पर संतुलन स्थापित हो जाता है जहाँ कि कीमत से, प्रतियोगिता मूलक संतुलन के लिए इस बात की जरूरत है कि कीमत रेखा का ढलान निश्चय से रूपान्तरण वक्र के ढलान के बराबर हों,

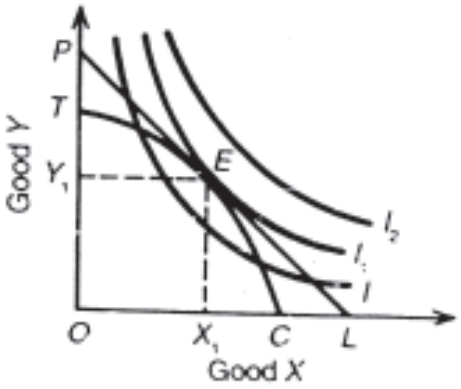

$Px/Py = MRTxy$

पूर्णबाजार में MRT_{xy} बराबर है सीमांत निजी लागत Y की (MC_y) और X की सीमांत निजी लागत (MC_x) का अनुपात। क्योंकि मान्यता यह है कि उत्पादन में बाह्य प्रभाव नहीं है, इसलिए उत्पादन की सीमांत निजी लागत (MC_{xy}) उत्पादन की सीमांत सामाजिक लागत (MSC_{xy}) के बराबर है। इस प्रकार रूपान्तर वक्र का ढलान बताता है कि

$$MRC_{xy}=MC_x/ MC_y= MSC_x/ MSC_y$$

समीकरण (1) और (2) से निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत संसाधन इष्टतम तौर से चित्र में बिन्दु E पर आबंटित होते हैं जहाँ रूपांतरण वक्र, सामाजिक उदासीनता वक्र और कीमत रेखा एक दूसरे को स्पर्श करते हैं,

$$MRS_{xy}=MRS_{xy}=P_x/ P_y$$

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत-निर्धारण
(Pricing under Perfect Competition)

1. संतुलन कीमत
(Equilibrium Price)

मार्किट में सौदा करने वाली दो पार्टियां होती हैं- एक क्रेता और दूसरी विक्रेता। इन दोनों पार्टियों में समझौता होने पर ही वस्तु किसी निश्चित कीमत पर बेची और खरीदी जाती है। इस प्रकार वस्तु की कीमत निर्धारण पर क्रेताओं और विक्रेताओं का प्रभाव पड़ता है अर्थात् मांग एवं पूर्ति का।

क्रेताओं पर मांग का नियम लागू होता है जिसके अनुसार कीमत बढ़ने पर मांग कम हो जाती है और कीमत कम होने पर मांग बढ़ जाती है। पूर्ति की ओर पूर्ति का नियम लागू होता है जिसके अनुसार कीमत बढ़ने पर पूर्ति में व द्धि होती है और कीमत कम होने पर वस्तु की कीमत घट जाती है। इस प्रकार मांग और पूर्ति दो विरोधी शक्तियाँ, हैं, जो एक-दूसरे से विपरीत चलती हैं। जहाँ वे एक-दूसरे के बराबर होती हैं, कहीं कीमत निर्धारित होती है और उस कीमत को संतुलन कीमत कहते हैं। इस कीमत पर वस्तु की खरीदी और बेची गई मात्रा को संतुलन मात्रा कहते हैं। जब कीमत संतुलन कीमत से कम या अधिक होती है तो संतुलन-उत्पादन में विचलन हो जाता है जिससे अन्ततः फिर संतुलन कीमत

स्थापित हो जाती है। कीमत निर्धारण की इस प्रक्रिया को तालिका तथा चित्र द्वारा समझाया गया है।

नीचे तालिका में सेब की माग और पूर्ति अनुसूची व्यक्त की गई है। जब सेबों की कीमत 10 रुपया प्रति किलोग्राम होती है तो मार्किट में सेबों की मांग 120 कि.ग्रा. तथा पूर्ति 20 कि.ग्रा. है।

	कीमत (रुपए) (Price in Rs.)	मांग की मात्रा (Quantity Demanded)		पूर्ति की मात्रा (Quantity Supplied)	
	10	120		20	
	20	100		30	
	30	80		45	
संतुलन कीमत →	40	60	=	60	← संतुलन मात्रा
	50	40		80	
	60	20		120	

कीमत के बढ़ने से मांग कम होती जाती है तथा पूर्ति बढ़ती जाती है। जब कीमत 40 रुपये प्रति किलोग्राम होती है तो मांग एव पूर्ति दोनों 60 कि.ग्रा. होती हैं। यही संतुलन मात्रा है, जो 40 रू. संतुलन कीमत को निर्धारित करती है। एक बार संतुलन कीमत स्थापित हो जाने से उसमें परिवर्तन की कोई प्रव त्ति नहीं पाई जाती है। यदि किसी समय कीमत 40 रू. से अधिक या कम हो जाती है तो मांग एवं पूर्ति की शक्तियाँ इसे पुनः 40 रु. पर ही लाएंगी। उदाहरणार्थ, यदि कीमत 40 रु. से कम होकर 30 रु. हो जाती है तो मांग बढ़कर 80 कि. ग्रा. और पूर्ति कम होकर 45 कि.ग्रा. हो जाती है। सेबों की थोड़ी मात्रा के लिए अधिक मांग होने से क्रेताओं में प्रतियोगिता के कारण कीमत बढ़कर 40 रु. हो जाती है। इससे मांग कम होकर 60 कि.ग्रा. तथा पूर्ति भी बढ़कर कीमत 60 किलोग्राम हो जाती है। इस प्रकार संतुलन कीमत पुनः स्थापित हो जाती है इसके विपरीत कीमत पचास रु. होने पर मांग 40 कि.ग्रा. और पूर्ति 80 कि.ग्रा. होने से, जब हर विक्रेता अपनी वस्तु को पहले बेचने का प्रयत्न करता है तो वह कीमत थोड़ी सी कम कर देता है और दूसरे भी ऐसा करते जाते हैं, जब तक कि कीमत 40 रु. नहीं हो जाती और पुनः मांग एवं पूर्ति में संतुलन स्थापित नहीं हो जाता है।

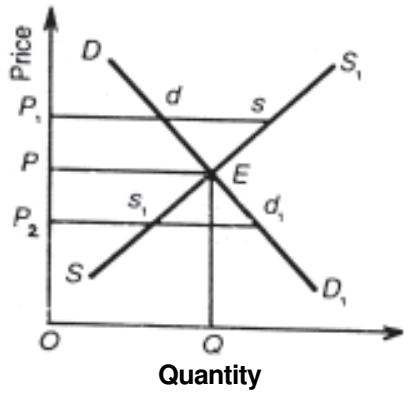

चित्र में संतुलन-कीमत एवं उत्पादन को दर्शाया गया है, जहाँ DD_1 मांग वक्र है और SS_1 पूर्ति वक्र है। दोनों E बिन्दु पर काटते हैं जो संतुलन - बिन्दु है। OP संतुलन कीमत है जो OQ संतुलन मात्रा पर बेची और खरीदी जाती है। यदि कीमत OP से कम होकर OP_2 हो जाती है तो मांग P_2d_1 > पूर्ति P_2S_1 से अधिक हो जाती है जिससे S_1D_1 अतिरिक्त मांग होती

है। मांग से पूर्ति अधिक होने के कारण क्रेताओं में प्रतियोगिता से कीमत OP_2 से बढ़कर संतुलन कीमत OP पर आ जाती है। यदि कीमत OP से बढ़कर OP_1 हो जाती है तो (पूर्ति) $P_1S^0 > P_1d$ (मांग), जिससे ds अतिरिक्त पूर्ति मार्किट में उत्पन्न होती है। कम मांग होने पर विक्रेता अतिरिक्त पूर्ति को बेचने के लिए कीमत कम करते जाते हैं, जब तक कि पुनः संतुलन कीमत स्थापित नहीं हो जाती। इससे सिद्ध होता है कि कीमत मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है और जब एक बार संतुलन कीमत स्थापित हो जाती है तो उसमें विचलन होने से मांग और पूर्ति की शक्तियाँ पुनः कीमत संतुलन की स्थिति में ले आती है।

कीमत सिद्धांत में समय-तत्त्व का महत्त्व
(Importance of Time Element in Price Theory)

मार्शल प्रथम अर्थशास्त्री था जिसने कीमत-निर्धारण में समय-तत्त्व के महत्त्व का विश्लेषण किया। जब मांग में व द्धि या कमी होती है तो पूर्ति में व द्धि या कमी उसी समय नहीं हो जाती। पूर्ति में परिवर्तन तकनीकी तत्त्वों पर निर्भर करते हैं जिनमें परिवर्तन होने में समय लगता है, इसलिए पूर्ति का मांग के साथ समायोजन एकदम नहीं हो जाता। समय अवधि कितनी होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उत्पादन के पैमाने, आकार एवं संगठन में मांग के अनुसार परिवर्तन करना सम्भव है या नहीं। फिर वस्तु की प्रक त के अनुसार भी समय-अवधि का कीमत-निर्धारण में महत्त्व होता है। नाशवान वस्तुओं का कीमत निर्धारण थोड़ी समय-अवधि में अधिक महत्त्व रखता है, जबकि टिकाऊ वस्तुओं के लिए लम्बी समय-अवधि का अधिक महत्त्व होता है। कीमत निर्धारण में मार्शल ने मांग एवं पूर्ति में संतुलन को चा समय अवधियों में बांटा हैः बाजार-अवधि, अल्प-अवधि, दीर्घ अवधि और चिर कालिक अवधि।

अब हम इन समय-अवधियों का क्रमशः विवेचना करते हैं।

1. **बाजार अवधि कीमत** (Market Period Price) - बाजार-अवधि अति अल्प-अवधि होती है जिसमें वस्तु की पूर्ति स्थिर होने के कारण कीमत मांग द्वारा निर्धारित होती है। यह समय-अवधि कुछ दिनों या सप्ताह की होती है जिसमें वस्तु के स्टॉक से ही मांग के अनुसार पूर्ति को बढ़ाया जा सकता है। ऐसा टिकाऊ वस्तुओं के लिए सम्भव होता है। नाशवान वस्तुओं की समय-अवधि एक दिन की होती है। उदाहरणार्थ, सब्जी की मांग यदि बढ़ जाती है तो उसको उसी दिन नहीं बढ़ाया जा सकता, इसलिए सब्जी की पूर्ति स्थिर होने पर कीमत मांग द्वारा ही निर्धारित होती है।

   बाजार-अवधि में जो कीमत पाई जाती है वह बाजार कीमत कहलाती है जो वस्तु की प्रक ति के अनुसार दिन में कई बार, प्रतिदिन, सप्ताह में कई बार या सप्ताह के बाद परिवर्तित होती है। मार्शल ने बाजार कीमत की इस प्रकार व्याख्या की हैः "बाजार मूल्य प्रायः ऐसी घटनाओं एवं कारणों से प्रभावित होता है जो अस्थायी हों। इनकी क्रिया आकस्मिक तथा अल्पकालीन होती है, उनकी अपेक्षा जो द ढ़तापूर्वक चलते रहते हैं।" वास्तव में बाजार कीमत किसी वस्तु की वह कीमत है जो मार्किट में किसी निश्चित समय पर मांग एवं पूर्ति की अन्तर्क्रिया द्वारा निर्धारित होती है। बाजार कीमत का निर्धारण नाशवान तथा टिकाऊ वस्तुओं के लिए अलग-अलग किया जाता है।

   नाशवान वस्तुएँ : नाशवान वस्तुएँ जैसे दूध, सब्जी, मछली आदि की कीमत मुख्यतः मांग द्वारा प्रभावित होती है। इन पर पूर्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि इनकी

पूर्ति स्थिर होती है। अतः मांग बढ़ने पर नाशवान वस्तुओं की कीमत में व द्धि होती है और मांग कम होने पर कीमत कम हो जाती है। चित्र में नाशवान वस्तु मछली का कीमत-निर्धारित व्यक्त किया गया है। MS पूर्ति वक्र है जो वस्तु की OQ स्थिर मात्रा को बाजार अवधि में दिखाता है। D प्रारम्भिक मांग वक्र है जो MS पूर्ति वक्र को E बिन्दु पर काटता है जिससे बाजार कीमत OP निर्धारित होती है। यदि मांग D से बढ़कर D_1 हो जाती है तो नया संतुलन E_1 पर होता है जो पहले से अधिक कीमत OP को दर्शाता है। इसके विपरीत, मांग के D से D_2 कम होने पर कीमत भी OP से कम होकर OP हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि बाजार कीमत मांग द्वारा ही निर्धारित होती है जबकि पूर्ति OQ स्थिर ही रहती है। नाशवान वस्तुओं जैसे सब्जी, दूध, मछली, बर्फ आदि की गर्मियों में जितनी बार भी मांग बढ़ेगी या कम होगी, कीमत भी उतनी बार ही बढ़ेगी या कम होगी।

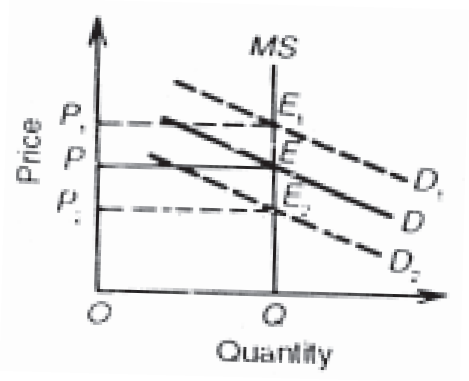

टिकाऊ वस्तुएँ (Durable Commodities) - बहुत-सी वस्तुएँ टिकाऊ होती हैं जिन्हें स्टॉक में रखा जाता है और मांग बढ़ने के साथ-साथ जब कीमत में व द्धि होती है तो स्टॉक में से उनकी पूर्ति को कुछ सीमा तक बढ़ाया जा सकता है। ऐसी वस्तुएँ कपड़ा, गेहूँ, चाय आदि होती हैं। इस प्रकार की वस्तुओं के दो कीमत स्तर होते हैं:

एक, न्यूनतम कीमत जिससे कम कीमत होने पर विक्रेता अपनी वस्तुओं को बिल्कुल नहीं बेचेगा। इसे सुरक्षित कीमत कहते है, दूसरी ओर अधिकतम कीमत जिस पर विक्रेता वस्तु की सारी मात्रा बेचने को तैयार होगा। कोई भी विक्रेता अपनी वस्तु की सुरक्षित कीमत निश्चित करते समय निम्नलिखित तत्त्वों का ध्यान रखता है:

(i) **वस्तु का टिकाऊपन (Durability of the Commodity) -** सुरक्षित कीमत वस्तु के टिकाऊपन पर निर्भर करती है। जितनी वस्तु अधिक टिकाऊ होगी, उतनी सुरक्षित कीमत अधिक हेागी।

(ii) **भविष्य में कीमत (Prices in Future) -** सुरक्षित कीमत भविष्य में कीमतों में होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर करती है। यदि वस्तु की कीमत बढ़ने की आशा हो तो विक्रेता ऊँची सुरक्षित कीमत निश्चित करेंगे और कीमत गिरने की सम्भावना होने पर कम कीमत रखेंगे।

(iii) **भविष्य में उत्पादन लागत (Future Cost of Production) -** सुरक्षित कीमत भविष्य में उत्पादन लागत पर निर्भर करती है। यदि विक्रेताओं को

भविष्य में लागतें बढ़ने की आशा हो तो वे सुरक्षित कीमत अधिक रखेगें।

(iv) **भण्डार में रखने का व्यय (Expenses on Storage)** - सुरक्षित कीमत वस्तु को भण्डार में रखने के व्यय एवं समय द्वारा भी निर्धारित होती है। जितना भण्डार में रखने का व्यय और समय अधिक होगा उतनी ही सुरक्षित कीमत कम होगी और विलोमशः (vice versa)।

(v) **तरलता अधिमान (Liquidity Perference)** - सुरक्षित कीमत का अधिक या कम होना विक्रेताओं के तरलता के लिए अधिमान पर निर्भर करता हैं। जितना नकदी अधिमान अधिक होगा, उतनी ही सुरक्षित कीमत कम होगी क्योंकि मुद्रा की अधिक आवश्यकता के कारण वे वस्तु को जल्दी बेचने का यत्न करेंगे। और इसके विपरीत, नकदी अधिमान कम होने पर सुरक्षित कीमत भी अधिक रखेगा और कम मांग की सम्भावना होने पर कम कीमत रखेगा।

(vi) **भविष्य में माँग (Liquidity Perference)** - सुरक्षित कीमत भविष्य में माँग पर भी निर्भर करती है यदि विक्रेता को भविष्य में माँग बढ़ने की आशा है तो वह सुरक्षित कीमत अधिक रखेगा और विलोमशः।

इस प्रकार दो कीमत स्तर होने पर विक्रेता न्यूनतम सुरक्षित कीमत पर तो वस्तु की कोई भी मात्रा नहीं बेचेगा, जबकि अधिकतम कीमत स्तर पर वह वस्तु की समस्त मात्रा बेचने को तैयार होगा। ज्यों-ज्यों वस्तु की मांग बढ़ने से कीमत बढ़ेगी, विक्रेता वस्तु के भण्डार में से अधिक मात्रा बेचता जाएगा जब तक कि मांग बढ़कर अधिकतम कीमत पर नहीं पहुँच जाती जिस पर वह वस्तु का पूर्ण भण्डार बेच देगा। इसके पश्चात् मांग में व द्धि सम्भव नहीं। यह कारण है कि टिकाऊ वस्तु का पूर्ति वक्र इस स्तर पर अनुलम्ब (vertical) हो जाता है।

चित्र में SMS_1 बाजार-अवधि का पूर्ति वक्र है। OQ_1 वस्तु का कुल भण्डार है। OS न्यूनतम या सुरक्षित कीमत है जिस पर विक्रेता वस्तु को बिल्कुल नही बेचता। जब मांग वक्र D_1 पूर्ति वक्र SMS_1 को E बिन्दु पर काटता है तो OP कीमत निर्धारित होती है जिस पर वस्तु की OQ मात्रा बेची जाती है तथा OQ_1 विक्रेता के भण्डार में रहती है। मांग कम होकर D_2 होने पर कीमत OP से कम होकर OP हो जाती है जिस पर OQ_2 मात्रा बेची जाती है और Q_2Q_1 वस्तु की मात्रा भण्डार में रखी जाती है। केवल मांग के D_1 होने पर ही विक्रेता वस्तु का सारा भण्डार अधिकतम कीमत OP_1 पर बेचने को तैयार होता है। यदि मांग D_1 से ऊपर हो जाती है तो उससे कीमत ही बढ़ेगी क्योंकि बाजार-अवधि में OQ_1 से अधिक मात्रा नहीं बेची जा सकती।

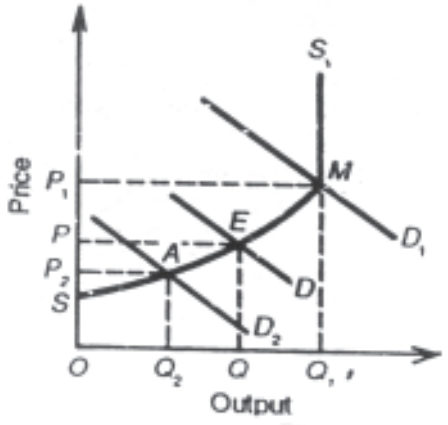

इस प्रकार बाजार अवधि में पूर्ति की अपेक्षा माँग का कीमत निर्धारण पर अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि अति अल्पकालीन अवधि उत्पादन को नहीं आँकते।

2. **अल्प अवधि कीमत (Short Period Price) -** अल्प अवधि कुछ महीनों का समय होता है जिसमें मांग के अनुकूल पूर्ति को परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसा, परिवर्तनशील साधनों में परिवर्तन करके ही सम्भव होता है। उदाहरणार्थ, यदि पूर्ति में व द्धि करनी हो तो फर्म श्रम, कच्चा माल आदि अधिक लगाकर वर्तमान मशीनें, प्लांट आदि स्थिर साधनों से काम की पारी (shift) को बढ़ाकर अधिक उत्पादन कर सकती है। अल्पकालीन में उत्पादन का पैमाना, संगठन एवं स्थिर साधनों को परिवर्तित करना सम्भव नहीं होता, इसलिए परिवर्तनशील साधनों की मात्राओं में मांग के अनुसार व द्धि या कमी करके पूर्ति में व द्धि या कमी की जाती है।

अल्प-अवधि में कीमत निर्धारण मांग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है। अल्पकालीन पूर्ति वक्र बांए से दाएं साधारण पूर्ति वक्र की तरह ऊपर की ओर ढलान वाला होता है। जब मांग बढ़ती या कम होती है तो पूर्ति वक्र के साथ संतुलन होने पर अल्पकालीन कीमत निर्धारित होती है जिसे अल्पकालीन सामान्य कीमत भी कहते हैं। चित्र में अल्पकालीन संतुलन कीमत के निर्धारण को दिखाया गया है। D मूल मांग वक्र है और MS बाजार अवधि का पूर्ति का पूर्ति वक्र। इनका संतुलन बिन्दु P पर होता है जिससे PQ कीमत पर वस्तु की OQ मात्रा बेची व खरीदी जाती है। मान लीजिए कि (कपड़े की) मांग में व द्धि हो जाती है जिसे D_1 वक्र द्वारा व्यक्त किया गया है। इसका परिणाम यह होता है कि बाजार कीमत तुरन्त PQ से बढ़कर PQ हो जाएगी। बाजार-अवधि में अधिक श्रमिक, कच्चा माल आदि लगाकर वर्तमान मशीनों व प्लांटों की सहायता से बढ़ाया जा सकता है इस प्रकार परिवर्तनशील साधनों की मात्रा बढ़ने से पूर्ति में व द्धि SRS पूर्ति वक्र के अनुरूप होगी। पूर्ति वक्र SRS नये मांग वक्र D_1 को P_1 बिन्दु पर काटता है और इस प्रकार P_1Q_1 अल्पकालीन कीमत या अल्पकालीन सामान्य कीमत (short run normal price) निर्धारित होती है जिस पर OQ_1 मात्रा बेची व खरीदी जाती है। यह अल्पकालीन कीमत (P_1Q_1) मूल बाजार कीमत PQ से अधिक है परन्तु मांग के बढ़ने के बाद की बाजार कीमत P'Q से कम है।

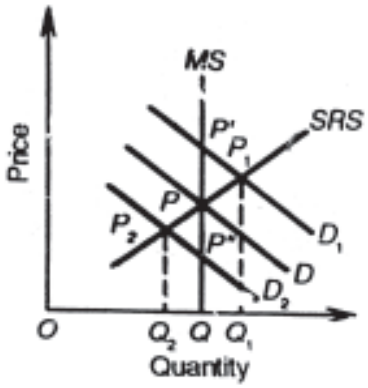

अब मान लीजिए कि कपड़े की मांग में कमी होती है। मांग वक्र D से D_2 हो जाएगा। बाजार कीमत PQ से गिरकर P_2Q_2 हो जाएगी। अल्प-अवधि में उद्योग की सभी फर्में परिवर्तनशील साधनों जैसे श्रम, कच्चा माल आदि को कम लगाएंगी तथा पूर्ति को कम कर देंगी। इसलिए SRS वक्र का D_2 के साथ P_2 बिन्दु पर संतुलन होगा जिससे P_2Q_2 कीमत पर वस्तु की कम मात्रा OQ_2 क्रय विक्रय होगी। परन्तु P_2Q_2

कीमत मूल बाजार कीमत PQ से कम है परन्तु बाद की बाजार कीमत P"Q से अधिक है। अतः अल्प अवधि में मांग की अपेक्षा पूर्ति का कुछ अधिक महत्त्व होता है क्योंकि मांग के अनुसार पूर्ति में व द्धि या कमी परिवर्तनशील साधनों में व द्धि या कमी द्वारा की जा सकती है।

3. **दीर्घ अवधि कीमत या सामान्य कीमत (Long Period Price or Normal Price)-** दीर्घ अवधि कई वर्षो की होती है जिसमें पूर्ति को मांग के अनुसार पूर्णतया समायोजित किया जा सकता है। दीर्घकाल में स्थिर साधनों को परिवर्तन करके पूर्ति को मांग के अनुरूप किया जाता है। यह ऐसा समय होता है जिसमें पुरानी मशीनों, उपकरणों, प्लांटों आदि को हटाकर नई मशीनें, उपकरण, आदि लगाए जा सकते हैं। नयी फर्मे उद्योग में प्रवेश कर सकती हैं तथा पुरानी फर्मे उद्योग को छोड़ सकती हैं। फर्मो का उत्पादन का पैमाना, संगठन एवं प्रबन्ध भी परिवर्तित किए जा सकते हैं। इस प्रकार दीर्घकाल में हर द ष्टिकोण से पूर्ति को मांग के अनुरूप किया जा सकता है।

दीर्घकालीन कीमत को सामान्य कीमत भी कहते हैं। सामान्य कीमत वह कीमत होती है जिसकी दीर्घ अवधि में पाए जाने की सम्भावना होती है, जो दीर्घकाल में स्थिर रहती है। मार्शल के शब्दों में, सामान्य या स्वाभाविक मूल्य वह है जो आर्थिक शक्तियाँ दीर्घकालीन में लाने की प्रव त्ति रखती है।" (Normal or natural value is that which economic forces would tend to bring about in the long run) वास्तव में सामान्य कीमत, अत्यधिक कीमत और बहुत नीची कीमत के बीच की कीमत है जिसकी दीर्घकाल में पाए जाने की संभावना होती है। यह वह कीमत है जिसके चारों ओर अन्य कीमतें घूमती है।

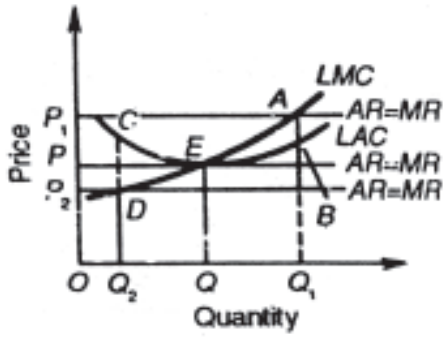

दीर्घकालीन या सामान्य कीमत मांग एवं पूर्ति के संतुलन द्वारा निर्धारित होती है। दीर्घकाल में फर्मो तथा उद्योग के संतुलन के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु की सामान्य कीमत सीमांत लागत एवं औसत लागत के बराबर हो। यदि कीमत न्यूनतम औसत लागत से ऊँची हो तो सभी फर्मे अधिसामान्य लाभ (super normal profits) कमाएंगी जिनसे आकर्षित होकर नयी फर्म उद्योग में प्रवेश कर जाएगी, पूर्ति बढ़ेगी और कीमत कम होकर न्यूनतम औसत लागत के बराबर हो जाएगी। इसके विपरीत, कीमत के औसत लागत से कम हो जाने पर फर्मो को हानि होगी। कुछ फर्मे जो हानि नहीं उठा सकेंगी वे उद्योग को छोड़ जाएंगी, पूर्ति कम हो जाएगीतथा कीमत सदैव न्यूनतम औसत लागत के बराबर ही होती है। अतः दीर्घकालीन कीमत या सामान्य कीमत सदैव न्यूनतम औसत लागत के बराबर होती है। इसे चित्र द्वारा समझाया गया है जिसमें LAC तथा LMC दीर्घकालीन औसत एवं सीमांत लागत वक्र हैं। दीर्घकालीन संतुलन E बिन्दु पर होता है जहाँ LMC=MR=AR=LAC

न्यूनतम बिन्दु पर OP कीमत निर्धारित होती है जिस पर वस्तु की OQ मात्रा फर्मों द्वारा बेची जाती है। यही सामान्य कीमत है जिसकी दीर्घकाल में होने की प्रव त्ति होगी। यदि कीमत OP से बढ़कर OP_1 हो जाती है तो फर्में वस्तु की QQ_1 पहले से अधिक मात्रा बेचेंगी जिससे उन्हें वस्तु की प्रति इकाई पर AB अतिरिक्त लाभ होगा। इस लाभ से आकर्षित होकर नई फर्में उद्योग में प्रवेश कर जाएंगी, जिससे वस्तु की पूर्ति और बढ़ेगी और कीमत कम होकर OP हो जाएगीजहाँ E बिन्दु पर दीर्घकालीन संतुलन होगा। इसके विपरीत, कीमत OP से कम होकर OP_2 होने पर वस्तु की पूर्ति Q_2Q कम हो जाएगी। फर्मो को वस्तु की प्रति इकाई पर CD हानि होगी जिसे उठा न सकने के कारण बहुत-सी फर्में उद्योग को छोड़ जाएंगी जिससे पूर्ति और कम होगी, कीमत में व द्धि होगी और अन्ततः कीमत OP हो जाएगीजहाँ E बिन्दु पर पुनः दीर्घकालीन संतुलन होगा।

दीर्घकालीन कीमत तथा प्रतिफल के नियम (Long-Run Price and the Laws of Returns)- दीर्घकालीन कीमत के विश्लेषण में यह जानना आवश्यक होता है कि यह कीमत बाजार-कीमत से अधिक, कम या बराबर कब होती है, अर्थात् दीर्घकालीन कीमत पर प्रतिफल के नियमों का क्या प्रभाव पड़ता है। यदि उद्योग घटते प्रतिफल या बढ़ती लागत के नियमों के अनुसार उत्पादन करता हो तो दीर्घकालीन कीमत मूल बाजार कीमत से अधिक होगी। स्थिर प्रतिफल या स्थिर लागत का नियम लागू होने पर दीर्घकालीन कीमत मूल बाजार कीमत के बराबर ही होगी, जबकि बढ़ते प्रतिफल या घटती लागत का नियम लागू होने पर दीर्घकालीन कीमत मूल बाजार कीमत से कम होगी। विभिन्न उत्पादन-नियमों के अन्तर्गत मांग में व द्धि होने पर दीर्घकालीन कीमत-निर्धारण की व्याख्या नीचे चित्रों की सहायता से की गई है।

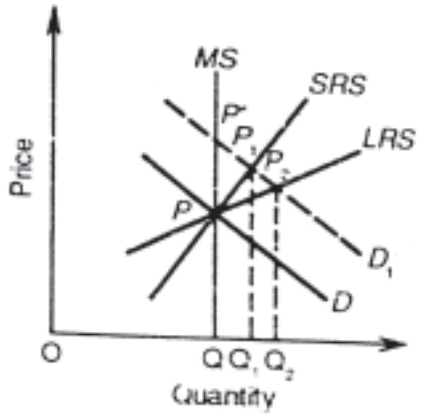

जब उद्योग पर घटते प्रतिफल या बढ़ती लागत का नियम (Law of diminishind returns or increasing costs) लागू होता है तो दीर्घकालीन पूर्ति वक्र LRS बाएं से दाएं ऊपर को ढलान वाला होता है जैसाकि चित्र में दिखाया गया है। MS बाजार-अवधि का पूर्ति वक्र है। SRS अल्प-अवधि पूर्ति वक्र है। D मूल मांग वक्र है जो बाजार-अवधि के पूर्ति वक्र को P बिन्दु पर काटता है जिससे PQ मूल बाजार कीमत निर्धारित होती और वस्तु की OQ मात्रा बेची व खरीदी जाती है। मागं के बढ़ कर D_1 होने से बाजार कीमत बढ़कर P'Q हो जाती है। अल्पकाल में जब

परिवर्तनशील साधनों द्वारा पूर्ति OQ से बढ़कर OQ_1 होती है तो कीमत P^1Q से कम होकर P_1Q_1 होती है। दीर्घकालीन में उत्पादन के पैमाने संगठन आदि के बढ़ने से जब पूर्ति से OQ_1 से OQ_2 व द्धि होती है तो दीर्घकालीन कीमत P_2Q_2 निर्धारित होती है। यह कीमत मूल बाजार कीमत PQ से अधिक क्योंकि उद्योग बढ़ती लागत के नियम के अन्तर्गत कार्य करता है जिसके अनुसार उत्पादन बढ़ने के साथ लागतें भी प्रति इकाई बढ़ती हैं।

उद्योग पर स्थिर प्रतिफल या लागत का नियम (Law of Constant Returns of Costs) लागू होने पर दीर्घकालीन पूर्ति वक्र X- अक्ष के समानान्तर चित्र से LRS वक्र की तरह होता है। जब मांग में D से D_1 की व द्धि होती है तो बाजार कीमत PQ से बढ़कर P^1Q हो जाती है। अल्प-अवधि में जब पूर्ति OQ से बढ़कर OQ_1 होती है तो कीमत P^1Q से गिरकर P_1Q_1 हो जाती है। दीर्घकाल में पूर्ति के OQ_2 तक बढ़ जाने से कीमत घटकर P_2Q_2 हो जाती है। यह कीमत मूल बाजार कीमत के बराबर है $(P_2Q_2 = PQ)$। इसका कारण यह है कि उद्योग पर स्थिर लागत का नियम लागू होने से जब उत्पादन में व द्धि की जाती है तो प्रति इकाई लागत स्थिर रहती है।

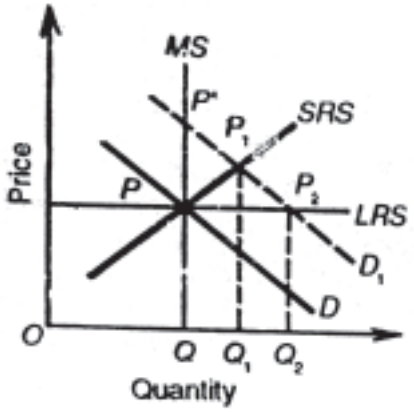

यदि उद्योग पर बढ़ते प्रतिफल या घटती लागतों का नियम (Law of Increasing Returns or Diminishing Costs) लागू होता हो तो दीर्घकालीन पूर्ति वक्र बांए से दाएं नीचे की ओर ढलान वाला होता है जैसा कि चित्र में LRS वक्र है। PQ मूल बाजार कीमत है और OQ वस्तु की क्रय-विक्रय की जा रही मात्रा। मांग के D से D_1 बढ़ जाने पर बाजार कीमत एकदम बढ़कर P_1Q हो जाती है। अल्प अवधि में पूर्ति में OQ से बढ़कर OQ_1 व द्धि होने पर, कीमत गिरकर P_1Q से P_1Q_1 हो जाती है। दीर्घकाल में जब पूर्ति और बढ़कर OQ_2 हो जाती है तो कीमत गिरकर P_2Q_2 हो जाती है। दीर्घकाल कीमत मूल बाजार कीमत से कम है, $P_2Q_2 < PQ$ । इसका कारण यह है कि उद्योग पर बढ़ते प्रतिफल का नियम लागू होने से जब उत्पादन में व द्धि होती है। तो प्रति इकाई लागत कम हो जाती है। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दीर्घकालीन कीमत मूल बाजार कीमत से अधिक, बराबर या कम होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उद्योग पर घटते प्रतिफल, स्थिर प्रतिफल या बढ़ते प्रतिफल का नियम लागू होता है।

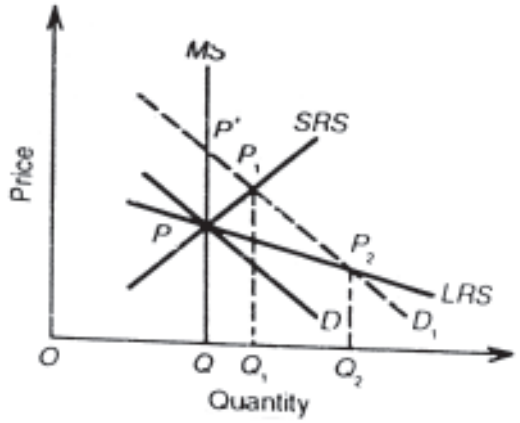

4. **चिरकालिक अवधि (Secular Period)** चिरकालिक अवधि अति लम्बे समय की होती है। मार्शल के अनुसार यह दस वर्ष से भी ऊपर का समय है जिसमें मांग में परिवर्तनों का पूर्ति के साथ पूर्ण समायोजन हो सकता है। इतनी लम्बी समय अवधि में होने वाले तकनीकी, जनसंख्या, कच्चे माल एवं मांग आदि में परिवर्तनों को जानना सम्भव नहीं, इसलिए मार्शल ने चिरकालिक अवधि में कीमत-निर्धारण का विश्लेषण नहीं किया।

निष्कर्ष (Conclusion)- उपरोक्त विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि कीमत सिद्धांत में समय-तत्त्व का महत्त्व यह है कि कीमत-निर्धारण में मांग एवं पूर्ति में से कौन-सी शक्ति अधिक प्रबल होती है, यह समय अवधि पर निर्भर करता है। साधारणतया, समय-अवधि जितनी कम होती है, कीमत-निर्धारण में मांग का प्रभाव उतना ही अधिक होता है और जितनी समय-अवधि अधिक होती है, कीमत-निर्धारण में पूर्ति का प्रभाव उतना ही अधिक होता है।

बाजार कीमत तथा सामान्य कीमत में तुलना
(Comparison Between Market Price and Normal Price)

बाजार कीमत तथा सामान्य कीमत में निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं:-

1. बाजार कीमत वह कीमत होती है जो किसी एक दिन अथवा बहुत कम दिन मार्किट में पाई जाती है। यह बहुत अल्पकालीन कीमत होती है जो किसी एक विशेष समय में प्रवर्तमान होती है। दूसरी ओर, सामान्य कीमत वह कीमत होती है जिसकी दीर्घकाल में पाए जाने की प्रव त्ति होती है।

2. बाजार कीमत के निर्धारण में मांग सक्रिय होती है जबकि पूर्ति निष्क्रिय होती है। बाजार कीमत मांग के गिरने या बढ़ने के साथ गिरती या बढ़ती है जबकि पूर्ति स्थिर रहती है। दूसरी ओर, सामान्य कीमत के निर्धारण में पूर्ति अधिक सक्रिय होती है क्योंकि यह दीर्घकाल में मांग में परिवर्तन के अनुसार पूरी तरह से तालमेल रखने की प्रव त्ति रखती है।

3. बाजार कीमत अस्थायी घटनाओं द्वारा प्रभावित होती है। यह दिन या सप्ताह में अनेक बार बदलती घटनाओं द्वारा परिवर्तित होती है। एक बहुत गर्मी वाले दिन अचानक वर्षा हो जाने से बर्फ की मांग कम हो सकती है और बर्फ की कीमत कम। इस प्रकार बाजार कीमत केवल अस्थायी तौर से पाई जाती है। दूसरी ओर, सामान्य कीमत स्थायी तत्त्वों का परिणाम होती है जो मांग एवं पूर्ति में परिवर्तन लाते हैं।

उपभोक्ताओं की रुचियों, आदतों, अधिमानों आदि में परिवर्तनों से मांग में भी परिवर्तन हो सकता है जबकि उत्पादन के स्थिर साधनों के परिवर्तन से पूर्ति में परिवर्तन हो सकता है। इस प्रकार सामान्य कीमत एक स्थायी एवं स्थिर कीमत होती है। इसलिए बाजार कीमत की सामान्य कीमत के इर्द-गिर्द घूमने की प्रव त्ति होती है जैसा कि चित्र में दिखाया गया है जहां NP सामान्य कीमत है तथा MP बाजार कीमत है।

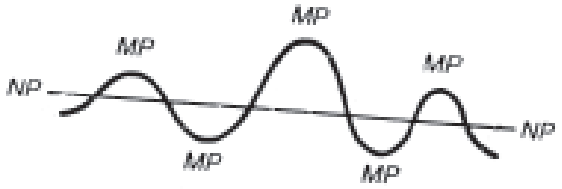

4. बाजार कीमत औसत उत्पादन लागत से ऊपर या नीचे हो सकती है। अतः फर्में असामान्य लाभ कमा सकती हैं या हानि उठा सकती हैं। दूसरी ओर, सामान्य कीमत सदैव के न्यूनतम बिन्दु के बराबर होती है। इसलिए सामान्य कीमत के अन्तर्गत फर्में केवल सामान्य लाभ ही कमा सकती हैं।

5. सभी वस्तुओं, चाहे वे पुनः उत्पादित की जा सकती हों या न की जा सकती हों, की बाजार कीमत होती है। परन्तु पुनः उत्पादित की जा सकने वाली वस्तुओं की ही सामान्य कीमत होती है। यदि कोई वस्तु पुनः निर्मित नहीं की जा सकती तो उसकी दीर्घकाल में पूर्ति नहीं बढ़ाई जा सकती है जब इसकी मांग में व द्धि होती है। उदाहरणार्थ, टैगोर द्वारा बनाया गया एक चित्र यदि किसी दुकानदार के पास खड़ा हो तो उसकी सामान्य कीमत नहीं हो सकती क्योंकि टैगोर जीवित नहीं हैं और उस जैसा चित्र पुनः नहीं बन सकता। यह चित्र केवल बाजार कीमत पर ही बेचा जा सकता है जो किसी समय उसकी मांग पर निर्भर करती है।

6. बाजार कीमत किसी भी समय पर बाजार में पाई जाने वाली वास्तविक कीमत होती है। दूसरी ओर, सामान्य कीमत मनगढ़न्त कीमत होती है। यह अमूर्त तथा भ्रम होती है, जो अवास्तविक है। यह म गत ष्णा की भांति होती है। सागर में छोटी-छोटी तरंगें वास्तविक हैं परन्तु दूर क्षितिज में दिखाई देने वाला सागर का शान्त जल भ्रम है जो म गत ष्णा के समान है जो कभी भी शान्त नहीं होता है। सागर की छोटी-छोटी तरंगें बाजार कीमत के समान हैं जबकि दूर क्षितिज में दिखाई देता शान्त जल सामान्य कीमत के समान है। जैसा कि स्टोनियर एवं हेग ने व्यक्त किया है: ''व्यवहार में, दीर्घकालीन सामान्य कीमत कभी भी नहीं आएगी। दीर्घकालीन संतुलन की कुछ शर्तों के अन्दर साधारणतया एक परिवर्तन होगा, इससे पूर्व कि उस तक पहुंचा जा सके। कल की तरह दीर्घकाल कभी भी नहीं आता है'', और जो कीमत बाजार में पाई जाती है वह सदैव बाजार कीमत होती है न कि सामान्य कीमत।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता
(Monopolistic Competition)

अब तक हम पूर्ण प्रतियोगिता और एकाधिकार के अन्तर्गत वस्तु-कीमत निर्धारण पर विचार करते रहे हैं। परन्तु ये अति स्थितियां हैं और व्यवहार में नहीं पाई जातीं। वास्तव में इन दोनों

स्थितियों के बीच मार्किट स्थितियां भी हैं। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रो० चैम्बरलिन ने अपनी पुस्तक "The Theory of Monopolistics Competition" और 1983 में श्रीमती जॉन राबिन्सन ने अपनी पुस्तक में "Economics of Imperfect Competition" में पूर्ण प्रतियोगिता और एकाधिकार का संश्लेषण प्रस्तुत किया।

अर्थ

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता उस मार्किट स्थिति से संबंध रखती है जिसमें एक विभेदीकृत वस्तु (Differentiated Product) की कई फर्में विक्रेता हों। ''बहुत ही समान वस्तुओं का उत्पादन करने वाली फर्मो में तीव्र प्रतियोगिता तो होती है, पर पूर्ण नहीं होती।'' कोई विक्रेता अन्य विक्रेताओं की कीमत-उत्पादन नीतियों पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सकता और न ही दूसरों के कार्यो का उस पर कोई प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता उन अनेक विक्रेताओं में प्रतियोगिता का निर्देश करती है जो पूर्ण-स्थानापन्नों (perfect substitutes) का तो नहीं, पर निकट-स्थानापन्नों (Close Substitutes) का उत्पादन करते हैं।

इसकी विशेषताएं

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. **विक्रेताओं की अधिक संख्या** - एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है। वे 'बहुत और पर्याप्त छोटे' होते हैं। परन्तु उत्पादन के बड़े भाग पर किसी एक का नियंत्रण नहीं होता। कोई भी विक्रेता अपनी उत्पादन नीति में परिवर्तन करके दूसरे के विक्रय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकता और न ही उनसे प्रभावित होता है। इस प्रकार विक्रेताओं की कीमत-उत्पादन नीतियों में कोई स्वीकृत परस्पर-निर्भरता नहीं होती और हर विक्रेता अपने कार्यो में स्वतंत्र रास्ता अपनाता है।

2. **वस्तु-विभेदीकरण** - एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है, वस्तु-विभेदीकरण। यदि अन्य विक्रेताओं से एक विक्रेता की वस्तुओं (या सेवाओं) को अलग करने का कोई महत्त्वपूर्ण आधार हो, कि एक सामान्य श्रेणी की वस्तु को विभेदीकृत कर दिया जाता है। विभेदीकरण का ऐसा आधार वास्तविक या काल्पनिक हो सकता है परन्तु जब तक क्रेताओं के लिए उसका महत्त्व रहता है, वे तब तक एक वस्तु को दूसरी पर अधिमान देते हैं। वास्तव में वस्तु विभेदीकरण का अर्थ है कि वस्तुओं में एक-दूसरे से कुछ-न-कुछ अन्तर है। वे समरूप नहीं बल्कि भिन्न रूप होती है, जिससे प्रत्येक फर्म का एक विभेदीकृत वस्तु के उत्पादन और विक्रय में निरपेक्ष एकाधिकार होता है। परन्तु एक ही श्रेणी की एक वस्तु तथा अन्य वस्तुओं में थोड़ा-सा अन्तर होता है। वस्तुएँ पूर्ण-स्थानापन्न तो नहीं होतीं पर ऊँची प्रतिलोच वाली निकट-स्थानापन्न होती हैं। वस्तु विभेदीकरण वस्तु की कुछ अपनी विशेषताओं पर आधारित होता है जैसे, एकमात्र पेटेंट, ट्रेड मार्क, ट्रेड नाम, पैकेज अथवा कन्टेनर की विशेषताएं यदि कोई हों, अथवा क्वालिटी, डिजाइन, रंग अथवा स्टाइल की कोई विशिष्टता। यह वस्तु के विक्रय से संबध स्थितियों के बारे में भी हो सकती हैं इनका हम विवेचन करते हैं।

क. **वस्तु की क्वालिटी में परिवर्तन करके** - किसी वस्तु की क्वालिटी उसे अन्य उत्पादों से भिन्न करती है जैसे प्रयुक्त माल कार्य-कुशलता, टिकाऊपन, डिजाइन, रंग, पैंकिग, सुगन्ध आदि। साथ में उपभोक्ता की रुचियों का ध्यान भी रखा जाता है ताकि वस्तु अधिक ग्राहकों को आकर्षित कर सके।

ख. **विज्ञापन एवं प्रचार द्वारा** - वितरण की ओर से, वस्तु के बारे में विज्ञापन और प्रचार, जो बिक्री-प्रोत्साहन तकनीक कहलाती है, एक वस्तु को अन्य वस्तुओं से भिन्नित करती है। विज्ञापन से क्रेताओं के मन पर मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होती है और इस प्रकार एक काल्पनिक अन्तर पैदा हो जाता है, जो एक वस्तु को अन्य वस्तुओं से श्रेष्ठ बना देता है। इसके अतिरिक्त, दुकान कहाँ स्थित है, वह देखने में कैसी लगती है, काउंटर सेवा कैसी है, इत्यादि बातें भी बिक्री को बढ़ाने में सहायता देती हैं। वस्तु की दरों की व द्धि से वस्तु विभेदीकरण करने का उद्देश्य वस्तु की मांग को प्रभावित करना और उसे कम लोचदार बनाना है।

ग. **पेटेंट अधिकार तथा ट्रेड मार्क द्वारा** - पेटेंट अधिकार और ट्रेड मार्क भी वस्तु विभेदीकरण को बढ़ावा देते हैं। कॉपीराइट भी यही काम करते हैं। कोडक और कोका कोला पेटेंट अधिकारों के उदाहरण हैं जो अमरीका की कांग्रेस ने उनके आविष्कारकों को दिए हैं। हमाम, लक्स, रैक्सोना, पीअर्स, गोदरेज इत्यादि साबुनों के ट्रेडमार्क हैं जो उपभोक्ता को इस बात में सहायता देते हैं कि वह उस साबुन को चुन ले जिसके लिए बाकी साबुनों की अपेक्षा उसका अधिमान अधिक है।

3. **फर्मों के प्रवेश और निकास की स्वतंत्रता** - एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की एक और विशेषता है, फर्मो के प्रवेश या निकास की स्वतंत्रता। क्योंकि फर्मो का आकार छोटा होता है और वे निकट-स्थानापन्नों का उत्पादन कर सकती हैं, इसलिए यह संभव हो जाता है कि दीर्घकाल में वे किसी उद्योग या समूह में आ जाएँ या उसे छोड़ जाएँ। वास्तव में, वस्तु विभेद से नई फर्मो का प्रवेश घटने की बजाए बढ़ता ही है, क्योंकि अन्य फर्मो की अपेक्षा हर फर्म एक अलग वस्तु का उत्पादन करती है।

4. **माँग वक्र की प्रकृति** - एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में किसी भी एक फर्म का वस्तु के उत्पादन के एक छोटे भाग से अधिक पर नियंत्रण नहीं होता। इसमें संदेह नहीं कि वस्तु विभेदीकरण का तत्त्व रहता है, फिर भी, वस्तुएं निकट-स्थानापन्न तो होती ही हैं। इसलिए, वस्तु की कीमत घटाकर एक फर्म अन्य प्रतियोगियों के ग्राहकों को आकर्षित कर अपनी बिक्री को बढ़ा सकती है, बशर्ते कि प्रतियोगी भी कीमतें न घटा दें। इस प्रकार कीमत बढ़ा देने पर उस फर्म के ग्राहक दूसरी फर्मो के पास चले जाएँगे। इसमें संदेह नहीं कि कीमत में कमी करने से फर्म की बिक्री बढ़ जाएगी, परन्तु इससे अन्य फर्मो की कीमत-नीतियों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि हर फर्म के बहुत थोड़े ग्राहक ही टूटेंगे। इसी प्रकार, कीमत बढ़ा देने से उस फर्म की माँग में तो महत्त्वपूर्ण कमी हो जाएगीपरन्तु इससे उसके ग्राहकों में से बहुत थोड़े-थोड़े ग्राहक ही प्रतियोगी फर्मो के पास जाएंगे। इसलिए, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत किसी फर्म के माँग वक्र (औसत आगम वक्र) का ढलान नीचे की ओर दाएँ को होता है। कीमतों के उस क्षेत्र में, जिसमें वह अपनी वस्तु की किसी मात्रा को बेच सकता है, माँग अधिक लोचदार होती है, पर पूर्ण लोचदार नहीं होती। एक व्यक्तिगत फर्म के माँग वक्र की लोच एक तो इस बात पर निर्भर करती है कि

प्रतियोगी फर्मो की वस्तुओं में प्रतिलोच का मूल्य कितना है। और दूसरे, इस बात पर कि उद्योग में विक्रेताओं की संख्या कितनी है और कुल उद्योग की माँग में प्रत्येक का कितना योगदान है। एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत माँग की प्रतिलोच अधिक होती है और फर्म का माँग वक्र अधिक लोचदार होगा क्योंकि उस स्थिति में वस्तुएं निकट-स्थानापन्न होती हैं। ऐसा वक्र D (AR) और साथ ही उसका अनुरूप MR वक्र चित्र (A) में दिखाया गया है।

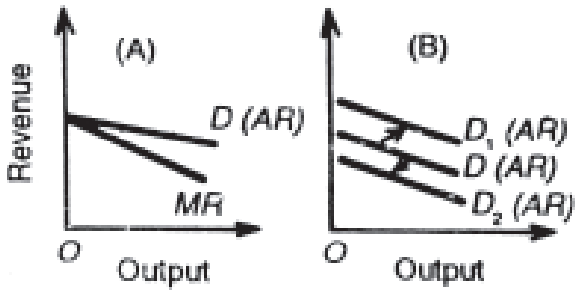

दूसरी अवस्था में, वक्र D (AR) यह प्रकट करता है कि यदि प्रतियोगी फर्मे अपने कीमतों में परिवर्तन न करें, तो एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक फर्म को कीमत बढ़ाने से, उनकी तुलना में, अपने विक्रय में अधिक हानि और कीमत कम करने से अधिक लाभ होगा।

परन्तु कोई फर्म विभिन्न कीमतों पर अपनी वस्तु की कितनी मात्राएँ बेच सकती है, यह इस बात पर निर्भर करता है। उपभोक्ताओं की आय, रुचियों की तीव्रता, स्थानापन्नों की कीमतों में उपभोक्ता के अधिमान कितना है। फर्म अपनी वस्तु की प्रकृति और विज्ञापन के लिए व्यय को परिवर्तित करके अपनी बिक्री को प्रभावित कर सकती है। इन स्थितियों में से किसी में भी परिवर्तन होने पर माँग वक्र ऊपर या नीचे को सरक जाएगा। उपभोक्ताओं की आय या वस्तु के लिए उनकी रुचियों में तीव्रता के बढ़ने से माँग वक्र ऊपर को और घटने से नीचे को सरक जाएगा। इसी तरह प्रतियोगी फर्मो द्वारा कीमतों में व द्धि (या कमी) उनकी वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं के अधिमानों को घटा (या बढ़ा) देगी जिसका परिणाम यह होगा कि व्यक्तिगत फर्म की बिक्री बढ़ (या घट) जाएगी। प्रतिद्वन्द्वी वस्तुओं की कीमतों में व द्धि से मांग वक्र ऊपर को सरककर D_1 (AR) पर आ जाएगा और अन्य फर्मो की वस्तुओं की कीमतों में कमी से मांग वक्र नीचे को सरककर D_2 (AR) पर चला जाएगा।

निष्कर्ष यह निकलता है कि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत मांग वक्र, जिसका फर्म को सामना करना पड़ता है, कीमतों के संबंधित रेंज में अधिक लोचदार होता है। इसका अभिप्राय है कि वस्तु विभेदीकरण के कारण कीमत पर फर्म का कुछ नियंत्रण होता है और फर्मो के बीच कीमत-भिन्न होते हैं। इसके बावजूद, भिन्नित-वस्तु की मार्किट कीमत का सामान्य स्तर मांग वक्र के ढलान को निर्धारित करता है। जहाँ तक यह कीमत पर नियंत्रण कर सकती है, वहाँ तक तो फर्म एकाधिकार से समानता रखती है और क्योंकि इनका माँग वक्र मार्किट की स्थितियों से प्रभावित होता है, इसलिए वह पूर्ण प्रतियोगिता से समानता रखती है। अतः ऐसी स्थिति को विशेष रूप से एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता माना गया है।

5. उत्पादन के साधनों के मूल्य तथा प्रौद्योगिकी दी हुई है।

6. पूरे समूह में सभी फर्मों के उत्पादों के लिए मांग तथा लागत वक्र एकरूप हैं।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का कीमत निर्धारण (Price Determination of A Firm under Monopolistic Competition)

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म के संतुलन का सामान्य विश्लेषण अल्पकालीन और दीर्घकालीन में किया जाता है।

(क) अल्पकालीन संतुलन (Short Run Equilibrium)

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का अल्पकालीन विश्लेषण इन मान्यताओं पर आधारित है :

1. विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है और वे एक-दूसरे से स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं। प्रत्येक अपने क्षेत्र में एकाधिकारी होता है,
2. प्रत्येक विक्रेता की वस्तु अन्य वस्तुओं से विभेदीकृत (या भिन्नित) होती है,
3. फर्म का निश्चित मांग वक्र (AR) होता है जो लोचदार होता है,
4. विचाराधीन वस्तु के उत्पादन के लिए साधन सेवाओं की पूर्ति पूर्ण लोचदार होती है,
5. अल्पकालीन में हर फर्म का लागत वक्र अन्य फर्मों के लागत वक्रों से भिन्न होता है, और
6. उद्योग में कोई नई फर्म प्रवेश नहीं करती।

इन मान्यताओं के दिए हुए होने पर, प्रत्येक फर्म ऐसी कीमत और उत्पादन निश्चित करती है जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। संतुलन कीमत और उत्पादन उस बिन्दु पर निर्धारित होता है जहाँ अल्पकालीन सीमान्त लागत सीमान्त आगम के बराबर होती है।

अर्थात् $MC = MR$, $AR = AC$ पर $AR > MC$

क्योंकि अल्पकालीन में लागतें भिन्न होती हैं, इसलिए अपेक्षाकृत कम प्रति इकाई लागतों वाली फर्म केवल सामान्य लाभ कमाएगी। यदि वह केवल औसत परिवर्तनशील लागत को ही पूरा कर पाती है, तो उसे हानि उठानी पड़ती है।

चित्र में अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र (SMC) सीमान्त आगम वक्र (MR) को E बिन्दु पर काटता है। यह संतुलन बिन्दु, कीमत QA (=OP) और उत्पादन की OQ मात्रा निर्धारित करता है। परिणामस्वरूप, फर्म सामान्य से अधिक लाभ, PABC क्षेत्र द्वारा प्रकट किए गए, कमाती है।

चित्र (B) भी उसी संतुलन बिन्दु, और कीमत तथा उत्पादन को प्रकट करता है। परन्तु इस स्थिति में फर्म केवल अल्पकालीन औसत इकाई लागत (SAC) को ही पूरा कर पाती है जैसा कि माँग वक्र D और अल्पकालीन औसत इकाई लागत वक्र SAC स्पर्श-बिन्दु A पर प्रकट करते हैं। फर्म सामान्य लाभ कमाती है।

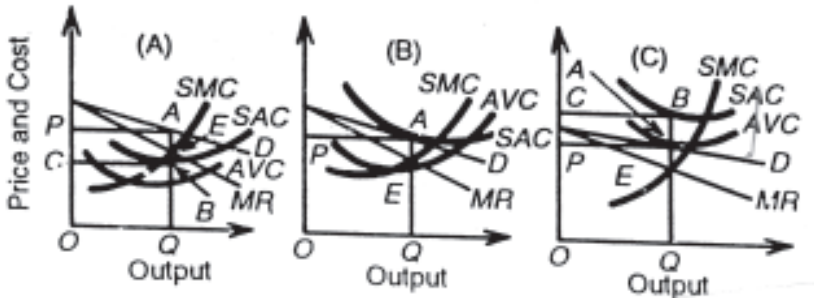

चित्र (C) उस स्थिति को प्रकट करता है जहाँ फर्म अल्पकालीन औसत इकाई लागत को भी पूरा नहीं कर पाती और हानि उठाती है। SMC और MR वक्रों की E बिन्दु पर समानता द्वारा निर्धारित की गई कीमत QA है जो केवल औसत परिवर्तनशील लागत को ही पूरा कर पाती है। मांग वक्र D और औसत परिवर्तनशील लागत वक्र AVC का बिन्दु A फर्म के बन्द हो जाने का बिन्दु है। यदि फर्म कीमत को QA से नीचे ले आती है, तो इसे आगे उत्पादन बन्द करना पड़ेगा। हाँ, इस कीमत पर फर्म फर्म अल्पकालीन में क्षेत्र CABP के बराबर इस आशा से हानि उठा लेगी कि दीर्घकालीन में वह अपनी लागतों को कम कर सकेगी।

यह आवश्यक नहीं कि अल्पकालीन में सब फर्में समान कीमतें वसूल करें और उतनी ही मात्रा का उत्पादन करें जितना कि व्याख्या की गई है। यह तो केवल अपने ज्यामितीय उदाहरण को सरल बनाने के लिए हमने किया है। वस्तु विभेदीकरण होने के कारण कीमतों और मात्राओं की एकरूपता की आशा नहीं की जा सकती। हर फर्म अपनी-अपनी अल्पकालीन लागतों के अनुसार कार्य करती है और अपने SMC वक्र को अपने MR वक्र के बराबर करती है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि एक फर्म अन्य फर्मों से बहुत ही भिन्न कीमत नियत करती है। क्योंकि उस वस्तु के निकट-स्थानापन्न हैं, इसलिए उसकी कीमत पर अन्य फर्मो की कीमतों के आस-पास ही होगी जो उससे मिलती-जुलती वस्तु का उत्पादन करती है।

(ख) दीर्घकालीन संतुलन (Long Run Equilibrium)

दीर्घकालीन में, समायोजन प्रक्रिया दो तरह से हो सकती है : (i) उद्योग या समूह के भीतर, और (ii) प्रवेश के खुला रहने पर।

(i) **उद्योग के भीतर समायोजन** - दीर्घकालीन में, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत समायोजन प्रक्रिया विशुद्ध प्रतियोगिता से मिलती-जुलती होती है। हर फर्म अपनी सीमान्त लागत को अपने सीमान्त आगम के बराबर बनाती है। मांग वक्र अधिक लोचदार होता है और हर फर्म अपनी लागत स्थितियों के अनुसार अपने उत्पादन का समायोजन करती है। वह अपने उत्पादन के पैमाने को बदल सकती हैं यद्यपि हर फर्म का अपना कीमत-उत्पादन स्तर होता है, फिर भी, वह सामान्य स्तर से बहुत भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक फर्म समरूप वस्तु का उत्पादन करती है। इसलिए उसे इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि भिन्नित वस्तु का उत्पादन करने वाले सारे समूह का समस्त कीमत-उत्पादन ढाँचा कैसा है। यदि कुल उत्पादन कुल माँग से बढ़ जाए, तो कीमतें गिर जाएंगी। माँग वक्र, जिसका हर फर्म को सामना करना पड़ता है, नीचे हो जाएगा पहले से नीचे स्तर पर फर्म का LMC वक्र उसके अपेक्षाकृत नए नीचे MR वक्र के बराबर होगा। यदि इस

कीमत-उत्पादन समायोजन की प्रक्रिया में एक फर्म अपने उत्पादन की दीर्घकालीन औसत लागत को पूरा नहीं कर पाती तो वह बंद हो जाएगीऔर समूह को छोड़ देगी क्योंकि दीर्घकालीन में कोई भी फर्म हानि में नहीं हर सकती। इसके विपरीत, यदि कुल माँग वस्तु के कुल उत्पादन से बढ़ जाए तो कीमतें बढ़ जाएँगी। हर फर्म का माँग वक्र उपर को हो जाएगा और फर्म अपनी कीमत और उत्पादन का समायोजन अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर पर करेगी, जहाँ उसका LMC वक्र नए ऊँचे वक्र MR के बराबर होगा। इस प्रकार का समायोजन तब तक होता रहेगा, जब तक समूह की हर फर्म के लाभ सामान्य नहीं हो जाते, जैसा कि चित्र (B) में दिखाया गया है, जब LAC_1 वक्र D_1 वक्र को A_1 बिन्दु पर स्पर्श करता है।

(ii) **प्रवेश खुला रहने पर** - विशुद्ध प्रतियोगिता की भांति एकाधिकारात्मक प्रतियोगी उद्योग में फर्मो के आने या उसे छोड़ जाने की मान्यता को स्वीकार कर लेने पर, समायोजन प्रक्रिया का परिणाम यह होगा कि सब फर्मे केवल सामान्य लाभ ही कमा सकेंगी। यह वास्तविक धारणा है क्योंकि दीर्घकालीन में, कोई भी फर्म केवल सामान्य से अधिक लाभ या फिर हानि नहीं उठा सकती, इसलिए कि प्रत्येक फर्म समान वस्तु का उत्पादन करती है।

यदि एकाधिकारात्मक प्रतियोगी उद्योग में फर्मे सामान्य से अधिक लाभ कमा रही हैं, तो उस समूह में नई फर्मे प्रवेश करेंगी। नई फर्मो के आने से वर्तमान मार्किट अधिक विक्रेताओं में विभाजित हो जाएगीजिससे हर फर्म वस्तु की पहले से कम मात्रा बेचेगी। परिणाम यह होगा कि व्यक्तिगत फर्मो के मांग वक्र नीचे की ओर बाएं को सरक जाएंगे। साथ ही नई फर्मो के आने से मांग बढ़ जाएगीऔर इसलिए साधन-सेवाओं की कीमतें भी, जिससे व्यक्तिगत फर्मो के लागत वक्र ऊपर को सरक जाएंगे। मांग वक्रों के नीचे आने और लागत वक्रों के उपर उठने की यह दोहरी समायोजन प्रक्रिया सामान्य से अधिक लाभों को कम कर देगी। इस प्रकार दीर्घकालीन में, हर फर्म केवल सामान्य लाभ ही कमा सकेगी। इस स्थिति को आमने-सामने चित्र (A) और (B) में दिखाया गया है।

नई फर्मो के आने से पहले फर्म की मांग और लागत स्थितियां प्रकट की गई हैं, जहाँ फर्म वसतु की OQ मात्रा को कीमत QA (=OP) पर बेचती हैं और PABC सामान्य से अधिक लाभ कमाती है। जब समूह में नई फर्मे आ जाती हैं, तो मांग वक्र नीचे की ओर सरक कर D_1 पर आ जाता है और दीर्घकालीन सीमान्त तथा औसत लागत वक्र उपर को सरक कर LMC_1 और LAC_1 बन जाते हैं। परिणाम यह होता है कि दो विरोधी शक्तियां अधिक लाभ को दबाकर समाप्त कर देती हैं। फर्म, मांग वक्र D और दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC_1 के स्पर्श बिन्दु A_1 पर केवल सामान्य लाभ प्राप्त करती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक फर्म पहले (OQ) से कम उत्पादन OQ_1 करती है और अपेक्षाकृत कम कीमत OP_1 पर बेचती है, जिससे उद्योग में नई फर्मो का आना बन्द हो जाता है।

यदि एकाधिकारी प्रतियोगिता में फर्मे अतिरिक्त लाभ नहीं कमा सकतीं, तो वे हानि भी नहीं उठाती रह सकतीं। ऐसी स्थिति में, घाटेवाली फर्मे उद्योग को छोड़ जाएंगी। पूर्ति कम हो जाएगीऔर कीमत बढ़ जाएगी। दूसरी ओर, फर्मो के चले जाने से साधनों की बहुतायत हो जाएगी। अन्त में, कीमत में व द्धि और लागत में कमी हानि को समाप्त कर देगी। जहाँ प्रत्येक फर्म और समस्त उद्योग दीर्घकालीन सन्तुलन में होंगे।

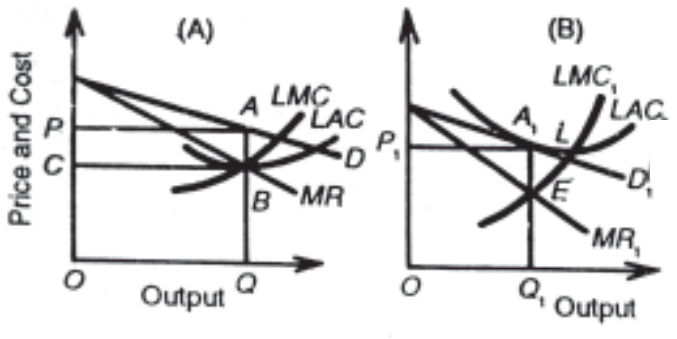

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन सन्तुलन विश्लेषण एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य को प्रकट करता है कि प्रत्येक फर्म और समस्त उद्योग इष्टतम उत्पादन को उत्पादन नहीं करेंगे। अतिरिक्त क्षमता हमेशा रहेगी क्योंकि फर्में प्लांटों का चालन उनकी अधिकतम क्षमता तक नहीं कर सकतीं और इस प्रकार बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताओं का पूरी तरह उपभोग नहीं कर सकतीं। जहां मांग वक्र D_1 और LAC_1 वक्र का स्पर्श बिन्दु निम्नतम स्तर L पर नहीं है, बल्कि A_1 है जिसके दाईं ओर L है। इसका कारण यह है कि मांग वक्र क्षैतिज नहीं है, नीचे की ओर दाएं को ढालू है। इस प्रकार एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन में भी प्रत्येक फर्म की ऐसी क्षमता होती है जिसका उपयोग नहीं हो पाता।

चैम्बरलिन का समूह संतुलन

उद्योग और समूह की धरणा

'उद्योग' शब्द एक समरूप वस्तु का उत्पादन करने वाली सब फर्मो को निर्दिष्ट करता है। परन्तु एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत वस्तु विभेदीकृत होती है। इसलिए एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में 'उद्योग' कोई नहीं होता बल्कि एक समान वस्तु का उत्पादन करने वाली फर्मो का 'समूह' होता है। प्रत्येक फर्म एक भिन्न वस्तु उत्पादित करती है और वह स्वयं उद्योग होती है। चैम्बरलिन बहुत निकट संबंधित वस्तुओं को उत्पादित करने वाली फर्मो को इकट्ठा करता है और उन्हें वस्तु समूह कहता है। इस प्रकार, उद्योग को परिभाषित करते हुए, चैम्बरलिन फर्मो को वस्तु समूहों में इकटठा करता है, जैसे कारें, सिगरेट, आदि। चैम्बरलिन के अनुसार, ''शुरू-शुरू में आयोजित समूह वह है जिसे साधरणतया अपूर्ण प्रतियोगी मार्किट का रचित समझा जाता है : कई मोटर गाड़ियां बनाने वाले, बर्तन बनाने के उत्पादक, पत्रिका-प्रकाशक या जूतों के परचून के व्यापारी..... समूह के भीतर प्रत्येक उत्पादक एकाधिकारी है, फिर भी, उसकी मार्किट उसके प्रतियोगियों के साथ परस्पर जुड़ी हुई है और उसे उनसे किसी प्रकार भी अलग नहीं किया जा सकता।'' वस्तु समूह में प्रत्येक वस्तु की प्रति-लोच ऊँची होती है तथा जब समूह की अन्य वस्तुओं की कीमत में परिवर्तन होता है, तो वह मांग वक्र को सरका (शिफ्ट) देती है। एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में उद्योग के मांग और लागत वक्र अस्पष्ट धारणाएं बन जाते हैं, क्योंकि कीमतों का एक ''झुण्ड'' होता है। ट्रिफिन के अनुसार, ''वस्तु विभेदीकरण उद्योग की धारणा को उसकी निश्चितता और उसकी उपयोगिता से वंचित कर देता है।''

समूह संतुलन सिद्धांत

चैम्बरलिन दीर्घकालीन समूह संतुलन का अपने सिद्धांत का विकास दो प्रकार के मांग वक्रों DD और dd को मानकर करता है। समस्त समूह का मांग वक्र DD है। यह इस मान्यता पर खींचा गया है कि सभी फर्में एक समान कीमत लेती हैं और समान आकार की हैं। dd एक व्यक्तिगत फर्म का मांग वक्र है। दोनों मांग वक्र विकल्पों को दर्शाते हैं जिनका एक फर्म सामना करती है जब वह अपनी कीमत को बदलती है। चित्र में फर्म OQ उत्पादन OP कीमत पर बेच रही है। वस्तु विभेदीकरण के साथ समूह का सदस्य होने के रूप में, फर्म अपनी कीमत को दो कारणों से कम करके अपनी बिक्री को बढ़ा सकती है। प्रथम, वह महसूस करती है कि अन्य फर्में अपनी-अपनी कीमतें कम नहीं करेंगी, और दूसरे, वह अन्य फर्मों के कुछ ग्राहक आकर्षित कर लेंगी। दूसरी ओर, यदि वह अपनी कीमत OP से उपर बढ़ाती हैं, तो उसके विक्रय कम हो जाएंगे क्योंकि समूह में अन्य फर्में अपनी कीमतें बढ़ाने में इसका अनुसरण नहीं करेंगी और वह दूसरी फर्मों के पास अपने कुछ ग्राहक खो देंगी। इसलिए फर्म का अधिक लोचदार मांग वक्र dd होता है। परन्तु यदि वस्तु समूह में सभी फर्में एक साथ ही अपनी कीमतों को घटा (या बढ़ा) देती हैं, तो फर्म का कम लोचदार मांग वक्र DD होगा।

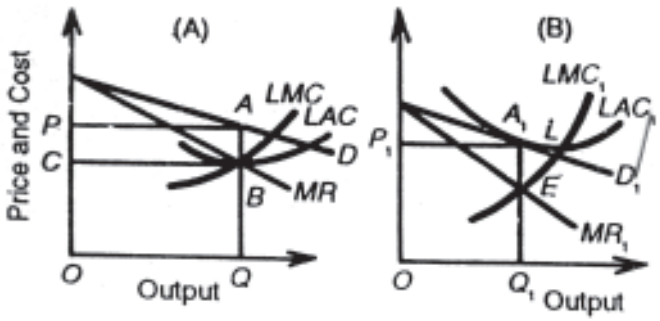

इसकी मान्यताएं

चैम्बरलिन का समूह संतुलन विश्लेषण निम्न मान्यताओं पर आधारित है :

1. फर्मों की संख्या अधिक है।
2. क्रेताओं की संख्या अधिक है।
3. प्रत्येक फर्म एक विभेदीकृत वस्तु का उत्पादन करती है जो अन्य फर्मों की वस्तु के निकट स्थानापन्न है।
4. प्रत्येक फर्म की स्वतंत्र कीमत नीति है और वह पर्याप्त लोचदार मांग वक्र का सामना करती है, और यह भी आशा रखती है कि उसके प्रतिद्वंद्वी उसके कार्यों पर ध्यान नहीं देंगे।
5. प्रत्येक फर्म को अपने मांग और लागत वक्रों की जानकारी है।
6. साधन कीमतें और प्रौद्योगिकी स्थिर है।
7. प्रत्येक फर्म का उद्देश्य अल्पकालीन और दीर्घकालीन लाभ अधिकतम करना है।
8. किसी भी एक अकेली फर्म द्वारा किया गया कीमत का समायोजन समस्त समूह को प्रभावित करता है परन्तु प्रत्येक फर्म जिस प्रभाव को अनुभव करती है, वह नगण्य होता है। यह संगति मान्यता है।

9. जैसा कि चैम्बरलिन ने कहा है, ''शौर्यपूर्ण मान्यता यह है कि समस्त समूह में सब वस्तुओं के मांग और लागत वक्र दोनों ही समरूप होते हैं..... केवल इस बात की जरूरत होती है कि उपभोक्ता के अधिमान विभिन्न वस्तुओं में समान रूप से बँट जाएँ और कि उनका अन्तर इतना अधिक नहीं होना चाहिए जिससे कि लागत में बहुत अन्तर पड़ जाए।'' यह समता मान्यता है।

ये मान्यताएं और DD और dd दोनों प्रकार के मांग वक्र दिए होने पर, चैम्बरलिन फर्मों के समूह संतुलन की व्याख्या करता है। वह इन मांग वक्रों के अनुरूप MR वक्रों को और LAC के अनुरूप LMC वक्र को नहीं खींचता है।

(क) **अल्पकाल संतुलन** - अल्पकाल एक स्थिति है जिसमें किसी भी फर्म की अपनी कीमत और उत्पादन परिवर्तित करने की प्रव त्ति नहीं पाई जाती है। अल्पकाल संतुलन फर्म के MR और MC की समानता पर होता है। फिर, कीमत-उत्पादन संयोग उस बिन्दु पर होता है जहां फर्म का मांग वक्र dd समूह मांग वक्र DD को काटता है। फर्म OQ उत्पादन को OP कीमत पर बेचती है, जब इसका मांग वक्र dd समूह मांग वक्र DD को A बिन्दु पर काटता है। OP (= QA) कीमत पर फर्म लाभ अधिकतमीकरण उत्पादन OQ करती है क्योंकि उसका MC वक्र MR वक्र को BA के बीच किसी भी जगह काटता है। फर्म PABC असामान्य लाभ कमाती है। क्योंकि यह मान्यता है कि सभी फर्मों के लागत और मांग वक्र समरूप हैं।

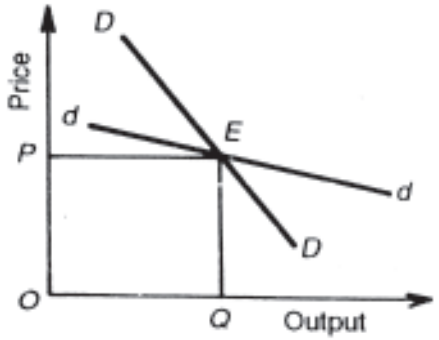

(ख) **दीर्घकाल संतुलन** - वास्तव में, चैम्बरलिन का समूह संतुलन दीर्घकाल से संबद्ध है जिसका वह दो स्थितियों के अन्तर्गत अध्ययन करता है : (i) जब नई फर्मों का प्रवेश बंद होता है, और (ii) जब नई फर्मों का प्रवेश खुला होता है। हम इनकी नीचे विवेचना करते हैं।

(i) प्रेवश बंद के साथ संतुलन

नई फर्मों का प्रवेश बंद है। दीर्घकालीन संतुलन का समायोजन बिंदु A से प्रारंभ होता है, जहां dd और DD वक्र एक दूसरे को काटते हैं और QA (= OP) अल्पकालीन संतुलन कीमत स्तर है जिस पर प्रत्येक फर्म वस्तु की OQ मात्राएं बेचती है। इस कीमत-उत्पादन स्तर पर प्रत्येक फर्म सामान्य से अधिक लाभ PABC कमाती है। dd वक्र को अपना मांग वक्र समझते हुए प्रत्येक फर्म अपनी बिक्री और लाभों को बढ़ाने के उद्देश्य से अपनी कीमत में कमी कर देती है, इस मान्यता पर कि अन्य फर्में इसके प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं करेंगी। लेकिन अपनी मांग की मात्रा को dd वक्र के साथ बढ़ाने की बजाए वह DD वक्र के साथ गति करती है।

वास्तव में, प्रत्येक फर्म एक ही ढंग से सोचती और कार्य करती है जिससे DD वक्र के साथ-साथ dd वक्र नीचे को सरक जाता है। नीचे की ओर dd वक्र का सरकना तब तक चलता रहता है, जब तक कि वह d_1d_1 वक्र का रूप धारण नहीं कर लेता है और LAC वक्र को A_1 बिन्दु पर नहीं स्पर्श करती है। यह दीर्घकालीन संतुलन स्थिति है, जहां प्रत्येक फर्म केवल Q_1A_1 कीमत पर OQ_1 वस्तु की मात्रा बेच कर केवल सामान्य लाभ ही कमाएगी। यदि d_1d_1 वक्र LAC वक्र के नीचे सरक जाता है, तो प्रत्येक फर्म हानि उठाएगी। दीर्घकाल में, ऐसी स्थिति नहीं चलती रह सकती और हानि को समाप्त करने के लिए कीमत को बढ़ाकर Q_1A_1 स्तर पर लाना पड़ेगा। इस प्रकार, प्रत्येक फर्म इष्टतम आकार की होगी और LAC वक्र द्वारा व्यक्त इष्टतम प्लांट चलाएगी।

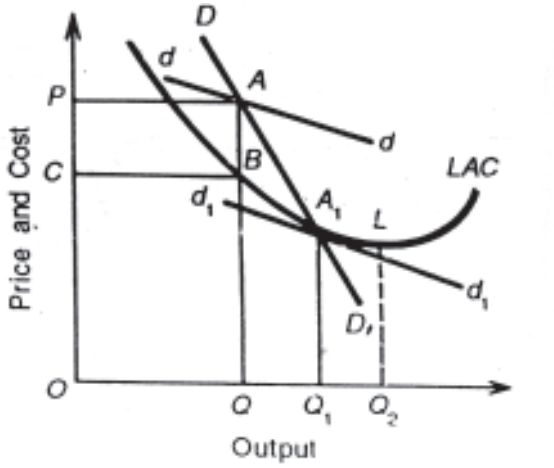

(ii) प्रवेश खुला के साथ संतुलन

समूह संतुलन की व्याख्या करने के लिए जब नई फर्में समूह में प्रवेश करती हैं। कीमत समयोजन dd वक्र के साथ दिखाए गए हैं और फर्मों के प्रवेश को DD वक्र के सरकने से दिखाया गया है।

मान लीजिए कि प्रारंभिक अल्पकालीन संतुलन S पर है जहाँ DD और dd वक्र काटते हैं और वर्तमान फर्में सामान्य से अधिक लाभ प्राप्त करती हैं। दीर्घकालीन में, नई फर्में समूह में आकर प्रत्येक फर्म की बिक्री को कम कर देती है और मांग वक्र DD को D'D' पर धकेल देती हैं। साथ ही साथ साधनों की कीमतें बढ़ कर लागतों को बढ़ा देता है जिससे नया संतुलन A पर स्थापित होता है, जहां समूह का मांग वक्र D'D' वक्र LAC को स्पर्श करता है। नया कीमत-उत्पादन संयोग QA और QC है। परन्तु यह अधिकतम लाभ का बिन्दु नहीं है। इसलिए प्रत्येक फर्म कीमत घटा देती है dd वक्र D'D' के साथ तब तक नीचे को सरकता जाता है, जब तक d_1d_1 नहीं बन जाता। क्योंकि सब फर्में एक ही साथ, एक-दूसरे के ज्ञान के बिना, कीमतें घटाती रही हैं, नया संतुलन पहले से नीचे संतलन स्तर A_1 पर स्थापित होता है, जहां समूह का मांग वक्र D'D' फर्म के मांग वक्र d_1d_1 को काटता है। इस स्तर पर प्रत्येक फर्म Q_1A_1 कीमत पर वस्तु की OQ_1 मात्रा बेचती है, और क्योंकि LAC वक्र संतुलन बिन्दु से ऊपर स्थित है, इसलिए BCA_1P क्षेत्र द्वारा प्रकट की गई हानि उठाती है।

परन्तु कुछ फर्में देर तक हानि उठाती नहीं रह सकतीं। परिणामस्वरूप, ऐसी फर्में समूह को छोड़ जाएंगी। ऐसा होने पर पूर्ति घट जाती है और मांग बढ़ जाती है। DD वक्र दाईं ओर

को सरक कर D_1D_1 पर आता है और संतुलन A_2 पर स्थापित होता है जहां प्रत्येक फर्म का मांग वक्र d_1d_1 वक्र LAC का स्पर्श करता है। यह समूह की दीर्घकालीन स्थिर संतुलन स्थिति होगी। प्रत्येक फर्म Q_2A_2 कीमत वसूल करेगी, वस्तु को OQ_2 मात्राएं बेचेगी और सामान्य लाभ प्राप्त करेगी।

इस प्रकार समूह संतुलन दो शर्तों से निश्चित होता है : प्रथम, d_1d_1 वक्र अवश्य LAC वक्र का स्पर्श करे, और दूसरे, D_1D_1 वक्र अवश्य स्पर्श-बिन्दु पर d_1d_1 और LAC दोनों वक्रों को काटे। परन्तु d_1d_1 और LAC वक्रों का स्पर्श-बिन्दु इष्टतम उत्पादन का स्तर नहीं है। LAC वक्र का न्यूनतम बिन्दु L स्पर्श-बिन्दु A_2 के दाई ओर है क्योंकि मांग वक्र क्षैतिज नहीं है, बल्कि नीचे की ओर ढालू है। इस प्रकार, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत उसमें अतिरिक्त क्षमता होती है। जिससे प्रत्येक फर्म संतुलन में होती है।

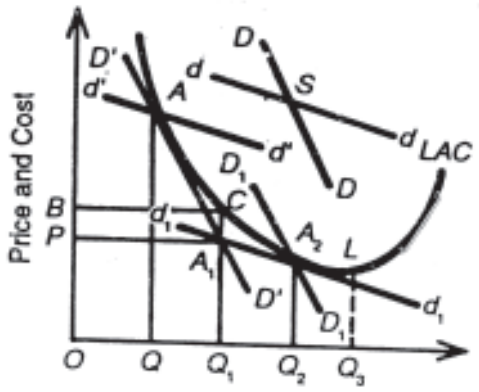

समूह संतुलन की आलोचनाएँ

चैम्बरलिन के समूह संतुलन सिद्धांत की आलोचना उनके अपने अनुयायियों ने ही की है, जैसे रार्ब्ट ट्रिफ्फिन, फ्रिज मैक्लप और आर्थर स्मिथीज।

1. ट्रिफ्फिन ने तो ''समूह'' के विचार को ही अस्वीकार कर दिया है। उसके अनुसार एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का सिद्धांत केवल फर्म के संतुलन की व्याख्या कर सकता है। यह स्थानापन्नों की श्रंखला में, अन्तर को स्पष्ट किए बिना उद्योग के संतुलन की व्याख्या नहीं कर सकता। जब वस्तु विभेदीकरण होता है तो प्रत्येक फर्म स्वयं एक उद्योग होती है। इसलिए उद्योग के मांग और लागत वक्र खींचने के लिए भिन्नित वस्तुओं को जमा करना संभव नहीं है।

2. एण्ड्रयूज ने चैम्बरलिन की आलोचना की उद्योग की धारणा त्याग देने पर की है। उसे अनुसार, उद्योग की धारणा को अस्वीकारना अनावश्यक और अवांछनीय है क्योंकि इसका आर्थिक विश्लेषण और वास्तविक विश्व स्थितियों में बहुत महत्त्व है।

3. आलोचना के विषय में तब भी है जब चैम्बरलैन प्रत्येक फर्म को एकाधिकारात्मक मानता है जिसका अभिप्रायः समूह की वस्तुओं की मांग की कम प्रति-लोच है, और दूसरी ओर, जब वह धारणा बना लेता है कि समूह की फर्मे करीब-करीब परस्पर-निर्भर हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि समूह की वस्तुओं में मांग की प्रति-लोच अधिक है। यह विश्लेषण को अस्पष्ट बनाता है क्योंकि यह एक ही समूह में वस्तुओं के लिए लोच के सही मूल्य को स्पष्ट नहीं करता।

4. यह समझा जाता है कि चैम्बरलिन की मांग और लागत दोनों वक्रों की समरूपता की ''शौर्यपूर्ण'' मान्यता चैम्बरलिन द्वारा दी गई स्पर्श-शर्त से मेल नहीं खाती। सब फर्मों की मांग और लागत वक्रों की समझपता का मतलब है कि वस्तु समरूप है और उस स्थिति में मांग वक्र क्षैतिज होता है तथा स्पर्श LAC के न्यूनतम बिन्दु पर होता है। इसलिए समरूपता की मान्यता ठीक नहीं है।

5. इसी प्रकार, एक फर्म के कीमत-समायोजन के अन्य फर्मों पर नगण्य प्रभाव की संगति मान्यता भी स्पर्श-हल से मेल नहीं खाती। वास्तव में, विशुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत, जहाँ माँग वक्र क्षैतिज हो, वहीं व्यक्तिगत फर्म की कीमत-नीति का प्रभाव नगण्य हो सकता है। इसलिए स्पर्श-बिन्दु औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु पर होगा।

6. सबसे कड़ी आलोचना फैलनर ने की है जो एकाधिकारिक प्रतियोगिता के साथ-साथ चैम्बरलिन के वस्तु-विभेदीकरण विषयक द ष्टिकोण पर भी आपत्ति करता है। विशुद्ध प्रतियोगिता की भाँति, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता भी दुर्लभ मार्किट स्थिति है, इस प्रकार वस्तु विभेदीकरण ऐसे मार्किट की विशेषता है जिसमें ''थोड़े प्रतियोगियों में प्रतियोगिता हो''।

7. केल्डॉर ने चैम्बरलिन की उसकी इस मान्यता के लिए आलोचना की है कि फर्में वस्तु समूह में प्रवेश करती हैं। उसके अनुसार, खुले प्रवेश का अर्थ है कि एक फर्म अपने प्रतिद्वंद्वियों की तरह एक पूर्ण समरूप वस्तु का उत्पादन कर सकती है। केल्डॉर का यह तर्क है कि ऐसी स्थिति में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में वस्तु विभेदीकरण के साथ खुला प्रवेश की मान्यता टिक नहीं सकती है।

8. एण्ड्रयूज ने चैम्बरलिन की आलोचना ऋणात्मक ढाल वाला dd मांग वक्र खींचने पर की है। उसके अनुसार, चैम्बरलिन का dd वक्र तब लागू होता है जब एक फर्म अल्पकाल में अन्तिम उपभोक्ताओं को अपनी वस्तु सीधे बेचती है। अल्पकाल के लिए ही उपभोक्ता एक वस्तु के साथ जुड़े रहेंगे जिसकी कीमत उसके निकट स्थानापन्नों से ऊंची होती है। लेकिन दीर्घकाल में, उपभोक्ता कम महंगे स्थानापन्न खरीदेंगे। इसलिए एक नीचे की ओर ढालू मांग वक्र dd केवल दीर्घकाल में ही हो सकता है, यदि उपभोक्ता अविवेकी है।

9. समूह संतुलन के विश्लेषण में dd और DD वक्रों की चैम्बरलिन की प्रस्तावना भी दोषपूर्ण है क्योंकि इससे dd और DD वक्रों में परिवर्तन का संबंध स्पष्ट नहीं होता। परिणाम यह होता है कि समूह में फर्मों की संख्या और आकार पर या कीमत पर अथवा मांग या लागत में परिवर्तन नहीं बताया जा सकता। इस कारण, आर्चिबाल्ड समूह संतुलन के सिद्धांत को अपूर्ण मानता है।

अतिरिक्त क्षमता का सिद्धांत

अतिरिक्त क्षमता का विचार हाल ही में शुरू नहीं हुआ है बल्कि विक्सैल और केर्नस की प्रारंभिक कृतियों में मिलता है। सराफा और श्रीमती रोबिन्सन ने भी इसकी रूपरेखा दी। परन्तु चैम्बरलिन ने बहुत ही व्यवस्थित ढंग से इसका प्रतिपादन किया और चैम्बरलिन का अनुकरण केल्डॉर, काहन, हैरड और कैसल्स ने किया।

अतिरिक्त (या अप्रयुक्त) क्षमता के सिद्धांत का संबंध दीर्घकालीन में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के साथ है। इसकी यह परिभाषा दी जाती है ''दीर्घकालीन में, इष्टतम उत्पादन और वास्तव में प्राप्त किए गए उत्पादन का अन्तर'' अतिरिक्त क्षमता है।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मांग वक्र (AR) दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) को उसके न्यूनतम बिन्दु पर स्पर्श करता है और संतुलन की सब शर्तें पूरी हो जाती हैं : LMC = MR और AR (कीमत) = न्यूनतम LAC। इसका अभिप्रायः यह है कि नई फर्मों का प्रवेश वर्तमान फर्मों को इस बात के लिए विवश करता है कि वे न्यूनतम औसत कुल लागतों के निम्नतम बिन्दु पर अपने उत्पादन के साधनों का सबसे अधिक प्रयोग करें। बिन्दु E पर असाधारण लाभ प्रतियोगिता के कारण समाप्त हो जाएंगे क्योंकि MR=LMC=AR=LAC न्यूनतम बिन्दु E पर और उत्पादन का दक्षतम स्तर OQ होगा जिसका समाज उपभोग करेगा। यह आदर्श अथवा इष्टतम उत्पादन है, जिसका दीर्घकालीन में फर्में उत्पादन करती हैं।

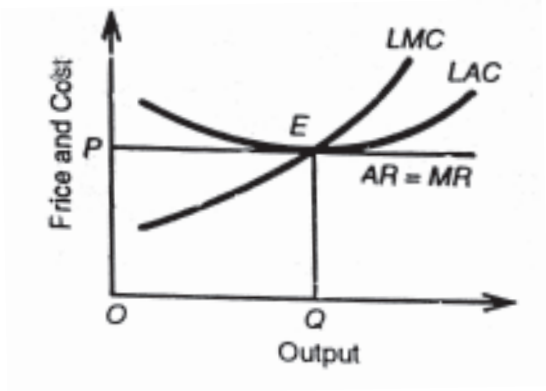

पूर्ण प्रतियोगिता की भांति एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में व्यक्तिगत फर्म के सामने मांग वक्र क्षैतिज नहीं होता, बल्कि नीचे की ओर ढालू होता हैं नीचे की ओर ढालू मांग वक्र LAC वक्र को उसके न्यूनतम बिन्दु पर स्पर्श नहीं कर सकता। संतुलन की दोहरी शर्त LMC=MR=AR(d)= न्यूनतम LAC पूरी नहीं होगी। इसलिए, फर्में जब सामान्य लाभ कमाती हैं, तब भी इष्टतम आकार से कम होंगी। कोई फर्म आदर्श उत्पादन नहीं करना चाहेगी, क्योंकि संतुलन उत्पादन से अधिक उत्पादन करने से सीमान्त आगम (MR) से दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) बढ़ जाएगी। इस प्रकार, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रत्येक फर्म इष्टतम से कम आकार की होगी और वह अतिरिक्त क्षमता के अन्तर्गत कार्य करेगी। जहां एकाधिकारात्मक प्रतियोगी फर्म का मांग वक्र dd है और उसके अनुरूप सीमान्त आगम वक्र MR_1 है। LAC और LMC दीर्घकालीन औसत लागत और सीमान्त लागत वक्र हैं। फर्म बिन्दु E_1 पर संतुलन में है, जहाँ LMC वक्र MC वक्र को नीचे काटता है और Q_1A_1 कीमत पर OQ_1 उत्पादन निश्चित होता है। OQ_1 संतुलन उत्पादन तो है परन्तु आदर्श उत्पादन नहीं है, क्योंकि LAC वक्र को d वक्र बिन्दु A_1 पर स्पर्श करता है, जो न्यूनतम बिन्दु E के बाएं को स्थित है। यदि फर्म OQ_1 से अधिक उत्पादन करने का प्रयत्न करेगी, तो उसे हानि होगी क्योंकि संतुलन बिन्दु E_1 से परे, $LMC>MR_1$ इस प्रकार, फर्म की ऋणात्मक अतिरिक्त क्षमता है जिसे QQ_1 मापता है और एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत काम करते हुए फर्म उसका उपयोग नहीं कर सकती।

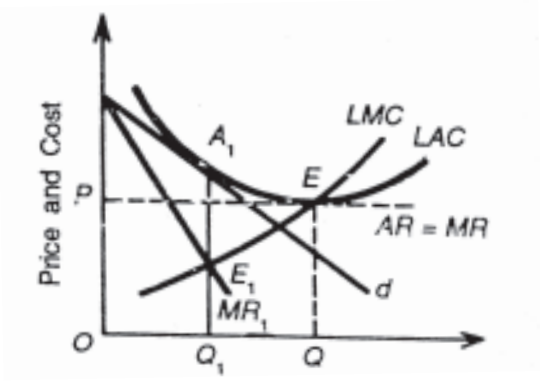

दोनों संतुलन स्थितियों की तुलना प्रकट करती है कि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अनतर्गत कोई भी फर्म अपनी पूरी क्षमता पर काम नहीं कर सकती। चिरकालिक अतिरिक्त क्षमता और अपव्यय रहेंगे। ऐसा इसलिए कि पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा प्रत्येक फर्म कम उत्पादन करती है और अधिक कीमत वसूल करती है। प्रथम, एकाधिकारात्मक प्रतियोगी उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता उत्पादन से कम है $OQ_1<OQ$, दूसरे, एकाधिकारात्मक प्रतियोगी कीमत पूर्ण प्रतियोगिता कीमत से अधिक है $Q_1A_1>QE$।

चैम्बरलिन की अतिरिक्त क्षमता की धारणा

चैम्बरलिन की अतिरिक्त क्षमता की व्याख्या पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत आदर्श उत्पादन से भिन्न है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत आदर्श उत्पादन से भिन्न है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रत्येक फर्म अपने LAC वक्र के न्यूनतम बिन्दु पर उत्पादन करती है और उसका समानांतर मांग वक्र इस बिन्दु पर स्पर्श करता है। उसका उत्पादन आदर्श है और दीर्घकाल में कोई अतिरिक्त क्षमता नहीं है। क्योंकि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत, वस्तु विभेदीकरण के कारण फर्म का मांग वक्र नीचे की ओर ढालू होता है, इसलिए फर्म का दीर्घकालीन संतुलन LAC वक्र के न्यूनतम बिन्दु के बाईं ओर होता है। चैम्बरलिन के अनुसार, जब तक एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत वस्तु समूह में प्रवेश की बिन्दु से आदर्श उत्पादन होता है। ऐसा इस कारण है कि उपभोक्ता वस्तु विभेदीकरण चाहते हैं और वे एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्राप्य विविध प्रकार की वस्तुओं और उनके चुनाव के बदले बढ़ी हुई उत्पादन लागतें स्वीकार करने को तैयार होते हैं। चैम्बरलिन बल देता है कि कीमत औसत उत्पादन लागत और न्यूनतम LAC के बीच अन्तर वस्तु विभेदीकरण के कारण ''भिन्नता की लागत'' को व्यक्त करता है। वह औसत उत्पादन लागत में इस अन्तर को ''अतिरिक्त क्षमता'' का माप नहीं मानता है।

चैम्बरलिन के अतिरिक्त क्षमता विश्लेषण को दो भागों में बांटा जा सकता है : (i) कीमत प्रतियोगिता के साथ समूह में प्रवेश, और (ii) गैर-कीमत प्रतियोगिता के साथ प्रवेश।

इसकी मान्यताएं

चैम्बरलिन की अतिरिक्त क्षमता की धारणा निम्न मान्यताओं पर आधारित है :

(i) फर्मो की संख्या बहुत है।

(ii) प्रत्येक फर्म अन्य फर्मो से स्वतंत्र रहकर, समान वस्तु का उत्पादन करती है।

(iii) वह कम कीमत वसूल करके अन्य फर्मो के ग्राहकों को आकर्षित कर सकती है और कीमत बढ़ाकर अपने कुछ ग्राहकों को खो देगी।

(iv) वस्तुओं के विभिन्न प्रकारों में उपभोक्ताओं के अधिमान काफी समानता से बँटे होते हैं।

(v) वस्तु पर किसी फर्म का संस्थागत-एकाधिकार नहीं होता।

(vi) फर्मो को प्रवेश करने की स्वतंत्रता है।

(vii) सब फर्मों के दीर्घकालीन लागत वक्र समरूप तथा U के आकार के होते हैं।

(i) कीमत प्रतियोगिता के साथ अतिरिक्त क्षमता

ये मान्यताएं दी होने पर, सक्रिय कीमत प्रतियोगिता के साथ चैम्बरलिन की आदर्श उत्पादन और अतिरिक्त क्षमता की धारणाओं की व्याख्या की गई है। मान लीजिए की प्रारंभिक अल्पकालीन संतुलन S बिन्दु पर है जहां फर्मो का मांग वक्र dd और समूह मांग वक्र DD काटते हैं, और वर्तमान फर्मे सामान्य से अधिक लाभ कमा रही हैं। ऐसा इस कारण कि बिन्दु S के अनुरूप OP कीमत वक्र LAC के उपर है। असामान्य लाभों से आकर्षित होकर दीर्घकाल में नए फर्मे समूह में प्रवेश करती हैं। वे समान वस्तुएँ उत्पादित करती हैं जिससे समूह में प्रत्येक फर्म की बिक्री कम हो जाती है और समूह का मांग वक्र DD से D'D' पर सरक जाता है। नया संतुलन A बिन्दु पर स्थापित होता है, जहां D'D' वक्र LAC वक्र को स्पर्श करता है। फर्मो में प्रतियोगिता से कीमत कम होती है तथा प्रत्येक फर्म को d'd' वक्र D'D' वक्र के साथ-साथ नीचे की ओर d_1d_1 पर सरकता जाता है जब तक कि यह LAC वक्र के साथ A_1 बिन्दु पर स्पर्श नहीं करता है। साथ ही D'D' वक्र भी नीचे की ओर D_1D_1 पर धकेल दिया जाता है और यह d_1d_1 वक्र स्थिति है। प्रत्येक फर्म Q_1A_1 कीमत पर आदर्श उत्पादन OQ_1 कर रही है, सामान्य लाभ कमा रही हैं और इसमें कोई अतिरिक्त क्षमता नहीं है। पूर्ण प्रतियोगिता उत्पादन और एकाधिकारात्मक प्रतियोगी उत्पादन में उत्पादन अन्तर Q_1Q_2 लागत अन्तर है, जो वस्तु विभेदीकरण में उपभोक्ता विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का आनंद लेने के लिए देने को तैयार हैं। इस प्रकार, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत खुला प्रवेश और सक्रिय कीमत प्रतियोगिता होने के साथ अतिरिक्त क्षमता नहीं होती है।

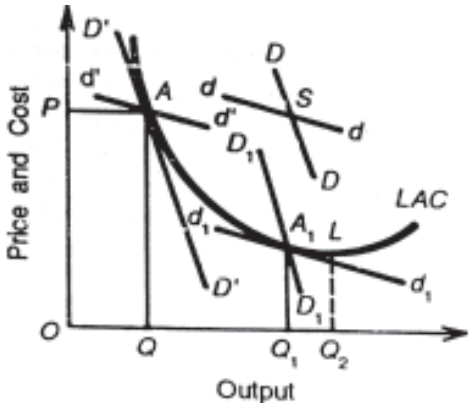

(ii) कीमत-रहित प्रतियोगिता के साथ अतिरिक्त क्षमता

चैम्बरलिन के अनुसार, अतिरिक्त क्षमता तब पाई जाती है, जब एक एकाधिकारात्मक प्रतियोगी मार्किट में फर्मो के खुले प्रवेश के बावजूद सक्रिय कीमत प्रतियोगिता नहीं होती है। ऐसी स्थिति के लिए वह निम्न कारण देता है : (i) कीमत निश्चित करते समय फर्मे मांग का

ध्यान न रखकर लागतों का ध्यान रखें। (ii) वे अधिकतम लाभों का उद्देश्य न रखकर साधारण लाभों को ही लक्ष्य बनाएं। (iii) वे ''जियो और जीने दो'' की नीति अपनाएं और कीमत में कमी न करें। (iv) वे रस्मी या गुप्त समझौते, खुली कीमत संस्थाएं, निष्ठा एवं वफादारी के निर्माण के लिए व्यापार संस्था क्रियाएं, और कीमत को कायम रखना अपना सकती हैं। (v) उत्पादक व्यापारियों से समान कीमतें ले सकते हैं। (vi) कीमत कटौती से ध्यान हटाने के लिए फर्मे वस्तु का अत्यधिक विभेदीकरण अपना सकती है। (vii) व्यावसायिक या पेशेवराना नैतिकता फर्मो को सक्रिय कीमत प्रतियोगिता करने से रोकती है।

जब इन घटकों के पाए जाने के कारण कोई कीमत प्रतियोगिता नहीं होती, तो dd वक्र का कोई महत्त्व नहीं रह जाता और फर्मो का संबंध केवल समूह के वक्र DD से होता है। मान लीजिए कि प्रारंभिक अल्पकालीन संतुलन S बिन्दु पर है जहां फर्मे सामान्य से अधिक लाभ कमा रही हैं क्योंकि बिन्दु S के अनुरूप OP कीमत LAC वक्र उपर है। समूह में नई फर्मो के प्रवेश से, असामान्य लाभ फर्मो में प्रतियोगिता के कारण समाप्त हो जाएंगे। नई फर्मे मार्किट को आपस में बांट लेंगी DD वक्र बाई ओर सरकर D'D' हो जाएगा, जहां वह LAC वक्र के साथ A बिन्दु पर स्पर्श करेगा। यह बिन्दु A समूह में सभी फर्मे सामान्य लाभ कमा रही हैं। प्रत्येक फर्म QA (=OP) कीमत पर OQ मात्रा का उत्पादन और विक्रय कर रही है। चैम्बरलिन के विश्लेषण में, OQ_1 ''आदर्श उत्पादन'' है। परन्तु कीमत प्रतियोगिता के बिना समूह में प्रत्येक फर्म OQ उत्पादन कर रही है। इस प्रकार कीमत-रहित एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में QQ_1 अतिरिक्त क्षमता व्यक्त करती है।

प्रोफेसर चैम्बरलिन निष्कर्ष देते हैं कि जब दीर्घकालीन में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमतें नहीं गिरतीं और लागतें बढ़ जाती हैं तो इन दोनों को अतिरिक्त उत्पादन क्षमता को बढ़ाकर बराबर किया जाता है क्योंकि इसमें स्वयं शोधकर्त्ता नहीं होती। उत्पादकों द्वारा गलत गणना या मांगे और लागत स्थितियों में अचानक परिवर्तन हो जाने से, विशुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत ऐसी अतिरिक्त क्षमता प्रकट हो सकती हैं परन्तु यह अतिरिक्त क्षमता एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की विशेषता है, जहां दीर्घकालीन में हानि के साथ इसका विकास हो सकता है। कीमतें हमेशा लागत को पूरा करती हैं और हो सकता है कि कीमत प्रतियोगिता के कार्यकरण की असफलता के माध्यम से यह वास्तव में स्थायी और सामान्य बन जाए। अतिरिक्त क्षमता को कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। परिणाम होता है, ऊँची कीमतें तथा अपव्यय। ये एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अपव्यय होते हैं।

इसकी आलोचनाएं

चैम्बरलिन के अतिरिक्त क्षमता सिद्धांत की आलोचना इसकी अनावश्यक मान्यताओं के कारण की गई है।

1. यह मान्यता ठीक नहीं है कि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक फर्म द्वारा किए गए कीमत परिवर्तन का अन्य फर्मो पर समान रूप से विस्तार हो जाएगा। क्योंकि प्रत्येक उत्पादक अपने क्षेत्र में एकाधिकारी है, इसलिए वह अन्य उत्पादकों को निश्चित करने का प्रयत्न करेगा जिस पर उसे अधिकतम लाभ की आशा होगी। इसलिए, जो उत्पादक अपनी वस्तु की कीमत में परिवर्तन करता है, उसका मांग वक्र खींचते समय अन्य उत्पादकों की कीमतों और वस्तुओं को दिया हुआ नहीं माना जा

सकता। अतः उसका वास्तविक मांग वक्र अनिश्चित होता है, क्योंकि उसके लिए कीमत और मांगी गई मात्रा में वास्तविक संबंध स्थापित करना संभव नहीं।

2. यह मान्यता है कि नई फर्मो के आने से, दीर्घकालीन में, मांग वक्र नीचे को चला जाता है, परंतु सिद्धांत संभावी प्रतिद्वन्द्वियों पर ध्यान देने में असफल रहता है, क्योंकि समूह में संभावी प्रवेशकों के भय से उत्पादक केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त करना चाहेगा। हो सकता है कि इससे उसका मांग वक्र अधिक लोचदार हो जाए और वह अतिरिक्त क्षमता की स्थिति में ही रहे।

3. फिर यह मान्यता भी अवास्तविक है कि उपभोक्ताओं के अधिमान समान रूप से वितरित होते हैं और नई फर्मो के आने से अतिरिक्त लाभ समाप्त हो जाएंगे। इसका अभिप्राय है कि मांग और लागत वक्र स्पर्श करते हैं। परन्तु पैमाने की मितव्ययिताओं के होते हुए, व्यक्तिगत फर्म के मांग और लागत वक्र स्पर्श करते हैं। परन्तु पैमाने की मितव्ययिताओं के होते हुए, व्यक्तिगत फर्म के मांग और लागत वक्र एक-दूसरे को स्पर्श नहीं कर सकते, जब संभाव्य प्रतियोगिता हो। स्पर्शिता की शर्त केवल उसी समय पूरी होती है जब पैमाने की मितव्ययिताओं का अभाव हो और मांग वक्र क्षैतिज बन जाएं। परन्तु ऐसा केवल पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत ही हो सकता है। इसलिए यदि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में पैमाने की मितव्ययिताएं बिल्कुल न हों (अर्थात् LAC वक्र क्षैतिज हों) तो अतिरिक्त क्षमता नहीं होगी। लेकिन लाभ समाप्त हो जाएंगे जब तक मांग वक्र लोचदार न हो कि पूर्ण लोचदार।

4. संस्थानिक-एकाधिकार के अभाव की मान्यता से फर्मो के लागत वक्रों की समानता की मान्यता प्राप्त होती है जो एक वस्तु को दूसरे से पूर्णतया अलग करती है। परन्तु संस्थानिक-एकाधिकार हमेशा वर्तमान रहते हैं और प्रमुख रूप से मार्किट अपूर्णताओं के कारण होते हैं। यदि वस्तु के भिन्न-भिन्न प्रकारों के लिए उपभोक्ताओं के अधिमान दिए हुए हों, तो सांस्थानिक-एकाधिकार अतिरिक्त क्षमता को रोकने का प्रयत्न करेगा। परन्तु नई फर्मो के लिए पुरानी फर्मो के अतिरिक्त लाभों को समाप्त करना संभव नहीं होगा।

5. यह मान्यता भी ठीक नहीं है कि प्रत्येक फर्म केवल एक अकेली वस्तु का उत्पादन करती है। वास्तव में, उत्पादक किसी एक अकेली वस्तु के उत्पादन में नहीं बल्कि कई भिन्नित वस्तुओं के उत्पादन में विशेषीकरण करते हैं। वस्तु की दो या अधिक किस्मों का उत्पादन करके फर्म अविभाज्यताओं को पार कर लेती है और इस प्रकार अपव्यय और अतिरिक्त क्षमता से बच जाती है। क्योंकि प्रत्येक फर्म एक ही वस्तु की विभिन्न किस्में उत्पादित करती हैं, इसलिए प्रत्येक फर्म द्वारा उत्पादन की गई प्रत्येक किस्म का भाग कम हो जाएगा। वस्तु के प्रत्येक प्रकार के लिए मांग वक्र बहुत अधिक लोचदार हो जाएगा, कीमतें बढ़ जाएंगी और लाभ समाप्त हो जाएंगे। इस प्रकार अतिरिक्त क्षमता न्यूनतम हो जाएगी।

6. जब एक समूह के बीच फर्मो के विलय या संगठन के लिए दबाव बढ़ता है, तो एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का स्पर्श हल समाप्त हो जाता है। यदि फर्मो में विलय की प्रव त्ति पाई जाती है, तो वे संयुक्त विभेदीकृत वस्तु को अधिक सस्ती और

लाभदायकता से उत्पादित कर सकती हैं। वे उत्पादन के साज-समान को आपस में बांट सकती हैं और अधिक समय के लिए प्रयोग कर सकती है। क्योंकि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में विभेदीकृत वस्तुएं निकट स्थानापन्न होती हैं, इसलिए उनका उत्पादन करने हेतु उत्पादन सुविधाओं के थोड़े-से भाग को परिवर्तित करने की आवश्यकता होती है। अतः फर्मो के विलय या संगठन की ओर दबाव से स्पर्श हल समाप्त हो जाएगा।

7. हैरड के अनुसार, अतिरिक्त क्षमता की धारणा से अभिप्राय है कि उद्यमी असंगतिपूर्ण कार्य करता है क्योंकि वह अपने उत्पादन का निर्धारण करने के लिए अल्पकालीन MR वक्र और दीर्घकालीन MC वक्र का प्रयोग करता है। तब वह ऐसी कीमत निश्चित करता है कि नई फर्मे प्रवेश करती हैं और उसके MR वक्र को नीचे सरका देती है। इस प्रकार यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि उद्यमी विवेकी है परन्तु साथ ही अदूरदर्शी है। इसलिए वह फर्म का इष्टतम उत्पादन निर्धारित करने के लिए दीर्घकालीन MR और MC वक्रों के प्रयोग का सुझाव देता है और यह निष्कर्ष देता है कि अपूर्ण प्रतियोगिता आमतौर पर अतिरिक्त क्षमता करने की प्रव त्ति नहीं रखती है। इसलिए अर्थशास्त्रियों को इस सामान्यतया स्वीकृत सिद्धांत को त्याग देना चाहिए।

इसका महत्व

इन सीमाओं के बावजूद अतिरिक्त क्षमता के सिद्धांत का व्यावहारिक महत्त्व बहुत है। प्रोफेसर केल्डॉर ने इसे ''बौद्धिक रूप से आश्चर्यजनक'', ''बहुत ही प्रतिभासम्पन्न'' और ''क्रांतिकारी सिद्धांत'' कहा है।

यह परंपरा के विरुद्ध एक नई संभावना को प्रदर्शित करता है कि पूर्ति में व द्धि होने से कीमत में व द्धि हो सकती है। ''प्रतियोगिता के अपव्यय'', जो अब रहस्य बने हुए थे, इस सिद्धांत द्वारा खोल दिए गए हैं। उनका संबंध एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता से है, न कि पूर्ण प्रतियोगिता से जैसा कि पुराने अर्थशास्त्री गलती से समझते थे। यह इस प्रस्थापना की सत्यता को स्थापित करता है कि पूर्ण प्रतियोगिता और बढ़ते प्रतिफल मेल नहीं खाते और निस्सन्देह इस बात को सिद्ध करता है कि घटती लागतों का परिणाम, अन्त में, एकाधिकार या एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता है। जब एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता होती है, तो फमों की संख्या अधिक होगी। परन्तु प्रत्येक फर्म का आकार उसकी अपेक्षा छोटा होगा जो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत होता है। कम दक्षता की फर्मो के बढ़ने से इससे संसाधनों का अपव्ययी प्रयोग होता है। ऐसी फर्मे आवश्यकता से अधिक मानव-शक्ति, उपकरण और कच्चे माल का प्रयोग करती हैं। इसका परिणाम होता है अतिरिक्त उपयोग न की गई क्षमता।

अधिकतर अतिरिक्त क्षमता का कारण स्थिर कीमतें होती हैं। परन्तु जहाँ कीमतें स्थिर नहीं होतीं, वहां नए प्रतियोगियों के प्रवेश से मांग की लोच बढ़ जाएगी, कीमतें और लाभ कम हो जाएंगे। यदि उपभोक्ताओं में क्रियाहीनता वर्तमान है, तो लागतों से कीमतें अधिक हो जाएंगी और लाभों के कम होने की संभावना नहीं होती। इस प्रकार, जैसा कि आज की दुनिया में होता है, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्मो की अतिरिक्त क्षमता और अपव्यय तो रहेंगे ही।

विक्रय लागतें (Selling Costs)

विज्ञापन, विक्रय कला, मुफ्त सैम्पल और सेवा, घर-घर जाकर प्रचार करने इत्यादि पर व्यय विक्रय लागतें होती हैं। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, जहां वस्तुएं समरूप होती हैं, विक्रय की कोई समस्या नहीं होतीं। फर्म बाजार की चालू कीमत पर अपनी वस्तु की कितनी भी चाहे मात्रा बेच सकती है। इसलिए, विज्ञापन की जरूरत नहीं होती। हां, यदि सब फर्मे अधिक विक्रय करना चाहती हैं, तो उनमें प्रतियोगिता से कीमतें गिरेंगी, जब तक कि नया संतुलन बिन्दु नहीं आ जाता। इस कीमत पर प्रत्येक फर्म जितनी भी मात्राएं बेचना चाहे, बेच सकती है।

एकाधिकार के अन्तर्गत भी विक्रय लागतों की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वहाँ प्रतियोगिता नहीं होती। परन्तु कभी-कभी एकाधिकारी अपनी वस्तु का विज्ञापन देता है ताकि लोग उसकी वस्तु की कीमत और प्रयोग से परिचित हो जाएँ और उसकी वस्तु को खरीदते रहें।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत जहाँ वस्तु विभेदीकृत होती है, बिक्री को बढ़ाने के लिए विक्रय लागतें आवश्यक हैं। उपभोक्ताओं को अन्य वस्तुओं के अधिमान में एक वस्तु खरीदने के लिए राजी करने में ये लागतें उठाई जाती हैं। चैम्बरलिन ने उनकी यह परिभाषा दी है ''ये वे लागतें होती हैं जो मांग वक्र की स्थिति या आकार को बदलने के लिए उठाई जाती हैं'' वह सब प्रकार के विज्ञापनों को विक्रय लागतों का समानार्थक समझता है। परन्तु आजकल की व्यापार शब्दावली में ''विक्रय लागत'' शब्द विज्ञापन से अधिक व्यापक है और इसमें विज्ञापन के अतिरिक्त विक्रय करने वालों का खर्च, विक्रेताओं को प्रदर्शन के लिए छूट, मुफ्त सेवा, मुफ्त सैम्पल, इनामी कूपन और उपहार आदि शामिल हैं।

विज्ञापन दो प्रकार का होता है, सूचनात्मक और प्रतियोगी। सूचनात्मक विज्ञापन का उद्देश्य होता है क्रेताओं को वस्तु के अस्तित्त्व और प्रयोग से परिचित करना। समाचारपत्रों में बहुत-से विज्ञापन इस प्रकार के होते हैं। वे वस्तु के बारे में सामान्य व तकनीकी सूचना देते हैं और इस बात का प्रयत्न नहीं करते कि क्रेताओं को अपनी वस्तु खरीदने के लिए तैयार करें। इस प्रकार के विज्ञापन साधारण क्रेता के लिए होते हैं ताकि वह वस्तु के विभिन ब्राँडों में से विचारशील चुनाव कर सकें। वनस्पति घी संस्था, चाय बोर्ड या कॉफी बोर्ड के विज्ञापन, सूचनात्मक प्रकार के होते हैं क्योंकि वे समूह की सब फर्मो की बिक्री बढ़ाने में मदद देते हैं।

दूसरी ओर, प्रतियोगी विज्ञापन का उद्देश्य होता है अन्य फर्मो की वस्तुओं के मुकाबले में एक विशेष फर्म की वस्तु की बिक्री बढ़ाना। आकर्षक पोस्टर, छोटे चलचित्र, व्यावसायिक-प्रसारण जिनमें एक प्रसिद्ध फिल्म स्टार एक विशेष वस्तु की तारीफ में कुछ कहता हुआ और क्रेताओं से उसी वस्तु को उसके श्रेष्ठतम होने के कारण खरीदने का आग्रह करता हुआ दिखाया जाता है प्रेरक या प्रतियोगी विज्ञापन होता है। इसका उद्देश्य, अन्य फर्मो की लागत पर एक फर्म की बिक्री को बढ़ाना होता है। हम इस प्रकार की विक्रय लागतों पर विचार करेंगे।

इन दो प्रकार के विज्ञापनों में से पहले सामाजिकता की द ष्टि से उन सब स्थितियों में लाभदायक है जहां विज्ञापित वस्तुएँ उपयोगी हों। इस प्रकार सूचनात्मक विज्ञापन ज्ञान बढ़ाते हैं। परन्तु, प्रतियोगी विज्ञापन सामाजिक द ष्टि से अच्छे नहीं होते हैं क्योंकि उनसे साधनों की व्यर्थ हानि होती है।

उत्पादन लागतें बनाम विक्रय लागतें

क्योंकि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रत्येक फर्म को विक्रय लागतें खर्च करनी पड़ती हैं, इसलिए फर्म की कुल लागतों में उत्पादन लागतें और विक्रय लागतें शामिल होती हैं। उत्पादन लागतों में वे सब खर्च शामिल होते हैं, जो एक विशेष वस्तु को बनाने और उसे उपभोक्ताओं के लिए गन्तव्य स्थान पर भेजने में पड़ते हैं। ये सब साधनों, जैसे-भूमि, श्रम, पूँजी और संगठन की सेवाओं पर किए गए कुल खर्चे हैं जोकि वस्तु के निर्माण में लगते हैं और इनमें साथ ही पैकिंग, यातायात और सेवा के दाम भी शामिल होते हैं। विक्रय लागतें वे होती हैं जो एक विशेष वस्तु के लिए उपभोक्ता के अधिमान को बदलने के लिए उठाई जाती हैं। इनका उद्देश्य होता है, दी हुई कीमत पर एक वस्तु की मांग को दूसरी की अपेक्षा बढ़ाना। प्रोफेसर चैम्बरलिन दोनों में अन्तर इन शब्दो में करता है, ''पहली (उत्पादन) लागतें उपयोगिताएँ बनाती हैं ताकि माँग को पूरा किया जा सके और दूसरी मांग वक्रों को ही बनाती और सरकाती हैं।'' स्पष्टतया ''वे लागतें जो एक वस्तु के मांग वक्र को बदलती हैं, विक्रय लागतें होती हैं और जो उसे नहीं बदलती, उत्पादन लागतें होती हैं'' दूसरे शब्दों में, ''वस्तु को मांग के अनुकूल बनाने की लागतें उत्पादन लागतें और मांग को वस्तु के अनुकूल बनाने की लागतें विक्रय लागतें होती हैं।

पर, उत्पादन लागतों और विक्रय लागतों में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, बाँधने के लिए प्रयोग में आने वाले काचाभ पत्र (Cellophone wrapper) की लागत क्या है? उत्पादन लागत है या विक्रय लागत? वास्तव में, ''समस्त कीमत व्यवस्था में शुरू से अन्त तक दोनों प्रकार की लागतें आपस में बँधी रहती हैं जिससे किसी भी स्तर पर, जैसे निर्माण के स्तर पर, यह नहीं कहा जा सकता कि एक कहाँ पर समाप्त होती है और दूसरी कहाँ से शुरू होती है।''

विक्रय लागत वक्र और उसका उत्पादन लागतों पर प्रभाव

विक्रय लागतों का वक्र आर्थिक विश्लेषण का एक औजार है जिसका प्रचलन चैम्बरलिन ने किया। यह वस्तु की प्रति इकाई औसत विक्रय लागत का वक्र होता है। यह औसत लागत वक्र से मिलता-जुलता और उसी की भांति U के आकार का होता है। परिवर्ती अनुपातों के नियम के प्रभाव के अन्तर्गत विक्रय लागत वक्र पहले गिरता है, न्यूनतम बिन्दु पर पहुँच जाता है और फिर ऊपर गति करता है।

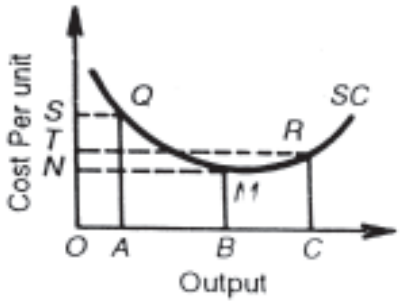

SC विक्रय लागतों का वक्र है। AQ वस्तु की OA इकाइयों के विक्रय की औसत लागत है, क्योंकि विक्रय की कुल लागत OAQS है। SC वक्र के न्यूनतम बिन्दु M पर OB इकाइयों के विक्रय की प्रति इकाई लागत BM है जो SC वक्र के QM के बीच के भाग के किसी भी बिन्दु

से कम है। इस M बिन्दु के बाद OC इकाइयों की औसत विक्रय लागत RC है, क्योंकि इस मात्रा को बेचने की कुल लागत OCRT है। वास्तव में, प्रति इकाई विक्रय लागत और कुल विक्रय लागत न्यूनतम बिन्दु M के बाद बढ़ जाती है। चैम्बरलिन के अनुसार, वक्र का आकार और वह सही बिन्दु, जहां से इसकी गति ऊपर की होगी, इस बात पर निर्भर करते हैं कि वस्तु की प्रकृति, उसकी कीमत, प्रतियोगी स्थानापन्नों की प्रकृति क्या है तथा विक्रेताओं की आय और विज्ञापन द्वारा अपनी रुचियों में परिवर्तन करने की अनिच्छा कितनी है। पर, विक्रय लागत वक्र के चढ़ते भाग की एक सीमा है। जब बिक्री संत प्ति बिन्दु पर पहुँच जाती है, तो अन्त में यह अनुलम्ब हो जाती है।

शुरू में, विक्रय लागतों की क्रमिक मात्राएँ लगाने से कुल बिक्री में अनुपात से अधिक व द्धि होती है जिससे औसत विक्रय लागत कम होती जाती है। इसके दो कारण हैं। प्रथम, क्योंकि एक वस्तु के किसी विशेष ब्रॉंड, मान लीजिए ब्रुक बांड चाय, के प्रति उपभोक्ताओं का विशेष लगाव होता है, इसलिए उपभोक्ताओं की उसी को खरीदने की आदत होती हैं उसी वस्तु की दूसरी प्रकार, मान लीजिए, टाटा चाय के पक्ष में विज्ञापन का उद्देश्य उनकी आदत को तोड़ना और ब्रुक बांड चाय से उपभोक्ताओं के लगाव को समाप्त करना होता है। हो सकता है कि समाचारपत्रों में प्रतिमास एक दो बार दिए गए विज्ञापनों का उपभोक्ताओं पर कोई प्रभाव न पड़े। उपभोक्ताओं को अपने ब्रॉंड के अनुकूल ढालने के लिए उत्पादक को अधिक कुल विक्रय खर्च उठाना पड़ेगा। जो समाचारपत्रों में बार-बार विज्ञापन देने, व्यावसायिक प्रसारण करने, मुफ्त सैम्पलों, उपहार या इनामी कूपनों के रूप में हो सकता है। केवल तभी विक्रय बढ़ेगा।

दूसरे, विक्रय को बढ़ाने पर जितना अधिक कुल व्यय किया किया जाता है, दक्ष विक्रय करने वालों, आकर्षक विज्ञापनों और पैकिंग आदि के रूप में विज्ञापन की उतनी ही आन्तरिक मितव्ययिताएँ प्रकट हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, जितनी अधिक बार और जितना बड़ा विज्ञापन होगा, प्रति प ष्ठ विज्ञापन की दरें उतनी ही कम होंगी। इस प्रकार ये दोनों घटक एक निश्चित बिन्दु तक प्रति इकाई औसत विक्रय लागतों को कम करेंगे।

इस क्रांतिक उत्पादन बिन्दु M के बाद, औसत विक्रय लागतें बढ़ने लगती हैं और इसके फिर, दो कारण हैं : एक, पक्के ग्राहकों को इसे खरीदते रहने की प्रेरणा देने के लिए क्रमशः बढ़ते हुए विक्रय व द्धि खर्च उठाने पड़ते हैं। पुराने ग्राहकों को उसी वस्तु को खरीदते रहने को प्रेरित करने के प्रयत्नों पर विक्रय को बढ़ावा देने के लिए अधिक खर्च की आवश्यकता होती है, केवल इसलिए नहीं कि ग्राहकों को किसी अन्य वस्तु को खरीदने से रोका जाए बल्कि इसलिए भी कि पुराने ग्राहक उसी वस्तु की अधिक मात्रा खरीदें। दूसरे, नए ग्राहकों और उसी वस्तु के अन्य ब्रॉंड से लगाव रखने वालों को आकर्षित करने के लिए अधिक विक्रय व्यय की जरूरत होती हैं समाचारपत्रों में बार-बार विज्ञापनों के द्वारा तथा रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन के माध्यम से उन्हें इस विशेष ब्रॉंड की श्रेष्ठता का विश्वास दिलाना पड़ता है। स्वभाविक है कि ऐसे प्रयत्नों पर अधिक विक्रय खर्च की जरूरत होती है। इन शक्तियों के परिणामस्वरूप वस्तु की प्रति इकाई औसत विक्रय लागत बढ़ जाती है।

हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि एक वस्तु पर किए विक्रय व्यय की प्रतिक्रिया में शक्तियों के दो समूह कार्यशील होते हैं जो एक निश्चित बिन्दु तक बढ़ते प्रतिपफल और उसके बाद घटते प्रतिफल देते हैं।

आनुपातिक विक्रय लागतें
(Propotional Selling Costs)

औसत विक्रय लागत का प्रभाव यह होता है कि उत्पादन की औसत कुल लागत बढ़ जाती है। यदि औसत विक्रय लागत बेची गई वस्तु के अनुपात में हो, तो औसत कुल लागत वक्र औसत उत्पादन लागत वक्र से उपर समान दूरी पर स्थित होगा। उदाहरण के लिए, जब एक टूथपेस्ट के साथ, इरेस्मिक के पांच ब्लेडों का पैकट मुफ्त दिया जाता है, तो टूथपेस्ट के बनाने वालों द्वारा उठाई गई पाँच इरेस्मिक ब्लेडों की लागत आनुपातिक विक्रय लागतों को प्रकट करती है। टूथपेस्ट की प्रति इकाई उत्पादन लागत और ब्लेडों के एक पैकेट की प्रति इकाई विक्रय लागत को जोड़ने पर 'एक टूथ-पेस्ट और पाँच ब्लेड' की प्रति इकाई कुल लागत बनती है। ब्लेडों की लागत के बराबर औसत उत्पादन लागत बढ़ जाएगीऔर तब तक उतनी ही रहेगी जब तक फर्म इस अनुपात में विक्रय करती रहेगी। जहाँ APC वक्र औसत उत्पादन लागत को प्रकट करता है और AC औसत कुल लागत वक्र [=औसत उत्पादन लागत (APC) + औसत विक्रय लागत (ASC)] है। क्योंकि विक्रय लागतें शुरू से अन्त तक आनुपातिक हैं, इसलिए उत्पादन के सब स्तरों पर वे समान रहेंगी। OQ उत्पादन पर वे BA हैं और उत्पादन के OM स्तर भी वे पहले जितनी DC(=BA) ही रहती हैं, और औसत कुल लागत MC(=QA) भी उतनी रहती हैं यह ध्यान रहे कि APC और AC वक्रों के अनुरूप MC वक्र भी उसी अनुपात में गति करेंगे।

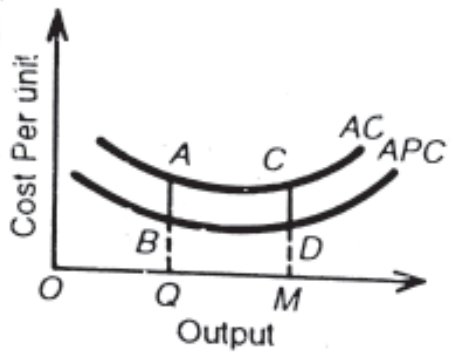

हमने यह मान लिया है कि उत्पादक आनुपातिक विक्रय लागतें उठाता रहता है परन्तु यह वास्तविक नहीं है। वास्तव मे, एक उत्पादक केवल थोड़े समय समय के लिए ही आनुपातिक विक्रय लागतें अपनाएगा जब तक कि उसका पुराना स्टॉक समाप्त नहीं हो जाता, और इस प्रक्रिया में नए ग्राहकों को भी आकर्षित करता है और पुराने ग्राहकों को वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने को भी प्रेरित करता है।

स्थिर विक्रय लागतें

स्थिर प्रकार की भी विक्रय लागतें होती हैं जैसे एक महीने के लिए किसी छोटे चलचित्र को किसी सिनेमा में चलवाना या केवल रविवार को समाचारपत्र में विज्ञापन देना। शुरू में प्रति इकाई औसत कुल लागत अधिक होगी और बाद में ज्यों-ज्यों उत्पादन बढ़ेगा यह घटती

जाएगीऔर फिर एक बिन्दु के बाद बढ़ना शुरू करेगी और फिर इससे आगे उत्पादन में व द्धि होने पर औसत कुल लागत वक्र धीरे-धीरे औसत उत्पादन लागत वक्र के अधिक निकट होता जाता है। इसका मतलब है कि विक्रय में व द्धि होने पर स्थिर विक्रय लागतों का एक बड़े उत्पादन पर फैलाव हो जाता है और बाद में कम होता जाता है, जहाँ APC औसत उत्पादन लागत वक्र को प्रकट करता है और AC औसत कुल लागत वक्र को जिसमें विक्रय लागत भी शामिल है। APC और AC के अनुरूप MC वक्र उसी प्रकार निकाले जाएँगे और उनका अपनी क्रमिक औसत लागत वक्रों से वही सम्बन्ध होगा। जोड़ देने पर वे एक मिश्रित MC वक्र बना देंगे।

कभी-कभी कुछ सिलाई और ड्राईक्लीनिंग की फर्में अपने उपभोक्ताओं को फ्री होम-डिलिवरी की सेवा प्रदान करती हैं। परन्तु ऐसी स्थितियों में, औसत और सीमान्त लागतों पर होम-डिलिवरी सेवा के प्रभाव का हिसाब लगाना कठिन होता है।

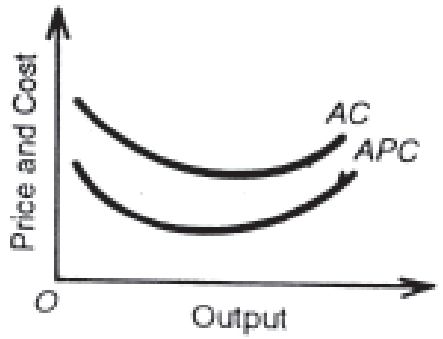

मांग वक्र पर विक्रय लागतों को प्रभाव (Influence of Selling Costs on the Demand Curve)

विक्रय लागतों का उद्देश्य एक फर्म या समूह की वस्तु के लिए माँग वक्र को प्रभावित करना होता है। उत्पादक अपनी बिक्री बढ़ाने के लिए विक्रय लागत उठाता है। इसलिए सब विक्रय लागतें व्यक्तिगत विक्रेता के मांग वक्र को दाईं ओर ले जाती हैं। इस विश्लेषण में मांग वक्र के बाईं ओर जाने का तो बिल्कुल सवाल ही पैदा नहीं होता। जब फर्म की वस्तु के लिए मांग वक्र दाएँ को सरकता है, तो वह इन दो में से किसी एक का परिणाम होता है कि या तो पुराने ग्राहक, उसी वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने को प्रेरित होते हैं, या विज्ञापन से आकर्षित होकर नए ग्राहक उस वस्तु को खरीदने लगे हैं विक्रय लागतों को उठाने से पहले के मांग वक्र की अपेक्षा समस्त नया मांग वक्र कम या अधिक लोचदार हो सकता है, या उसके कुछ भाग कम या अधिक लोचदार हो सकते हैं। यदि क्रेताओं को अन्य वस्तुओं के मुकाबले में इस वस्तु की श्रेष्ठता का विश्वास हो गया है, तो पुराने मांग वक्र की अपेक्षा नया मांग वक्र उपर के भागों में कम लोचदार होगा। इस फर्म की वस्तु की कीमत बढ़ने से इसके बहुत कम ग्राहक टूटेंगे। दूसरी ओर, यदि वस्तु की ओर पुराने तथा नए ग्राहक अधिक आकर्षित होते हैं, परंतु साथ ही अधिक कीमत देने को तैयार नहीं हैं, तो नया मांग वक्र अपने नीचे के भाग में बहुत अधिक लोचदार होगा। इसके अतिरिक्त, पुराने और नए ग्राहकों के क्रय स्वभाव भी मांग वक्र के आकार को प्रभावित करते हैं। यदि वे वस्तु परिवर्तन की बजाए कीमत परिवर्तन से अधिक प्रभावित होते हैं, तो नया मांग वक्र बहुत ही लोचदार होगा। इसके विपरीत, यदि वे कीमत परिवर्तन से बहुत प्रभावित नहीं होते, तो पुराने मांग वक्र की अपेक्षा नया मांग वक्र कम लोचदार होगा। जो विश्लेषण आगे दिया जा रहा है, उसमें आसानी के लिए सरल रेखा मांग

वक्रों को लिया गया है। जब पुराने मांग वक्र के समानान्तर नया मांग वक्र खींचा जाता है, तो अपेक्षाकृत ऊँचे वक्र की, प्रत्येक कीमत स्तर पर, मांग की लोच कम होगी। इसका मतलब है कि उपभोक्ताओं को इस वस्तु की श्रेष्ठता का विश्वास हो चुका है और वे ऊँची कीमत देने को तैयार हैं।

विक्रय लागतों के अन्तर्गत कीमत-उत्पादन निर्धारण
(Price-output Determination under Selling Costs)

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत अपने उत्पादन की अधिक मात्रा बेचने के लिए एक व्यक्तिगत फर्म के सामने कई चुनाव होते हैं। वह वस्तु की कीमत को कम करके ऐसा कर सकती है, वह वस्तु की गुणात्मकता में सुधार कर सकती है, विक्रय को बढ़ावा देने वाले अधिक प्रयत्नों को अपना सकती है, या फिर एक साथ इन तीनों तरीकों का सहारा ले सकती है या एक का अन्य से मिश्रण कर सकती है, परन्तु हम केवल विक्रय लागतों पर विचार करेंगे। लेकिन यह समस्या भी जटिल है क्योंकि दो आयाम के चित्र में, प्रत्येक कीमत पर उत्पादन के प्रत्येक स्तर को व्यक्त करना, और AR, MR, MC और AC वक्रों को दिखाना जटिल बन जाता है। अतः सरलता के लिए, मांग वक्र और औसत कुल लागत वक्रों को औसत उत्पादन लागत वक्र के साथ-साथ लिया गया है। आगे जो विश्लेषण दिया जा रहा है, उसमें फर्म या समूह की कीमत-उत्पादन नीति पर विक्रय लागत के प्रभाव की चर्चा है।

(क) विक्रय लागतों के अन्तर्गत फर्म का संतुलन (Firm's Equilibrium under Selling Costs)

यह मान लिया जाता है कि जब एक फर्म विक्रय लागत उठाती है, तो (i) इसका मांग वक्र ऊपर की ओर दाएं को चला जाता है, (ii) औसत कुल लागत वक्र औसत उत्पादन लागत वक्र से ऊपर स्थित होता है और (iii) फर्म अधिकतम शुद्ध लाभ प्राप्त करती है।

शुद्ध लाभ = (कीमत × उत्पाद) - (उत्पादन लागत + विक्रय लागत)

अर्थात् नए मांग वक्र और औसत कुल लागत वक्र गुणा उस कीमत पर बेची गई वस्तु की इकाईयों की संख्या।

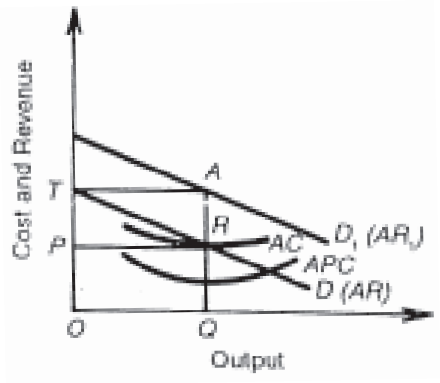

1. **कीमत परिवर्तन, उत्पादन मात्रा और विक्रय लागतें स्थिर हैं** - यह मानकर कि केवल कीमत में परिवर्तन होता है और बिक्री स्थिर रहती है, हम पहले आनुपातिक विक्रय लागतों को विषय को लेते हैं। D(AR) मूल मांग वक्र है और D_1 (AR_1) नया

मांग वक्र है। APC औसत उत्पादन लागत वक्र है और AC कुल औसत लागत वक्र जिसमें विक्रय लागत भी शामिल है। फर्म QA कीमत पर अपने उत्पादन OQ को अधिकतम करती है और PRAT क्षेत्र द्वारा मापे गए शुद्ध लाभ प्राप्त करती है।

2. **विक्रय लागतें स्थिर, कीमत और मात्रा बदलते हैं** - मान लीजिए कि एक फर्म अपनी वस्तु का विज्ञापन देने में रु. 1000 खर्च करती है। हर बार मुद्रा की इतनी मात्रा खर्च करने पर इसकी वस्तु के लिए मांग वक्र ऊपर की ओर दाएँ को चला जाता है। जिससे वह पहले से अधिक मात्रा बेच लेता है और अधिक लाभ प्राप्त करती है। APC उत्पादन लागत वक्र है और हर बार रु. 1000 रुपए विज्ञापन पर खर्च करने से कुल औसत लागत वक्र AC_1 और AC_2 बन जाते हैं। विक्रय लागत खर्च करने से पहले D(AR) मूल मांग वक्र है तथा नये मांग वक्र $D_1 (AR_1)$ और $D_2 (AR_2)$ हैं। मूल संतुलन स्थिति वह है जब OP कीमत पर वस्तु की OA मात्रा बिकती है। फर्म सामान्य से अधिक TSRP लाभ प्राप्त करती है। अब जब पहली बार विक्रय लागत खर्च की जाती है, तो संतुलन-स्थिति कीमत OP_1 पर OB उत्पादन के विक्रय द्वारा $T_1S_1R_1P_1$ लाभ देती है। विज्ञापन में रु. 1000 और खर्च करने पर वस्तु की OC मात्राएं OP_2 पर बिकती है और लाभ बढ़कर $T_2S_2R_2P_2$ हो जाता है इसी प्रकार 1000 रु० खर्च करती चलेगी, जब तक इससे कुल आगम में कुल लागत की अपेक्षा अधिक व द्धि होती है और लाभ अधिकतम नहीं होता। यदि फर्म उस स्तर के बाद विज्ञापन पर और खर्च करती है, तो लागत की अपेक्षा आगम में कम व द्धि होगी। विक्रय लागत बढ़ाने से फर्म को लाभ की बजाए हानि होगी। फर्म उस अधिकतम लाभ को पाने के लिए विज्ञापन पर और खर्च नहीं करेगी।

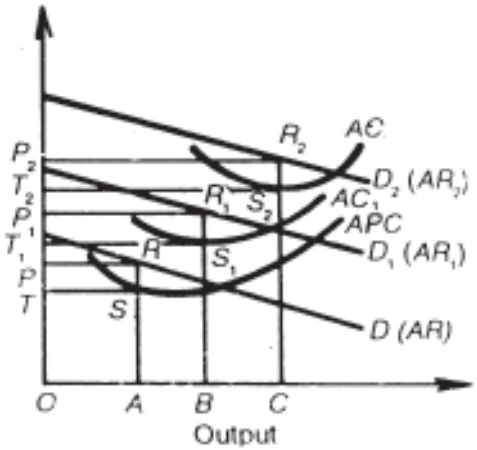

(ख) विक्रय लागतों के साथ समूह संतुलन (Group Equilibrium with Selling Costs)

विक्रय लागतों के साथ समूह संतुलन की मान्यताएं वहीं हैं जो एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत हैं परन्तु केवल इतना अन्तर है कि औसत लागत वक्र की बजाय हम उस औसत लागत वक्र को, जिसमें विक्रय लागत भी शामिल होती है, लेते हैं। समूह में सब फर्मो के लिए मांग वक्रों, उत्पादन लागत वक्रों, और औसत लागत वक्रों को समरूप मान लिया जाता है। फर्म के संतुलन की भांति हम केवल विक्रय लागतों के साथ समूह संतुलन पर विचार करेंगे।

1. **कीमत-परिवर्तन, उत्पादन मात्रा और विक्रय लागतें स्थिर हैं** - मान लीजिए कि समूह में प्रत्येक फर्म समान विक्रय लागतें उठाती है जिसमें कुल औसत लागत वक्र AC उत्पादन लागत वक्र APC से ऊपर शुरू से अन्त तक समान दूरी पर स्थित रहता है। मूल मांग वक्र D है। प्रत्येक फर्म AP कीमत पर अपनी वस्तु की OA मात्रा बेचती है और केवल सामान्य लाभ प्राप्त करती है। अब प्रत्येक फर्म विज्ञापन पर एक निश्चित मात्रा खर्च करके अधिक लाभ कमाने के लिए विक्रय को बढ़ाने की योजना बनाती है। परिणामस्वरूप मांग वक्र ऊपर को सरक कर D_2 बन जाता है। इस प्रक्रिया में प्रत्येक फर्म OQ कीमत पर OB मात्रा बेचकर LMNQ लाभ प्राप्त करती है। इन लाभों से आकर्षित होकर नई फर्में समूह में आ जाएंगी या वर्तमान फर्में अधिक उत्पादन करेंगी। इससे मांग वक्र D_2 नीचे की ओर सरक कर D_1 हो जाएगा और AC को R बिन्दु पर स्पर्श करेगा। इस स्थिति में प्रत्येक फर्म पहले से ऊँची कीमत AR पर पहलेवाला उत्पादन OA बेचती है।

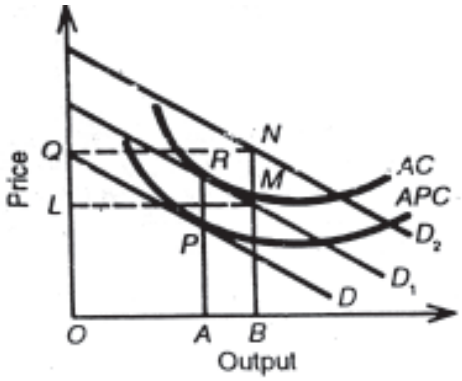

2. **वस्तु परिवर्तित होती है, कीमत और विक्रय लागत स्थिर रहती है** - इस स्थिति में मान्यताएँ वहीं हैं जो समूह-संतुलन के अन्तर्गत हैं। सब फर्मो के लागत वक्र समरूप हैं और वे समान कीमत पर विक्रय करती हैं। जब एक फर्म स्थिर विक्रय लागतें उठाती है, तो वह सामान्य से अधिक लाभ कमाती है। परन्तु वे लाभ अस्थायी होते हैं क्योंकि या तो नई फर्में भी अपनी वस्तु के विज्ञापन पर उतनी ही मात्रा खर्च करें, तो वे कीमत रेखा और औसत लागत वक्र, जिसमें विक्रय लागत भी शामिल है, के स्पर्श बिन्दु पर पहुँच जाएंगी। इस प्रकार सब फर्में सामान्य लाभ प्राप्त करेंगी।

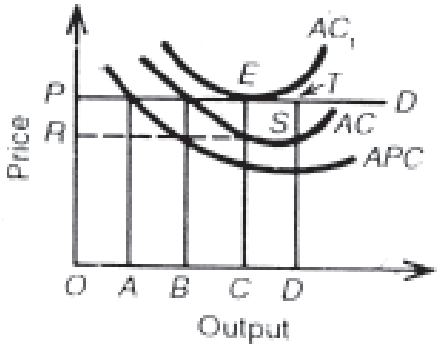

जहाँ APC उत्पादन तथा AC मिश्रित उत्पादन विक्रय लागत वक्र है। PD स्थिर कीमत वक्र को प्रकट करता है। विक्रय खर्च से पहले, समूह का विक्रय वस्तु की OA मात्राएं गुणा समूह

में फर्मो की संख्या के बराबर बेचता है। मान लीजिए कि एक फर्म अधिक विक्रय तथा अधिक लाभ के लिए विज्ञापन का सहारा लेती है जिससे वह AC वक्र पर आ जाती है। इस प्रकार वह अन्य फर्मो के ग्राहकों को आकर्षित कर लेती है और अपनी वस्तु की OD मात्रा बेचकर RSTP के बराबर अतिरिक्त लाभ का उपभोग करती है। इसलिए, अन्य फर्में उसका अनुकरण करेंगी और विज्ञापन पर खर्च करेंगी। इससे AC वक्र उपर को सरक कर AC_1 वक्र बन जाएगा और कीमत रेखा PD को E पर स्पर्श करेगा। समूह के लिए यह सामान्य लाभ की स्थिति होगी, जिसका विक्रय समूह की OC मात्राएं गुणा समूह में फर्मो की संख्या होगी। फर्में OB मात्रा पर भी संतुलन में हो सकती हैं। परन्तु यह अधिकतम उत्पादन का स्तर नहीं है, क्योंकि AR और AC के बीच स्पर्श की शर्त पूरी नहीं होती। इसलिए, अधिक विक्रय के लिए फर्में अधिक विज्ञापन देना चाहेंगी, जब तक कि ये संतुलन बिन्दु E पर नहीं पहुँच जातीं। अन्त में, वे केवल सामान्य लाभ प्राप्त करती हैं, परन्तु बिक्री अधिक कर लेती हैं।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में संसाधन आवंटन की समस्या अथवा अपव्यय

आर्थिक दक्षता या कल्याण के द ष्टिकोण से, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में अनेक अपव्ययों जैसे अत्रयुक्त या अतिरिक्त क्षमता, संसाधनों के कुआवंटन, विज्ञापन, वस्तु विभेदीकरण आदि द्वारा आर्थिक दक्षता को दुर्बल करती है। इन्हें प्रतियोगिता के अपव्यय भी कहा जाता है क्योंकि उन्हें ''एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता के अपव्यय'' मानना अधिक उपयुक्त है। जैसा कि प्रोफेसर चैम्बरलिन ने लक्ष्य किया है, ''प्रतियोगिता के बहुत सारे तथा कथित अपव्यय वास्तव में विशुद्ध प्रतियोगिता के अपव्यय नहीं हैं अपितु एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अपव्यय हैं।'' कुछ अपव्ययों की नीचे चर्चा की जा रही है।

1. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का एक महत्त्वपूर्ण अपव्यय तो यह है कि फर्में प्रतियोगी विज्ञापन पर खर्च करती है। अत्यधिक विज्ञापन लागतों और कीमतों में व द्धि करते हैं। पैकिंग, रंग, महक, डिजाइन आदि पर और दूरदर्शन, रेडिया, सिनेमा तथा समाचारपत्रों आदि जैसे माध्यमों पर किया गया व्यय अनावश्यक वस्तु-विभेद उत्पन्न करता है। परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं के मन में कुछ वस्तुओं की विशेष किस्मों के पक्ष में तर्कहीन अधिमान उत्पन्न हो जाते हैं और उपभोक्ता अन्य फर्मो की लागत पर एक फर्म के विक्रय बढ़ा देते हैं। सभी फर्में प्रतियोगी विज्ञापन पर भी खर्च उठाती हैं ताकि वे अपने-अपने ग्राहकों को अपनी वस्तु के ब्रॉंड से बांधकर रख सकें। परन्तु इस तरह का समस्त व्यय सामाजिक द ष्टि से अपव्ययपूर्ण है।

2. प्रतियोगिता का दूसरा अपव्यय विविध प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन है जो प्रत्येक फर्म करती है। ऐसा कृत्रिम अथवा काल्पनिक अन्तर उत्पन्न करके किया जाता है ताकि एक विक्रेता की अपेक्षा दूसरे विक्रेता की वस्तुओं में भेद किया जा सके। उसी वस्तु का वही उत्पादक रंग, डिजाइन, महक, पैकिंग आदि बदलकर ऐसा करता है। उदाहरण के लिए, चाय की ब्रुक बॉंड कम्पनी चाय के ग्रीन लेबल, रैड लेबल, यैलो लेबल आदि ब्रैंड बेचती हैं इस प्रकार प्रत्येक फर्म अपने ग्राहकों के लिए अनेक प्रकार तथा किस्मों का विविध श्रेणीकृत उत्पादन करती है और उन्हें चकरा देती है केवल

एक प्रकार की वस्तु बनाने और एक जैसी कीमतें वसूल करती हैं। इस प्रकार, अनेक ब्रैंड, स्टाइल, डिजाइन आदि उपभोक्ता को चकरा देते हैं और लागतों एवं कीमतों में व द्धि करते हैं जिससे वस्तु मंहगी हो जाती है। इससे साधनों का अपव्यय होता है और आर्थिक दक्षता को हानि पहुंचाती है।

3. क्रॉस परिवहन पर किया जाने वाला व्यय भी एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का एक अन्य अपव्यय है। प्रत्येक उत्पादक प्रयत्न करता है कि वह अपनी वस्तुओं को विनिर्माण स्थान के निकट बाजारों की बजाए दूरस्थ बाजारों में बेचे। इसमें भारी परिवहन लागतें और विज्ञापन तथा प्रचार पर भी व्यय शामिल होते हैं। इन व्ययों को बचाने और कीमतों को घटाने की बजाए, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्में परिवहन एवं विज्ञापन पर खर्च उठाने को अधिमान देती हैं। यह स्पष्ट रूप से साधनों का अपव्यय होता है।

4. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत, अदक्ष फर्मों की संख्या बहुत अधिक होती है। प्रत्येक फर्म द्वारा ली गई कीमत उसकी दीर्घकालीन सीमांत लागत से अधिक होती है क्योंकि AR और MR दोनों वक्र एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में नीचे की ओर ढालू होते हैं। फर्म की संतुलन स्थिति होती है : कीमत $= LAC > LMC = MR$। इसलिए मार्किट में फर्मों को संसाधन कम आवंटित होते हैं और अर्थव्यवस्था में वे कुआवंटित होते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, दीर्घकालीन में सभी फर्म दक्षतम आकार वाली होती हैं क्योंकि कीमत $= LAC = LMC = MR$। फिर, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत, एक अदक्ष फर्म को अपनी कीमत घटानी पड़ेगी ताकि वह अधिक विक्रय करे और विस्तार कर सके। इसके लिए उसे अपनी कीमत घटानी पड़ेगी ताकि वह अधिक विक्रय करे और विस्तार कर सके। इसके लिए उसे अपनी प्रति इकाई औसत लागतें घटानी पड़ेंगी। परन्तु हो सकता है कि एक अदक्ष फर्म इस स्थिति में न हो कि वह अपनी प्रति इकाई औसत लागतें घटा सकें और अपनी कीमत कम कर सके। अतः इस प्रकार की फर्में अपने ग्राहकों की सद्भावना पर निर्भर करती हैं। वे ग्राहक या तो अज्ञान के कारण, या फिर परिवहन लागतों के कारण उन अधिक दक्ष फर्मों तक नहीं जाना चाहते जो कि वही वस्तु कम कीमत पर बेचती हैं। परन्तु इस तरह की अदक्ष फर्मों का अस्तित्त्व सामाजिक अपव्यय है।

5. अन्तिम, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में सभी फर्मों के पास अतिरिक्त क्षमता होती है। क्योंकि एक एकाधिकारात्मक प्रतियोगी फर्म में सभी फर्मों के पास अतिरिक्त क्षमता होती है। क्योंकि एकाधिकारात्मक प्रतियोगी फर्म का मांग वक्र नीचे की ओर ढाल वाला होता है, इसलिए इसका LAC वक्र के साथ स्पर्श बिन्दु सदैव इसके न्यूनतम बिन्दु से बाई ओर होगा। इस प्रकार, जब फर्म दीर्घकालीन संतुलन में होती है, तो वह अपने इष्टतम प्लांट का कम प्रयोग करती है। इससे उद्योग में आवश्यकता से अधिक फर्में पाई जाती हैं। सभी फर्में इष्टतम क्षमता से नीचे कार्य करती हैं और सभी फर्में प्रतियोगिता कीमतों से अधिक कीमत वसूल करती हैं। नीचे की ओर ढालू मांग वक्र के कारण फर्मों के इष्टतम उत्पादन में असफलता समाज के द ष्टिकोण से साधनों का स्पष्ट अपव्यय है।

निष्कर्ष

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता बिल्कुल अपव्ययी है और आर्थिक कल्याण को कम करती है। इसके कुछ गुण भी हैं। उदाहरणार्थ, सूचनात्मक विज्ञापन उपभोक्ताओं के लिए लाभदायक है और वस्तु विभेदीकरण उपभोक्ताओं को वस्तुओं के विस्त त चुनाव प्रदान करता है।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत-रहित प्रतियोगिता

कीमत-रहित प्रतियोगिता से अभिप्राय एक एकाधिकारात्मक प्रतियोगी फर्म द्वारा उन प्रयत्नों से है, जिनसे वह अपनी वस्तु की बिक्री और लाभों को कीमत में कटौती किए बिना बढ़ाती है। ये प्रयत्न हैं : वस्तु विभिन्नता और विक्रय व्यय। एकाधिकारात्मक प्रतियोगी अपनी वस्तु की भौतिक विशेषताओं को अथवा प्रोत्साहक प्रोग्रामों को परिवर्तित करके उसमें परिवर्तन ला सकता है। वस्तु विभिन्नता और विक्रय व्यय फर्म के मांग वक्र को कम लोचदार बनाते हैं और उत्पादन लागत को बढ़ाते हैं। परिणामस्वरूप, लाभों की मात्रा भी परिवर्तित हो जाएगी, जिसे फर्म अपने MR और MC के बराबर होने पर वस्तु की मात्रा उत्पादित करके कमाती है। अपनी बिक्री और लाभों में व द्धि के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, फर्म अपनी वस्तु की विशेषताओं को परिवर्तित करने की बजाए विज्ञापन और प्रोत्साहन पर अधिक व्यय कर सकती है। या, अपनी वस्तु की विशेषताओं को इस ढंग से बदल सकती है कि वह ग्राहकों को अधिक आकर्षित करे। या, यदि संसाधन अनुमति दें, तो वह विज्ञापन और वस्तु विभिन्नता दोनों पर अधिक व्यय करे।

वस्तु विभिन्नता

वस्तु विभिन्नता जैसा कोई भी परिवर्तन होता है, जो किसी वस्तु की भौतिक विशेषताओं अथवा उन स्थितियों को परिवर्तित करता है जिनके अन्तर्गत वस्तु बेची जाती है। उपभोक्ताओं को जो वस्तु या सेवा प्रदान की जाती है उसकी विशेषताओं में क्वालिटी, ब्रैंड नाम, पैकेजिंग, सेवा समझौते और वारण्टियां सम्मिलित होते हैं। जब भी एकाधिकारात्मक प्रतियोगी वस्तु विभिन्नता लाता है, तो उसके आगम और लागत वक्र सरक जाएंगे। वह अपने लाभों को निम्न तरीकों से अधिकतम करता है :

(क) वह अपनी वस्तु के साथ संबंधित लागत और आगम वक्रों को निर्धारित करता है।

(ख) ऊपर की सूचना के आधार पर, वह वस्तु को बेचने से जो अधिकतम लाभ कमा सकता है उन्हें वह निर्धारित करता है।

(ग) वह उस उत्पादन मात्रा को चुनता है, जो उसे सबसे अधिकतम लाभ कमाने का अवसर देता है।

सही वस्तु विभिन्नता जो उसके लाभ अधिकतम करेगी, दो दिशाओं की ओर ले जा सकती है : (1) वह निर्णय कर सकता है कि उसकी वस्तु की विशेषताओं में एक उच्च लागत परिवर्तन उसकी वस्तु की मांग में व द्धि करके उसके लाभ बढाएंगे। (2) या, प्रौद्योगिकीय प्रयत्न द्वारा वस्तु की क्वालिटी बढ़ा सकता है, जो उसकी वस्तु की मांग में व द्धि की तुलना में लागतों को अधिक कम करके उसके लाभ बढ़ाए।

जहाँ वस्तु विभिन्नता से पहले एकाधिकारात्मक प्रतियोगी का मांग वक्र D_1 है और AC_1 उसका औसत लागत वक्र है। उसके MC और MR वक्र नहीं दिखाए गए हैं। वह $OP\,(=Q_1E_1)$ कीमत

पर वस्तु की OQ_1 मात्रा बेच रहा है और $PABE_1$ असामान्य लाभ कमा रहा है। जब वह वस्तु विभिन्नता लाता है तो उसका मांग वक्र D_1 उपर दाईं ओर D_2 पर सरक जाता है और कम लोचदार बन जाता है। वस्तु की स्थिर कीमत PL कीमत रेखा के रूप में दी होने पर, वह अब उसी कीमत $OP(=Q_1E_1)$ पर अधिक मात्रा OQ_2 बेचता है। परन्तु वस्तु विभिन्न करने के प्रयत्न में उसकी वस्तु की उत्पादन लागत भी बढ़ गई है। इसे L वक्र के उपर की ओर L_1 वक्र के उपर की ओर L_2 वक्र पर सरक जाते के रूप में दिखाया गया है। यद्यपि उत्पादन लागतों में व द्धि हुई है, एकाधिकारात्मक प्रतियोगी वस्तु विभिन्नता से पहले की तुलना में अब अधिक लाभ $PGFE_2$ कमाता है : $PGFE_2 > PABE_1$ ऐसा इस कारण कि वस्तु विभिन्नता के परिणामस्वरूप उसके विक्रय Q_1Q_2 बढ़ हैं और उसकी वस्तु की मांग में भी व द्धि हुई है।

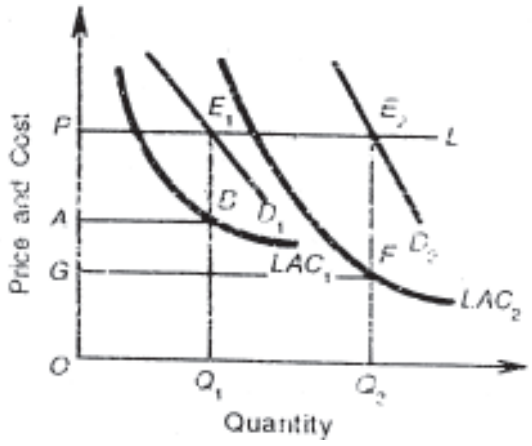

विक्रय प्रोत्साहन

'विक्रय प्रोत्साहन' से अभिप्राय एक एकाधिकारात्मक प्रतियोगी द्वारा विज्ञापन, प्रचार और व्यक्तिगत विक्रय करके अपनी वस्तु के मांग वक्र को ऊपर की ओर सरकाना है। इसे विज्ञापन और प्रचार पर विक्रय व्यय भी कहते हैं।

जो एक फर्म अपने प्रतिद्वंद्वियों की तुलना में अपनी वस्तु को खरीदने के लिए उपभोक्ताओं को प्रेरित करते हैं। चैम्बरलिन प्रत्येक किस्म के विज्ञापन को विक्रय लागतों का पर्यायवाची मानता है। परन्तु वर्तमान में, विक्रय लागतों में विज्ञापन के अतिरिक्त सेल्समैन पर व्यय, परचून विक्रेताओं को दुकान पर वस्तु प्रदर्शित करने के लिए छूटें, तथा मुफ्त सेवा, मुफ्त सैंपल, पुरस्कार कूपन और ग्राहकों को उपहार शामिल हैं। इस प्रकार, वस्तु विभिन्नता और विक्रय प्रोत्साहन के बीच रेखा खींचना कठिन है।

एक एकाधिकारात्मक प्रतियोगी एक ऐसा विक्रय प्रोत्साहन प्रोग्राम बनाने का प्रयत्न करेगा जो उसके लाभों को अधिकतम करता है। इसके लिए वह निम्न कदम अपनाता है :

1. वह प्रत्येक विक्रय प्रोत्साहन प्रोग्राम के साथ संबंधित लागत और आगम वक्रों की पहचान करता है।
2. ऊपर की सूचना के आधार पर वह अधिकतम लाभों को निर्धारित करता है, जो वह प्रत्येक प्रोग्राम से अर्जित करता है।
3. वह तब उस प्रोग्राम को चुनता है जो उसे बहुत अधिकतम लाभ देता है।

गैर-कीमत प्रतियोगिता में समूह संतुलन

वास्तव में, एक एकाधिकारात्मक प्रतियोगी वस्तु विभिन्नता और विक्रय प्रोत्साहन के अन्तर्गत अपने लाभों को अलग-अलग अधिकतम नहीं कर सकता है। क्योंकि ये दोनों निर्णय स्वतंत्र हैं, इसलिए वे एक साथ लिए जाते हैं। फिर, वस्तु विभिन्नता और विक्रय व्यय दोनों उसके मांग और लागत वक्रों को सरकाते हैं। परन्तु चित्र में यह दिखाना संभव नहीं है कि वस्तु विभिन्नता और विक्रय प्रोत्साहन का कौन-सा संयोग और इसके लाभों को अधिकतम करेगा। चैम्बरलिन ने अपने समूह संतुलन विश्लेषण में गैर-कीमत प्रतियोगिता के अन्तर्गत लाभ अधिकतम करने की इस समस्या को सुलझाया है। यदि एक एकाधिकारात्मक प्रतियोगी समूह में प्रवेश बंद हो, तो कुछ फर्में एकाधिकार तत्त्वों के कारण,दूसरों की अपेक्षा अधिक लाभ कमाती हैं। उनके द्वारा वस्तु विभिन्नता और विक्रय प्रोत्साहन प्रयत्न उनके प्रतियोगियों के लिए अपनी वस्तुओं के पूर्ण स्थानापन्न उत्पादित करना और बेचना असंभव बना देते हैं।

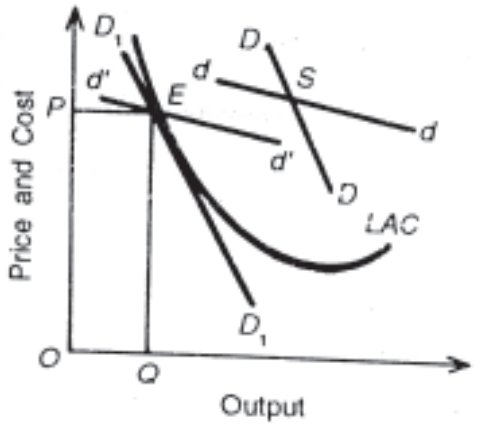

यदि समूह में फर्मों का प्रवेश खुला हो, तो प्रवेशक फर्मों की प्रतियोगिता लाभों को सामान्य लाभों के स्तर तक नीचे ला देगी। जहां समूह में कीमत-रहित प्रतियोगिता के कारण dd वक्र (जो व्यक्तिगत फर्म से संबद्ध होता है) का कोई महत्त्व नहीं है और फर्मों का संबंध केवल समूह मांग वक्र DD से है। मान लीजिए कि प्रारंभिक संतुलन S बिन्दु पर है, जहां फर्में सामान्य से अधिक लाभ कमा रही हैं, क्योंकि OP कीमत के अनुरूप S बिन्दु LAC वक्र से उपर है। समूह में नई फर्मों के प्रवेश से अतिसामान्य लाभ समाप्त हो जाएंगे। बड़ी संख्या में फर्में मार्किट को आपस में बांट लेंगी। परिणामस्वरूप, DD वक्र दाईं ओर धकेल दिया जाएगा और वह D_1D_1 वक्र बन जाएगा, जहां वह E बिन्दु पर LAC वक्र के साथ स्पर्श करेगा। यह समूह में सभी फर्मों के लिए कीमत-रहित प्रतियोगिता के अन्तर्गत स्थिर संतुलन का बिन्दु है, और वे केवल सामान्य लाभ कमा रही हैं। प्रत्येक फर्म OP (=QE) कीमत पर वस्तु की OQ मात्रा बेच रही है।

पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में अन्तर

पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में कुछ समानताएँ हैं।

समानताएँ - दोनों बाजार स्थितियों में निम्नलिखित समानताएँ पाई जाती हैं:

1. पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता दोनों ही के अन्तर्गत फर्मों की बड़ी संख्या होती है।

2. दोनों में, फर्मे एक दूसरी से प्रतियोगिता रखती हैं।

3. दोनों में, फर्मो को आने-जाने की स्वतंत्रता होती है।

4. दोनों में, सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय की समानता के बिन्दु पर संतुलन स्थापित होता हैं।

5. दोनों बाजार स्थितियों में, फर्म अल्पकालीन में सामान्य से अधिक लाभ अथवा हानियाँ उठा सकती हैं। परन्तु दीर्घकालीन में फर्मे केवल सामान्य लाभ अर्जित करती हैं।

असमानताएँ - पर, पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में कुछ असमानताएँ भी होती हैं जिनकी विवेचना नीचे की जा रही है :

1. पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, प्रत्येक फर्म समरूप वस्तु का उत्पादन तथा विक्रय करती है ताकि कोई भी क्रेता दूसरे विक्रेताओं की अपेक्षा किसी एक विक्रेता की वस्तु को अधिमान न दे सके। दूसरी ओर, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत वस्तुओं में अन्तर लाया जाता है। वस्तुएँ मिलती-जुलती तो होती हैं पर ठीक एक जैसी नहीं होतीं। वे निकट-स्थानापन्न वस्तुएँ होती हैं। उनके डिजाइन, रंग, महक, पैकिंग आदि में अन्तर होता है।

2. पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, समस्त उद्योग की माँग तथा पूर्ति की शक्तियाँ कीमत निर्धारित करती हैं। प्रत्येक फर्म को उस कीमत पर अपनी वस्तु बेचनी पड़ती है। वह अपने एकमात्र कार्य से कीमत को प्रभावित नहीं कर सकती। उसे अपना उत्पादन उस कीमत पर समायोजित करना पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक फर्म कीमत स्वीकार करती है और मात्रा को समायोजित करती है। दूसरी ओर एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत, प्रत्येक फर्म की अपनी कीमत-नीति होती है। वह एक समूह में वस्तु के कुल उत्पादन के थोड़े हिस्से से अधिक पर नियंत्रण नहीं रख सकती।

3. ज्यामितीय रूप से, पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का मांग वक्र (AR) पूर्ण लोचदार होता है और सीमान्त आय वक्र (MR) इसके बराबर होता है। इसके मुकाबले, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का माँग वक्र लोचदार एवं नीचे की ओर ढालू होता है तथा इसके अनुरूप (MR) वक्र इसके नीचे स्थिर रहता है। इसका मतलब है कि फर्म को अपनी प्रतियोगी फर्मो को आकर्षित कर अपने विक्रय बढ़ाने के लिए अपनी वस्तु की कीमत घटानी पड़ेगी, बशर्ते कि प्रतियोगी फर्मे भी अपनी कीमतें न घटाएं।

4. यद्यपि दोनों बाजार स्थितियों की संतुलन स्थितियां एक जैसी हैं, फिर भी दोनों के बीच कीमत-सीमान्त लागत संबध में अन्तर रहते हैं। जब पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत MC=MR, तो कीमत भी उनके बराबर होती है क्योंकि कीमत (AR)=MR ऐसा इसलिए होता है कि AR वक्र X-अक्ष के क्षैतिज होता है। क्योंकि AR वक्र नीचे की ओर बाएं को ढालू होता है, इसलिए एकाधिरात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत MR वक्र इसके नीचे रहता है। इसलिए कीमत (AR)>MR=MC।

5. दोनों बाजार स्थितियों में एक और अन्तर उनके आकार से संबंध रखता है। दीर्घकालीन में, प्रतियोगी फर्मो का आकार इष्टतम होता है और वे अपनी पूर्ण क्षमता

पर उत्पादन करती हैं क्योंकि अपने न्यूनतम पर कीमत (AR) = LMC = LAC। परन्तु एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत, फर्मो का आकार इष्टतम से कम होता है और उनमें अतिरिक्त क्षमता रहती है क्योंकि AR वक्र नीचे की ओर ढालू है और अपने न्यूनतम बिन्दु पर LAC वक्र पर स्पर्श नहीं कर सकता। फर्म की संतुलन शर्त है : कीमत (AR) = LAC > LMC = MR।

6. पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में एक और अन्तर विक्रय लागतों से संबंध रखता है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, जहाँ वस्तु समरूप होती है विक्रय की कोई समस्या नहीं होती। फर्म, चालू बाजार कीमत पर, अपनी वस्तु की चाहे जितनी मात्रा बेच सकती है। परन्तु एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत, जहाँ विभेदीकृत वस्तुएं होती हैं, विक्रय बढ़ाने के लिए विक्रय लागतें भी उठानी पड़ती हैं। ये लागतें इसलिए उठाई जाती हैं कि क्रेता को एक वस्तु के अधिमान में दूसरी वस्तु खरीदने को प्रेरित किया जा सके।

7. दोनों बाजार स्थितियों में अन्तिम अन्तर यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का उत्पादन कम और कीमत अधिक होती है। जहाँ d तथा MR_1 एकाध्किारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म के औसत तथा सीमान्त आय वक्र हैं, और AR=MR प्रतियोगी फर्म के। LMC तथा LAC वक्र दोनों फर्मो के लिए समान मान लिए गए हैं। एकाधिकारात्मक प्रतियोगी फर्म का संतुलन E_1 बिन्दु पर और पूर्ण प्रतियोगी का संतुलन E बिन्दु पर स्थापित होता है। एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तगर्त फर्म OQ_1 उत्पादन विक्रय करती है जो कि प्रतियोगी फर्म के उत्पादन के विक्रय OQ से कम है जबकि इसकी Q_1A_1 कीमत, प्रतियोगी फर्म की कीमत QE से अधिक है।

एकाधिकार और एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में अन्तर

बाजार की इन दो विभिन्न अवस्थाओं में कुछ समानताएँ तथा कुछ असमानताएँ पाई जाती हैं जिनका हम क्रमशः विवेचन करते हैं।

समानताएँ - एकाधिकार तथा एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में निम्नलिखित समानताएँ पाई जाती हैं :

1. दोनों में संतुलन MC एवं MR के एक-दूसरे के बराबर होने के बिन्दु पर होता है और MC वक्र MR वक्र को नीचे से काटता है।
2. दोनों में मांग वक्र (AR) नीचे दायीं ओर ढाल वाला होता है और उसके अनुरूप MR वक्र मांग वक्र के नीचे स्थित होता है।
3. दोनों बाजार अवस्थाओं में संतुलन बिन्दु कीमत कीमत रेखा (AR) से नीचे स्थित होता है।
4. दोनों अवस्थाओं में अतिरिक्त क्षमता पाई जाती है अर्थात् LAC को AR इसके न्यूनतम बिन्दु पर स्पर्श नहीं करता।
5. दोनों में ही उत्पादक कीमत-निर्माता होते हैं। वे अपनी इचछानुसार कीमत को घटा या बढ़ा सकते हैं।

असमानताएँ - एकाधिकार एवं एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में समानताओं की अपेक्षा असमानताएँ अधिक पाई जाती हैं, जो निम्नलिखित हैं :

1. एकाधिकार में एक वस्तु का उत्पादक केवल एक ही होता है, जबकि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में उत्पादकों की संख्या बहुत होती है।

2. एकाधिकार में फर्म और उद्योग में कोई अन्तर नहीं पाया जाता। एकाधिकारी फर्म ही उद्योग होता है। इसके विपरीत एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में अनेक फर्में होती है तथा उद्योग को 'समूह' कहते हैं।

3. एकाधिकार में एक ही वस्तु का उत्पादन होता है जिसमें किसी प्रकार का वस्तु विभेदीकरण नहीं पाया जाता है एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में हर उत्पादक विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करता है। वस्तुएँ समरूप नहीं होतीं बल्कि समान होती हैं। वे एक-दूसरे के पूर्ण-स्थानापन्न न होकर निकट-स्थानापन्न होती हैं। वस्तुएँ आकार, डिजाइन, रंग, सुगंध, पैकिंग आदि के कारण एक-दूसरे से भिन्न होती हैं जिससे वस्तु - विभेदीकरण पाया जाता है।

4. एकाधिकार में विक्रय लागतें नहीं पाई जातीं क्योंकि एकाधिकारी का कोई प्रतियोगी नहीं होता। हां, प्रारंभ में जब एकाधिकार फर्म स्थापित होती है तो एकाधिकारी अपनी वस्तु की उपभोक्ताओं को सूचना देने के लिए सम्भवतः कुछ पैसा विज्ञापन पर व्यय करे। परन्तु वह विज्ञापन पर केवल एक बार ही यह व्यय करेगा, पुनः नहीं। दूसरी ओर, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में फर्मो की संख्या अधिक होने पर प्रतियोगिता के कारण विक्रय लागतों पर व्यय करना अनिवार्य होता है।

5. एकाधिकारी एक ही वस्तु की विभिन्न ग्राहकों से भिन्न-भिन्न कीमतें ले सकता है और इस प्रकार कीमत-विभेद की नीति अपना सकता है। परन्तु एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में 'प्रतियोगिता' का तत्त्व होने के कारण कीमत-विभेद संभव नहीं हो सकता।

6. एकाधिकार में वस्तु के निकट-स्थानापन्न नहीं होते, जिस कारण वस्तु की मांग कम लोचदार होती है। इसलिए एकाधिकारी का मांग वक्र प्रपाती अर्थात् कम लोचदार होता है। इसके विपरीत, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में वस्तुएँ निकट-स्थानापन्न होती हैं जिससे हर फर्म की वस्तु की मांग अधिक लोचदार होती है और उसका मांग वक्र चपटा होता है।

7. ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष भी प्राप्त होता है कि एकाधिकारी की वस्तु की कीमत एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में वस्तु की कीमत से अधिक होती है। फिर, वस्तु की कीमत निश्चित करने में जितनी स्वतंत्रता एकाधिकारी को होती है, उतनी एकाधिकारात्मक प्रतियोगी फर्म को नहीं होती।

8. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में दीर्घकाल में फर्में समूह में प्रवेश कर सकती हैं और उससे बाहर भी जा सकती हैं क्योंकि इस बाजार अवस्था में प्रतियोगिता का अंश भी पाया जाता है। परन्तु एकाधिकार में एकाधिकारी का वस्तु की कीमत या पूर्ति पर पूर्ण नियंत्रण होने के कारण कोई भी फर्म एकाधिकारी उद्योग में प्रवेश नहीं कर सकती।

9. एकाधिकार में फर्मो के प्रवेश का भय होने के कारण एकाधिकारी दीर्घकाल में भी सामान्य से अधिक लाभ कमाता है, जबकि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में फर्मे दीर्घकाल में सामान्य लाभ ही कमाती हैं, क्योंकि फर्मे समूह के अन्दर आ और जा सकती हैं।

साधन कीमत-निर्धारण
(Factor Pricing)

वितरण के सिद्धान्त
(Theories of Distribution)

व्यक्तिगत वितरण तथा फलानात्मक वितरण

अर्थशास्त्र में वितरण का सम्बन्ध आय के व्यक्तिगत वितरण तथा फलनात्मक वितरण से है। व्यक्तिगत वितरण का संबंध उन शक्तियों से है जो किसी देश में विभिन्न व्यक्तियों में आय और सम्पत्ति के बंटवारे को शासित करती है। व्यक्तिगत वितरण में राष्ट्रीय आय के वितरण के ढांचे को तथा भिन्न-भिन्न वर्गो द्वारा राष्ट्रीय आय के जो हिस्से प्राप्त होते हैं उनका अध्ययन करते हैं। राष्ट्रीय आय में मजदूरी अर्जित करने वाले वर्ग का क्या हिस्सा है, लगान अर्जित करने वाले वर्ग का तथा उद्यमी वर्ग का क्या हिस्सा है? एक व्यक्ति की मजदूरी दूसरे की अपेक्षा क्यों अधिक या कम है? मकान या भूमि के टुकड़े का किराया या लगान दूसरे की अपेक्षा क्यों कम या अधिक है? ये और अन्य ऐसी समस्याओं का आय के व्यक्तिगत वितरण में अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दों में, आय के व्यक्तिगत वितरण के अन्तगर्त हम आय एवं सम्पत्ति में असमानता की समस्या, उसके प्रभाव तथा उसको कम या दूर करने के उपायों का अध्ययन करते हैं।

दूसरी ओर, फलनात्मक वितरण या साधन हिस्सा वितरण उत्पादन के प्रत्येक साधन द्वारा कुल राष्ट्रीय आय के हिस्से की व्याख्या करता है। दूसरे शब्दों में, इसका संबंध उत्पादन के साधनों को उनकी सेवाओं के लिए बांटे गए पुरस्कार से है। लगान, मजदूरी, ब्याज और लाभ क्रमशः, भूमि, श्रम, पूंजी और उद्यम की सेवाओं के पुरस्कार हैं। गणितीय भाषा में यह कहा जा सकता है: $P = F(A, B, C, D)$, जहां कुल उत्पादन या P फलन F है, A भूमि, B श्रम, C पूंजी तथा D संगठन का। अतः फलनात्मक वितरण विभिन्न उत्पादन के साधनों के हिस्सों तथा कीमतों को निर्धारित करने वाली शक्तियों का अध्ययन करता है।

व्यक्तिगत वितरण तथा फलनात्मक वितरण में इन स्पष्ट भिन्नताओं के पाए जाने के बावजूद दोनों में निकट का संबंध है। एक देश में व्यक्तिगत वितरण अन्ततः आय के फलनात्मक वितरण द्वारा प्रभावित होता है। यदि उत्पादन के साधनों को पुरस्कार न्यायोचित है तो व्यक्तिगत आय का वितरण भी न्यायोचित होता। परिणामस्वरूप, व्यक्तिग आय ऊंची होती है। सेवाओं एवं वस्तुओं के लिए मांग अधिक होती है जिससे अधिक निवेश, अधिक रोजगार, और अधिक उत्पादन तथा अधिक राष्ट्रीय आय होते हैं। ऊंची व्यक्तिगत आयों से अभिप्राय है, ऊंचा रहन-सहन का स्तर तथा उत्पादन में अधिक दक्षता का होना। दूसरी ओर यदि आय का फलनात्मक वितरण न्यायोचित नहीं है तथा उत्पादन के साधनों के शोषण पर आधारित है तो व्यक्तिगत आय भी अन्यायपूर्ण होगी। परिणामस्वरूप अधिकतर लोग गरीब होंगे। आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण में कमी होगी तथा गरीबों और अमीरों में निरंतर संघर्ष के कारण देश में शांति एवं सम द्धि में रुकावट होगी। इस अध्याय में हम फलनात्मक वितरण की समस्याओं को अध्ययन करते हैं।

साधन-कीमत निर्धारण की समस्या क्लासिकी अर्थशास्त्रियों से लेकर नव-कीन्सवादियों तक चर्चा का विषय रही है परन्तु उसके संबंध में अब तक कोई एकमत स्थापित नहीं हो पाया है। प्रोफेसर केल्डॉर ने वितरण के सिद्धांतों को चार प्रमुख वर्गो में बांटा हैः एक, रिकार्डो का या क्लासिकी सिद्धान्त, दो, मार्क्स सिद्धान्त, तीन, नवक्लासिकी या सीमान्त वादी सिद्धान्त जिसके दो उपवर्ग हैं : 1. सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त और 2. एकाधिकार की कोटि का सिद्धान्त; और चार, कीन्स का सिद्धान्त। आगे इन सिद्धान्तों पर विचार किया जा रहा है। परन्तु इससे पूर्व हम साधन कीमत निर्धारण और बाजार कीमत निर्धारण में अंतर बताएंगे।

साधन कीमत तथा बाजार कीमत निर्धारण में अन्तर

यद्यपि वस्तु कीमत निर्धारण की तरह साधन कीमत निर्धारण मांग और पूर्ति की शक्तियों पर आधारित है, तो भी दोनों में आधारभूत अन्तर पाए जाते हैं। जो साधन कीमत निर्धारण को एक अलग सिद्धान्त बनाते हैं। वे इस प्रकार हैः

1. एक वस्तु तथा एक साधन की मांग की प्रकृति में अन्तर होते हैं। एक वस्तु की मांग प्रत्यक्ष होती है जो उसकी सीमान्त उपयोगिता पर आधारित होती है, जबकि एक साधन की मांग व्युत्पन्न मांग होती है, वह उन वस्तुओं में व्युत्पन्न होती है जिनको एक साधन बनाने में सहायता करता है।
2. एक वस्तु की पूर्ति उसकी मुद्रा उत्पादन लागत पर निर्भर करती है, जबकि एक साधन की पूर्ति उसकी अवसर लागत पर निर्भर करती है जो कि इसकी न्यूनतम आय है जो यह अलगे श्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग में कमा सकता है।
3. कुछ साधनों जैसे श्रम एवं उद्यमी की कीमत निर्धारण सामाजिक एवं मानवीय तत्त्वों द्वारा प्रभावित होता है, जबकि वस्तु कीमत निर्धारण इनके द्वारा नाम मात्र ही प्रभावित होता है।

इन स्पष्ट अन्तरों के बावजूद, जैसा कि प्रोफेसर वाटसन ने कहा है, ''वस्तु कीमतों का सिद्धान्त तथा साधन कीमतों का सिद्धान्त दोनों ही एक समूचे सिद्धान्त के भाग हैं। फर्मो की लागतें साधन कीमतों एवं प्रौद्योगिकी पर निर्भर करती है। उपभोक्ताओं की मांगे उनके स्वादों तथा उनकी आयों पर निर्भर करती है जो ये अपने साधनों को बेचकर प्राप्त करते हैं, अर्थात् अपनी उत्पादकीय सेवाएं। आगे, उपभोक्ता मांगे प्रौद्योगिकीय के साथ साधनों की सीमान्त उत्पादकताएं निर्धारित करती हैं।''

क्लासिकी अथवा रिकार्डो सिद्धान्त

रिकार्डो का वितरण सिद्धांत, जो समस्त अर्थव्यवस्था पर लागू होता है, भेदात्मक लगान के नियम पर आधारित है। प्रोफेसर केल्डॉर ने सीमान्त नियम और आधिक्य नियम की भाषा में रिकार्डो के सिद्धान्त की व्याख्या की है। 'सीमान्त नियम' राष्ट्रीय उत्पादन में लगान के भाग की व्याख्या करता है और 'आधिक्य नियम' बाकी भाग कें मजदूरी और लगान में विभाजन की।

मान्यताएं - इस सिद्धांन्त की मुख्य मान्यताएं ये हैं-

1. अनाज के उत्पादन में समस्त भूमि का प्रयेाग होता है और ''कृषि में कार्यशील शक्तियां उद्योग में वितरण निर्धारित करने का काम करती हैं'' 2. भूमि पर घटते प्रतिफल का नियम लागू होता है, 3. भूमि की पूर्ति की मात्रा स्थिर होती है; 4. अनाज की मांग पूर्ण अलोचशील है; 5. पूंजी और श्रम एक परिवर्तनशील आगतें

(स्थिर गुणक) हैं 6. तकनीकी ज्ञान की स्थिति दी हुई है और कृषि में कोई सुधार नहीं होते' 7. सभी श्रमिकों को निर्वाह-मजदूरी दी जाती है; 8. श्रम की पूर्ति कीमत स्थिर तथा दी हुई है; 9. श्रम की मांग, पूंजी के संचय पर निर्भर करती है। श्रम की मांग तथा श्रम की पूर्ति-कीमत दोनों ही श्रम की सीमान्त उत्पादकता से स्वतन्त्र होती हैं; 10. पूर्ण प्रतियोगिता होती है।

तीन वर्ग - इन मान्यताओं के आधर पर रिकार्डो का सिद्धान्त अर्थव्यवस्था में तीन वर्गो के परस्पर सम्बन्धों पर आधारित है। वे हैं 1. भूमिपति, 2. पूंजीपति, तथा 3. श्रमिक - जिनमें भूमि की समस्त उपज बांटी जाती है। जैसाकि रिकार्डो ने स्वयं अपनी पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा ''भूमि की जो कुछ भी उपज श्रम, मशीन एवं पूंजी के संयुक्त रूप से लागू करने पर इसके तल से प्राप्त की जाती है - समाज के तीन वर्गो में बांट दी जाती हैः जिनके नाम हैं भूमिपति, इसकी खेती के लिए आवश्यक भण्डार या पूंजी का मालिक, तथा श्रमिक जिनके परिश्रम से इस पर खेती की जाती है।'' इन तीन वर्गो में कुल राष्ट्रीय उत्पादन क्रमशः लगान, लाभ और मजदूरी के रूप में बांट दिया जाता है।

लगान, लाभ एवं मजदूरी का बंटवारा - अनाज का कुल उत्पादन दिया होने पर, प्रत्येक साधन का भाग निर्धारित हो सकता है। श्रम का प्रति इकाई लगान श्रम के औसत और सीमान्त उत्पादन का अन्तर होता है। या कुल लगान श्रम के औसत उत्पादन तथा श्रम के सीमान्त उत्पादन का अन्तर x (गुणा) भूमि पर लगाई गई श्रम और पूंजी की मात्रा। श्रम के सीमान्त उत्पादन और मजदूरी की दर का अन्तर 'लाभ' होता है। मजदूरी कोष ÷ निर्वाह स्तर पर काम में लगाए गए मजदूरों की संख्या के आधार पर मजदूरी की दर निर्धारित की जाती है। इस प्रकार उत्पादन और विक्रय किए गए कुल अनाज में से, पहला हक है लगान का और शेष (उत्पादन घटा लगान) मजदूरी और लाभ में विभाजित कर दिया जाता है जबकि ब्याज लाभ में ही शामिल होता है। इसे चित्र में दिखाया गया है, जहां अनाज की मात्रा को क्षैतिज अक्ष मापता है और कृषि में लगाई गई श्रम और पूंजी की मात्रा को अनुलंब अक्ष मापता है। श्रम के औसत उत्पादन P वक्र प्रकट करता है और श्रम के सीमान्त उत्पादन को MP वक्र। पूंजी और श्रम की OM मात्रा से अनाज की कुल OQRM मात्रा का उत्पादन होता है। जब OM श्रम की मात्रा काम पर लगाई जाती है तो इसका औसत उत्पादन RM और सीमान्त उत्पादन TM होता है। लगान श्रम की प्रति इकाई औसत उत्पादन (AP) तथा सीमान्त उत्पादन (MP) का अन्तर होने से RT (=RM-TM) है। कुल लगान आयत PQRT दिखाया गया है, जो प्रति इकाई लगान (RT) गुणा काम पर लगाए गए श्रमिकों की संख्या PT(=OM) के बराबर है। अतः अनाज का कुल उत्पादन OQRM में से PQRT उत्पादन भूमि के मालिक को लगान के रूप में जाता है ओर बाकी उत्पादन OPTM श्रम तथा पूंजी में बांटा जाएगा।

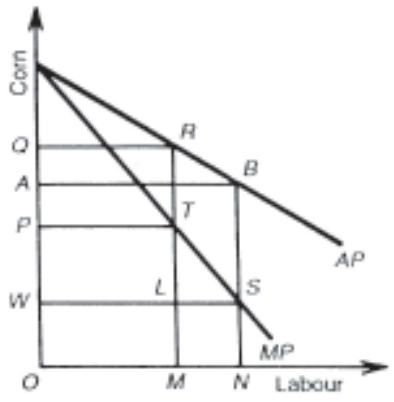

रिकार्डो के अनुसार श्रम का भाग निर्वाह-मजदूरी द्वारा निर्धारित होता है। चित्र में OW प्रति श्रमिक निर्वाह मजदूरी है क्योंकि उसे निर्वाह के लिए अनाज की OW मात्रा चाहिए। WL श्रम का पूर्ति वक्र है जो OW निर्वाह मजदूरी दर पर अनन्त लोचदा हैं इस प्रकार कुल उत्पादन में OWLM श्रम का हिस्सा है (काम पर लगाए गए श्रमिक (OK) गुणा मजदूरी दर (OW), बाकी का उत्पादन WPTL लाभ है। अतः लाभ कुल उत्पादन में से लगान तथा मजदूरी घटाने पर अतिरेक के बराबर है : WPTL = OQRM - (PQRT+OWLM).

यदि श्रम के भाग OWLM में व द्धि होती है तो वह एक ही शर्त पर हो सकती है कि लाभ की दर काम हो जाए। जब OWLM में व द्धि के परिणामस्वरूप लाभ की दर गिरने लगती है तो परिणाम यह होता है कि पूंजी का निर्माण रुक जाता है और स्थिर अवस्था पैदा हो जाती है। जब मजदूरी बढ़ती है जो जरूरी है कि लाभ कम हो जाएगा। हो सकता है कि उस समय ऐसा न हो, जब कृषि को संरक्षण प्रदान कर दिया जाए या निर्माणकारी उद्योग पर कर लगा या बढ़ा दिए जाएं। तकनीकी प्रगति होने पर भी OWLM बढ़ सकता है। तकनीकी प्रगति MP और AP वक्रों को ऊपर की ओर दांए को सरकाने का प्रयत्न करती हैं परिणाम यह होता है कि लाभ और मजदूरी दोनों की दर बढ़ जाती है। मजदूरी की दर में व द्धि, आबादी और अनाज की मांग को बढ़ाने की प्रेरणा देती है जो बदले में अनाज की कीमत बढ़ा देती है। अनाज की बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए अधिक श्रम काम पर लगाया जाता है, परन्तु अपेक्षाकृत ऊंची मजदूरी पर। रिकार्डो के अनुसार, ''मजदूरी में व द्धि का एकमात्र समुचित और स्थायी कारण वह बढ़ती हुई कठिनाई है, जो आदमियों की बढ़ती हुई संख्या के लिए अन्न तथा जरूरतें जुटाने में होती है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रम की लागतें बढ़ जाती है, श्रम के MP और AP कम हो जाते हैं तथा घटते प्रतिफल का नियम क्रियाशील हो जाता है। इन साधनों से अनाज की कीमत और बढ़ने लगती है जिससे लगान बढ़ जाता है। लगान और मजदूरी की व द्धि के लाभ कम होते जाते हैं जब तक कि वे समाप्त नहीं हो जाते। इसे चित्र में दर्शाया गया है जब श्रम की मात्रा OM से बढ़कर ON हो जाती है तथा कुल उत्पादन OABN हो जाता है। इसमें से OWSN कुल मजदूरी है तथा WABS लगान। लाभ बिल्कुल नहीं है।

स्थिर अवस्था - रिकार्डो के अनुसार अर्थव्यवस्था में लाभ की दर में निरन्तर कमी की प्रव त्ति पाई जाती है जिससे अन्ततः देश स्थिर अवस्था में पहुच जाता है। जब लाभों की व द्धि से पूंजी संचय अधिक होता है तो कुल उत्पादन बढ़ता है जिससे मजदूरी कोष बढ़ता है। मजदूरी कोष बढ़ने से जनसंख्या बढ़ती है जिससे अनाज की मांग बढ़ती है और अनाज की कीमत भी। जब जनसंख्या बढ़ती है तो अनाज के लिए बढ़ रही मांग को पूरा करने के लिए घटिया किस्म की भूमियों पर खेती की जाती हैं बढ़िया किस्म की भूमियों पर लगान बढ़ते हैं और इन पर उत्पादित उपज का बहुत बड़ा भाग खपा लेते हैं। इससे पूंजीपतियों और श्रमिकों के भाग कम हो जाते हैं जिससे लाभ कम हो जाते हैं और मजदूरी की निर्वाह-स्तर तक गिरने की प्रव त्ति होती है। बढ़ रहे लगान और घट रहे लाभों की यह प्रक्रिया तक तब चलती रहती है, जब तक कि सीमान्त भूमि से उत्पादन काम पर लगाए गए श्रमिक की निर्वाह को पूरा नहीं करता। तब लाभ शून्य होते हैं और स्थिर अवस्था आ जाती है। ऐसी अवस्था में पूंजी-संचय रुक जाता है, जनसंख्या में व द्धि नहीं होती, मजदूरी दर निर्वाह-स्तर पर होती है, लगान ऊंचा होता है तथा आर्थिक प्रगति रुक जाती है।

रिकार्डो के सिद्धान्त में स्थिर अवस्था की ओर गति को चित्र में दर्शाया गया है,जो उसकी वितरण की धारणा की और भी स्पष्ट करता है। जनसंख्या को क्षैतिज अक्ष पर मापा गया है

और कुल उत्पादन घटा लगान को अनुलम्ब अक्ष पर। वक्र OP जनसंख्या फलन है जो कुल उत्पादन घटा लगान को जनसंख्या का फलन प्रदर्शित करता हैं जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ OP वक्र घटते प्रतिफल का नियम लागू होने से चपटा होता जाता है। मूल से किरण OW स्थिर वास्तविक मजदूरी मापती है। क्षैतिज रेखा जिस पर जनसंख्या ली गई है और मजदूरी दर रेखा OW का अनुलम्ब अन्तर जनसंख्या के विभिन्न स्तरों पर कुल मजदूरी बिल मापता है। इस प्रकार, ON_1, ON_2 और ON_3 जनसंख्या स्तरों पर W_1N_1, W_2N_2 और W_3N_3 क्रमशः कुल मजदूरी बिल हैं। जब मजदूरी बिल W_1N_1 है तो लाभ P_1W_1 है, अर्थात कुल उत्पादन लगान ÷ कुल मजदूरी बिल = $P_1N_1 \div W_1N_1 = P_1W_1$ जब लाभ P_1W_1 है तो निवेश प्रोत्साहित होता हैं श्रम की मांग बढ़ कर ON_2 हो जाती है जो मजदूरी बिल को W_2N_2 पर बढ़ा देता है परन्तु लाभ कम होकर P_2W_2 हो जाते हैं। इस प्रकार श्रम की मांग ON_3 पर बढ़ने से मजदूरी बिल और बढ़ता है और W_3N_3 हो जाता है परन्तु लाभ कम होकर P_3W_3 हो जाते हैं। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक कि अर्थव्यवस्था S बिन्दु पर नहीं पहुंच जाती और स्थिर अवस्था प्रारंभ हो जाती है। ऐसी स्थिति में लाभ बिल्कुल समाप्त हो जाते हैं और समस्त उत्पादन, लगान और मजदूरी में वितरित हो जाता है।

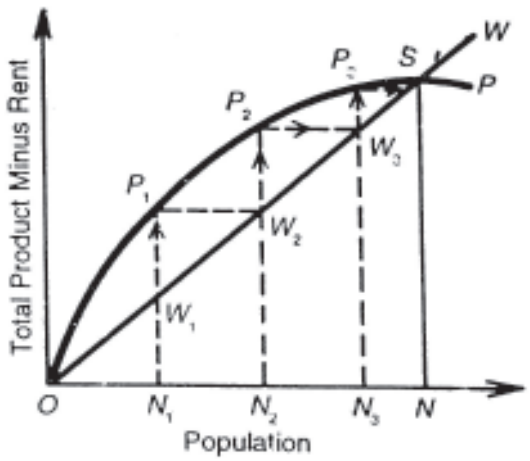

इसकी आलोचनाएं—रिकार्डो के सिद्धान्त में कई त्रुटियां पाई जाती हैं-

1. **फलनात्मक सिद्धान्त नहीं** - रिकार्डो का वितरण सिद्धान्त तीन साधनों से सम्बन्धित सिद्धान्त है, जो काफी स्पष्ट रूप से अलग तीन वर्गो, मजदूरों, भूमिपतियों और पूंजीपतियों के भाग निर्धारित करता है। प्रत्येक का भाग निश्चित करने में, रिकार्डो की धारणा यह है कि भूमि का हिस्सा प्रमुख होता है और शेष भाग को वह श्रम और पूंजी का हिस्सा समझता है। यह द ष्टिकोण गलत था क्योंकि यह वितरण के फलनात्मक सिद्धान्त को प्रसतुत करने में अर्थात् प्रत्येक साधन का उसकी सेवा के आधार पर अलग-अलग पुरस्कार निर्धारित करने में असफल रहा।

2. **भूमि केवल अनाज की उत्पन्न नहीं करती** - यह मान लिया जाता है कि भूमि केवल वस्तु अर्थात अनाज के उत्पादन के लिए ही प्राप्त हो सकती है। परन्तु यह एक प्राचीन विचार है। यदि विचार उस समय और भी पिछड़ा हुआ प्रतीत होता है, जब हम यह कहते हैं कि उत्पादन के अन्य साधनों को केवल भूमि का उत्पाद ही सहारा देता है।

3. **श्रम और पूंजी स्वतंत्र साधन** - यह धारणा भी नहीं अपनाई जा सकती कि कि पूंजी और श्रम स्थिर गुणक होते हैं। इस धारणा का खण्डन इसी तथ्य से हो जाता है कि पूंजी और श्रम स्वतन्त्र चर साधन हैं।

4. **लाभ से ब्याज भिन्न** - रिकार्डो के वितरण सिद्धान्त का एक गंभीर दोष यह है कि वह ब्याज को स्वतः पुरस्कार के रूप में नहीं लेता। ब्याज को लाभों में ही शामिल मान लिया गया हैं यह गलतफहमी इस विचार से पैदा हाती है कि पूंजीपति और उद्यमी अलग-अलग व्यक्ति नहीं होते। वास्तव में, उद्यमी वह चालक शक्ति है, जो पूंजी और श्रम दोनों का नियोजन और निर्देश करती है।

5. **घटते प्रतिफल नियम का अनावश्यक महत्त्व** - रिकार्डो का सिद्धान्त घटते प्रतिफल के नियम पर मुख्यतः आधारित है। उन्नत राष्ट्रों में कृषि-उत्पादन की तीव्र व द्धि ने यह सिद्ध कर दिया है कि रिकार्डो ने भूमि के सम्बन्ध में घटते प्रतिफलों के निवारण में प्रौद्योगिकीय प्रगति की क्षमताओं का कम मूल्यांकन किया। इस प्रकार उसने घटते प्रतिफल के नियम को अनावश्यक महत्त्व दिया।

6. **जनसंख्या व द्धि के साथ मजदूरी बढ़ती है**- रिकार्डो की यह धारणा कि जनंसख्या बढ़ने के कारण मजदूरी दर में कोई व द्धि नहीं होती, निर्मूल है। प्रथम, पश्चिमी संसार में प्रवर्तमान जनसंख्या की प्रव त्तियों ने माल्थस के जनसंख्यया सिद्धान्त को गलत साबित कर दिया हैं दूसरा, मजदूरी का जनसंख्या के साथ सम्बन्ध नहीं पाया जाता जैसा कि रिकार्डो ने बताया। इसके विपरीत विकसित देशों में मजदूरी दर बढ़ी है तथा उसके बढ़ने के साथ जसंख्या में कमी हुई है।

7. **भूमि के प्रतियोगात्मक कीमत निर्धारण की उपेक्षा** - इस सिद्धान्त का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि यह सिद्धान्त प्रतियोगी कीमत निर्धारण के माध्यम से पूर्ति और मांग तथा आर्थिक संगठन के रूप में उत्पादन के साधनों को पुरस्कार देने के समस्या पर विचार नहीं करता।

निष्कर्ष - इन दुर्बलताओं के बावजूद, प्रोफेसर केल्डॉर के अनुसार, रिकार्डो की रुचि केवल वितरणात्मक भागों की समस्या में ही नहीं थी बल्कि इस विश्वास में भी थी कि आर्थिक व्यवस्था के कार्यक्रम को समझने की कुंजी वितरण सिद्धान्त के हाथ में है अर्थात् उन शक्तियों की कुंजी, जो प्रगति की दर, संरक्षण के प्रभावों, और कराधान के अन्तिम आपात आदि को निर्धारित करती है। ''वितरणात्मक भागों को नियमन करने वाले नियमों'' के माध्यम से रिकार्डो उसको बनाने का प्रयत्न कर रहा था जिसे हम आजकल ''एक सरल समष्टि - आर्थिक मॉडल'' कहते हैं। इस द ष्टि से रिकार्डो और कीन्स के वितरण सिद्धान्तों में समरूपता है।

मार्क्स सिद्धान्त

मार्क्स का सिद्धान्त अतिरेक मूल्य के विश्लेषण पर आधारित है। किसी अन्य वस्तु की भांति श्रम-शक्ति भी एक वस्तु है। इसका मूल्य श्रम की वह मात्रा है जिसका, एक मजदूर के भरण-पोषण के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों के उत्पादन में, वह प्रयोग करती है।

वास्तव में श्रम-शक्ति उससे अधिक उत्पादन करती हैं श्रम के निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं का मूल्य उस श्रम द्वारा उत्पादित उत्पादन के मूल्य के कभी बराबर नहीं होता। यदि एक मजदूर दस घण्टे प्रतिदिन काम करता है, परन्तु अपने निर्वाह की वस्तुओं का उत्पादन करने में उसे केवल छः घण्टे लगते हैं, तो उसे छः घण्टे श्रम के बराबर मजदूरी दी जाएगी।

चार घण्टे के श्रम का अन्तर शुद्ध लाभ, ब्याज और लगान के रूप में पूंजीपति की जेब में चला जाता है। मार्क्स इस अदत्त काम को 'अतिरेक मूल्य' और उस अतिरिक्त श्रम को, जिसके लिए मजदूर को कुछ नहीं मिलता, 'अतिरेक श्रम' कहता है। यह श्रम अतिरेक पूंजीपति के लाभ को बढ़ाता है। पूंजीपति का मुख्य उद्देश्य अतिरेक मूल्य को बढ़ाना है जो उसे लाभों में व द्धि करता है। इसके लिए वह तीन तरीके अपनाता है (क) अतिरेक श्रम के कार्यकारी घण्टों को बढ़ाने के लिए काम के दिन लम्बा करके यदि काम के घण्टे 10 से 12 बढ़ा दिए जाते हैं तो अतिरेक श्रम अपने-आप 4 से 6 घण्टे बढ़ जाएगा। (ख) मजदूरों के निर्वाह के लिए जो उत्पादन चाहिए उसके घण्टे कम करके। यदि निर्वाह के लिए उत्पादन के घण्टे 6 से कम करके 4 कर दिए जाते हैं तो अतिरेक श्रम फिर 4 से 6 घण्टे बढ़ जाएगा (ग) श्रम की गति बढ़ाकर अर्थात् श्रम की उत्पादकता में व द्धि करके। इसके लिए प्रौद्योगिकी परिवर्तन चाहिए जो कुल उत्पादन को बढ़ाने तथा उत्पादन की लागत को कम करने में सहायक होता हैं। मार्क्स के अनुसार, संभावना यह है कि पूंजीपति इन तीनों तरीकों में से श्रम की उत्पादकता बढ़ाने का तरीका चुनेगा क्योंकि अन्य दोनों तरीकों की कार्यकारी घण्टों के बढ़ाने का तरीका चुनेगा क्योंकि अन्य दोनों तरीकों की कार्यकारी घण्टों के बढ़ाने और मजदूरी घटाने की अपनी सीमाएं हैं। इसलिए श्रम की उत्पादकता में सुधार लाने के लिए पूंजीपति अतिरेक मूल्य की बचत करते हैं और पूंजी का बड़ा स्टॉक प्राप्त करने के लिए उसे पुनः निवेश करते हैं और इस प्रकार पूंजी संचय करते हैं। मार्क्स के शब्दों में "Accumulate, accumulate! That is Moses and the Prophets" और "Save, save i.e., reconvert the greatest posible portion of surplus value or surplus product into capital". पूंजीपति के यही आदर्श हैं।

पूंजी की मात्रा भी लाभों को निर्धारित करती है। जैसे कि मार्क्स का कहना है ''पूंजी वह म त श्रम है, जो एक मांसखोर जन्तु की भांति जीवित श्रम का खून चूसकर ही जीवित रहती है और वह जितना अधिक श्रम को चूसती है और उतना ही अधिक जीवित रहती है।'' लाभ के उद्भव की व्याख्या करने तथा मजदूरी एवं लाभों के सम्बन्ध का विश्लेषण करने के लिए मार्क्स पूंजी को स्थिर पूंजी तथा 'परिवर्ती पूंजी' में बांटता है। स्थिर पूंजी (C) कच्चे माल, मशीनों इत्यादिक को व्यक्त करती है जो श्रम की उत्पादकता की सीधे सहायक होती हैं वह पूंजी, जो मजदूरी के रूप में श्रम-शक्ति को खरीदने में लगी होती है, परिवर्ती पूंजी (v) कहलाती है। परिवर्ती पूंजी ही अतिरेक मूल्य का प्रमुख स्रोत है, जबकि मशीनों का मूल्य धीरे-धीरे वस्तु में चला जाता है। अतिरेक मूल्य को s द्वारा व्यक्त किया जाता है। अतः उत्पादन का कुल मूल्य = स्थिर पूंजी (c) + परिवर्ती पूंजी (v) + अतिरेक मूल्य (s), या (c+v) +s.

स्थिर पूंजी परिवर्ती अनुपात c/v पूंजी की संगठित संरचना कहा गया है। अतिरेक मूल्य की दर (शोषण की कोटि) को s/v के रूप में परिभाषित किया गया है, अर्थात अतिरेक मूल्य का परिवर्ती पूंजी से अथवा लाभों का मजदूरी से अनुपात। इसके परिणामस्वरूप मार्क्स ने संकेत किया है कि लाभ की दर एकमात्र अतिरेक मूल्य की दर पर ही निर्भर नहीं है। यदि पूंजी की संगठित संरचना में परिवर्तन हो जाए तो लाभ की दर में परिवर्तन हो सकता है, भले ही अतिरेक मूल्य स्थिर रहे। लाभ की दर और पूंजी की संगठित सरंचना का एक दूसरे के साथ उलटा संबंध होता है। जब c/v बढ़ती है तो लाभ की दर (r) कम होती है और उसके उलट तकनीकी प्रगति का प्रभाव सामान्य रूप से स्थिर पूंजी से परिवर्ती पूंजी का अनुपात बढ़ाने की दिशा में पूंजी की संगठित संरचना को बदलने के लिए होता हैं। इसलिए

प्रौद्योगिकीय प्रगति की प्रव त्ति लाभ की दर (r) को घटाने की होती है क्योंकि c/v बढ़ती है, भले ही अतिरेक मूल्य की दर में कोई कमी न हो।

पूंजी-संचय का एक परिणाम यह होता है कि बड़े भारी उद्यमों में पूंजी का केन्द्रीकरण हो जाता है। पूंजीपतियों के बीच प्रतियोगिता उन्हें अपनी वस्तुएं सस्ती करने पर विवश करती हैं यह तब हो सकता है जब श्रम की बचत करने वाली मशीनें लगाई जाएं जिनसे श्रम की उत्पादकता बढ़ती है। वे पूंजीपति, जो श्रम के स्थान पर मशीनों को स्थानापन्न नहीं कर पाते, बाहर धकेल दिए जाते हैं और बड़े पूंजीपति उनके उद्यमों को हथिया लेते हैं। पूजी-संचय तथा संकेन्द्रण स्थिर पूंजी में व द्धि तथा परिवर्ती पूंजी में कमी लाते हैं। परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी की तीव्र व द्धि के परिणामस्वरूप श्रम के लिए मांग में सापेक्ष कमी हो जाती है। मशीनों द्वारा श्रम का स्थान हथिया लेने की इस प्रक्रिया से 'औद्योगिक आरक्षित सेना' उत्पन्न हो जाती है जो त्यों-त्यों बढ़ती जाती है, ज्यों-ज्यों पूंजीवाद का विकास होता है। औद्योगिक आरक्षित सेना जितनी अधिक बढ़ी होती है, रोजगार पर लगे श्रमिकों की स्थिति उतनी ही खराब होती है क्योंकि पूंजीपति असंतुष्ट तथा झगड़ालू श्रमिकों को हटा सकता है और उनके स्थान पर आरक्षित सेना में से नये श्रमिक लगा सकता है। पूंजीपति मजदूरी को घटाकर भुखमरी के स्तर तक भी ला सकते हैं और अधिकाधिक अतिरेक मूल्य का निवेश कर सकते हैं। यह पूंजीवाद के अन्तर्गत जनसाधारण की ''बढ़ती विपत्ति का नियम'' है।

परन्तु जब पूंजीपति श्रमिकों के स्थान पर मशीनों को स्थानापन्न करता है जो वह सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी का वध करता है। अतिरेक मूल्य लगातार घटता चला जाता है। मार्क्स का विश्वास है कि प्रौद्योगिकीय प्रगति में पूंजी की संगठित संरचना (c/v) बढ़ने लगती है, क्योंकि लाभों की दर का पूंजी की संगठित संरचना के साथ उलट सम्बन्ध है इसलिए संचय के साथ लाभों की दर घटने लगती है। मार्क्स ने लाभों की घटती दर की इस प्रव त्ति की व्याख्या निम्नलिखित समीकरण द्वारा की है।

$$r = \frac{s}{c+v} = \frac{s/v}{c/v+1}$$

लाभों की दर (r) पूंजी की संगठित संरचना (c/v) के साथ विपरीत बदलती है और अतिरेक मूल्य की दर (शोषण की दर s/v) के साथ सीधा बदलती है, इसलिए लाभों की दर (r) अतिरेक मूल्य की दर c/v के साथ बढ़ती है और पूंजी की संगठित संरचना c/v के साथ गिरती है।

मार्क्स यह मानकर चलता है कि ज्यों-ज्यों उद्यमी अधिक पूंजी लगाते हैं वे श्रम की पूर्ति को स्थिर रखते हैं। चित्र में पूंजी की मात्रा को क्षैतिज अक्ष पर जबकि कुल उत्पादन को अनुलम्ब अक्ष पर दर्शाया गया है। कुल उत्पादन वक्र OP को प्रारंभिक बिन्दु से खींचा गया है जिसकी ढाल यह बताती है कि कुल उत्पादन बिन्दु A तक बढ़ती हुई दर से और उसके पश्चात उत्पादन घटती हुई दर से बढ़ता है। दूसरे शब्दों में, अधिक पूंजी लगाने से श्रम की पूर्ति स्थिर रहती है और घटता प्रतिफल नियम लागू होने लगता है। कुल मजदूरी OT के बराबर स्थिर मानी गई है और इसी कारण रेखा TW क्षैतिज अक्ष के समानान्तर खींची गई है जो कि यह बताती है कि अधिक पूंजी लगाने से श्रम की मात्रा स्थिर रहती है।

बिन्दु T से एक रेखा TT खींची गई है जो कि कुल उत्पादन वक्र को बिन्दु A पर स्पर्श करती है जबकि बिन्दु A से एक लम्ब AK खींचा गया है जो रेखा TW को S_1 पर काटता हैं इसी

प्रकार, बिन्दु T से एक अन्य रेखा TT_2 खींची गई है जो कुल उत्पादन वक्र को बिन्दु B पर नीचे से काटती है और बिन्दु B से लम्ब BK_2 खींचा गया है जो रेखा TW को S_2 पर काटता है।

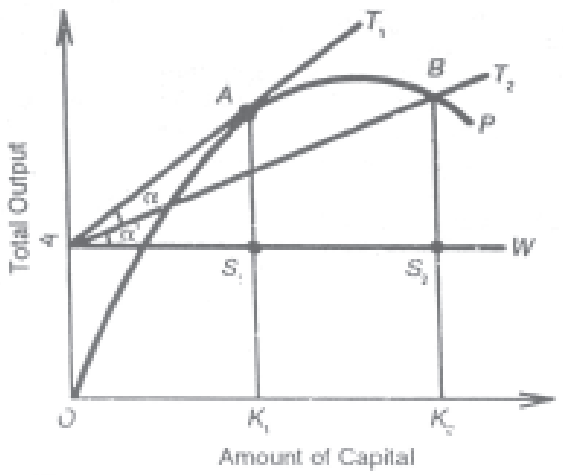

जब पूंजी की OK_1 मात्रा मशीनों पर लगाई जाती है तब कुल उत्पादन AK_1 के बराबर होता है और उद्यमियों को कुल लाभ AS_1 के बराबर प्राप्त होता है जबकि लाभ की दर $\tan\alpha=AS_1/TS_1$ है। यदि उद्यमी लाभ को बढ़ाने की आशा से OK_1 से अधिक मात्रा पूंजी पर व्यय करते हैं तो कुल लाभ AS_1 से कम होकर BS_2 हो जाता है। तब लाभ की दर कम हो जाती है। स्पष्ट है कि OK_2 पूंजी लगाने से लाभ की दर $\tan\alpha=BS_2/TS_2$ रह जाती है जो कि पहली लाभ की दर AS_1/TS_1 की अपेक्षा कम है। अतः अधिक पूंजी को मशीनों पर लगाने से लाभ की दर कम हो जाती है।

इस प्रकार श्रम-शोषण की उतनी ही कोटि के साथ, अतिरेक मूल्य की उतनी ही दर, अपने लाभों को घटती दर में प्रकट करती है क्योंकि ''जैसे-जैसे प्रौद्योगिकीय प्रगति सजीव श्रम के स्थान पर एकत्रित श्रम को स्थानापन्न करती जाएगी, वैसे-वैसे अतिरेक मूल्य की दी हुई दर द्वारा प्रदान की गई लाभों की दर घटती जाएगीअर्थात् यदि सजीव श्रम की शोषण -दर मे ंतदनुरूप व द्धि नही ंहोती तो लाभों की दर घटती जाएगी।'' लाभों की घटती दर की इस प्रव त्ति को विफल करने के लिए पूंजीपति मजदूरी घटाकर, कार्यकारी दिन को लम्बा करके और 'त्वरण' इत्यादि के शोषण की कोटि बढ़ाते हैं। परन्तु क्योंकि प्रत्येक पूंजीपति नई श्रम-बचत तथा लागत घटाने की युक्तियों का प्रचलन करने में लगा रहता है, इसलिए कुल उत्पादन से श्रम का (अतः अतिरेक मूल्य का) अनुपात और भी कम हो जाता है। लाभों की दर भी और घट जाती है। यह प्रक्रिया चलती रहती है जब तक कि लाभ समाप्त नहीं हो जाते और संकट प्रारम्भ हो जाता है।

इसकी आलोचना-मार्क्स के विश्लेषण के कुछ दोष तो एकदम स्पष्ट हैं:

1. **लगान और ब्याज अलग-अलग पुरस्कार -** वह लगान और ब्याज को अलग-अलग पुरस्कार नहीं समझता बल्कि 'उनहें अतिरेक मूल्य का एक खंड मात्र' मानता है।
2. **उद्यमी के कार्य की चर्चा नही -** लाभ निर्धारण के लिए उसमें उद्यमियों के कार्य और महत्त्व की चर्चा की गई है।
3. **पूंजी की बढ़ती संगठित संरचना का नियम अन्तर्विरोधी -** मार्क्स का पूंजी की बढ़ती

'संगठित संरचना' का नियम अन्तर्विरोधों से ग्रस्त है। यदि परिवर्ती पूंजी ही सब लाभों का स्रोत है, तो स्थिर पूंजी जैसे मशीनें, लगाना व्यर्थ है। मार्क्स स्वयं अनुभव करता है कि 'यह अन्तर्विरोध मौजूद है' परन्तु वह इसका कोई हल नहीं होता।

4. **पूंजी की संगठित संरचना के नियम से लाभ की गिरती दर का नियम निकालना संभव नहीं** - जैसा कि प्रोफेसर केल्डॉर ने बताया है, पूंजी की संगठित संरचना के नियम से लाभ की गिरती दर का नियम नहीं निकाला जा सकता। क्योंकि मार्क्स की धरणा यह है कि श्रम की पूर्ति कीमत (मजदूरी की दर) अपरिवर्तित रहती है, इसलिए जब पूंजी की संगठित संरचना में व द्धि के परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति उतपादन बढ़ता है, तो उससे लाभ की दर अपेक्षाकृत अधिक या कम नहीं होगी। ''क्योंकि यदि यह भी मान लिया जाय कि प्रति व्यक्ति-पूंजी की तुलना में प्रति व्यक्ति उत्पादन अपेक्षाकृत धीरे बढ़ता है, तो भी प्रति व्यक्ति 'अतिरेक मूल्य' अवश्य ही प्रति व्यक्ति उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ेगा और इस प्रकार उस अवस्था में भी लाभ की बढ़ती दर प्राप्त कर सकता है, जब श्रम की प्रति इकाई स्थिर पूंजी की क्रमिक व द्धि की घटती उत्पादकता हो।''

5. **लाभों के घटने की प्रव त्ति सही नहीं** - जॉन रॉबिन्सन के अनुसार मार्क्स की ''लाभों के घटाने की प्रव त्ति की व्याख्या कुछ भी तो स्पष्ट नहीं करती।'' मार्क्स का कहना है कि ज्यों-ज्यों विकास अग्रसर होता है त्यों-त्यों पूंजी की प्रांगारिक संरचना में व द्धि होती है, जो लाभों की दर को घटा देती है। परन्तु मार्क्स यह समझाने में असमर्थ रहा कि प्रौद्योगिकीय नवप्रवर्तन पूंजी की बचत करने वाले भी हो सकते हैं, और पूंजी उत्पादन अनुपातों में कमी तथा उत्पादकता में व द्धि होने पर मजदूरी के साथ-साथ लाभ भी बढ़ सकते हैं।

मार्क्स और रिकार्डो के सिद्धान्त में अन्तर - दोनों सिद्धान्तों में कुछ आधारभूत अन्तर हैं-

1. मार्क्स घटते प्रतिफल नियम में विश्वास नहीं रखता तथा लगान और लाभ में कोई भेद नहीं करता, वह लगान को लाभ के भाग में ही शामिल कर लेता हैं परन्तु रिकार्डो की भांति मार्क्स भी ब्याज को लाभ का ही हिस्सा मानता है।

2. मार्क्स सामान्य वस्तुओं के रूप में श्रम की पूर्ति कीमत को स्थिर मानता है जबकि रिकार्डो अनाज के रूप में मजदूरी की दर को स्थिर समझता है।

3. रिकार्डो के अनुसार, लगान और मजदूरी का अन्तर लाभ होते हैं जबकि मार्क्स समझता है कि श्रम की पूर्ति कीमत (मजदूरी या लागत) से श्रम के उत्पादन का अतिरेक लाभ होते हैं।

4. रिकार्डो के सिद्धान्त में, मजदूरी कोष में से जीवन निर्वाह स्तर के बराबर मजदूरी दी जाती है जबकि मार्क्स के विश्लेषण में 'श्रम की आरक्षित सेना' (बेरोजगार जो समाज में हमेशा रहते हैं) मजदूरी की दर को निर्वाह स्तर से ऊपर जाने से रोकती है।

5. दोनों द ष्टिकोणों में एक और अन्तर पूंजी संचय के मूल में स्थित उद्देश्य के बारे में है। रिकार्डो की द ष्टि में पूंजीपति लाभ की ऊंची दर के आकर्षण से संचय करता है, परन्तु मार्क्स की द ष्टि में पूंजीपतियों के लिए संचय एक आवश्यकता है क्योंकि उनमें आपस में प्रतियोगिता होती है।

अन्तिम, रिकार्डो समझता है कि घटते प्रतिफल के नियम की क्रियाशीलता के कारण लाभों का घटती दर की ओर झुकाव होता है जबकि मार्क्स की द ष्टि में यह प्रव त्ति ''पूंजी की बढ़ती संगठित संरचना के नियम'' अर्थात परिवर्ती पूंजी से स्थिर पूंजी के अनुपात पर आधारित होती है।

कलैस्की का एकाधिकार कोटि-सिद्धान्त या नव-क्लासिकी सिद्धान्त

प्रो. क्लैसकी ने वितरण के एक सिद्धान्त का विकास किया है जो लर्नर के 'एकाधिकार कोटि' के सिद्धान्त पर आधारित है। सिद्धान्त यह बताता है कि ''समस्त आवर्त में सकल पूंजीपति आय और वेतनों का सापेक्ष भाग अत्यन्त सन्निकट से 'एकाधिकार की औसत कोटि' के बराबर होता है।

लर्नर की एकाधिकार की माप की व्यष्टि कोटि को लेते हुए, क्लैस्की उसको अपने समष्टि मॉडल पर लागू करता हैं। लर्नर की एक एकल फर्म की एकाधिकार की कोटि को इस प्रकार मापा जाता है -

$$\mu = p - m / p$$

जहां μ एकाधिकार की कोटि, p कीमत और m सीमांत लागत है।

कलैस्की सीमांत लागत (m) और औसत लगात (a) में समानता मानता है। अतः ऊपर के समीकरण में a को m के सथान पर स्थानापन्न करने से,

जहां $(p–a)$ ब्याज, लाभों, मूल्यहासों और वेतनों को जोड़ है। दूसरे शब्दों में, यह कुल पूंजीपति आय जमा मालिक के उत्पादन की प्रति इकाई वेतन।

मालिक की कुल सकल पूंजीपति आय को निकालने के लिए फर्म के कुल उत्पादन x को समीकरण (2) के दोनों भागों से गुणा किया जाता हैं। इस प्रकार

जहां $x(p-1)$ एक फर्म के मालिक की कुल सकल पूंजीपति आय है।

अर्थव्यवस्था में सभी फर्मो की कुल सकल पूंजीपति आय को जानने के लिए, समीकरण 3. के दोनों भागों को Σ (सिगमा जो समूहन या योग को व्यक्त करता है) से गुणा कर देते हैं। इस प्रकार समीकरण (3) बन जाता है।

जहां अभिव्यक्ति $\Sigma x(p–a)$ अर्थव्यवसथा में सभी फर्मो की कुल सकल पूंजीपति आय है, Σxp अर्थव्यवस्था में सभी उत्पादित एवं बेची गई वस्तुओं के उत्पादन का कुल मूल्य है। दूसरे शब्दों में, Σxp अर्थव्यवस्था का समस्त आवर्त है जिसे कलैस्की T द्वारा व्यक्त करता है। T में सकल राष्ट्रीय आय जमा बिक्री योग्य कच्चे मालों की समस्त लागत सम्मिलित होती है। समीकरण (4) के दोनों भागों को T द्वारा भाग देने से,

$$\frac{\Sigma xp\mu}{T} = \frac{\Sigma x(p-a)}{T}$$

के समीकरण के बांए भाग की अभिव्यक्ति $(\Sigma xp=T)\ \Sigma xpu/\Sigma\lambda\times 2$ जो एकाधिकार की कोटि μ की भारित औसत है जिसे इस प्रकार μ लिखा जा सकता है।

अतः समीकरण (5) ऐसे लिखा जा सकता है

$$\bar{\mu} = \Sigma x(p-a)/T \qquad (6)$$

जो यह दर्शाता है कि एकाधिकार की समष्टि कोटि [μ] बराबर है, अर्थव्यवस्था की कुल सकल पूंजीपति आय $\Sigma x(p\text{-}a)]$ तथा अर्थव्यवस्था के समस्त आवर्त (T) के अनुपात के।

एकाधिकर कोटि μ जिस पर यह समीकरण आधारित है, की परिभाषा यों दी गई है कि यह मूल लागतों की कीमत का अनुपात होती है जो वास्तव में मजदूरी से कुल लाभों का अनुपात है। ऊपर दिया गया समीकरण एकाधिकार औसत कोटि को प्रकट करता है और स्वतन्त्र प्रतियोगिता की स्थिति में, जहां μ शून्य के बराबर होता है, सही नहीं ठहर सकता। एकाधिकार की स्थिति में यह तभी सही हो सकता है, जब यह मान लिया जाए कि (1) उद्योग पूर्ण क्षमता के बिन्दु से नीचे काम करते हैं और (2) कि उत्पादन के संबंधित रेंज में उत्पादन की मूल लागतों प्रति इकाई स्थिर रहती हैं। इस प्रकार यह फार्मूला वास्तविक है, इसलिए कि कोई भी उद्योग अपनी पूर्ण क्षमता तक उत्पादन नहीं करता क्योंकि अपूर्ण प्रतियोगिता या एकाधिकार के अन्तर्गत मांग वक्र (AR) औसत लागत वक्र को उसके न्यूनतम बिन्दु से बाएं को स्पर्श करता है। यह अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों में लागू होता हैं आविष्कारों तथा पूंजी और श्रम में स्थानापन्नता की लोच का आय के वितरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि सीमांत लागत वक्र का औसत लागत वक्र के साथ एक मेल होता है। हां, यदि तकनीकी प्रगति उद्यमों के आकार में परिवर्तन करके एक उद्योग के एकाधिकार की कोटि को प्रभावित करती है तो एकाधिकारकी कोटि के माध्यम से आय के वितरण पर प्रभाव पड़ता है।

$[\because \bar{\mu} = \Sigma \bar{x}(p-a)/Ta) = \bar{y} - \bar{w}]$

इसके पश्चात् कलैस्की सकल राष्ट्रीय आय में मजदूरी के सापेक्ष भाग के लिए समीकरण व्युत्पन्न करता है। वास्तव में अभिव्यक्ति $\Sigma x(p-a)$ मजदूरी बिल देने के बाद सकल राष्ट्रीय आय का भाग है। यदि राष्ट्रीय आय को Y द्वारा और मजदूरी बिल को W द्वारा व्यक्त किया जाता है, तब Y-W भी सकल राष्ट्रीय आय दर्शाता है। समीकरण (6) का ऐसे लिखा जा सकता है

(7)

समीकरण (7) में दोनों भागों को T/W से गुणा करने से,

$$\bar{\mu}.T/W = (Y - W/T).T/W$$

or $$\bar{\mu}.T/W = (Y - W)/W$$

or $$\bar{\mu}.T/W = Y/W - 1$$

or $$1 + \bar{\mu}.T/W = Y/W$$

राष्ट्रीय आय में मजदूरी का भाग W/Y जानने के लिए, हम ऊपर के समीरण का उलटा लिखते हैं

$$\frac{W}{Y} = \frac{1}{1 + \bar{\mu}.T/W}$$

समीकरण (8) बताता है कि राष्ट्रीय आय में मजदूरी का भाग एकाधिकार की कोटि के साथ विपरीत परिवर्तन करता है। फिर, मजदूरी का भाग भी T/W पर निर्भर करता है। इस प्रकार, कलैस्की के अनुसार, सकल राष्ट्रीय आय में मजदूरी का सापेक्ष भाग दीर्घकाल में एकाधिकार की कोटि, मजदूरी इकाई लागत के अनुपात में कच्चे मालों की कीमतों तथा औद्योगिक संरचना द्वारा निर्धारित होता है। एकाधिकार की कोटि में व द्धि राष्ट्रीय आय में मजदूरी के सापेक्ष भाग को कम करती है। मजदूरी के अनुपात में आधारभूत कच्चे माल की कीमतों में व द्धि राष्ट्रीय आय में मजदूरी के सापेक्ष भाग को कम करती है लेकिन बहुत कम अनुपात में। अतः एकाधिकार की कोटि और कच्चे मालों की कीमतें विपरीत दिशा में चलती हैं। तेजी में कच्चे मालों की कीमतों में व द्धि को एकाधिकार को कोटि में कमी क्षतिपूर्ति करती है, जबकि सुस्ती में कच्चे मालों की कीमतों में गिरावट को एकाधिकार की कोटि में व द्धि क्षतिपूर्ति करती है।

औद्योगिक संरचना और कच्चे माल की कीमतों के इकाई मजदूरी लागतों के संबंध के बारे में निश्चित तौर से कहना कठिन है। परन्तु व्यापार चक्र में कुछ निश्चित तौर पर कहा जा सकता है। मंदी के दौरान मजदूरी के अनुपात में कच्चे माल की कीमतें गिरती हैं और वे राष्ट्रीय आय में मजदूरी के सापेक्ष भाग को बढ़ाती है जबकि औद्योगिक संरचना में परिवर्तन मजदूरी के सापेक्ष भाग पर उल्टा प्रभाव डालता है, और विलोमशः। अतः कच्चे माल की कीमतें, एकाधिकार की कोटि, और औद्योगिक संरचना की परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों में होती रहती है जिससे राष्ट्रीय आय में मजदूरी का भाग स्थिर रहता है।

इसकी आलोचनाएं - कलैस्की के सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई है।

1. **एकाधिकार की कोटि सही ढंग से परिभाषित नहीं** - केल्डॉर ने कलैस्की की इस बात पर आलोचना की है कि उसने एकाधिकार की कोटि को जिस प्रकार परिभाषित किया है, अर्थात् कीमत का मूल लागतों के साथ अनुपात, उसके अनुसार इस प्रकार की अस्पष्ट परिभाषाओं पर आधारित प्रतिस्थापनाएं वास्तविकता से दूर होती हैं तथा उनका कोई व्याख्यात्मक मूल्य नहीं होता है।

2. **मूल लागतें जमा कुछ कीमत बढ़ाकर कीमतों को निर्धारित करते हैं** - सकल लाभ का (कीमत बढ़ाकर) एकाधिकार की कोटि के साथ एकीकरण करने से वह सभी फर्मो को, जो पूंजी से श्रम के बड़े अनुपात का प्रयोग करती हैं, एकाधिकार बना देता हैं परन्तु यह सही द ष्टिकोण नहीं है क्योंकि हाल और हिच ने अनुभव से यह ज्ञात किया है कि कई अल्प-अधिकार फर्मे मूल लागत जमा कुछ कीमत बढ़ाकार (लाभ) द्वारा कीमतें निर्धारित करती हैं।

3. **मूल लागतें स्थिर नहीं** - सिद्धान्त यह मानता है कि सभी फर्मो की मूल लागतें स्थिर होती हैं। परन्तु सभी फर्मो की मूल लागतें बराबर नहीं होती हैं। परिणामस्वरूप, उद्योग के पूर्ति वक्र की ढाल धनात्मक होगी बावजूद इस बात के कि सभी फर्मो की मूल लागतें स्थिर हैं।

4. **श्रम संघों के प्रभाव की उपेक्षा**- फेल्प्स ब्राउन तथा हार्ट के अनुसार, यह सिद्धान्त आय वितरण पर श्रम संघों के प्रभाव की अवहेलना करता है। श्रम मार्किट 'नर्म' एवं 'सख्त' होती है। 'सख्त मार्किटों' में श्रम संघ मालिकों को सोखकर मजदूरी बढ़ा सकते हैं, परन्तु 'नर्म मार्किटों' में वे ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि मालिक वस्तुओं की कीमतें बढ़ा सकते हैं। इसलिए कलैस्की द्वारा राष्ट्रीय आय में श्रम के हिस्से के कारण वास्तविक नहीं है।

5. प्रो. रैडर का मत यह है कि यह एक सिद्धांत न होकर केवल राष्ट्रीय आय में श्रम के हिस्से की व्याख्या है। यह सिद्धांत एकाधिकार शक्ति की कोटि को प्रभावित करने वाले कुछ तत्त्वों का विवेचन करता है।

6. **तकनीकी उन्नति के कार्य की उपेक्षा** - कलैस्की का सिद्धांत आय वितरण में तकनीकी उन्नति के प्रभाव को नहीं लेता हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि तकनीकी उन्नति आय वितरण में सदैव एक महत्त्वपूर्ण घटक रहा है। 1929 - 57 में संयुक्त राज्य अमरीका की व द्धि दर में इसका 1.8 प्रतिशत प्रति वर्ष का योगदान था।

7. **अनेक तत्त्वों की अवहेलना** - जे. पैन ने कलैस्की की एकाधिकार कोटि की प्रकृति के लिए आलोचना की है। उसके अनुसार, कलैस्की एकाधिकार कोटि को प्रतियोगिता की कोटि द्वारा निर्धारित संरचनात्मक विशिष्टता मानता हैं परन्तु लाभों, ब्याज तथा मजदूरी को प्रभावित करने वाली अन्य शक्तियां भी होती हैं। वे हैं फर्मो में लागत भिन्न पाए जाने, पूंजी की कमी तथा श्रम संघों के प्रभाव। कलैस्की अपने सिद्धान्त में इन सभी तत्त्वों की अवहेलना करता है।

8. **छोटी फर्मों को भी उच्च लाभ सीमाओं की आवश्यकता** - जे. पैन इस बात के लिए भी कलैस्की की आलोचना करता है कि ऊंची लाभ सीमा केवल बड़े निगमों को ही प्राप्त होती है। पैन के अनुसार, ''सामान्य तौर से यह सिद्ध नहीं हो सका है कि यह (लाभ सीमा) छोटी फर्मो की अपेक्षा बड़े फर्मो के लिए ऊंची होती है। प्रायः व्यापार में रहने के लिए छोटी फर्मो को उंची लाभ सीमा की आवश्यकता होती है।''

9. **कम व्याख्या** - जान पैन एकाधिकार की कोटि को पुनरुक्ति मानता है जहां सभी घटक जो लाभ, ब्याज, लगान और मजदूरों के वेतनों को प्रभावित करते हैं इसी चर में मिलते हैं। उनके अनुसार, ''एकाधिकार की कोटि आकस्मिक घटकों का एक प्रकार का कूड़े-करकट का कनस्तर है और इसलिए कम व्याख्या करता है।''

10. **व्यष्टि कोटियों का समष्टि कोटि में इकट्ठा करना** - कलैस्की बहुत सरलता से एकाधिकार की व्यष्टि कोटियों को एकाधिकार की समष्टि कोटि में समूहन करने की कठिनाइयों को समाप्त कर देता है।

इन आलोचनाओं के बावजूद, कलैस्की का सिद्धान्त वास्तविक है क्योंकि यह बताता है कि संसार में पूर्ण-प्रतियोगिता न होकर एकाधिकार पाया जाता है और एकाधिकार शक्ति किस प्रकार आय के वितरण को प्रभावित करती है।

वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त
(Marginal Productivity Theory of Distribution)

सीमान्त उत्पादकता का सिद्धांत वितरण का नव-क्लासिकी सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार, एक साधन का पुरस्कार उसके सीमान्त उत्पादन के बराबर होता हैं सीमान्त उत्पादन, जिसे सीमान्त भौतिक उत्पादन भी कहते हैं, कुल उत्पादन में वह व द्धि है जो साधन की एक अतिरिक्त इकाई लगाने से होती है, जबकि अन्य सब साधन स्थिर रहें। यदि उत्पादन की इस व द्धि को वस्तु की वर्तमान कीमत से गुणा कर दिया जाए, तो उस साधन की सीमान्त मूल्य उत्पाद (MVP) निकल आता है। परन्तु प्रोफेसर मैकल्प का कहना है कि ''साधनों की इकाइयों को उनके मार्किट मूल्य के रूप में मापने से, सीमान्त उत्पादकता विश्लेषण बिल्कुल व्यर्थ बन जाता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वितरण सिद्धान्त का भाग होने के नाते

सीमान्त उत्पादकता विश्लेषण का काम साधनों या सेवाओं के मार्किट मूल्यों की व्याख्या करना है। मार्किट मूल्यों के रूप में इन सेवाओं की परिभाषा देना उनकी व्याख्या करने के समान है।'' इसलिए, अच्छा यह है कि एक साधन के सीमान्त उत्पादन को उसके सीमान्त आगम उत्पादन (MRP) के रूप में मापा जाए जिसकी परिभाषा यों दी जा सकती है कि सीमान्त आगम उत्पाद वह व द्धि है, जो उत्पादन के एक साधन की एक और इकाई लगाने से कुल आगम में होती है, जबकि अन्य साधन अपरिवर्तित रहें।

सामान्य नियम है कि एक साधन की सीमान्त आगम उत्पादकता उस साधन सेवा की इकाइयों में व द्धि के साथ घट जाती है। शुरू-शुरू की अवस्थाओं में जब अन्य साधनों को स्थिर रखते हुए एक परिवर्ती साधन की इकाइयां काम पर लगाई जाती है, तो कुछ समय के लिए कुछ आगम उत्पाद में आनुपातिकता से अधिक व द्धि हो सकती है। परन्तु एक समय आएगा, जब सीमान्त आगम उत्पाद घटना शुरू करेगा और अन्त में उस साधन सेवा की कीमत के बराबर हो जाएगा। घटते MRP की यह प्रव त्ति हमें परिवर्तनशील अनुपातों के नियम से प्राप्त होती है।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य करने वाली फर्म, को किसी एक साधन विशेष की एक इकाई की कीमत (पुरस्कार) उतनी ही देनी पड़ती है जितनी की उद्योग देता हैं अधिकतम लाभ प्राप्ति के लिए, फर्म स्थानापन्नता के नियम पर चलती है। सस्ती साधन सेवाएं महंगी साधन सेवाओं को हटाने का प्रयत्न करती है।उदाहरण के लिए, यदि फर्म देखती है कि मशीनों को महंगे श्रम के स्थान पर स्थानापन्न करना अधिक लाभदायक है, तो वह ऐसा कर देगी। महंगे साधनों के स्थान पर स्थानापन्न करना अधिक लाभदायक है, महंगे साधनों के स्थान पर सस्ते साधनों की स्थानापन्नता तब तक चलती रहेगी, जब तक कि प्रत्येक साधन की सीमान्त आगम उत्पादकता उस साधन की कीमत के बराबर नहीं हो जाती। इस स्टेज पर उत्पादन के साधनों को उनके दक्षतम संयोग अथवा न्यूनतम लागत संयोग में काम पर लगाया जाता है और फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त होते हैं।

इसलिए यह जरूरी है कि संतुलन में एक साधन-सेवा की कीमत उसकी अपनी सीमान्त आगम उत्पादकता के बराबर होगी। यदि एक साधन इकाई का सीमान्त आगम उत्पाद उसकी कीमत (उसे काम पर लगाने की लागत) से अधिक हो, तो फर्म के लिए उस साधन की और इकाइयों को लगाना लाभदायक होगा। ज्यों-ज्यों अधिक इकाइयां लगाई जाती हैं, त्यों-त्यों सीमान्त आगम उत्पाद घटता जाता है, जब तक कि वह कीमत के बराबर नहीं हो जाता। फर्म के लिए यह अधिकतम लाभ का बिन्दु है। परन्तु यदि इस बिन्दु के बाद और इकाइयां लगाई जांए तो सीमान्त आगम उत्पाद उसकी कीमत से कम हो जाएगा और फर्म को हानि उठानी पड़ेगी। (आनुपातिक प्रतिफल के नियम की व्यावहारिकता से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है।)

फिर, एक ही साधन सेवा की भिन्न-भिन्न इकाइयों में भी स्थानापन्नता होती है। साधन मार्किट में पूर्ण गतिशीलता होने के कारण, एक साधन-सेवा की इकाइयां उस प्रयोग से, जहां उनकी सीमांत आगम उत्पादकता कम है, दूसरे उद्योग में जहां वह उत्पादकता अधिक हो जाने का प्रयत्न करती रहती है, जब तक कि भिन्न-भिन्न प्रयोगों में सब इकाइयों की सीमान्त आगम उत्पादकता समान नहीं हो जाती।

पर, अन्तिम विश्लेषण में, यह जरूरी है कि एक साधन इकाई की कीमत उसकी सीमान्त तथा औसत आगम उत्पादकता दोनों में से प्रत्येक के समान हो। यदि किसी भी समय एक साधन

इकाई की कीमत उसकी औसत आगम उत्पादकता से अधिक हो, तो फर्मो को हानि होगी। परिणाम यह होगा कि कुछ फर्मे उद्योग को छोड़ जाएंगी और उससे साधन-सेवा की कीमत गिरकर अधिकतम औसत आगम उत्पादकता के स्तर पर आ जाएगी। इसके विपरीत, यदि कीमत औसत आगम उत्पादकता से कम हो जाए, तो फर्मे अतिरिक्त (अधिक) लाभ प्राप्त करेंगी। इन अधिक लाभों से आकर्षित होकर नई फर्मे उद्योग में प्रवेश कर इस साधन सेवा के लिए मुकाबले पर आ जाएंगी। यह कीमत को ऊपर की ओर औसत आगम उत्पादकता के स्तर तक धकेल देगी। अल्पकालीन में इस संतुलन से भिन्न स्थिति हो सकती है परन्तु दीर्घकालन में एक साधन-सेवा की कीमत उसकी सीमान्त और औसत आगम उत्पादकता के बराबर होगी। इसे चित्र में दिखाया गया है।

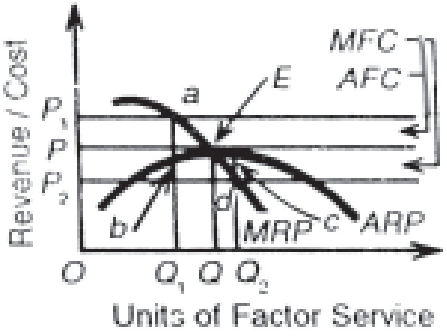

बिन्दु E पर ARP व MRP वक्र के बराबर है और दोनों साधन सेवा के औसत लागत और सीमान्त लागत के बराबर है। इसलिए प्रत्येक साधन सेवा को OQ इकाइयों के लिए OP कीमत दी जाएगी। मान लीजिए कि साधन-कीमत बढ़कर OP_1 हो जाती है। इस कीमत पर फर्म को प्रति इकाई ab हानि होगी क्योंकि साधन इकाइयों की उनकी औसत आगम उत्पादकता (ARP) से अधिक कीमत दी जा रही है। इससे कुछ फर्मे उद्योग को छोड़ जाएंगी ओर साधन कीमत गिरकर फिर E बिन्दु पर आ जाएगी। दूसरी ओर, यदि साधन कीमत गिरकर OP_2 पर आ जाए, तो फर्मो को प्रति इकाई dc लाभ प्राप्त होगा। जब इस लाभ से आकर्षित होकर नई फर्मे उद्योग में आएंगी, तो कीमत फिर बढ़कर OP पर चली जाएगी। ये कीमत परिवर्तन केवल अल्पकालीन में ही सम्भव है। दीर्घकालीन में, संतुलन स्थिति E बनी रहेगी।

सिद्धान्त की मान्यताएँ - वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त कई मान्यताओं पर आधारित है। इसकी मान्यताएँ हैं :

1. साधन-सेवा की सब इकाइयाँ समरूप होती हैं।
2. उन्हें एक-दूसरे के स्थान पर स्थानापन्न किया जा सकता है।
3. साधन भिन्न-भिन्न स्थानों और रोजगारों में पूर्णतया आ-जा सकते हैं।
4. साधन मार्किट में तथा वस्तु मार्किट में पूर्ण प्रतियोगिता है।
5. पूरे साधन और स्रोत रोजगार में लगे हैं।
6. भिन्न-भिन्न साधन-सेवाओं की इकाइयों में भाज्यता है।
7. उद्यमी अधिकतम लाभ से प्रेरित है।
8. सिद्धान्त दीर्घकालीन में लागू होता है
9. यह नियम परिवर्तनशील अनुपातों के नियम पर आधारित है।

इसकी आलोचना - अपनी अवास्तविक मान्यताओं के कारण, अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में से वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त सबसे अधिक आलोचना का विषय रहा है।

1. **एक साधन की सभी इकाइयाँ समरूप नहीं होती** - यह धारणा अवास्तविक है कि साधन-सेवा की सब इकाइयाँ समरूप होती हैं। हम जानते हैं कि श्रमिकों में श्रम की दक्षता भिन्न-भिन्न होती है। इसी प्रकार भूमि का एक टुकडा उर्वरता में दूसरे से भिन्न होता है। इसलिए यह धारणा ठीक नहीं है कि एक ही सेवा की भिन्न-भिन्न साधन इकाइयाँ समरूप होती हैं। वास्तव में, समरूपता की बजाय भिन्नरूपता का नियम है। निष्कर्ष यह कि कोई दो साधन-इकाइयाँ समरूप नहीं होतीं, इसलिए उन्हें एक-दूसरे के स्थान पर स्थानापन्न नहीं किया जा सकता। एक टैक्सटाइल इंजीनियर को एक चीनी के प्रौद्योगिक की जगह नहीं रखा जा सकता।

2. **साधन पूर्णतया गतिशील नहीं होते** - इस सिद्धान्त की धारणा यह भी है कि साधन भिन्न-भिन्न स्थानों और रोजगारों में पूरी स्वतंत्रता से आ-जा सकते हैं। परन्तु वास्तव में, साधन बहुत ही कम गतिशील होते हैं। एक उद्योग या स्थान से साधनों की कहीं और गति अपने-आप नहीं हो जाती। एक उद्योग में विशेषीकरण की कोटि जितनी अधिक होती है, एक उद्योग से दूसरे में साधन गतिशीलता उतनी ही कम होती है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यवसाय में और हर स्थान पर एक ही साधन-सेवा की, अथवा भिन्न-भिन्न साधन-सेवाओं की भी, इकाइयों को उनकी सीमान्त उत्पादकताओं के समान आदायगी नहीं की जाती।

3. **पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पाई जाती** - यह सिद्धांत, पूर्ण प्रतियोगिता की एक ओर अवास्तविक धारणा पर आधारित है, जो न तो साधन मार्किट में मिलती है और न ही वस्तु मार्किट में। पूर्ण प्रतियोगिता एक वास्तविकता नहीं बल्कि भ्रांति है। इसकी बजाय अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का नियम है जिससे साधनों का शोषण होता है जिन्हें उनकी सीमांत उत्पादकता से बहुत कम अदायगी की जाती है। हां, प्रोफेसर चैम्बरलिन ने सीमांत उत्पादकता सिद्धांत को अपूर्ण प्रतियोगिता पर लागू किया है।

4. **साधनों की पूर्ण सेवा-नियुक्ति नहीं होती** - इस सिद्धांत में यह भी माना जाता है कि उद्योग में पूर साधन रोजगार में लगे होते हैं अन्यथा बेरोजगारी की स्थिति में साधन इकाइयां अपने सीमांत उत्पादन से कम कीमत पर भी अपनी सेवाएं देने को तैयार होंगी। पूर्ण रोजगार की इस धारणा से सिद्धान्त स्थितिशील बन जाता है। इसके विपरीत कीन्स ने बताया है कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की बजाय अल्प रोजगार होता है और कुल रोजगार इस बात पर निर्भर करता है कि एक समाज में प्रभावी मांग कितनी है। सीमांत उत्पादकता का सिद्धान्त ज्यादा-से-ज्यादा एक फर्म पर लागू हो सकता है।

5. **सभी साधन विभाज्य नहीं होते** - यह धारण भी सही नहीं ठहरती कि साधन इकाइयों में भाज्यता होती है और इसलिए उन्हें थोड़ी-थोड़ी मात्राओं में बढ़ाया या घटाया जा सकता है। एक अविभाज्य, बड़े या भारी साधन को कम ज्यादा नहीं किया जा सकता। उदारहण के लिए, एक फर्म के उद्यमी को कैसे घटाया या बढ़ाया जा सकता है। फिर, एक बड़ी फैक्ट्री में एक साधन इकाई बढ़ाने या घटाने से कुल उत्पादकता पर व्यावहारिक रूप में कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। घरेलू उत्पादन में यह

ठीक हो सकता है। इस प्रकार, साधनों को थोड़ी बहुत मात्रा में कम या ज्यादा करके उसकी सीमांत उत्पादकता और कीमतों में समानता नहीं लाई जा सकती।

6. **उत्पादन एक ही साधन का परिणाम नहीं होता** - इसी बात से निकली हुई एक और आलोचना टॉस्सिग और डेवनपोर्ट ने रखी है कि वस्तु के उत्पादन का कारण किसी एक साधन, भूमि, श्रम या पूंजी को नहीं माना जा सकता। बल्कि वह तो साधनों और उनकी इकाइयों के सम्मिलित कार्यकरण का परिणाम होता है। इसलिए प्रत्येक साधन इकाई की अलग-अलग सीमांत उत्पादकता की संगणना नहीं की जा सकती।

7. **लाभ प्रयोग ही मुख्य प्रयोजन नहीं होता** - यह सिद्धान्त इस धारणा को भी लेकर चलता है कि उद्यमी अधिकतम लाभ के उद्देश्य से प्ररित होते हैं और यही कारण है कि एक साधन सेवा की उस समय और इकाइयां काम में लगाई जाती हैं जब फर्म देखती है कि साधन-सेवा का सीमांत उत्पादन उसकी कीमत से अधिक है। परन्तु जैसाकि प्रोफेसर शूम्पीटर ने संकेत किया है, एक व्यापार-साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा, विजय का निश्चय और चीजों को बनाने और उन्हें कारवाने की प्रसन्नता उद्यमी क्रियाओं का पथ-प्रदर्शन करती है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि लाभ के प्रयोग उद्यमी का पथ-प्रदर्शन करते हैं।

8. **अल्पकालीन में लागू नहीं होती** - यह सिद्धान्त केवल दीर्घकालीन में लागू होता है, जबकि साधन-सेवाओं के पुरस्कार उनके सीमांत आगम उत्पादन के बराबर होते हैं। परन्तु वास्तव में अल्पकालीन समस्याओं से हमारा संबंध रहता है। जैसा कि कीन्स ने कहा था ''दीर्घकालीन में हम सब म त होते हैं।'' यह धारणा साधन-सेवाओं के कीमत निर्धारण की समस्या को अवास्तविक बना देती है।

9. **तकनीकी परिवर्तन की उपेक्षा** - सीमांत उत्पादकता का सिद्धांत तकनीकी परिवर्तन के प्रभाव की उपेक्षा करके सापेक्ष भागों के निर्धारण पर कोई भी प्रकाश डालने में असफल रहता है। प्रोफेसर हिक्स ने बताया है कि एक श्रम-बचत नवप्रवर्तन श्रम की सापेक्षता में पूंजी-बचत प्रवर्त्तन के विषय में इससे उलट हो सकता हैः परन्तु तकनीकी परिवर्तन में कभी-कभी निश्चित अनुपातों में सहकारी साधनों की जरूरत पड़ती है, जैसे, एक मशीन पर दो मजदूरों की बहुतायत में मिलने वाला और सस्ता श्रम भी मालिक को उस मशीन पर दो से अधिक मजदूर लगाने को प्रेरित नहीं कर सकता। इस प्रकार सीमांत उत्पादकता का सिद्धांत तकनीकी परिवर्तन की समस्याओं का विश्लेषण करने में असमर्थ है।

10. **साधनों की पूर्ति स्थिर नहीं है** - वितरण का यह सिद्धांत दी हुई मात्राओं के रूप में साधनों की पूर्ति को पूर्ण लोचरहित मान लेता है। साधनों की पूर्ति अल्पकालीन में स्थिर होती है, न कि दीर्घकालीन में। इसलिए यह सिद्धांत आत्मविरोधी है क्योंकि यह सिद्धांत दीर्घकाल में लागू होता है और दीर्घकालीन में भी साधनों की पूर्ति को सिथर मान लेता है। यह सिद्धांत साधनों की अकेली मांग का सिद्धांत है, इसलिए इसे समस्त साधन मार्किट पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसके लिए तो ऐसे सिद्धांत की जरूरत है, जो साधनों की पूर्ति और मांग दोनों का सिद्धांत हो।

11. **आय की असमानताओं का कोई औचित्य नहीं** - आय के वितरण में जो असमानताएं वर्तमान रहती हैं, उन्हें उचित सिद्ध करने के लिए सीमांत उत्पादकता सिद्धांत का

अक्सर प्रयोग किया जाता है। सिद्धांत कहता है कि प्रत्येक साधन की कीमत उसके सीमांत आगम उत्पादन के बराबर होती है जिससे पुरस्कार अनिवार्य रूप से वास्तविक पुरस्कार के बराबर होता है। प्रत्यक्ष, एक व्यक्ति को उतना ही प्राप्त होता है जितना वह उत्पादन करता हैं यह मूल उपधारणा इस प्रस्थापना पर टिकी हुई है कि एक व्यक्ति को उतना ही प्राप्त होता है जितना वे स्रोत, जिनका वह स्वामी है, उत्पादन करते हैं और सब व्यक्तियों को समान अवसर प्राप्त हैं। इस प्रकार, आय के वर्तमान वितरण को सीमांत उत्पादकता नियम के आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता।

12. **साधनों के कुल भुगतानों का जोड़ कुल उत्पादन के बराबर नहीं होता** - क्योंकि प्रत्येक साधन को उसके सीमान्त उत्पादन के अनुसार अदायगी की जाती है, इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि साधनों के कुल भुगतानों का जोड़ कुल उत्पादन के बराबर होगा। वास्तविकता में, सीमान्त उत्पादों का जोड़ कुल उत्पादन से अधिक होता हे। इस प्रकार, जो अतिरेक रहता है, वह साधनों के सहकारी कार्यकरण का परिणाम होता है। यदि किसी भी समय उत्पादन क्रिया से एक महत्त्वपूर्ण साधन इकाई को निकाल लिया जाए तो वह समस्त व्यापार को पूर्ण रूप से अव्यवस्थित कर देगी। इस साधन इकाई को निकाल लेने से कुल उत्पादन में उस इकाई के सीमान्त उत्पादन से अधिक कमी हो जाएगी। इस प्रकार सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त साधन-सेवा कीमत निर्धारण का सही माप नहीं देता।

निष्कर्ष - अतः हम कह सकते हैं कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त साधन-सेवाओं की कीमतें निर्धारित करने की उचित व्याख्या नहीं है। यह साधन कीमत निर्धारण के माँग पक्ष का कथन करता है और इसलिए एकांगी हैं। पूर्ण प्रतियोगिता और पूरे स्रोतों के रोजगार में लगे होने के आयन्त्रित धारणाओं के अन्तर्गत काम करता है और इस प्रकार अवास्तविक है। यह स्थैतिक है अेर इस बात को सही मान लेता है कि एक साधन इकाई की कीमत उसकी सीमान्त उतपादकता के बराबर होती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त गतिशील अर्थव्यवस्था में साधन कीमत निर्धारण की व्याख्या करने में असफल रहता है।

कीन्सतीय या केल्डॉर का वितरण सिद्धान्त (The Keynesiaw or Kaldor's Theory of Distribution)

कीन्स ने स्वयं वितरण का सिद्धानत नहीं बनया था। ''वितरण के कीन्स'' के विकास का श्रेय प्रोफेसर केल्डॉर को जाता है जिसका कहना है कि कीमतों और मजदूरी के बीच सम्बन्ध निर्धारण के लिए गुणक के नियम का प्रयोग हो सकता है, जबकि उत्पादन और रोजगार के स्तर दिए हुए हों। परन्तु कीन्स ने कीमतों और मजदूरी के बीच सम्बन्ध को स्थिर रखकर, रोजगार का स्तर निर्धारण करने के लिए इसका व्यवहार किया था।

प्रोफेसर केल्डॉर अपने सिद्धान्त का निर्माण निम्नलिखित मान्यताओं पर करता हैः

1. पूर्ण रोजगार की स्थिति है जिसमें कुल उत्पादक या आय (Y) दी हुई है।
2. राष्ट्रीय आय या उत्पादन में केवल मजदूरी (W) और लाभ (P) शामिल होते हैं। (W) में शारीरिक श्रम और वेतन दोनों आते हैं, जबकि P में सम्पत्ति और उद्यमियों की आय सम्मिलित हैं।

3. पूँजीपतियों की अपेक्षा मजदूरों की सीमान्त उपभोग प्रव त्ति अधिक होती है जिसके परिणामस्वरूप पूँजीपतियों की अपेक्षा मजदूरों की सीमान्त बचत प्रव त्ति थोड़ी होती है।

4. निवेश-उत्पादन अनुपात (I/Y) एक स्वतंत्र चर है।

5. अपूर्ण-प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार शक्ति के तत्त्व पाए जाते हैं।

इन मान्यताओं के आधार पर केल्डॉर राष्ट्रीय आय का वितरण केवल श्रमिकों और पूँजीपतियों में करता हैं:

Sw को मजदूरी में समस्त बचतें और Sp को लाभों में से समस्त बचतें लेते हुए,

$$y \equiv W + P$$

परन्तु $I \equiv S$

और $S \equiv Sw + Sp$

निवेश दिया होने पर और साधारण आनुपातिक बचत फलन मानते हुए, Sw=swW और Sp = spP, हमें यह समीकरण प्राप्त होता है:

$$I = spP + swW$$

$$= spP + Sw(Y\text{-}P) \quad \text{क्योंकि} \quad W = Y - P = spP + swY - SwP$$

$$(Sp - Sw)\,P + Swp$$

जिससे निवेश का राष्ट्रीय आय से अनुपात

$$\frac{I}{Y} = \frac{(Sp - Sw)P + SwY}{Y}$$

$$\text{or } \frac{I}{Y} = (Sp - Sw) - \frac{P}{Y} + Sw \qquad \ldots (1)$$

और (1) से लाभ का राष्ट्रीय आय से अनुपात P/Y इस प्रकार निकाला जा सकता है।

$$(Sp - Sw)\frac{P}{Y} = \frac{I}{Y} - Sw$$

या $$\frac{P}{Y} = \frac{1}{Sp - sw} \times \frac{I}{y} - \frac{Sw}{sp - Sw} \qquad \ldots(2)$$

या $$\frac{1}{y} = \frac{(sp - sw)P + Swy}{X} \text{ or } \frac{1}{y} = (sp - sw)\frac{1}{y} + sw$$

इस प्रकार मजदूरों और पूँजीपतियों की सीमान्त बचत प्रव त्तियाँ दी हुई होने पर, राष्ट्रीय आय में लाभ का भाग कुल उत्पादन से निवेश के अनुपात पर निर्भर करता हैं जब तक sp>sw है तो I/Y में व द्धि होने से राष्ट्रीय आय में लाभों के भाग में व द्धि होगी। इसकी चित्र द्वारा व्याख्या की गई है।

आय का पूर्ण रोजगार स्तर Y दिया होने पर बचत आय अनुपात तथा निवेश आय अनुपात क्रमशः S/Y और I/Y है। स्थिर लाभ-आय अनुपात रेखा PP है जिस पर अर्थव्यवस्था संतुलन

में है। यदि आय में व द्धि होती है तो S/Y तथा I/Y वक्र ऊपर को सरककर S/Y_1 तथा I/Y_1 हो जाते हैं। परन्तु राष्ट्रीय आय में लाभ का भाग स्थिर ही रहता है जैसा कि PP रेखा द्वारा दिखाया गया है। यदि केवल I/Y वक्र ही सरकता है तथा बचत आय अनुपात S/Y_0 स्तर पर ही रहता है तो कीमतों में स्फीतिकारी व द्धि होगी। इससे लाभ आय अनुपात बढ़ जाए और बचत-आय वक्र ऊपर सरककर S/Y_1 हो जाएगा। यदि निवेश आय अनुपात तथा बचत-आय अनुपात वक्रों में ऐसा सम्बन्ध चलता रहता हे तो अर्थव्यवसथा अपने आपको पूर्ण रोजगार के स्तर पर कायम रखेगी तथा आय में लाभ का भाग स्थिर रहेगा।

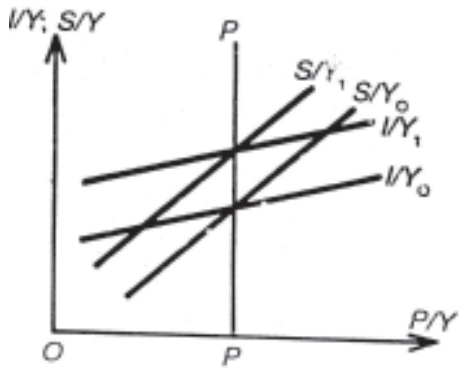

प्रोफेसर केल्डॉर के अनुसार, इस मॉडल का व्याख्यात्मक मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि निवेश को या बल्कि निवेश का उत्पादन से अनुपात I/Y को, sp और sw के संबधं में निश्चल, एक स्वतंत्र चर के रूप में समझा जाए। पूर्ण रोजगार की धारण के साथ-साथ यह इस बात को प्रकट करता है कि नकद मजदूरी के स्तर के संबंध में कीमतों के स्तर को माँग निर्धारित करती है। निवेश के स्तर में व द्धि माँग और कीमतों के स्तर को बढ़ा देगी, मुद्रा मजदूरी स्थिर रहने पर। परिणामस्वरुप, राष्ट्रीय आय में लाभ का भाग बढ़ा देगी, परन्तु मजदूरी का भाग कम होगा। इसके विपरीत, निवेश में कमी कुल माँग को कम कर देगी, कीमतों और लाभ सीमाओं में गिरावट लाएगी, परन्तु मजदूरी का भाग बढ़ा देगी। अतः अन्य कीमतें या (बल्कि नम्य लाभ सीमाएँ) मानते हुए व्यवस्था पूर्ण रोजगार पर स्थिर होती है।

यह मॉडल उस समय क्रियाशील होता है, जब दोनों बचत प्रव त्तियाँ विभिन्न (sp=sw) हों, और मजदूरी में से सीमान्त बचत प्रव त्ति sw की अपेक्षा लाभों में से सीमान्त बचत प्रव त्ति sp बड़ी हो, sp>sw स्थिरता की अवस्था है। यदि sw से sp कम हो, कीमतों से कम होने से माँग में कमी होगी और कीमतों में संचयी गिरावट आएगी। इसी प्रकार कीमतों में व द्धि भी संचयी होगी।

फिर, व्यवस्था की 'स्थिरता की कोटि' सीमान्त बचत प्रव त्तियों के अन्तर पर निर्भर करती है अर्थात 1/(sp-sw) पर जो केल्डॉर की परिभाषा के अनुसार 'आय वितरण की संवेदनशीलता का गुणांक' हैं। यदि दोनों सीमान्त प्रव त्तियों (sp और sw) में थोड़ा अन्तर हो, तो गुणांक (1/sp-sw) बड़ा होगा और निवेश उत्पादन अनुपात (1/Y) में थोड़े परिवर्तनों से आय वितरण (P/Y) में अपेक्षाकृत बड़े परिवर्तन होंगे, और विलोमशः। यदि मजदूरी में से सीमान्त बचत प्रव ति शून्य (sw=0) हो, तो लाभों की मात्रा निवेश की राशि तथा पूँजीपति उपभोग के बराबर होगी, अर्थात P=1/spxI यह 'अक्षय भण्डार' है जहां उद्यमियों के उपभोग में व द्धि उनके कुल लाभ को बिल्कुल उपभोग के बराबर बढ़ा देती है।

प्रोफेसर केल्डॉर के सिद्धान्त में Sw=0 एक 'विशिष्ट स्थिति' है जिसमें मजदूरी अवशिष्ट है तथा लाभ निवेश की प्रव त्ति और पूँजीपति के उपभोग के प्रव त्ति से शासित होने के कारण राष्ट्रीय आय पर एक प्रकार के 'पूर्व प्रभार' को प्रकट करते हैं। यदि किसी दीर्घकालिक समय में I/Y और Sp को स्थिर मान लिया जाए तो मजदूरी का भाग भी स्थिर होगा। दूसरे शब्दों में, जब उत्पादन प्रति व्यक्ति बढ़ता है, तो वास्तविक मजदूरी अपने आप बढ़ जाएगी। यदि मजदूरी में से बचत की प्रव त्ति Sw धनात्मक हो तो कुल लाभों की मात्रा में Sw की कमी हो जाएगी(जोकि मजदूरों की बचतों की राशि है) जब मजदूरों की बचतें घट जाती हैं तो कुल लाभ निवेश में परिवर्तन की अपेक्षा अधिक मात्रा में बढ़ जाता है, और आय में मजदूरी का भाग कम हो जाएगा। दूसरी और जब श्रमिकों की बचतें बढ़ती हैं निवेश में परिवर्तन की अपेक्षा कुल लाभ अधिक मात्रा में कम होते हैं और आय में मजदूरी का भाग बढ़ जाता है।

इसकी आलोचनाएं

केल्डॉर के आय-वितरण के सिद्धान्त की निम्नलिखित कारणों से आलोचना की गई है-

1. केल्डॉर यह मानता है कि लाभ और मजदूरी के भाग निवेश आय अनुपात I/Y पर निर्भर करते हैं। परन्तु केल्डॉर के अनुसार यह धारण कुछ विशेष स्थितियों में ही सही रहती हैः

   प्रथम, वास्तविक मजदूरी की दर एक निश्चित न्यूनतम निर्वाह दर से कम नहीं हो सकती। दूसरे लाभों का भाग 'जोखिम बीमा दर' से कम नहीं हो सकता जोकि पूँजीपतियों को निवेश की प्ररेणा देने के लिए लाभ की न्यूनतम दर होती हैं। तीसरे, लाभ का भाग 'एकाधिकार कोटि की दर' से कम नहीं हो सकता अर्थात् अपूर्ण प्रतियोगिता, गुटबन्दी समझौता आदि के कारण उत्पादन पर लाभ की न्यूनतम दर। दूसरी और तीसरी बातें वैकल्पित सीमाएँ हैं, दोनों में से जो अधिक होगी वही लागू होगी। अन्तिम, पूँजी उत्पादन अनुपात लाभ की दर से स्वतन्त्र होना चाहिए अन्यथा I/Y स्वयं लाभ की दर पर निर्भर हो जाएगा। यदि ये शर्तें पूरी नहीं होती हैं तो निवेश-आय अनुपात (I/Y) स्वयं लाभ की दर (P/Y) पर निर्भर करेगा।

2. केल्डॉर का सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की धारणा पर आधारित है। यह अवास्तविक है क्योंकि यह सिद्धान्त पूर्ण रोजगार के स्तर से नीचे आय के फलनात्मक वितरण को समझाने में असमर्थ है।

3. केल्डॉर का सिद्धान्त विरतण पर तकनीकी उन्नति के प्रभाव की उपेक्षा करता है। यह मान लेने पर भी कि मजदूर अपनी मजदूरी में से बचत नहीं करते (Sw=0), उद्यमियों के कुल लाभों को 'अक्षय भण्डार' द्वारा बिल्कुल समान राशि से बढ़ाना सम्भव नहीं। वास्तव में, तकनीकी प्रगति लाभों को बढ़ाने में सहायक होती है।

4. केल्डॉर मॉडल की अन्य कमजोरी यह है कि सभी लाभों को पूँजीपतियों के कारण ही बताता है। इसका अभिप्राय यह कि मजदूरों की बचतें पूर्ण रूप से पूँजीपतियों को उपहार के रूप में हस्तांतरित की जाती है। यह स्पष्टतया असंगत है क्योंकि ऐसी हालत में कोई भी व्यक्ति बिल्कुल बचत नहीं करेगा।

5. केल्डॉर का सिद्धान्त इस बात में भी कमजोर है कि यह लगान और ब्याज के रूप में भूमि और पूँजी के सापेक्ष भागों की उपेक्षा करता है।

6. केल्डॉर अपने सिद्धान्त में कीमतों को इस प्रकार लेता है कि वे लागतों को पूरा करती हैं और लाभ की एक समान दर प्रदान करती हैं। परन्तु लाभ का एक हिस्सा निर्धारित किए बिना लाभ की दर नहीं जानी जा सकती है। इसलिए सापेक्ष हिस्से श्रम द्वारा माँग निर्धारित करती है। यदि मजदूरी दी हुई हो तो कीमतें एक समान लाभ की दर द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए मांग की शक्तियाँ सापेक्ष हिस्सों को निर्धारित करती है न कि कीमतें।

7. केल्डॉर का आय-वितरण का सिद्धान्त इसलिए भी अवास्तविक है क्योंकि यह मानव पूंजी को नहीं लेता जो राष्ट्रीय आय में वितरणात्मक हिस्से निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। यह सिद्धान्त बताता है कि I/Y में व द्धि होने से राष्ट्रीय आय में लाभ का भाग बढ़ता है परन्तु मजदूरी का भाग कम होता है। श्रम का भाग मजदूरी कम होने से, श्रमिकों की अवस्था शोचनीय हो जाएगी। इससे अर्थव्यवस्था की वास्तविक आय तथा उत्पादन कम हो जाएगा। मैकोरमिक के शब्दों में, ''सिद्धान्त की मानव पूँजी न समावेश कर सकने की कमी सिद्धान्त को अत्यधिक साधारण बना देती है जो वास्तविक जगत की जटिलताओं को समझना कठिन कर देती है।''

जे. पैन के शब्दों में यह निष्कर्ष देते हैं कि केल्डॉर का आय-वितरण का सिद्धान्त बहुत भ्रान्तिजनक है। इसका बीजगणित सही है परन्तु तर्क की बनावट झूठी है।

इकाई-III

भारतीय अर्थव्यवस्था की आधारभूत विशेषताएंः समस्याएं एवं योजनाएं

(Basic Features of Indian Economy: Problems and Plannings)

भारतीय अर्थव्यवस्था की आधारभूत विशेषताएं
(Basic Features of Indian Economy)

भूमिका
(Introduction)

भारतीय अर्थव्यवस्था मूलतः एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग दीनता (Destitution) की अवस्था में रह रहा है। भारत में निर्धनता का रोग तीव्र होने के साथ-साथ चिरस्थायी भी है। इसके साथ ही भारत में अप्रयुक्त प्राक तिक संसाधन विद्यमान हैं। अतः भारतीय अर्थव्यवस्था भारत के आर्थिक जीवन से सम्बन्धित आंकड़ों तथा तथ्यों का ही अध्ययन नहीं एवं इसके अन्तर्गत आर्थिक जीवन से सम्बन्धित समस्याओं के कारण तथा उनके प्रभावों का भी विश्लेषण किया जाता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वरुप निम्नलिखित विशेषताओं से स्पष्ट किया जाता है।

1. भारतीय अर्थव्यवस्था एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था है (Indian Economy is a under developed Economy.)
2. भारतीय अर्थव्यवस्था एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है। (Indian Economy is a Mixed Economy.)
3. भारतीय अर्थव्यवस्था योजनात्मक अर्थव्यवस्था है। (Indian Economy is a planned developing Economy.)

भारतीय अर्थव्यवस्था एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था
(Indian Economy is an Underdeveloped Economy)

भारतीय अर्थव्यवस्था एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था है। क्षेत्रफल की द ष्टि से भारत का विश्व में सातवां स्थान है और एशिया में चीन के बाद दूसरा स्थान है। यहां प्रचुर मात्रा में प्राक तिक साधन व जनशक्ति विद्यमान है। लेकिन उनका समुचित दोहन नहीं हो पा

रहा है। भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग दीनता की अवस्था में रह रहा है।

भारतीय अर्थव्यवस्था निर्धनता के दुष्चक में फंसी हुई है। इस सिद्धान्त के अनुसार भारत में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय कम है। प्रति व्यक्ति वास्तविक आय कम होने के कारण लोग निर्धन है। निर्धनता के कारण एक ओर तो लोगों की बचत करने की क्षमता कम होती है दूसरी ओर वस्तुओं की मांग कम होती है। बचत कम होने के कारण पूंजी निर्माण कम होता है। मांग कम होने के कारण निवेश की प्रेरणा कम होती है। इसके फलस्वरुप उत्पादन कम होता है, रोज़गार कम होता है, आय कम होती है। इस प्रकार निर्धनता का दुष्चक्र चलता रहता है।

यद्यपि पंचवर्षीय योजनाओं के लागू होने के फलस्वरुप आर्थिक विकास भी हुआ है, परन्तु विकास की यह आशंकाओं के अनुरुप नहीं रही क्योंकि निम्नलिखित शक्तियों ने विपरीत दिशा में कार्य किया। (1) जनसंख्या विस्फोट (2) लोगों की आशाओं में व द्धि (3) कम पूंजी निर्माण लोगों की आशाओं में व द्धि के कारण, वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग में व द्धि हो जाती है तथा मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

भारतीय अर्थव्यवस्था की एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के रूप में विशेषताएं-

भारतीय अर्थव्यवस्था की एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के रूप में मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित है-

1. **प्रति व्यक्ति आय का निम्न स्तर (Low Level of Per Capita Income)–** भारत की प्रति व्यक्ति आय विश्व के लगभग अधिकतर देशों से कम है। सन् 2002 में प्रचलित कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय का अनुमान 17,278 रुपये लगाया गया। भारत में एक व्यक्ति की प्रति दिन की औसत आय 1 डॉलर के लगभग है। भारत की प्रति व्यक्ति आय की तुलना में संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रति व्यक्ति आय 68 गुना तथा जापान की प्रति व्यक्ति आय 75 गुना अधिक है।

   प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण यहाँ बहुत अधिक निर्धनता है। जनसंख्या से 29 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे का जीवन व्यतीत कर रहे है। जिन्हें रोटी, कपड़ा तथा मकान जैसी मूलभूत सुविधाएं भी अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाई हैं।

2. **प्रति व्यक्ति आय में स्थिरता (Stagnant per capita Income)–** सन् 1901 से 1951 तक की अवधि में भारत की प्रति व्यक्ति आय में 1 प्रतिशत प्रति वर्ष से भी कम की व द्धि हुई है। स्वतन्त्रता के बाद यद्यपि प्रति व्यक्ति आय में व द्धि दर को गति तो अवश्य मिली, परन्तु यह व द्धि दर सन्तोषजनक नहीं रही। सन् 1951 से सन् 2001 की अवधि में वार्षिक व द्धि दर 1.9 प्रतिशत अनुमानित है। उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में प्रति व्यक्ति आय भी स्थिर हो रही है।

3. **निम्न जीवन स्तर (Low Standard of Living)–** भारत में प्रतिदिन एक व्यक्ति के भोजन में औसत 2415 कैलोरी तथा 59 ग्राम प्रोटीन प्राप्त होती है। जबकि विकसित अर्थव्यवस्था में प्रति व्यक्ति की प्रतिदिन औसतन 3150 कैलोरी तथा 97 ग्राम प्रोटीन मिलती है। फलस्वरुप भारत में लोगो की कार्यकुशलता कम होती

है। जिसके कारण प्रति व्यक्ति उत्पादकता कम होती है। तथा आय कम होती है और निर्धनता सदैव बनी रहती है।

4. **जनसंख्या में तीव्र गति से व द्धि (Rapid Increase in Population)**– सन् 2001 में भारत की जनसंख्या की व द्धि दर 1.9 प्रतिशत वार्षिक है। जबकि अमेरिका में 1.3 प्रतिशत तथा यूरोप में 0.8 प्रतिशत है जबकि विश्व में जनसंख्या की वार्षिक व द्धि दर 1.4 प्रतिशत है। जनसंख्या की व द्धि दर अधिक होने से खाद्यान्न, बेरोज़गारी आदि की समस्या उत्पन्न होती है जो आर्थिक विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है।

5. **व्यापक बेरोज़गारी तथा अद श्य बेरोज़गारी (Widespread unemployment and Disguised unemployment)** – एक अनुमान के अनुसार देश मे 8.2 प्रतिशत नागरिक बेरोज़गार हैं। देश में प्रति वर्ष लगभग 65 लाख व्यक्ति बेराज़गारी की पंक्ति में और शामिल हो जाते हैं। क षि प्रधान अर्थव्यवस्था होने के कारण ग्रामीण क्षेत्र में 20 से 25 प्रतिशत छिपी हुई (अद श्य) बेराज़गारी भी पाई जाती है।

6. **आय व धन के वितरण में असमानता (Unequal distribution of Income and wealth)**– भारतीय अर्थव्यवस्था में एक ओर तो प्रति व्यक्ति आय कम होती है तथा दूसरी ओर आय व धन के वितरण में भी बहुत असमानता पाई जाती है। वर्ल्ड डिवेलमेंट रिपोर्ट 2003 के अनुसार भारत में जनसंख्या के सबसे अधिक निर्धन 10 प्रतिशत लोगों को राष्ट्रीय आय का केवल 3.5 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है जबकि सबसे धनी 10 प्रतिशत लोगों के पास राष्ट्रीय आय का 33.5 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है।

भारत में यह धन शान-शौकत व विलासपूर्ण वस्तुओं पर खर्च किया गया, जबकि संसार के अन्य देशों-अमेरिका, जापान आदि में आय/धन के असमान वितरण के कारण धनी व्यक्तियों ने अपनी आय के अधिकांश भाग को बचाकर पूंजी निर्माण में लगाया था फलस्वरुप इन देशों में आर्थिक विकास की दर बहुत ऊंची थी।

7. **पुंजी निर्माण की निम्न दर (Low rate of Capital Formation)**– किसी अर्थव्यवसथा के विकास की गति के बैरोमीटर, पूंजी निर्माण की दर होती है। क्योंकि पूंजी निर्माण के कारण राष्ट्रीय उत्पादन में व द्धि की दर नीची होती है। जापान में पूंजी निर्माण की दर 33 प्रतिशत है जबकि भारत में यह 27.4 प्रतिशत है। प्रारम्भ में भारत में बचत का स्तर कम मुख्यतः बैकिंग व्यवस्था का अभाव तथा निवेश की सुविधाओं के अभाव के कारण था।

8. **ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा पिछड़ी हुई क षि (Rural economy and Backward Agriculture)**– सन् 2001 की जनसंख्या के अनुसार, भारत की कुल जनसंख्या का 72 प्रतिशत भाग गांवों में रहता है तथा इसमें से 64 प्रतिशत जनसंख्या की आय का मुख्य स्रोत क षि ही है। परन्तु क षि से कुल राष्ट्रीय आय का 72.5 प्रतिशत भाग प्राप्त हो रहा है। इस स्थिति से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के क षि क्षेत्र की उत्पादकता बहुत कम है तथा क षि की मानसून पर निर्भरता, किसानों की निर्धनता और उत्पादन के पुराने तौर-तरीके आदि सूचक भारतीय क षि के पिछड़ेपन को दर्शाते हैं।

9. **प्राक तिक साधनों की प्रचुरता** **(Abundance of Natural Resources)**– भारत में प्राक तिक साधन काफी अधिक मात्रा में पाए जाते है। परन्तु भारत में भूमि, जल, खनिज तथा सम्पति का इष्टतम प्रयोग नहीं हो सका है। भारत में उपलब्ध जल संसाधनों में से केवल 14 प्रतिशत का ही प्रयोग किया जाता है। अतः भारतीय अर्थव्यवस्था का अल्पविकसित होने का मुख्य कारण प्राक तिक साधनों को अपूर्ण उपयोग न होना है।

10. **उचित औद्योगीकरण का अभाव** **(Lack of Proper Indudstrilisation)**– भारत में महत्वपूर्ण अद्योगों का अभाव है, आधारभूत तथा पूर्जीगत वस्तुओं के उद्योगों का विकास सन्तोषजनक नहीं हो पाया है।

11. **निर्बल आर्थिक संगठन** **(Weak Economic Organisation)**– भारतीय अर्थव्यवस्था का आर्थिक संगठन काफी कमज़ोर है। परिवहन एवं संचार के साधनों का अभाव है। साधनों के आवश्यकता से कम होने के कारण देश के लोगों तथा वस्तुओं की गतिशीलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अर्थव्यवस्था में बैंकिंग तथा साख सम्बन्धी सुविधाओं का ग्रामीण क्षेत्रों में विकास नहीं हो पाया है। फलस्वरुप ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी साहूकारों तथा महाजनों का बोलबाला है। औद्योगिक वित्त का भी अभाव है। अर्थव्यवस्था को सुद ढ़ बनाने के लिए जिन संस्थाओं की आवश्यकता है यहाँ पर उनका अभाव पाया जाता है।

12. **कुशल श्रम व तकनीकी ज्ञान का अभाव** **(Lack of Efficient Labour and Technology)**– भारत में अधिकतर उद्योगों तथा क षि के बहुत बड़े क्षेत्र में घटिया स्तर की पुरानी तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। फलस्वरुप उत्पादन लागत अधिक होती है तथा घटिया किस्म का उत्पादन होता है। जिसके कारण हमारे देश के उद्योगों के उत्पादन की अर्न्तराष्ट्रीय बाज़ार में प्रतिस्पर्धा शक्ति बहुत ही कम होती है।

13. **योग्य तथा कुशल उद्यमियों का अभाव** **(Lack of able and efficient Entrepreneurs)**– आधुनिक समय में आर्थिक विकास के लिए योग्य तथा कुशल अद्यमीयों एक अनिवार्य शर्त है। परन्तु भारत में ऐसे उद्यमियों की कमी है क्योंकि यहाँ सट्टेबाजी की प्रव त्ति अधिक होती है तथा जोखिम उठाकर नए उद्यमों की स्थापना नहीं हो पाती। परिणामस्वरुप भारत में उद्योगों का विकास सन्तोषजनक नहीं है।

14. **परम्परावादी समाज** **(Traditional Society)**– भारत में प्रचलित जाति प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली, बाल-विवाह, उत्तराधिकारी के नियम, धार्मिक अन्ध-विश्वास, भाग्यवादिता तथा छुआछूत जैसी अनेक सामाजिक व धार्मिक संस्थाएं हैं जो प्राचीन प्रव त्तियों की पोषक हैं, परन्तु ये नवीन प्रव त्तियों से मेल नहीं खाती। इन अनार्थिक प्रव तियों ने भारत के आर्थिक विकास को अवरुद्ध कर रखा है।

भारतीय अर्थव्यवस्था एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है
(Indian Economy is a Mixed Economy)

मिश्रित अर्थव्यवस्था वह अर्थव्यवस्था है जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र दोनों ही देश के आर्थिक विकास में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। एक मिश्रित अर्थव्यवस्था में पुंजीवाद व समाजवाद दोनों के ही गुण पाए जाते हैं। (Mixed economy is a compromise between

Capitalism and Socialism) स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् अपनाई गई 1948 की औद्योगिक नीति तथा पंचवर्षीय योजना के बाद बनाई गई। 1956 की औद्योगिक नीति तत्पश्चात् 1977 व 1980 की संशोधित नीति तथा 1991 की वर्तमान औद्योगिक नीतियों का मुख्य लक्ष्य देश का मिश्रित अर्थव्यवस्था के आधार पर आर्थिक विकास करना हैं। भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector)**– सन् 1991 की औद्योगिक नीति के अनुसार देश के औद्योगिक विकास, जनकल्याण तथा सुरक्षा के लिए आवश्यक 4 वस्तुओं जैसे परमाणु, रेलवे, युद्ध सामग्री तथा खनन कोयला आदि का उत्पादन केवल सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित किया जाता है। जिसका यह अभिप्रायः है कि इन उद्योगों के नए कारखाने केवल सरकार द्वारा ही स्थापित किए जाएंगे।

2. **लाइसैंस क्षेत्र (Licence Sector)**– देश के औद्योगिक तथा क षि विकास के लिए आवश्यक 18 वस्तुओं, जैसे शराब, सिगरेट, औद्योगिक विस्फोट, दवाइयों आदि का उत्पादन करने के लिए निजी क्षेत्र को सरकार से लाइसैंस लेना पड़ेगा।

3. **निजी क्षेत्र (Private Sector)**– देश के आर्थिक विकास तथा सुरक्षा के लिए ऊपर बताए गए आवश्यक 6 उद्योगों को छोड़कर बाकी सब उद्योगों, क षि, लघु उद्योगों आदि के विकास करने की स्वतन्त्रता निजी क्षेत्र को दी गई है। परन्तु देश के उचित आर्थिक विकास, निर्धन और मध्यम वर्ग के कल्याण में व द्धि करने के उद्देश्य से निजी क्षेत्र को नियन्त्रित करने के लिए मुख्य रुप से तीन उपाय किए गए हैं।

   (i) **औद्योगिक नियमन अधिनियम (Industrial Regulation Act 1951)**– इस कानून के अनुसार, सरकार निजी क्षेत्र के उद्योगों को इस प्रकार नियमित करती है, जिससे वे अपने स्वार्थ के लिए जनता तथा श्रमिकों का शोषण न कर सके।

   (ii) **सहकारी क्षेत्र का विकास (Development of Cooperative Sector)**– निर्धन तथा मध्यम वर्ग के लागों के आर्थिक विकास के लिए सहकारी क्षेत्र (Cooperative Sector) की स्थापना की गई है।

   (iii) **लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित उत्पादन (Production Reserved for Small Scale Industries)**– देश में बेराज़गारी, आय तथा धन के वितरण की असमानता को दूर करने के लिए लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। सन् 1991 की नई औद्योगिक नीति ने लगभग 836 से अधिक वस्तुओं का उत्पादन इस क्षेत्र के लिए सुरक्षित रखा गया है।

भारत देश में यह तर्क दिया जाता है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनी आज़ादी के बाद अपनाकर भारत ने आर्थिक संव द्धि की एक महत्त्वपूर्ण बाधा पर काबू पा लिया। लेकिन मिश्रित अर्थव्यवस्था द्वारा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का समाजवादी अर्थव्यवस्था में रुपान्तरण नहीं होता। सुखमय चक्रवर्ती के अनुसार, ''मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाए रहने का अर्थ यह नहीं है कि वह अन्ततः एक समय अनेक लोगों द्वारा समझे जाने वाले उसके तार्किक रुप अर्थात् समाजवादी समाज में रुपान्तरित हो जाएगी, दरअसल, मिश्रित अर्थव्यवस्था में अनेक विशेषताओं का अस्थिर मिश्रित होता है। जिसके परिवर्तन की देशों में अलग-अलग

परिणाम हो सकते हैं।'' अन्त में क्या परिणाम होगा यह सामाजिक शक्तियों के बदलते हुए सन्तुलन और राजनीतिक प्रक्रियाओं की नीति पालन के लिए गुंजाइश बनाने की क्षमता पर निर्भर होता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था एक योजनात्मक विकासशील अर्थव्यवस्था है
(Indian Economy is a Planned Developed Economy)

भारत में आर्थिक नियोजन की क्रिया मार्च, 1950 में स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरु की अध्यक्षता में योजना आयोग की नियुक्ति से प्रारम्भ हुई जिसका मुख्य उद्देश्य देश में उपलब्ध साधनों का उचित प्रयोग करने के लिए उपयुक्त योजनाएं तैयार करना, गरीबी को दूर करके जनसाधारण के जीवन स्तर को ऊपर उठाना है।

आर्थिक नियोजन का अर्थ
(Economic Planning: Meaning)

आर्थिक नियोजन से अभिप्रायः अर्थव्यवस्था में पूर्व निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किए प्रयत्नों से है। आर्थिक नियोजन का सम्बन्ध उन उन तरीके से है जिसमें एक केन्द्रीय योजना अधिकारी देश के साधनों को ध्यान में रखते हुए निश्चित समय से पूर्व उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आर्थिक तत्त्वों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है।

भारत की विभिन्न योजनाओं का कार्यकाल एवं विकास दरें
(Time Period and Growth rate of Various Indian Five Year Plans)

समय अवधि	(लक्ष्य) वार्षिक	प्रतिशत दर	वास्तविक उद्देश्य
पहली योजना (1951–56)	2.1	3.6	क षि को प्राथमिकता
दूसरी योजना (1956–61)	4.5	4.27	भारी एवं आधारभूत उद्योगों द्वारा देश का औद्योगीकरण
तीसरी योजना (1961–66)	5.0	2.8	खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता, क षि एवं उद्योगों का समुचित विकास
चौथी योजना (1969–74)	5.7	3.3	स्थिरता के साथ विकास, आत्मनिर्भरता की प्राप्ति
पांचवी योजना (1974–79)	4.4	4.8	निर्धनता उन्मूलन एवं रोज़गार संवर्धन
छटी योजना (1980–85)	5.2	5.6	क षि तथा सम्बद्ध क्षेत्र में रोज़गार का विकास
सातवीं योजना (1985–90)	5.0	6.0	ऊर्जा का विकास
आठवीं योजना (1992–97)	5.6	6.5	रोज़गार, संवर्धन तथा निर्यात में प्रमुख व द्धि
नौवीं योजना (1997–2002)	6.5	4.4	व द्धि के साथ सामाजिक न्याय और समानता
दसवीं योजना (2002–07)	8.0	—	मानव विकास

पंचवर्षीय योजना के फलस्वरुप भारतीय अर्थव्यवस्था में कुछ मूलभूत परिवर्तन हैं। भारत में क षि उद्योग, यातायात, संचार, बैंकिग, बीमा, स्वास्थ्य, शिक्षा और विज्ञान के क्षेत्रों में पर्याप्त विकास हुआ है। आधारभूत संरचना के विकास, बुनियादी पूंजीगत उद्योगों का विकास, बचत एवं पुंजी निर्माण में व द्धि के कारण, अब भारतीय अर्थव्यवसथा को विकासशील अर्थव्यवस्था (Developing Economy) कहा जाता है। भारतीय अर्थव्यवस्था की एक विकासशील

अर्थव्यवस्था के रुप में मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित है-

1. **राष्ट्रीय आय में व द्धि (Increase in National Income)**– भारत की राष्ट्रीय आय धीरे-धीरे बढ़ती रही है। स्थिर कीमतों (1993-94 को आधार वर्ष मानकर) पर 1950-51 में भारत की राष्ट्रीय आय 13,20,733 करोड़ रुपये हो गई। इस प्रकार स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में लगभग 12 गुणा व द्धि हुई है।

2. **क षि का विकास तथा हरित क्रान्ति (Development of Agricultural Sector and Green Revolution)**– क षि के विकास में योजनाओं का योगदान दो प्रकार का है, एक तो क षि में भूमि सुधार किए गए हैं, दूसरे सन् 1966 से क षि के तकनीकी विकास पर जोर दिया गया है जिसके कारण हरित क्रान्ति सम्भव हुई। 1970 में प्रारम्भ किए गए ऑप्रेशन फ्लड ने श्वेत क्रान्ति के लिए उत्प्रेरक का काम किया। भारत से क षि उत्पादों के निर्यात में एक दो वर्षो को छोड़कर सामान्यतः व द्धि होती रही है। योजनाओं की अवधि में क षि उत्पादन के विकास की दर औसतन 2.9 प्रतिशत प्रति वर्ष रही। 28 जुलाई 2000, को केन्द्र सरकार ने नई राष्ट्रीय क षि नीति की घोषणा की जिसके तहत हरित क्रान्ति, नीली क्रान्ति एवं श्वेत क्रान्ति लाने का वायदा किया गया है।

3. **उद्योगों का विकास (Development of Industries)**– योजनाओं में औद्योगिक क्षेत्र को काफी सफलता मिली है। पिछले 50 सालों में औद्योगिक उत्पादन लगभग 5 गुणा बढ़ गया है। फलस्वरुप भारत को विश्व का दसवां सबसे बड़ा औद्योगिक राष्ट्र बनने का गौरव प्राप्त हुआ है। सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया गया है। उपभोग उद्योगों के सम्बन्ध में देश लगभग आत्मनिर्भर हो चुके हैं। उद्योगों का आधुनिकीकरण एवं विविधिकरण किया गया है। औद्योगिक उत्पादन की क्षमता में महत्त्वपूर्ण व द्धि हुई है। योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन की विकास दर लगभग औसतन 6.9 प्रतिशत रही है।

4. **पूंजी निर्माण में व द्धि (Increase in Capital Formation)**– किसी भी देश के आर्थिक विकास में पूंजी निर्माण का बहुत अधिक महत्त्व होता है। पूंजी निर्माण की दर बचत तथा निवेश की दर पर निर्भर करती है। पहली योजना के अन्त में निवेश दर 10 प्रतिशत से बढ़कर आठवीं योजना में बढ़कर 25 प्रतिशत हो गई तथा 1950-51 में बचत की दर 10.4 प्रतिशत से बढ़कर 2000-01 में बढ़कर 27.4 प्रतिशत हो गई।

5. **संस्थागत ढांचे का विकास (Infra-structural Development)**– संस्थागत आर्थिक ढांचे में मुख्य रुप से यातायात, संचार के साधन, सिंचाई की सुविधाएं तथा बिजली की उत्पादन आदि शामिल किए जाते है। बढ़ता सार्वजनिक विकास व्यय, बैंक एवं बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण, ग्रामीण विद्युतीकरण, सड़क एवं रेल का विस्तार, कृषि का मशीनीकरण एवं हरित क्रान्ति, औद्योगिक विकास, बढ़ती शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाएं आदि तथ्य भारतीय अर्थव्यवस्था के विकासशील होने का पुख्ता सबूत देते हैं।

6. **सामाजिक सुविधाएं (Social Facilities)**– योजनाओं के अवधि में देश की सामाजिक सुविधाओं जैसे शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन आदि का काफी विकास हुआ है। (i) **शिक्षा**- 1951 की तुलना में स्कूली छात्रों की संख्या तीन

गुणा अधिक हो चुकी है तथा कॉलजों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या 44,000 हो गई है, अब 2,000 व्यक्तियों के पीछे एक डॉक्टर है। डॉक्टरी, दवाइयों तथा नर्सो की संख्या तथा परिवार नियोजन, क्लीनिक जैसी चिकित्सा सुविधाएं अब काफी बढ़ गई हैं। (ii) **स्वास्थ्य**- अस्पताल तथा डिस्पैंसरियों की संख्या 44,000 हो गई है, अब 2,000 व्यक्तियों के पीछे एक डॉक्टर है। डॉक्टरी, दवाइयों तथा नर्सो की संख्या तथा परिवार नियोजन, क्लीनिक जैसी चिकित्सा सुविधाएं अब काफी बढ़ गई है। (iii) **अनुसन्धान (Research)**- राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं तथा अनुसन्धान केन्द्रों की श्रंखला स्थापित की गई है। (iv) **मत्यु दर (Death rate)**- 1951 में 27 प्रति हज़ार की तुलना में 2001 में घटकर 8.5 प्रति हज़ार रह गई। (v) औसत आयु 1960 में 32 वर्ष से बढ़कर 2001 में 64 वर्ष हो गई।

7. **सार्वजनिक क्षेत्र का बढ़ता हुआ भाग (Increasing Share of Public Sector)**– वर्ष 1951 में सार्वजनिक क्षेत्र के 5 उद्योगों में केवल 29 करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई थी जबकि आज देश में सार्वजनिक उद्योगों की संख्या 246 तक पंहुच गई तथा जिनमें 1,64,322 करोड़ रुपये की पूंजी निवेशित है। आर्थिक नियोजन की अवधि में कुल निवेश का 44% निवेश, सार्वजनिक क्षेत्र में किया गया है। वास्तविकता में सार्वजनिक क्षेत्र भारत में आर्थिक विकास की रीढ़ की हड्डी के समान है।

8. **निजी क्षेत्र का बढ़ता महत्त्व (Increasing Importance of Private Sector)**– सन् 1991 के बाद उदारवादी आर्थिक नीति के फलस्वरुप निजि क्षेत्र का महत्त्व और बढ़ा है।

9. **विश्व की चौथी बड़ी अर्थव्यवस्था (Fourth Large Economy of World)**– विश्व बैंक की 'वर्ल्ड डेवलपमेंट इंडीकेटर' शीर्षक के जारी वर्ष 2002 की रिपोर्ट के अनुसार क्रय-शक्ति समता की दष्टि से भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व की चौथी बड़ी अर्थव्यवस्था बनी हुई है। वर्ष 2000 के दौरान केवल तीन राष्ट्रों अमेरिका, चीन व जापान में ही सकल घरेलू आय भारत से अधिक थी। भारत की क्रय-शक्ति समता आधारित सकल राष्ट्रीय आय वर्ष 2002 में 2375 अरब डॉलर थी और इसी अवधि में भारत में प्रति व्यक्ति आय 2340 डॉलर थी।

10. **आधुनिकीकरण (Modernisation)** – योजनाकाल में भारतीय अर्थव्यवस्था में कुछ संस्थागत तथा संरचनात्मक परिवर्तन हुए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि अर्थव्यवस्था में आधुनिकीकरण हुआ है। संस्थागत परिवर्तनों में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास, लघु एवं मध्यम क्षेत्र के लिए नियन्त्रण तथा समर्थन प्रणाली का विकास, MRTP पर प्रतिबन्ध तथा मानवीय पूंजी का (Monopolistic Restriction Trade Practices) निर्माण आदि तथा संरचनात्मक परिवर्तनों से राष्ट्रीय आय की बनावट में उद्योगों का योगदान बढ़ा है। क षि क्षेत्र में नई तकनीकी का प्रयोग बढ़ा है। तथा आधुनिकी प्रयोग करने वाले उद्योगों की संख्या में व द्धि हुई है।

11. **आत्मनिर्भरता (Self-Sufficiency)**– योजनाकाल के दौरान आत्मनिर्भरता मे सफलता प्राप्त की है।

    (i) निर्यात में अधिक प्रगति हुई, दूसरी योजना में निर्यात की व द्धि दर 2.2 प्रतिशत से बढ़कर पांचवी योजना में 18 प्रतिशत, सातवीं में 20 प्रतिशत तथा आठवीं योजना में 17.2 प्रतिशत हो गई।

(ii) आयात में कमी हुई है। इसकी योजना में 27 प्रतिशत, तीसरी में 38 प्रतिशत, छठी में 14 प्रतिशत, सातवीं में 16 प्रतिशत तथा आठवीं योजना में 17 प्रतिशत हो गया।

(iii) वित्त व्यवस्था में विदेशी सहायता का प्रतिशत योगदान कम होता जा रहा है। तीसरी योजना में विदेशी सहायता का अनुपात 12.8 प्रतिशत था, छठी तथा सातवीं योजना में 10 प्रतिशत तथा आठवीं योजना में 6.6 प्रतिशत ही रह गया। उपरोक्त तथ्यों से संकेत मिलता है कि योजनाएं देश की अर्थव्यवस्था को धीरे-धीरे आत्मनिर्भरता की ओर ले जाने में सफल रही है।

निर्धनता की समस्या
(Problem of Poverty)

भूमिका
(Introduction)

भारतवर्ष की प्रमुख आर्थिक समस्या निर्धनता की समस्या है। यहाँ लाखों-करोड़ों लोग अति निर्धन हैं। वे दुःख-तकलीफ का जीवन व्यतीत करते हैं। वे जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं भी पूरी करने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय से देश में आर्थिक विकास हुआ है। लेकिन जनसाधारण की गरीबी पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ पाया है। व्यापक गरीबी की स्थिति अभी भी गम्भीर बनी हुई है। ऐसी स्थिति में किसी भी क्षेत्र में स्थायी प्रगति नहीं की जा सकती। यहाँ तक कि ऐसी स्थिति में राजनीतिक आज़ादी का महत्त्व भी बहुत कुछ जाता रहता है। अतः इस समस्या का समाधान अत्यन्त आवश्यक है।

भारत देश के बारे में अक्सर कहा जाता है कि भारत निर्धन व्यक्तियों में बसर एक निर्धन देश है। अतः निर्धनता केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं अपितु पूरे देश के लिए एक अभिशाप है।

निर्धनता का अर्थ **(Meaning of Poverty)**– निर्धनता का अर्थ उस सामाजिक क्रिया से है जिसमें समाज का एक भाग अपने जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर सकता। जब समाज का एक बहुत बड़ा अंग न्यूनतम जीवन स्तर (रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य) से वंचित रहता है और केवल निर्वाह स्तर (Subsistance level) पर ही गुज़ारा करता है, तो कहा जाता है कि समाज में व्यापक निर्धनता (Mass Poverty) मौजूद है। तीसरी दुनिया के देशों में व्यापक निर्धनता पाई जाती है, यद्यपि यूरोप और अमेरिका के कुछ भागों में ही निर्धनता विद्यमान है। अतः निर्धनता से अभिप्राय है जीवन, स्वास्थ्य और कार्यकुशलता के लिए न्यूनतम उपभोग आवश्यकताओं के प्राप्त करने की असमर्थता से है। निर्धनता शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है।

1. सापेक्ष निर्धनता (Relative Poverty)
2. निरपेक्ष निर्धनता (Absolute Poverty)

1. **सापेक्ष निर्धनता (Relative Poverty)–** सापेक्ष निर्धनता से अभिप्रायः विभिन्न वर्गो या देशों के निर्वाह-स्तर की तुलना में पाई जाने वाली गरीबी से है। जिस देश या वर्ग के लोगों का निर्वाह-स्तर नीचा होता है, वे उच्च निर्वाह-स्तर वाले लोगों की तुलना में गरीब माने जाते है। निर्वाह स्तर को आय या उपभोग व्यय के रुप में मापा जाता है। सन् 2000 में भारत में प्रति व्यक्ति आय एक औसत अमेरिका निवासी तथा जापान निवासी की आय से लगभग 70 गुणा कम थी। जिसका यह अभिप्रायः हुआ कि अमेरिका या जापान के औसत नागरिक की अपेक्षा एक औसत भारतीय उतने ही गुणा गरीब होता है।

2. **निरपेक्ष निर्धनता (Absolute Poverty)–** निरपेक्ष निर्धनता का सम्बन्ध किसी देश की आर्थिक विकास की अवस्था को ध्यान में रखते हुए निर्धनता के माप से है। निरपेक्ष द ष्टि से उन लोगों को निर्धन कहा जाता है जिनका निर्वाह-स्तर इतना नीचा होता है कि जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं भी पूरी नहीं हो पातीं। इसका अनुमान प्रति व्यक्ति उपभोग की जाने वाली न्यूनतम कैलौरी की मात्रा या न्यूनतम उपभोग स्तर द्वारा लगाया जाता है।

भारत के सन्दर्भ में योजना आयोग के अनुसार, वे सब लोग गरीबी रेखा के नीचे समझे जाते हैं जिनके पास कैलोरी की इतनी मात्रा प्राप्त करने के लिए साधन नहीं है। देश में ऐसे लोग कहलाते हैं। सामान्यतः इसे मुद्रा-राशि के रुप में व्यक्त किया जाता है।

राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे (NSSO) के अनुसार 1993-94 की कीमतों पर ग्रामीण क्षेत्र में 229 रुपये और शहरी क्षेत्र में 264 रुपये प्रतिमास उपभोग को निर्धनता रेखा माना जाएगा।

योजना आयोग के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में एक व्यक्ति के प्रतिदिन के भोजन में 2400 कैलोरी तथा शहरी क्षेत्र में 2100 कैलोरी होनी चाहिए। इस धारणा के अनुसार 2000 तक भारत में लगभग 26% जनसंख्या निर्धनता रेखा से नीचे रह रही थी।

निर्धनता रेखा (Poverty Line)– निर्धनता रेखा वह रेखा है जो प्रति व्यक्ति औसत मासिक आय (Average Per Capita Monthly Expenditure) को व्यक्त करती है, जिससे लोग जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की सन्तुष्टि पूरी करते हैं। अतः निर्धनता रेखा से नीचे लोग (Below the Poverty Line) वे लोग कहलाते हैं जिनके पास न्यूनतम क्रय शक्ति अथवा न्यूनतम मासिक व्यय भी नहीं होता। इसके विपरीत इसके बराबर या इसके अधिक क्रय शक्ति या मासिक व्यय वाले व्यक्ति को निर्धनता से ऊपर (Above the Poverty Line) माना जाता है। अतः निर्धनता रेखा से नीचे जीवन गुज़ारने वाले निर्धन व्यक्ति और दूसरे निर्धनता रेखा से ऊपर जीवन गुज़ारने वाले व्यक्ति जिन्हें निर्धन नहीं माना गया है।

भारत में निर्धनता रेखा का निर्धारण (Determination of Poverty in India)– भारत में निर्धनता रेखा को परिभाषित करने का सर्वप्रथम प्रयास 1962 में प्रो0 गाडगिल, डॉ0 डी0 एन0 गांगुली, डॉ0 लोकनायन आदि के कार्यदल (Working Group) ने किया था, जिसके अनुसार निर्धनता रेखा का निर्धारण उस प्रति व्यक्ति मासिक व्यय से किया जाएगा जो न्यूनतम दैनिक आहार (रोटी, कपड़ा, मकान) तथा जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं (शिक्षा, स्वास्थ्य मनोरंजन) को पूरा करने के लिए पर्याप्त होता है। इस आधार पर (1990-91) की कीमतों पर, जिन ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों का प्रति महीना उपभोग व्यय 20 रुपये से कम तथा शहरी क्षेत्र में रहने वाले लोगों का प्रति मास उपभोग व्यय 25 रुपये से कम है, उन्हें निर्धनता रेखा से नीचे अर्थात् निर्धन माना गया।

आज कल निर्धनता रेखा का निर्धारक योजना आयोग के कार्यदन द्धारा 1973-74 के एन0 एस0 ओ0 (National Sample Survey Organisation—NSSO) के आकड़ो के आधार पर किया जाता है। उपभोग व्यय का अनुमान केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (Central Statistical Organisation C.S.O) द्धारा भी लगाया जाता है। योजना आयोग ने 1989 में प्रो. डी. टी. लक्ड़वाला की अध्यक्षता में भारत में निर्धनता का अनुमान लगाने के लिए एक विशषज्ञ बल का गठन किया, जिसके अनुसार निर्धनता रेखा का निर्धारण एन0 एस0 के आंकड़ों के आधार पर ही किया जाना चाहिए। सन् 1993-94 में इस फार्मूले के आधार पर गरीबी रेखा के नीचे लोगों की संख्या 35.97% में इस फार्मूले के आधार पर गरीबी रेखा के नीचे लागों की संख्या 35.97% अनुमानित की गई है।

भारत में निर्धनता का आकार तथा प्रव त्ति
(Extent and Trends of Poverty in India)

1. **निर्धनता का आकार (Extent of Poverty) –** यद्यपि पूरे योजनाकाल में सरकार का मुख्य उद्देश्य निर्धनता को दूर करना रहा है, परन्तु फिर भी 1973-74 में निर्धनता का 54.9 प्रतिशत था जो 2001-2002 में कम होकर 26.1 प्रतिशत ही रह गया, क्योंकि यह मुख्यतरू ग्रामीण तथा शहरी, दोनों क्षेत्रों में निर्धनता के प्रतिशत 27.1% तथा 23.6% के कारण हुई।

तालिकाः निर्धनता का आकार तथा प्रव ति
गरीबी-रेखा के नीचे ग्रामीण/शहरी जनसंख्या का प्रतिशत

वर्ष (Year)	1973-74	1977-78	1983-84	1987-88	1993-94	2001-2002
ग्रमीण (Rural)	56.4	53.1	45.7	39.1	37.3	27.1
शहरी (Urban)	49.0	45.2	40.8	38.2	32.4	23.6
कुल (Total)	54.9	51.3	44.5	38.9	36.0	26.1

Source: Planning Commission

2. **निर्धनता की प्रव ति (Trend of Poverty)–** भारत में वर्तमान में निर्धनता रेखा से नीचे उन लोगों को माना जाता है जिनका प्रति महीना उपभोग (1993-94 की कीमतों) ग्रामीण क्षेत्र में 229 रुपये और शहरी क्षेत्र में 264 रुपये है। भारत में निर्धनता की प्रव ति निम्नलिखित तालिका द्वारा ज्ञात हो जाती है।

तालिकाः निर्धनता की प्रव ति
कुल जनसंख्या में गरीबी की संख्या तथा प्रतिशत

वर्ष	निर्धनों की संख्या (करोड़ों में)	कुल जनसंख्या में निर्धनों का प्रतिशत
1960-61	17	34
1964-65	22	46
1970-71	25	45
1979-80	33	34
1986-87	27	39.3
1993-94	32	39
1999-2000	26	26

Source: Economic Survey, 2003

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि 1960-61 में 17 करोड़ लोग (कुल जनसंख्या का 34 प्रतिशत) गरीबी रेखा से नीचे रह रहे थे। 1970-71 में इनकी बढ़कर 25 करोड़ हो गई तथा 2000 में 26 करोड़ लोग गरीबी रेखा के नीचे रह रहे थे।

भारत में विभिन्न राज्यों में निर्धनों की संख्या भी अलग-अलग है। दसवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारुप में योजना आयोग में बताया है कि सन् 2007 में देश में निधनों की संख्या 22 करोड़ होगी तथा निर्धनों का सबसे अधिक प्रकोप अविभाजित बिहार (वर्तमान में बिहार व झारखण्ड) व उड़ीसा में होगा। उत्तर प्रदेश की 31.2 प्रतिशत, बिहार की 42.6 प्रतिशत उड़ीसा की 47.2 प्रतिशत, पंजाब में 6.2 प्रतिशत व हरियाणा में 8.7 प्रतिशत व हरियाणा में 8.7 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे रह रही है।

निर्धनता के कारण
(Causes of Poverty)

गरीबी उन्मूलन के लिए समुचित उपायों की आवश्यकता है। लेकिन इसके लिए उन कारणों की जानकारी ज़रुरी है जो गरीबी को लाने, फैलाने और बनाए रखने में सहायक रहे हैं। मुख्य कारणों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं-

1. **रोज़गार अवसरों की धीमी व द्धि (Slow increase in Employment opportunities)**– भारत में जनसंख्या में तेज़ गति से होने वाली व द्धि के कारण, श्रमिकों की संख्या में व द्धि होती रही, परन्तु रोज़गार के अवसर उतनी गति से नहीं बढ़े क्योंकि आर्थिक विकास की दर धीमी रही। अपर्याप्त पूंजी निर्माण के फलस्वरुप अपेक्षित मात्रा में उत्पादन रोज़गार के अवसर उपलब्ध नहीं हो सके। इसके साथ-साथ पूंजी-उत्पादन अनुपात ऊंचा होने के कारण उत्पादन मात्रा भी नहीं बढ़ पाई। फलस्वरुप रोज़गाार में कम व द्धि हुई। देश में लम्बे समय तक अधिक पूंजी प्रधान उत्पादन तकनीकी अपनाए जाने से भी श्रम-प्रधान कार्यो का अधिक तेज़ी से विस्तार सम्भव नहीं हो सका। जैसे की खेजी, लघु कुटीर उद्योग आदि ऐसी स्थिति में गरीबी का फैलना एक समान बात है।

2. **जनसंख्या में अधिक व द्धि (Rapid increase in Population)**– गरीबी की स्थिति को गंभीर रुप देने में एक अन्य कारक का महत्त्वपूर्ण हाथ है वह है जनसंख्या में हाने वाली व द्धि का (विशेषकर गरीब परिवारों के) लोगों का उपभोग स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। दूसरी ओर परोक्ष रुप से बचत और निवेश पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि आय का काफी बड़ा भाग जनव द्धि के पालन-पोषण में खर्च हो जाता है। बचत और निवेश के थोड़े भाग से आर्थिक विकास की गति धीमी पड़ जाती है। फलस्वरुप गरीबी की समस्या और अधिक उलझ जाती है।

3. **गरीबी के लिए अपर्याप्त सामाजिक सेवाएं (Inadeqacy of Social Services for Poor)**– रोज़गार, मज़दूरी व अन्य आय के कम होने से लोगों कर निजी उपभोग नहीं बढ़ पाया। दुर्भाग्यवश गरीबों के लिए सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति भी अपर्याप्त बनी रही। इसका कारण है कि अभी तक गरीबों के लिए आवश्यक सेवाएं जैसे कि सफाई, पीने का पानी, स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा आदि को अपेक्षाक त नीची प्राथमिकता दी जाती रही। इनका वांछित दर से विस्तार सम्भव नहीं हो सका।

4. **आय का असमान वितरण** (Unequal Distribution of Income)– योजनाओं में कर प्रणाली तथा दूसरे उपायों द्वारा आाय के असमान वितरण को दूर करने के प्रयत्न किया गया है, परन्तु इन प्रयत्नों के बावजूद आय की असमानता तथा धन का केन्द्रीयकरण की प्रव त्ति बढ़ती जा रही है। एक रिपोर्ट के अनुसार देश में 20 प्रतिशत व्यक्ति 41 प्रतिशत राष्ट्रीय आय के स्वामी हैं। आय का असमान वितरण निर्धनता को बढ़ाने में सहायक होता है।

5. **कम आय-अर्जक परिसम्पत्तियां** (Low Income and Unearned Assets)– रोज़गार की कमी के कारण जहां मज़दूरी नहीं बढ़ सकी। वहां आय-अर्ज़क परिसम्पत्तियों के अभाव में मज़दूरी से मिलने वाली आय भी नगण्य बनी रहती है। देश में सम्पत्ति का वितरण केन्द्रित है तथा ज़मीन, इमारत, मशीन-कम्पनी, शेयर आदि परिसम्पत्तियां थोड़े से धनी लोगों के पास केन्द्रित हैं। गरीब व्यक्तियों के पास ये न होने के बराबर हैं।

6. **पुरानी सामाजिक संस्थाएं** (Outdated Social Institutions)– देश की सामाजिक संस्थाएं तथा रूढ़िया परिवार प्रथा तथा उत्तराधिकारी के नियम आदि। उपरोक्त संस्थाएं ही हमारी अर्थव्यवस्था में तेजी से होने वाले परिवर्तनों ने बाधा डालती है।

गरीबी दूर करने के उपाय/सुझाव (Measures/Suggestions for Removal of Poverty)–

1. **आर्थिक विकास** (Economic Development)– गरीबी दूर करने के लिए हमें आर्थिक विकास में तेज़ी लानी होगी। इससे देश का पूंजी - स्टॉक बढ़ेगा तथा पूंजी निर्माण में तेज़ी से व द्धि होने के फलस्वरुप बड़े पैमाने पर रोज़गार अवसरों का विस्तार होगा, अधिक रोज़गार का स जन होगा बल्कि उच्चतर आय पर रोज़गार उपलब्ध हो सकेगाा।

2. **उचित तकनीकी का प्रयोग** (Using Prope Technique)– भारत में श्रम-प्रधान के स्थान पर पूंजी-प्रधान तकनीकी का प्रयोग हो रहा है-फलस्वरुप बेरोज़गारी तथा निर्धनता भी बढ़ रही है। वास्तविक में, भारत में मध्यवर्ती तकनीकी को अपनाना चाहिए जिससे अधिक श्रमिकों को रोज़गार मिलेगा, निर्धनता कम होगी तथा साथ-साथ में अधिक आर्थिक विकास भी होगा।

3. **जनसंख्या पर नियन्त्रण** (Control Over Population)– जनसंख्या पर नियन्त्रण के लिए परिवार नियोजन एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। इसके लिए लोगों को परिवार-नियोजन उपायों से शिक्षित करके जनसंख्या पर नियन्त्रण किया जाना चाहिए।

4. **कीमत स्तर में स्थिरता** (Stability in Price-Level)– यदि कीमतों में तेज़ी से व द्धि होती रहेगी तो निर्धन लोगों का जीवन-स्तर और भी नीचा होता जाएगा। कीमतों में स्थिरता लाने के लिए खाद्य और आम वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना चाहिए। देश के उद्योगों को पूर्ण क्षमता पर कार्य करते रहना चाहिए बिजली तथा कच्चे माल की पूर्ति को उद्योगों की आवश्यकतानुसार नियमित किया जाना चाहिए। जमाखोरी और चोर-बाज़ारी पर नियन्त्रण किया जाना चाहिए। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को और अधिक प्रभावशानी बनाया जाना चाहिए।

5. **आय का समान वितरण (Equal Distribution of Income)**– भारत में केवल उत्पादन बढ़ाने तथा जनसंख्या कम करने से ही निर्धनता दूर नहीं की जा सकती। इसके लिए आवश्यक है कि आय के वितरण की असमानता दूर हो तथा धन के केन्द्रीयकरण को रोका जा सके। सरकार उचित राजकोषीय, मौद्रिक तथा कीमत नीति के द्वारा आय की असमानता तथा धन के केन्द्रीयकरण को रोकने का प्रयत्न कर सकती है।

6. **उत्पादन में व द्धि (Increase in Production)**– देश में सभी प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिए। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए उन्नत बीज, रासायनिक खाद, उन्नत कृषि यन्त्रों का प्रयोग, सिंचाई के साधनों की उचित सुविधाओं की व्यवस्था करनी चाहिए। इसी तरह औद्योगिक उत्पादन में व द्धि के लिए उत्पादन की आधुनिक विधियों एवं तकनीकों का प्रयोग किया जाना चाहिए। देश मे लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास करना चाहिए ताकि उत्पादन में शीघ्र व द्धि के साथ रोज़गार के भी अधिक अवसर निकल सकें।

7. **शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन (Change in Educational System)**– शिक्षा प्रणाली में मौलिक परिवर्तनों की आवश्यकता है। शिक्षा प्रणाली रोज़गार प्रेरक होनी चाहिए।

9. **निर्धनों की उत्पादकता में व द्धि (Increase in the Productivity of the Poor)**– गरीबी दूर करने के लिए निर्धनों की आर्थिक उत्पादकता को बढ़ाना आवश्यक है। निर्धनों को स्वयं रोज़गार की अवस्था को प्राप्त करने के प्रयत्न करने चाहिए जिसके लिए निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक निवेश किया जाना चाहिए। निर्धन वर्ग को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जिससे दनकी उत्पादकता में व द्धि हो सके।

10. **कार्यक्रमों को प्रभावपूर्ण ढंग से लागु करना (To implement the programs effectively)**– देश की सरकार द्धारा समय-समय पर निर्धनता उन्मूलन के विभिन्न कार्यक्रम बनाए जाते हैं, परन्तु इन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से लागु नहीं किया जाता। फलस्वरुप ये निर्धन वर्ग तक नहीं पहुंच पाते, जिससे निर्धन वर्ग को विशेष लाभ नहीं मिल पाता। अतः निर्धनता उन्मूलन के लिए कार्यक्रमों को तुरन्त प्रभावपूर्ण ढंग से लागू करने की आवश्यकता है।

A. सरकार द्धारा निर्धनता को दूर करने के उपाय (Measures Undertaken by the Govt. to Eradicate Poverty)– गरीबी की समस्या को दूर करने के लिए सरकार ने जो उपाय उठाये, उन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है-

A. बेरोज़गारी को दूर करने वाले प्रोग्राम (Unemployment Removal Programmes)

B. बुनियादी ज़रुरतों के प्रति व्यवस्था (Provisions of Basic necessities)

C. सर्वाधिक गरीबों के लिए विशेष उपाय (Special Measures for the Poorest of Poor)

A. बेरोज़गारी को दूर करने वाले प्रोग्राम (Unemployment Removal Programmes)– बेराज़गारी को दूर करने के सिलसिले में विविध प्रकार के अनेक प्रोग्राम अपनाए गए हैं। चौथी योजना तक रोज़गार बढ़ाने के लिए औद्योगिक क्षेत्र पर विशेष बल दिया गया। सार्वजनिक निर्माण-कार्यो के सहारे तुरन्त रोज़गार बढ़ाने के उद्देश्य से कई परियोजनाएं शुरु की गई। पांचवी योजना के समय से रोज़गार बढ़ाने वाले उपायों को ऊँची प्राथमिकता

दी जाने लगी है। इसके लिए श्रम-प्रधान कार्यकलापों जैसे कि खेती व सहायक धन्धों, लघु तथा कुटीर-उद्योग आदि को बड़े पैमाने पर प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यही नहीं बल्कि गरीबी दूर करने के लिए निम्नलिखित विशिष्ट कार्यक्रम चलाए गए हैं।

1. **स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोज़गार योजना (Swarn Jayanti Gram Swarozgar Yojna)**– देश के ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता तथा बेरोज़गारी को खत्म करने के उद्देश्य से 1999 में स्वर्ण जयन्ती ग्रामीण स्वरोज़गार योजना शुरू की गई। इस योजना में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) व अन्य प्रोग्रामों को भी शामिल किया गया है तथा मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में बड़ी संख्या में लघु उद्योगों का स्थापित करना है। इसके साथ सामूहिक रुप से उद्यमों को स्थापित करने के लिए स्वंय सहायता समूहों (Self Field Groups) का भी गठन किया गया है तथा निर्धनों को रोज़गार प्रदान करने के लिए गहन तथा अनुदान दिया जाता है। इस योजना का खर्च केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा 75:26 के अनुपात में किया जाएगा।

2. **प्रधानमन्त्री रोज़गार योजना (Prime Minister's Rozgar Yojna–PMRY)**– यह योजना शहरी क्षेत्रों में शिक्षित बेरोज़गार युवकों को रोज़गार प्रदान करने के लिए 1993-94 में प्रारम्भ की गई। इस योजना के अन्तर्गत 2002–2001 तक 60 लाख शिक्षित लोगों को स्वरोज़गार दिया जा चुका है।

3. **सम्पूर्ण ग्रामीण रोज़गार योजना (Sampoorna Gramin Rojzar Yojna–SGRY)**– यह योजना 2001 में प्रारम्भ की गई जिसके मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं-
   (अ) ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार तथा खाद्य सुरक्षा उपलब्ध करवाना।
   (ब) स्थायी सामाजिक, सामुदायिक एवं आर्थिक परिसम्पत्तियों का निर्माण करना।
   (स) आधारभूत ढांचे का विकास करना।

4. **प्रधानमन्त्री ग्रामोदय योजना (Pradhan Mantri Gramodaya Yojna)**— यह योजना 2002–2001 में शुरु की गई जिसका मुख्य उद्देश्य लोगों के जीवन में स्तर में सुधार करना है तथा इसमें निम्नलिखित बुनियादी न्यूनतम सेवाओं के लिए राज्यों को वित्तीय सहायता दी जाती है। (i) स्वास्थ्य (ii) प्राथमिक शिक्षा (iii) पीने का पानी (iv) ग्रामीण सड़कें (v) आवास।

5. **लघु तथा कुटीर उद्योग (Small and Cottage Industries)**– सरकार ने अपने पूर्व निर्धारित बेरोज़गारी तथा निर्धनता को दूर करने सम्बन्धित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए एवं कुटीर उद्योगों के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किए हैं। स्वयं रोज़गार योजना (Self Employment Scheme) को बढ़ावा देने के लिए पर्याप्त धन भी खर्च किया गया है।

6. **रोज़गार बीमा योजना (Employment Assurance Scheme)**– इस योजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में गरीब लोगों को कृषि कार्य के मन्दी वाले मौसम (खाली समय) में रोज़गार प्रदान करना है।

B. **बुनियादी ज़रुरतों के प्रति व्यवस्था (Provisions for Basic Necessities)**– एक अन्य प्रकार के उपायों का उद्देश्य निम्न आय वर्ग के लोगों की बुनियादी ज़रुरतों को पूरा करने में सहयोग देता है ताकि उनकी जीवन-स्तर ऊपर उठ सके। आय के अतिरिक्त लोगों का जीवन स्तर इस बात पर निर्भर करता है कि उन्हें कितनी सार्वजनिक सुविधाएं और

सेवाएं उपलब्ध होती हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए सरकार ने पांचवी पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष में न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम शुरु किया।

न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (Minimum Needs Programmes)– इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य गरीब लोगों के लिए आधार मूलक सुविधाएं उपलब्ध करवाकर उनके निर्वाह-स्तर को ऊपर उठाना है तथा विकास के सम्बन्ध में क्षेत्रीय विषमताओं को कम करना है। इस कार्यक्रम में जिन सुविधाओं तथा सेवाओं की व्यवस्था है वे इस प्रकार हैं - स्वच्छ पेयजल, चिकित्सा और स्वास्थ्य-रक्षा, प्राथमिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा ग्रामीण भवन-निर्माण, ग्रामीण सड़कें व बिजलीकरण, शहरी इलाकों की गन्दी बस्तियों का वातावरण सम्बन्धी सुधार, पोषक-आहार एवं सार्वजनिक वितरण प्रणाली।

C. **सर्वाधिक गरीबों के लिए विशेष उपाय** (Special Measures for Poorest of the Poor)– गरीबों की सहायता के लिए अपनाए गए उपायों के अतिरिक्त, सरकार उन लोगों पर विशेष ध्यान दे रही है जो गरीबों में भी सबसे अधिक गरीब है। इनमें अनुसुचित एवं जनजाति जैसे पिछड़े समुदाय के लोग आते हैं। कुल जनसंख्या में इनका अनुमान 20 प्रतिशत लगभग बैठता है। अधिकांश ये लोग ग्रामीण क्षेत्रों में बसे हुए हैं। इनमें बहुत बड़ी संख्या भूमिहीन मज़दूरों, दस्तकारों, छोटे व सीमान्त किसानों की है।

ऐसी व्यवस्था की गई है कि गरीब लोगों के कल्याण के लिए चलाई जा रही स्कीमें ऐसे वर्गो को प्राथमिकता के आधार पर लाभ पहुंचाए तथा इसके साथ अलग से इनके लिए कई विशेष कल्याएा मूलक स्कीमें अमल में लाई जा रही हैं। जिससे कि इनका आर्थिक स्तर ऊपर उठ सके। कार्यक्रम इस प्रकार से हैं-

1. **अन्योदया कार्यक्रम** (Antyodya Programme)– यह कार्यक्रम 1977-78 ने इसलिए शुरु किया गया ताकि गरीबों में सबसे अधिक गरीब की आर्थिक सहायता की जा सके।

2. **इन्दिरा आवास योजना** (Indira Aavas Yojna)– इस कार्यक्रम (1985–86) का उद्देश्य अनूसूचित जाति, जनजाति व बन्धुआं मजदूरों के मकानों के निर्माण में मदद करना था।

3. **बच्चों को दोपहर के स्कूलों में भोजन** (Mid-day Meal Scheme in School Children 1995-96)– प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए स्कूलों में बच्चों को दोपहर का मुफ्त भोजन की व्यवस्था की गई।

4. **अन्नपूर्णा** (Annapoorna)– यह योजना अप्रैल 2000 में लागु की गई जिसका उद्देश्य वरिष्ठ नागरिकों (Senior Citizens) जिन व द्धावस्था में पैंशन नहीं मिल रही है) की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए खाद्य सुरक्षा प्रदान करता है।

5. **काम के बदले अनाज प्रोग्राम** (Food for Work Programme)– 2001 से प्रारम्भ इस कार्यक्रम का उद्देश्य राज्यों में सुखा प्रभावित ग्रामीण क्षेत्रों में मज़दूरी रोज़गार के माध्यम से खाद्य सुरक्षा को बढ़ाना है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार प्रत्येक सूखाग्रस्त राज्य को मुफ्त खाद्यान्नों की उचित मात्रा उपलब्ध कराता है। मज़दूरों को उत्पादक परिसम्पति के निर्माण के लिए प्रयोग किया जाता है।

6. **शिक्षा सहयोग योजना** (Siksha Sahayog Yojna)– यह योजना गरीबी रेखा से नीचे रह रहे माता-पिता को अपने बच्चों की 9वीं से 12वीं कक्षा तक शिक्षा प्रदान करने के लिए 100 रुपये प्रतिमाह स्वैच्छिक भत्ता प्रदान करवाएगी।

7. **कृषि श्रमिक सामाजिक सुरक्षा योजना (Krishi Shramik Samajik Suraksha Yojna)**– यह योजना जुलाई, 2001 में 18 से 60 वर्ष की आयु वर्ग के कृषि श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रारम्भ करने के लिए दी गई है।

निष्कर्ष (Conclusion)– उपरोक्त विवरण से स्पष्ट बोध होता है कि निर्धनता का उन्मूलन करने के लिए सरकार ने अनेक कार्यक्रम प्रारम्भ किए, परन्तु आज भी निर्धनता खत्म नहीं हो पाई है। वास्तविकता में कार्यक्रमों के कार्यान्चयन तन्त्र में सुधार लाया जाना बहुत ज़रुरी हैं तभी गरीबी उन्मूलन का कार्यक्रम प्रभावकारी बन सकेगा और गरीब जनता को अपेक्षित लाभ पहुंचाना सुनिश्चित हो सकेगा। अन्यथा गरीबों के नाम पर बीच के लोग ही लाभ को हड़पनें में सफल होते रहेंगे। और फिर यह भी ध्यान रहे कि गरीबी उन्मूलन का कार्य अन्ततः आर्थिक विकास के साथ गहरे तौर पर जुड़ा हुआ है। आर्थिक विकास की गति जितनी अधिक तेज़ होगी और विकास कार्यक्रम जितना व्यापक होगा, उतनी ही तेज़ी के साथ गरीबी दूर करने में हम सफल हो सकेंगे।

भारत में आर्थिक असमानता
(Economic Inequality in India)

भूमिका
(Introduction)

आय की असमानता का सम्बन्ध समाज के विभिन्न वर्गों में राष्ट्रीय आय के असमान वितरण से है। अन्य शब्दों में, आय एवं सम्पत्ति के असमान वितरण से अभिप्रायः अर्थव्यवस्था की उस परिस्थिति से है जिसमें कि देश के कुछ लोगों की आय, देश की औसत आय से बहुत अधिक और अधिकांश लोगों की आय, औसत आय से बहुत कम होती है।

भारत में आय तथा सम्पत्ति की असमानता के प्रकृति, विस्तार व आकार
(Nature, Extent and Magnitude of Inequality of Income and Wealth of India)

भारतीय अर्थव्यस्था में असमानता का विस्तार बहुत अधिक नजर आता है। आर्थिक असमानता के विभिन्न पहलुओं को लेकर हम यहां देखेंगे कि भारतीय अर्थव्यवस्था में क्या और कितनी असमानताएं मौजूद हैं।

1. **आय की असमानताः** भारत में आय के वितरण की प्रत्यक्ष जांच के लिए आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इस विषय पर निश्चित एवं बहुत सही आंकड़े तो उपलब्ध नहीं है, फिर भी इस विषय के सम्बन्ध में समय-समय पर जो अनेक मोटे अनुमान लगाये गए हैं, उनसे वितरण में भारी असमानता की साफ झलक मिलती है। मायानगर तथा मुखर्जी के अनुसार राष्ट्रीय आय का लगभग 25 प्रतिशत भाग, ऊपर के 10 प्रतिशत लोगों के पास केन्द्रित, जबकि नीचे के 20 प्रतिशत लोगों के पास राष्ट्रीय आय का कुल 8.5 प्रतिशत भाग ही होता है।

   लिंडाल के अनुमान के अनुसार देश के ऊपर के 10 प्रतिशत लोगों के पास 34 प्रतिशत राष्ट्रीय आय केन्द्रित है जबकि नीचे के 25 प्रतिशत लोगों को राष्ट्रीय आय का कुल 9.6 प्रतिशत भाग ही मुश्किल से मिलता है।

   विश्व बैंक के एक अनुमान के अनुसार, भारत में ऊपर के 10 प्रतिशत व्यक्तियों/परिवारों के पास राष्ट्रीय आय का केवल 3.5 प्रतिशत भाग ही मिल पाता है।

2. **ग्रामीण तथा शहरी असमानताएं (Rural and Urban Inequalities):** भारत में ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में भी असमानता पाई जाती है। शहरी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति आय, ग्रामीण क्षेत्रों की प्रति आय से लगभग दुगनी है। परन्तु ग्रमीण क्षेत्रों में निर्धन तथा धनी वर्ग के बीच का अन्तर शहरी क्षेत्रों की तुलना से बहुत कम है।

   रिज़र्व बैंक के अनुमान के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 25 प्रतिशत राष्ट्रीय आय ऊपर के 10 प्रतिशत लोगों के पास केन्द्रित है जबकि नीचे के 20 प्रतिशत लोगों के पास केवल 9 प्रतिशत राष्ट्रीय आय ही होती है। जबकि शहरी क्षेत्रों में यह क्रमशः 37 प्रतिशत तथा 7 प्रतिशत है।

3. **उपभोग व्यय की असमानताएं (Inequalities in Consumption Expenditure):** नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लाइड इकोनोमिक रिसर्च (NCAER) के अनुसार कुल उपभोग व्यय में नीचे के 20 प्रतिशत परिवारों का केवल 13 प्रतिशत है जबकि ऊपर के 20 प्रतिशत परिवारों का भाग 35 प्रतिशत है।

4. **निर्धनता के आधार पर (On the Basis of Poverty):** भारत में आय की असमानता का अनुमान उन लोगों की संख्या से भी लगाया जाता है जो निर्धनता रेखा से नीचे रहते हैं। योजना आयोग के अनुसार, भारत में 1993-94 की कीमतों के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रों में 229 रुपये तथा शहरी क्षेत्र में 264 रुपये प्रतिमास उपभोग व्यय करने वाले लोगों को निर्धनता रेखा से नीचे माना गया है। इस आधार पर 1990-2000 से 26 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे रह रही थी।

क्षेत्रीय असमानता
(Regional Inequality)

देश के विभिन्न राज्यों के बीच आय-वितरण के सम्बन्ध में भी भारी असमानता देखने को मिलती है। किसका अनुमान विभिन्न राज्यों में प्रति-व्यक्ति आय के औसत से लगाया जाता है।

देश के कुछ राज्यों जैसे पंजाब, गोआ, हरियाणा, महाराष्ट्र तथा गुजरात आदि की प्रति व्यक्ति आय बहुत अधिक है। इसके विपरित कई राज्यों जैसे बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, असम आदि की प्रति व्यक्ति आय काफी कम है।

तालिकाः प्रति व्यक्ति आय (वर्तमान कीमतों पर) नई श्रंखला (रुपये)

राज्य	पूर्ति व्यक्ति आय	राज्य	पूर्ति व्यक्ति आय	राज्य	पर्ति व्यक्ति आय
गोआ	45,105	हिमाचल प्रदेश	18,920	उत्तर प्रदेश	9,765
पंजाब	25,048	राजस्थान	13,116	उड़ीसा	8,547
महाराष्ट्र	23,743	मध्यप्रदेश	10,603	बिहार	5,108
हरियाणा	23,726	असम	10,196		
गुजरात	19,228				

(स्रोत-इकोनोमिक सर्वे, 2003)

तालिका से स्पष्ट है कि राज्यों के सबसे अधिक आय गोवा की तथा सबसे कम प्रति आय बिहार की है।

सम्पत्ति के वितरण की असमानताओं की प्रकृति का विस्तार
(Nature of Extent of Inequalities in the Distribution of Wealth)

आय-वितरण में असमानता के अतिरिक्त, भारत में धन-वितरण के सम्बन्ध में भी भारी असमानता देखने के मिलती है। वस्तुतः धन वितरण की असमानताएं अपेक्षाकृत अधिक है। (आय की असमानताओं का मुख्य कारण ही यही है) इसका अनुमान कृषि भूमि के वितरण, भवन सम्पत्ति के स्वामित्व तथा कम्पनी शेयर के स्वामित्व के आधार पर लगाया जा सकता है।

1. **भू-सम्पत्ति का वितरणः** नेशनल सेम्पल सर्वे के आंकड़ों से पता चलता है कि गांवों में लगभग 75 प्रतिशत कृषि-भूमि ऊपर के केवल 20 प्रतिशत लोगों के पास केन्द्रित है, जबकि नीचे के 20 प्रतिशत लोगों के पास कुछ भी भूमि नहीं है। यदि नीचे के 50 प्रतिशत लोगों को लें, तो पता चलता है कि केवल 2.7 प्रतिशत भूमि ही उनके पास में है। उपरोक्त आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि गांवों में भूमि-के स्वामित्व में भारी असमानता है।

2. **भवन सम्पत्ति का स्वामित्वः** नेशनल कौन्सिल ऑफ एप्लाइड इकानोमिक रिसर्च (NCAER) के अनुसार शहरी क्षेत्र में ऊपर के 10 प्रतिशत ऐसे परिवारों के पास केवल 1 प्रतिशत भवन-सम्पत्ति का स्वामित्व है।

3. **शेयर सम्पत्ति के स्वामित्वः** महालनोविस सीमित के अनुसार लाभांश - आय प्राप्त करने वाले परिवारों में से ऊपर के 1 प्रतिशत के दसवें भाग के परिवारों के पास शेयर के रूप में आधे से अधिक व्यक्तिगत सम्पत्ति केन्द्रित है।

भारत में असमानताओं के कारण (Causes of Inequalities in India): भारत में गरीबी के अतिरिक्त असमानता की गहनता या मात्रा भी बहुत अधिक है और आयोजन-काल में हुए आर्थिक विकास के बावजूद असमानताएं कम नहीं हुई हैं। निस्सन्देह यह बहुत गम्भीर तथा चिन्ताजनक बात है। मुख्य कारण निम्नलिखित हैं:

1. **शहरी क्षेत्र में सम्पत्ति का निजी स्वामित्व (Private Ownership of Property in Urban Sector):** शहरी क्षेत्रों में भूमि, मकान, व्यापार और उद्योगों आदि सम्पत्ति पर निजी स्वामित्व होता है। कुछ लोगों के हाथ में उत्पादन के साधन तथा सम्पत्ति है और उनकी आय का मुख्य स्रोत उनकी सम्पत्ति है। परन्तु दूसरे वर्ग के पास कोई सम्पत्ति नहीं होता और वे जीवन निर्वाह के लिए सिर्फ अपनी श्रम-शक्ति पर ही निर्भर करते हैं।

2. **ग्रामीण क्षेत्र में भूमि के स्वामित्व में असमानताएं (Inequaities in the land ownership in the rural Sector):** स्वतन्त्रता से पहले, देश में जमींदारी प्रथा के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि का कुछ ही लोगों का स्वामित्व था। यद्यपि स्वतन्त्रता के बाद ज़मीदारीय प्रथा समाप्त कर दी गई, परन्तु भूमि के केन्द्रीयकरण को रोका नहीं जा सका। इस समय भी देश की 10 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या के पास देश की कृषि भूमि का 56 प्रतिशत भाग है और 70 प्रतिशत जनसंख्या के पास केवल 14 प्रतिशत हिस्सा ही है।

   हरित क्रान्ति से भी केवल बड़े कसानों को अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्राप्त हुआ है। क्योंकि उनकी निवेश करने की क्षमता अधिक है। इसके अतिरिक्त

वित्त-संस्थाओं से भी बड़े किसानों को ज्यादा ऋण-सुविधाएं प्राप्त हुई हैं। जबकि भूमिहीन कृषि श्रमिकों, छोटे किसानों की आय कम होने के कारण इनके जीवन निर्वाह करने में भी बहुत कठिनाई होती है।

3. **उत्तराधिकार के नियम (Inheritance Law):** उ त्तराधिकार का नियम भी भारत में आय-असमानताओं के ढांचे को बनाए रखने में सहायक है। उदाहरण के लिए, एक पूंजीपति का बेटा पूंजीपति बनता है तथा एक कृषि श्रमिक का बेटा कृषि श्रमिक (या ज्यादा से ज्यादा उद्योगों में श्रमिक) ही बन पाता है। फलस्वरूप उद्योगपत्तियों, व्यापारियों, बड़े किसानों और धनी लोगों के पुत्रों व पुत्रियों के साधनों पर स्वतः अधिकार प्राप्त हो जाता है जिससे उन्हें आसानी से आय व धन की प्राप्ति होने लगती है। इसके विपरित, श्रमिकों के बच्चों को विरासत में कुछ नहीं मिलती, परिणास्वरूप उनकी गरीबी, पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रही है।

4. **व्यापक बेरोज़गारी (Rising Unemployment):** एक अन्य प्रमुख कारण गरीब व्यक्तियों के लिए रोजगार की कमी है। अनेक व्यक्तियों को काफी लम्बे समय तक रोजगार न मिलने के कारण वे बेरोज़गार पड़े रहते हैं। केवल यही नहीं, बल्कि इनके पास आय-अर्जित परिसम्पत्तियों की कमी के साथ-साथ पर्याप्त रोज़गार अवसर भी उपलब्ध नहीं है। विभिन्न कारणों से इधर बेरोज़गारी की स्थिति और खराब हो गई है।

   इसके साथ चूंकि ऐसे लोगों में आवश्यक शिक्षा तथा प्रशिक्षण की प्रायः कमी होती है, इसीलिए ये ऐसे कार्यों में ही लग पाते हैं जहां आय का स्तर अपेक्षाकृत बहुत ही नीचा होता है, अतः अमीर व गरीब व्यक्तियों की आय में इस विषय से भी असमानताएं उठती हैं।

5. **मुद्रा स्फीति (Inflation):** पिछले 45 वर्षों से कीमत स्तर में लगातार व द्धि होती रही है तथा इस व द्धि से असंगठित क्षेत्रों में काम करने वालों की वास्तविक आय कम होती गई है। इसके विपरित मुद्रा स्फीति से उद्योगपतियों, व्यापारियों व अतिरिक्त फसल के उत्पादक बड़े किसानों को लाभ हुआ है। स्फीति के प्रतिकूल प्रभावों को रोकने के लिए देश में कोई खास कदम नहीं उठाये गए जिसके फलस्वरूप आय-असमानताओं में व द्धि हुई है।

6. **बैकों व वित्तिय संस्थाओं की साख नीति तथा सरकार की लाइसैंस नीति (Credit Policy of banks and financial corporation and the Licensing Policy of the Government):** विभिन्न समितियों की रिपोर्ट से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि बैंकों व वित्तिय संस्थाओं की ऋण प्रदान करने की नीति में बड़े उद्योगपतियों, व्यापारियों व बड़ी उत्पादन इकाइयों की ओर झुकाव था। इसके अतिरिक्त, बड़ी कम्पनियों व बड़ी औद्योगिक इकाइयों को पूंजी-बाजार से साधन जुटाने में छोटे उद्योगों की तुलना में कम कठिनाई होती है। जहां तक सरकार की लाइसेसिंग नीति का प्रश्न है, यह बात भी अब सर्वविदित (सर्वमान्य) है कि इस नीति के कारण एकाधिकारिक शक्तियों को प्रोत्साहन मिला और आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण बढ़ा। इसका कारण यह था कि बड़े उद्योगपतियों को आसानी से लाइसैंस प्राप्त हो जाते थे जबकि छोटे उत्पादकों को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था।

7. **निवेश एवं उत्पादन ढांचा (Structure of Investment and Production):** इस सम्बन्ध में विगत कई वर्षों से अपनाए गए निवेश-ढांचे और उत्पादन-ढांचे का

योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं रहा है। विकास की रणनीति में दूसरी योजना के समय से हमने पूंजी-प्रधान तकनीकी का सहारा लिया है। इससे वितरण-विषमता में और व द्धि हुई। एक ओर उत्पादन (आय) में लाभ, ब्याज आदि के रूप में साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को मिलने वाला लाभ बढ़ गया, वहीं दूसरी ओर रोज़गार के अवसर पर्याप्त तेजी से नहीं बढ़ पाए तथा श्रमिक वर्ग को उत्पादन का बड़ा भाग नहीं मिल सका।

उत्पादन ढांचा भी कम महत्वपूर्ण कारक नहीं रहा। यह ढांचा गैर-जरूरी अथवा आराम व विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन की ओर अधिक झुका हुआ है। चूंकि वितरण सम्पन्न वर्गों के पक्ष में है, इसलिए उत्पादन को स्वरूप में अमीर वर्ग के अनुरूप के परिवर्तन होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। धनी लोगों के लिए गैर-जरूरी उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन में देश के संसाधन अधिक मात्रा में लग गए, वो वैसे गरीब लोगों अथवा विकास-कार्यों में लगाये जा सकते थे, उत्पादन-व्यवस्था के इस स्वरूप से गरीब लोगों के लिए पर्याप्त मात्रा में आवश्यक उपभोग-वस्तुएं उपलब्ध नहीं हो पाती। कुछ उपभोग में इनका भाग अपेक्षाकृत कम बैठा पाता है। अतः स्पष्ट है कि देश में विग कई वर्षों से निवेश और उत्पादन का जो ढांचा बनता जा रहा है उससे आय, सम्पत्ति और उपभोग के सम्बन्ध में भारी असमानता तथा बेरोज़गारी को बढ़ावा मिला है।

असमानताओं को कम करने के लिए उपाय/सरकारी नीति
(Measures Policy for Reducing Inequalities)

आयोजन के आरम्भ से ही असमानता में कमी करना एक प्रमुख उद्देश्य रहा है। इस उद्देश्य की पूति के लिए सरकार द्वारा अपनाई गई नीति या सरकार द्वारा अपनाए गए मुख्य उपाय इस प्रकार से हैंः

1. **सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार (Extension of Public Sector):** आय की असमानताओं को घटाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक महत्व दिया गया। निजी क्षेत्र में स्वामित्व के विस्तार को रोकने के लिए ही सार्वजनिक योग का अधिक विस्तार किया गया।

   इसी प्रकार वित्तिय (बैंक) संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण करने का मुख्य उद्देश्य तो यही था परन्तु 1991 की नई आर्थिक नीति के कारण अब सरकार निजीकरण (Privatization) को अधिक महत्व दे रही है तथा इसके फलस्वरूप आय की असमानताओं में और अधिक व द्धि होगी।

2. **भूमि सुधार (Land Reforms):** भूमि सुधार सम्बन्धी नीति का मुख्य उद्देश्य भूमि-स्वामित्व की असमानता में कमी लाना है। इस उद्देय की प्राप्ति के लिए सरकार ने स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् जमींदार प्रथा उन्मूलन (Abolition Zamindari) कानून पास किया तथा कृषि भूमि की उच्चतम सीमा (Cuting on Land Holding) निर्धारित करने के लिए कानून बनाए गए, जमींदारी प्रथा समाप्त की तथा सीमा से अधिक जमीन बड़े जमींदारों से लेकर कम ज़मीन वाले किसानों या भूमिहीनों को ज़मीन बांटी गई।

3. **एकाधिकारी तथा प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक अधिनियम - 1969 (Control Over Monopolies and Restriction Trade Practices):** शहरी सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण

को रोकने के लिए 1969 में MRTP-Act लागू किया गया। इस एक्ट का उद्देश्य आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकना है जिसकी प्राप्ति के लिए औद्योगिक नीति लाइसैंस नीति को भी अपनाया था परन्तु सन् 1919 की नई आर्थिक नीति में अधिकतर उद्योगों के लिए लाइसैंस नीति को समाप्त कर दिया गया है।

4. **रोज़गार और मज़दूरी नीति (Employment and Wage Policies):** देश में बेरोज़गारी जनतर को रोज़गार प्रदान करने के लिए कोई निवेश कार्यक्रम जैसे छोटे विकास की ऐजेन्सी (SFDA), सीमान्त किसान एवं कृषि श्रमिक एजेन्सी (MFALA), सूखा क्षेत्र कार्यक्रम (DPAP) तथा काम के बदले अनाज (Food for Work) लागू की गई। परन्तु ये कार्यक्रम एवं दीर्घकालीन नीति का हिस्सा न होकर थोड़े ही समय तक रहे। 1978 में इन सभी योजनाओं को मिलाकर IRDP लागू किया गया और अब 1 अप्रैल 1999 से इस कार्यक्रम को भी स्वर्ण जयन्ती ग्राम रोज़गार योजना में मिला दिया गया है।

5. **कर प्रणाली (Taxation Plan):** कर प्रणाली का उद्देश्य आय की असमानता को कम करना है। आयकर, निगमकर और पूंजी लाभ कर जैसे प्रत्यक्ष कर धनी वर्ग की आय पर प्रगतिशील दर पर लगाया जाता है ताकि करों के रूप में उनसे अधिक धनराशि एकत्रित की जा सके। म त्युकर तथा (सम्पत्ति कर, सम्पत्ति की असमानता को कम करने के लिए लगउए गए हैं। निर्धनों कोआयकर से मुक्त रखा गया है। विलासिताओं पर भी प्रत्यक्ष कर ऊंची दर पर लगाए गए हैं। इन करों का भार समाज के धनीवर्ग को उठाना पड़ता है। परन्तु आय की असमानताओं पर करों का वास्तविक दबाव कुछ असन्तोषजनक ही रहा है। करों की चोरी के कारण प्रत्यक्ष करों का भार धनी वर्ग पर कम ही रहा है। धनी किसान, करों की सीमा से बाहर है।

6. **सामाजिक सुरक्षा लाभ (Social Security Benefits):** यद्यपि देश में कोई व्यापक सामाजिक सुरक्षा प्रणाली नहीं है तथापि संगठित क्षेत्र के श्रमिकों के लिए सामाजिक द ष्टिकोण से कुछ कानून अवश्य बनाए गए हैं। जैसे Workman's Compensation Act, Maternity Benefit Act, Employment State Insurance Act. जिसमें कर्मचारियों को चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएं, विकलांगता व बीमारी की अवधि में इलाज के लिए सुविधाएं, प्रसूति के लिए सुविधाएं आदि प्रदान की जाती हैं परन्तु हमारे देश में सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र हमारे देश में बहुत ही सीमित है।

7. **सार्वजनिक व्यय नीति (Public Expenditure Policy):** इस नीति का उद्देश्य भी आय की असमानता के विस्तार को कम करना है। धनी वर्ग से एकत्रित मुद्रा-राशि का प्रयोग निर्धन लोगों की आय बढ़ाने के लिए है। अन्य शब्दों में, सार्वजनिक व्यय अमीरों से प्राप्त आय का गरीबों में पुनः वितरण करता है।

निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था में अभी भी असमानता का विस्तार बहुत अधिक नज़र आता है यद्यपि भारत सरकार ने इस समस्या का समाधान करने हेतु समय-समय पर काफी कदम भी उठाए जाने आवश्यक हैं।

सबसे अहम बात यह है कि विकास की रणनीति ने ऐसे उद्योगों को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाए जो श्रमिकों के उपभोग के लिए वस्तुओं का अर्थात् मज़दूरी-पदार्थों (Wage Goods) का उत्पादन करते हैं। इन उद्योगों के तेज़ विकास से विकेन्द्रीत ढंग से रोज़गार

के अवसर बढ़ेंगे। श्रमिकों की आय बढ़ने के कारण अनेक लिए आवश्यक उपभोग सामग्री जुट पाएगी। इसके लिए सार्वजनिक वितरण-प्रणाली को मज़बूत बनाना होगा। ऐसी अवस्था में निवेश व उत्पादन का ढांचा निम्न आय-वर्ग के अनुकूल बन जाएगा। फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में व द्धि के साथ-साथ असमानता भी कम होती रहेगी।

प्रादेशिक असमानता व असन्तुलन को दूर करने के लिए अपेक्षाकृत पिछड़े राज्यों या क्षेत्रों के लिए उच्चतर-विकास के लक्ष्य को संख्यात्मक रूप दिया जाए तो बेहतर होगा। इससे असमानता में कमी लाने के लिए बनाए गए कार्यक्रमों व नीतियों के मूल्यांकन में मदद मिल सकेगी। इस आधार पर कार्यक्रमों में आवश्यक संशोधन करना अपेक्षाकृत आसान हो जाएगा।

क्या पूर्ण समानता सम्भव और वांछनीय है?
(Is Perfect Equality Possible and Desirable?)

वितरण के क्षेत्र में पूर्ण समानता न तो सम्भव है और न साधारण तौर पर वांछनीय है। कारण, व्यक्ति के गुण, उसकी क्षमता, रुचि और आवश्यकताओं आदि ने प्रायः बड़ी समानता पायी जाती है। स्पष्टतः अधिक कुशल व्यक्ति अपनी पूरी क्षमता के अनुसार कार्य करने के सामान्य तौर से तभी तैयार होंगे, जबकि उन्हें अतिरिक्त आय के रूप में पर्याप्त प्रेरणा मिलेगी। इस प्रकार लोगों को विशिष्ट प्रकार की शिक्षा, प्रशिक्षण एवं अनुभव प्राप्त करने के लिए अभिप्रेरित किया जाना आवश्यक है। ऐसा आय-वितरण में असमानताओं द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अतः एक सीमा तक सामाजिक लाभ या कल्याण को अधिकतम करने के लिए असमानताओं को न्यायसंगत ठहराया जा सकता है।

लेकिन इस सीमा के बाद असमानताएं विभिन्न क्षेत्रों में अनेक प्रकार की जटिल समस्याएं पैदा करती हैं। उदाहरण के लिए भारी असमानताओं के कारण समाज में तनाव, द्वेष और वर्ग-संघर्ष बढ़ता है, इस प्रकार देश में शान्ति, सुव्यवस्था एवं स्थिरता को ठेस लगती है तथा शोषण को बढावा मिलता है। साथ ही समाज के सभी वर्गों को विकास के लिए समान अवसर नहीं मिल पाता और समय के साथ-साथ अवसर सम्बन्धी असमानताएं बढ़ती जाती हैं।

आर्थिक द ष्टि से असमानताओं के परिणाम कम गंभीर नहीं होते। जब लोगों का जीवन-स्तर बहुत नीचा होता है और जीवन के आवश्यक पदार्थों का औसत उपभोग जरूरी मात्रा से भी कम होता है, तब आय-वितरण में असमानता के कारण एक और तो अधिकांश कार्यशील जनसंख्या की उत्पादन-क्षमता घट जाती है जिसका कुल उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। दूसरी ओर बचत करने का कार्य थोड़े से सम्पन्न लोगों तक ही सीमित हो लेता है।

इसके अतिरिक्त, जीवन-अनिवार्यताओं की अपेक्षा सुख-सामग्री तथा विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगता है क्योंकि सम्पन्न व्यक्ति इसीलिए ऊंची कीमतें देने को तैयार रहते हैं जिसके फलस्वरूप उत्पादकों को ऐसी वस्तुओं के उत्पादन से अधिक समय मिलने की संभावना रहती है। साधनहीन व्यक्ति अपनी अनिवार्य, आवश्यकताओं को भी प्रायः मांग का रूप दे पाने में भी असमर्थ रहते हैं। इस प्रकार सामाजिक द ष्टि से उत्पादन का ढांचा भी दूषित हो जाता है और साथ ही विभिन्न उद्योगों के बीच उत्पादन-साधनों का आबंटन भी। इन्ही अनेक गंभीर दुष्परिणामों को लेकर असमानताओं में कमी लाना आवश्यक और वांछनीय ठहराया जाता है।

भारत में बेरोज़गारी की समस्या
(Unemployment Problem in India)

भूमिका
(Introduction)

निससन्देह बेरोज़गारी, भारत की मूलभूत एवं अत्यन्त गम्भीर समस्या है। यह देश में व्यापक रूप में फैली हुई है और समय के साथ-साथ यह और बढ़ती भी जा रही है। बेरोज़गारी के अनेक आर्थिक दुष्परिणाम होते हैं जो व्यक्ति और समाज, दोनों के लिए बहुत गम्भीर व घातक ठहरते हैं।

बेरोज़गारी का अर्थ
(Meaning of Unemployment)

बेरोज़गारी से अभिप्रायः एक ऐसी स्थिति से है जब वर्तमान मज़दूरी दर पर, व्यक्ति काम करने के लिए तैयार है परन्तु उन्हें रोज़गार प्राप्त नहीं होता। प्रो० पीगू के अनुसार "एक व्यक्ति को उस समय ही बेरोज़गार कहा जाएगा जब उसके पास कोई रोज़गार साधन नहीं है, परन्तु वह रोज़गार प्राप्त करना चाहता है।"

अन्य शब्दों में, कार्य करने के इच्छुक कार्यशील आयु वाले मनुष्य वर्तमान मज़दूरी दर पर कार्य करना चाहते हैं, परन्तु उन्हें कई कारणों से काम नहीं मिलता। अतः वे न चाहते हुए भी बेरोज़गार हैं। जो व्यक्ति काम करने के इच्छुक नहीं है या काम करने के योग्य नहीं है जैसे बीमार, बूढ़े, बच्चे आदि, उनकी गणना बेरोज़गारों में नहीं होती। बेरोज़गारी की यह धारणा 'श्रम शक्ति धारणा' कहलाती है जिसके अनुसार भारत में रोज़गार को 'मानक व्यक्ति वर्ष' (Standard Person Year, SPY) के रूप में मापा जाता है। एक 'मानक व्यक्ति वर्ष' का अर्थ है कि एक व्यक्ति ने एक वर्ष में 273 दिन तक, प्रत्येक दिन में 8 घण्टे काम किया है।

भारत में बेरोज़गारी का स्वरूप
(Nature of Unemployment in India)

भारत में बेरोज़गारी का विशेष पहलू यह है कि बेरोज़गारी, संरचनात्मक प्रकृति की है तथा दीर्घकाल के लिए है। दीर्घकालीन संरचनात्मक बेरोज़गारी जिसका मुख्य कारण पूंजी निर्माण की नीची दर है। अन्य देशों की तरह भारत में अल्पकालीन बेरोज़गारी जैसे संघर्षात्मक या चक्रीय और खुली बेरोज़गारी भी बहुत कम पाई जाती है। ज्यादातर लोगों को कुछ समय तक ही काम मिल जाता है।

भारत में अधिकतर बेरोज़गारी, ग्रामीण अर्थव्यवस्था में ही पाई जाती है। कृषि क्षेत्र में घिसी हुई बेरोज़गारी, मौसमी बेरोज़गारी तथा अल्प रोज़गार की समस्याएं पाई जाती हैं जबकि शहरी क्षेत्र में अधिकतर शिक्षित बेरोज़गारी ही पाई जाती है।

भारत में बेरोज़गारी का अनुमान
(Estimates of Unemployment in India)

भारत में रोज़गार तथा बेरोज़गारी की संख्या नीचे दी हुई तालिका की सहायता से दिखाई गई है।

तालिका

भारत में बेरोज़गारी का अनुमान (करोड़ों में)

नौवीं योजना	श्रम शक्ति	रोज़गार	बेरोज़गारी	बेरोज़गार
(1997-2002)	42.34	41.64	7.0	F
दसवी योजना (2002-2001)	47.88	47.47	4.1	

(Sources : 9th Plan Document Planning Commision, New Delhi)

उपरोक्त तालिका से पता चलता है कि भारत में 47.88 करोड़ श्रमिक हैं, तथा कुल श्रमिक शक्ति में से 47.47 करोड़ लोगों के पास रोज़गार है। 9वीं योजना में बेरोज़गार लोगों की संख्या 70 लाख है जो कि दसवीं योजना में घटकर 41 लाख रह जाएगी।

बेरोज़गारी का मुख्य कारण मुख्यतः श्रम शक्ति और रोज़गार के अवसरों में बहुत अधिक अन्तर का होना है।

भारत में राज्यों की स्थिति में भी अन्तर पाया जाता है। मेघालय में सबसे कम अर्थात् 0.41 प्रतिशत श्रम शक्ति बेरोज़गार है जबकि केरल में सबसे अधिक 20.97 प्रतिशत श्रमशक्ति बरोज़गार है। केरल, गोवा और तामिलनाडु में बेरोज़गारी की दर 10 पतिशत के ऊपर है। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार और मध्य प्रदेश में बेरोज़गारी की दर 10 प्रतिशत के नीचे है, लेकिन यहाँ के लोगों को भारी मुसीबत झेलनी पड़ रही है। भारत में विभिन्न राज्यों में बेरोज़गारी की ऊंची दर इन्हीं राज्यों में अधिक होती है। जहाँ भूमि पर जनसंख्या का अधिक दबाव है, नगरीकरण की अधिक प्रव त्ति, औद्योगिक विकास कम है, शिक्षा का प्रसार अधिक है तथा कृषि श्रमिकों का अधिक अनुपात है क्योंकि यहाँ रोज़गार से प्राप्त आय अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी है।

भारत में बेरोज़गारी के मुख्य प्रकार
(Main Types of Unemployment in India)

भारत में निम्नलिखित, मुख्य प्रकार की बेरोज़गारी पाई जाती है। (1) शहरी क्षेत्र में बरोज़गारी (2) ग्रामीण क्षेत्र में बरोज़गारी।

1. **शहरी-क्षेत्र में बेरोज़गारी** **(Unemployment in Urban Areas)**– शहरी क्षेत्र में लगभग सारी बेरोज़गारी प्रत्यक्ष है, यह बेरोज़गारी जहाँ व्यक्तिगत रूप में कष्टदायक समझी जाती है, वहीं इससे सामाजिक स्तर पर अनेक प्रकार के तनाव पैदा होते हैं जिनसे अन्ततः सामाजिक व्यवस्था को खतरा होता है। सन् 1951 से 1991 तक रोज़गार दफ्तरों में बेरोज़गारों की संख्या 8 गुणा बढ़ गई है। सन् 1961 में 32 लाख रजिस्टर्ड बेरोज़गारों की संख्या 2001-2002 में बढ़कर 423 हो गई है। शहरी क्षेत्र में बेरोज़गारी मुख्यतः दो तरह की होती है- (i) औद्योगिक बेरोज़गारी (ii) शिक्षित बेरोज़गारी।

   (i) **औद्योगिक बेरोज़गारी** **(Industrial Unemployment)**– पिछले 40 वर्षों से निरपेक्ष रूप में औद्योगिक बेरोज़गारी बढ़ी है जिसका मुख्य कारण जनसंख्या में अधिक गति से व द्धि होना है। परन्तु इसी अवधि ने आर्थिक विकास की दर उपयुक्त मात्रा में रोज़गार के अवसर उत्पन्न नहीं कर पाई (श्रम की पूर्ति, माँग से अधिक हुई है) दूसरा कारण, यह है कि ग्रामीण जनसंख्या

की तुलना में शहरी जनसंख्या ज्यादा तेज़ी के साथ बढ़ी है और ग्रामीण क्षेत्रों से बहुत सारे लोग रोज़गार की तलाश में शहरी क्षेत्रों में आते रहते हैं किन्तु स्वतन्त्रता के बाद भारत में औद्योगिक विकास दर भी कम ही रही है। जो कि शहरी क्षेत्रों में आने वाले लोगों को रोज़गार प्रदान कराने में असमर्थ रहती है। इसके अतिरिक्त उद्योगों के आधुनिकीकरण तथा आधुनिक तकनीकियों के प्रयोग के कारण औद्योगिक क्षेत्र में तकनीकी बेरोज़गारी भी बढ़ती जा रही है।

(ii) **शिक्षित बेरोज़गारी (Educated Unemployment)**– भारत में शिक्षित वर्ग की बेरोज़गारी एक अत्यन्त गम्भीर समस्या बन चुकी है। भारत में शिक्षित बेरोज़गारी के मुख्य कारण, दोषणपूर्ण शिक्षा व्यवस्था, नौकरी तलाश करने वालों में तकनीकी प्रशिक्षण तथा आवश्यक योग्यता की कमी, शिक्षित लोगों की माँग व पूर्ति में असन्तुलन तथा आर्थिक विकास की धीमी गति है। शिक्षित बेरोज़गारी देश की स्थिरता तथा सुरक्षा के लिए भारी खतरा होता है।

2. **ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोज़गारी (Unemployment in Rural Areas)**– मोटे तौर पर ग्रामीण क्षेत्र में बेरोज़गारी को दो भागों में बांटा जा सकता है (i) छिपी हुई बेरोज़गारी (ii) मौसमी बेरोज़गारी।

(i) **छिपी हुई बेरोज़गारी (Disgussed Unemployment)**– छिपी हुई बेरोज़गारी से अभिप्राय कि किसी कार्य में वास्तविक आवश्यकता से अधिक व्यक्ति कार्यरत रहते हैं। यह बेरोज़गारी मुख्यतः कृषि क्षेत्र में 25 प्रतिशत के लगभग पाई जाती है। कृषि क्षेत्र में श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता शून्य (ऋणात्मक) भी होती है।

(ii) **मौसमी बेरोज़गारी (Seasonal Unemployment)**– वर्तमान समय में देश की केवल 32 प्रतिशत भूमि पर सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध हैं परन्तु लगभग केवल 14 प्रतिशत भूमि पर ही दो या दो से अधिक फसले उगाई जाती हैं। जिसका यह अभिप्रायः हुआ कि देश की कृषि भूमि के 86 प्रतिशत पर खेती करने वाले एक वर्ष से 4 से 6 महीने तक बेरोज़गार रहते हैं। क्योंकि इस प्रकार के भाग्यशाली लोग कम ही है जो इस दौरान कोई अन्य अस्थाई रोज़गार प्राप्त करने में सफल होते हैं। अतः ग्रामीण क्षेत्र में मौसमी-बेरोज़गारी की समस्या, एक गम्भीर समस्या है।

भारत में अल्प-रोज़गार (Under-Unemployment in India): भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख समस्याओं में से एक समस्या है कि वे श्रमशक्ति को उसकी क्षमतानुसार कार्य न मिल पाना। अल्परोज़गारी से अभिप्राय है कि जब एक श्रमिक को उसकी कार्य क्षमता के अनुकूल कार्य न मिलकर, उसकी योग्यता एवं क्षमता से कम स्तर वाला कार्य करना पड़ता है तो उसे अल्परोज़गार की अवस्था कहा है।

NSS के आंकड़ों के अनुसार यदि एक व्यक्ति पूर्ति सप्ताह में केवल 28 घण्टे ही काम करता है तो यह अति अल्परोज़गार कहलाएगा तथा इसके विपरित यदि वह पूर्ति सप्ताह 29 से 42 घण्टे काम करता है तो इस अवस्था को सीमित अल्प रोज़गार कहा जाएगा।

बेरोज़गारी के कारण
(Causes of Unemployment)

भारत में बेरोज़गारी मुख्य रूप से ढांचागत है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं-

1. **विकास की धीमी गति** (Slow Pace of Development)– स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, आयोजन के सहारे देश के आर्थिक विकास की गति बहुत धीमी रही है। जिसके मुख्य कारण पूंजी निर्माण की नीची दर तथा उत्पादन क्षमता का अपर्याप्त उपयोग थे। औद्योगिक क्षेत्र में, सबसे अधिक विकास उपभोग की टिकाऊ वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों का हुआ तथा इनकी निर्भरता ऐसी आयातित तकनीकी पर है जिनमें रोज़गार देने की अधिक क्षमता नहीं होती।

2. **जनसंख्या विस्फोट और श्रम की पूर्ति में व द्धि** (Population Explosion and increase in Labour Supply)— स्वतन्त्रता के बाद जैसे ही भारत में तेज़ी के साथ म त्युदर कम हुई, परिणामस्वरूप देश में जनसंख्या विस्फोट का दौर शुरू हुआ। सातवें दशक में तो जनसंख्या की वार्षिक दर 2.25 प्रतिशत हो गई जबकि श्रम की पूर्ति में प्रतिवर्ष 1.9 प्रतिशत की व द्धि हुई। देश में रोज़गार की व द्धि इसकी तुलना में कम रही। परिणामस्वरूप बेरोज़गारी की समस्या बढ़ती गई। इसके अतिरिक्त तीव्र जनसंख्या व द्धि ने पूंजी निर्माण के उपलब्ध संसाधनों को घटाकर बेरोज़गारी की स्थिति को परोक्ष रूप से गम्भीर बनाया है।

3. **दोषपूर्ण आयोजन** (Defective Planning)— 1951 से भारत में आयोजन का सहारा लिया जा रहा है परन्तु रोज़गार की द ष्टि से आयोजन के दो मुख्य दोष हैं-

   (i) **रोज़गार नीति से सम्बन्धित दोष**- भारतीय आयोजन में रोज़गार नीति का बहुत बड़ी सीमा तक अभाव रहा है। रोज़गार को केवल विकास के परिणाम के तौर पर समझा और मापा जाता है। मुख्य उद्देश्यों में तो रोज़गार को अवश्य शामिल किया गया, लेकिन अभी तक इसे ऊंची प्राथमिकता नहीं दी गई।

   (ii) दूसरा दोष परियोजनाओं के चयन से सम्बन्धित है, कुछ आधारभूत उद्योगों को छोड़कर (जहाँ पूँजी प्रधान तकनीकी आवश्यक थी), अन्य अनेक उद्योगों के सम्बन्ध में वैकल्पिक तकनीकियों के बीच चयन करना सम्भव था, लेकिन इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। विदेशी तकनीकी पर निर्भरता के कारण कुछ ऐसी उत्पादन विधियों को प्राथमिकता दी गई है, जो कम श्रम-प्रधान थीं। परिणामस्वरूप बेरोज़गारी और बढ़ती गई।

4. **अनुपयुक्त शिक्षा प्रणाली** (Inappropriate Educational System)– हमारी शिक्षा प्रणाली केवल शिक्षित बेरोज़गारी की संख्या में व द्धि कर रही है। भारतीय शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य मानव स्रोतों को विकसित करना नहीं रहा है। यहाँ की शिक्षा प्रणाली के व्यावसायिक शिक्षा की उपेक्षा करती है तथा ऐसी शिक्षा देश में रोज़गारोंन्मुख नहीं है।

5. **अनुपयुक्त तकनीकों का प्रयोग** (Use of Inappropriate Technology)– भारत में जहाँ पूँजी का अभाव है, वहाँ श्रम का अधिक्य है। अगर हमारी जैसी अर्थव्यवस्था में बाज़ार की शक्ति ठीक तरह से काम करे तो उत्पादन में श्रम-प्रधान तकनीकों का अधिक प्रयोग करना चाहिए। परन्तु उद्योगपति, जहाँ तक सम्भव होता है, श्रम

को पूँजी से प्रतिस्थापित करने की कोशिश करते हैं, परिणामस्वरूप बेरोज़गारी और बढ़ती गई।

6. **कम बचत कम निवेश** (Low Saving and Investment)– भारत में पूँजी की कमी है, निवेश बचत पर निर्भर करती है। अतः बचत/निवेश में कमी के कारण श्रमिकों के लिए रोज़गार के पर्याप्त अवसर नहीं उत्पन्न किए जा सके।

7. **कृषि एक मौसमी व्यवसाय** (Agriculture a Seasonal Occupation)– यद्यपि हमारे देश में कृषि एक मुख्य व्यवसाय है तथा देश की अधिकांश जनसंख्या इस पर निर्भर करती है, परन्तु इसकी मौसमी प्रकृति के कारण, किसान एक वर्ष से तीन या चार महीने बेरोज़गार रहते हैं।

8. **कुटीर और लघु उद्योगों का पतन** (Decay of Cottage and Small Scale Industries)– भारत में ब्रिटिश शासन काल से ही कुटीर तथा लघु उद्योगों का विनाश हो गया था। अधिकांश हस्तशिल्प एवं कारीगर जिनकी आजीविका इन उद्योगों पर आश्रित है, उन्हें पलायन करके कृषि क्षेत्र पर निर्भर होना पड़ा तथा भूमि पर जनसंख्या का और बोझ बढ़ गया तथा बेरोज़गारी और बढ़ गई।

9. **श्रमिकों की गतिहीनता** (Immobilities of Labour)– भारतीय श्रमिक अधिकतर गतिहीन है क्योंकि सामान्यतः लोगों की घर पर रहने की प्रव त्ति होती है। घर से बाहर निकलकर काम तलाश करने सम्बन्धित बहुत की कम कष्ट उठाते हैं।

10. **सामाजिक घटक** (Social Factors)– जाति प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली, भूमि तथा परिवार से लगाव तथा भाग्यवाद के कारण भी बेरोज़गारी बढ़ती है। कुछ जातियों में विशेष कार्य वर्जित माने जाते हैं। संयुक्त परिवार से बहुत से सदस्य कोई भी काम नहीं करना चाहते क्योंकि वे अन्य कार्यरत सदस्यों की आय पर निर्भर होते हैं।

बेरोज़गारी दूर करने के उपाय या सुझाव
(Suggestions of Measures to Remove Unemployment)

भारत ने रोज़गार बढ़ाने के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं-

1. **पूँजी निर्माण की दर में व द्धि** (Increase in Rate of Capital Formation)— देश में पूँजी निर्माण की दर में व द्धि होनी चाहिए, जिसके कारण आर्थिक विकास की दर में व द्धि के कारण, अधिक-से-अधिक रोज़गार के अवसर बढ़ सके। पूँजी निर्माण की दर में व द्धि करने के फलस्वरूप वर्तमान क्रियाओं का विस्तार तथा नई क्रियाओं की स्थापना होने से रोज़गार में और अधिक व द्धि होगी।

2. **निवेश ढांचे में परिवर्तन** (Change in Investment Patterns)– अधिक रोज़गार उपलब्ध कराने के उद्देश्य से निवेश ढांचे में दो प्रकार के परिवर्तन आवश्यक हैं।पहले का सम्बन्ध उन उद्योगों के चयन से है जो अधिक रोज़गार प्रदान करते हैं जैसे उद्योग वस्तुओं, वस्तुओं के वितरण, एवं सेवाओं व खेती व इससे सम्बन्धित उद्योगों में अधिक-से-अधिक निवेश किया जाना चाहिए। दूसरे परिवर्तन का सम्बन्ध ऐसी तकनीकी का चयन से है जो कुशल होने के साथ-साथ, श्रम प्रधान भी हो, ताकि रोज़गार के अवसर तेज़ी से बढ़ सकें।

3. **संसाधनों का भरपूर प्रयोग** (Full Utilization of Resources)– हमारे देश में अल्परोज़गार में लगे लोगों के कार्य में व द्धि की जानी चाहिए, इसके फलस्वरूप पहले से लगे संसाधनों का अधिक उत्पादन प्रयोग सम्भव हो सकेगा। इसके लिए कृषि से सम्बन्धित उद्योगों को प्रोत्साहन देना आवश्यक है तथा स्वनियोजित लोगों के लिए अधिक-से-अधिक काम-काज की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे इनकी अल्प-रोज़गार की स्थिति को दूर किया जा सके।

4. **विकेन्द्रित उद्योग** (Decentralization of Industries)– भारत में उद्योगों का केन्द्रियकरण केवल महानगरों तथा बड़े शहरों तक ही सीमित होता है। अतः यह बहुत आवश्यक है गाँव व छोटे शहरों के आसपास ही उद्योगों की स्थापना की जाए ताकि स्थान बदलने वाले श्रमिकों को काम मिल सकेगा, और दूसरे अल्प-रोज़गार में लगे श्रमिकों (जो बाहर नहीं जाते) की स्थिति में सुधारने की सहायता मिलेगी।

5. **जनसंख्या व द्धि पर नियन्त्रण** (Control on Population Increase)– बेरोज़गारी की समस्या का हल केवल रोज़गार बढ़ाने से ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि वर्तमान रोज़गार की मात्रा में उस गति से व द्धि करना सम्भव नहीं दिखाई पड़ता जिस गति से श्रमिकों की मात्रा बढ़ रही है। इसलिए जनसंख्या पर नियन्त्रण आवश्यक है। यह एक दीर्घकालीन उपाय है। अतः हमें एक ऐसी जनसंख्या-नीति को अपनाना चाहिए जिसके अन्तर्गत जन्मदर में भारी कमी हो तथा आज से 15.20 वर्ष के बाद श्रमिक-संख्या की व द्धि दर कम होनी शुरू जो जाए। इसके साथ ही जनसंख्या व द्धि के नियन्त्रण से पूँजी-निवेश के लिए अधिक मात्रा में साधनों की उपलब्धता भी सम्भव हो सकेगी।

6. **जनशक्ति आयोजन** (Man power Planning)– शिक्षित बेरोज़गारी को दूर करने के लिए शिक्षा का आयोजन इस प्रकार से होना चाहिए कि एक तो शिक्षा का कुछ भाग किसी काम के प्रशिक्षण के साथ जुड़ा हो (Vocational Education) तथा शिक्षा प्राप्ति के बाद शिक्षित व्यक्ति अपने को किसी काम के योग्य पाए। दूसरे शिक्षा का कार्यक्रम विकास के लिए जनशक्ति की आवश्यकताओं को समझकर बनाया जाए। अतः साक्षरता को बढ़ाने के साथ-साथ जनशक्ति की आयोजन की आवश्यकता है, जिससे कि शिक्षित कार्यों में बेरोज़गारी पैदा न होने पाए तथा लोग विकास में अपना योगदान दे सकें।

7. **ग्रामीण-रोज़गार कार्यक्रम** (Rural-Employment Programme)– भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे रोज़गार प्रेरित कार्यक्रम जैसे सिंचाई-परियोजनाएं, सड़क व बांध निर्माण, पेयजल तथा आवास निर्माण प्रारम्भ किए जा सकते हैं जिसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण परिसम्पत्तियां का निर्माण होगा तथा अधिक-से-अधिक रोज़गार के अवसर उपलब्ध होंगे क्योंकि अधिकांश बेरोज़गार श्रमिक गाँव के ही रहने वाले होते हैं।

8. **विशेष-रोज़गार कार्यक्रम** (Special Employment Programme)– इन कार्यक्रमों के सहारे, अर्थव्यवस्था के विकास की गति में तेज़ी लाने से रोज़गार के अवसरों में व द्धि तो होगी और बेराज़गारी की समस्या भी दूर हो सकेगी।

अधिकतर निर्धन व्यक्तियों, जो गाँवों/छोटे कस्बों में रहते हैं जिनके पास न तो शिक्षा है, न ही इनके पास पर्याप्त उत्पादन सम्पत्ति है। अतः भूमिहीन खेतीहर मज़दूर, सीमान्त किसान, ग्रामीण दस्तकार तथा जनजाति के लोगों को बेकारी तथा गरीबी दूर करने के लिए विशिष्ट रोज़गार कार्यक्रमों की सहायता की अति आवश्यकता होती है।

बेरोज़गारी को दूर करने के लिए सरकार द्वारा किए गए प्रयत्न (Efforts Undertaken by Govt. to Remove Unemployment)– बेरोज़गारी को दूर करने के उपायों की विवेचना के बाद, हम सरकार के द्वारा उठाए गए मुख्य कदमों/प्रयत्नों का उल्लेख करेंगे, जो इस प्रकार से हैं-

1. **स्वर्ण ज्यन्ती ग्राम स्वरोज़गार योजना (SGSY or Swarana Jayanti Gram Swarozgar Yogana)**– यह योजना अप्रैल 1999 में शुरू की गई जिसका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता तथा बेरोज़गारी को समाप्त करना है। इस योजना में स्वरोज़गार के लिए पहले से लागू की जाने वाले निम्नलिखित सभी कार्यक्रमों को शामिल किया गया है।
   (i) **समान्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम** (IRDP-Intigrating Rural Development Programme)
   (ii) **स्वरोज़गार के लिए ग्रामीण युवाओं का प्रशिक्षण कार्यक्रम** (TRYSEM—Training Rural Youth for Self Employment)
   (iii) **ग्रामीण क्षेत्र महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम** (DWCRA—Development of Women and Children in Rural Areas)
   (iv) **ग्रामीण दस्तकारों के उन्नत औज़ारों की किट की आपूर्ति का कार्यक्रम** (SITRA—Supply of Improvement Tool Kits to Rural Artisans)
   (v) **गंगा क्लयाण योजना** (GKY—Ganga Kalyan Yogana)
   (vi) **दस लाख कुआं योजना** (MWS—Million Wells Scheme)

2. **स्वर्ण जयन्ती शहरी रोज़गार योजना (Swaran Jayanti Shahri Rozgar Yojna—SGRY)**– यह योजना दिसम्बर 1997 में प्रारम्भ की गई जिसका मुख्य उद्देश्य शहरों में बेरोज़गारों को स्वरोज़गार तथा मज़दूरी प्रदान करवाना है। इसके अन्तर्गत ग़रीबी रेखा से नीचे रहने वालों तथा नंवी कक्षा तक पढ़े-लिखे लोगों को प्रशिक्षण दिया गया।

3. **प्रधानमन्त्री रोज़गार योजना (Prime Minister Rozgar Yojna—PMRY)**– यह योजना 2 अक्तूबर, 1993 में शहरी क्षेत्रों में प्रारम्भ की गई, तथा 1994-95 में ग्रामीण क्षेत्रों में इसका विस्तार किया गया। इसका उद्देश्य शिक्षित बेरोज़गार युवकों को रोज़गार प्रदान करना है।

4. **जवाहर ग्राम सम द्धि योजना (Jwahar Gram Smridhi Yojna—JGSY)**– अप्रैल 1999 से जवाहर रोज़गार योजना को समाप्त करके "जवाहर ग्राम सम द्धि योजना" प्रारम्भ की गई, इसका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में आधारभूत सुविधाएं जुटाना तथा बेरोज़गार ग़रीबों को पूरक रोज़गार उपलब्ध कराना है। इसका क्रियान्वयन ग्राम पंचायत द्वारा किया जाएगा।

5. **रोज़गार आश्वासन योजना (Employment Assurance Scheme—EAS)–** 1993 से प्रारम्भ योजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों निर्धनों के लिए अतिरिक्त रोज़गार जुटाना है तथा कृषि क्षेत्र से खाली समय में मज़दूरी करना है।

6. **लघु एवं कुटीर उद्योग (Small and Cottage Industries)–** सरकार का उद्देश्य निर्धनता के एवं बेरोज़गारी को कम करना है। इसके लिए लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किए गए हैं। स्वयं रोज़गार योजना को प्रोत्साहन करने के लिए पर्याप्त धन भी खर्च किया जा रहा है।

7. **जयप्रकाश रोज़गार गारन्टी योजना (Jai Parkash Guarantee Rozgar—JPRGY)–** ग्रामीण क्षेत्र में रोज़गार की गारन्टी देने के लिए इस योजना के 2002-2003 में शुरू किया गया।

भारत में आर्थिक आयोजन
(Economic Planning in India)

भूमिका (Introduction): अल्पविकसित देशों में आर्थिक नियोजन का बहुत महत्त्व है। "आर्थिक क्षेत्र में नियोजन का वही महत्त्व है जो अध्यात्मिक क्षेत्र में ईश्वर का है।" अतः Prof. Robbins के अनुसार, "आर्थिक नियोजन हमारे इस युग की महान् औषधि है।" इसी प्रकार Prof. Oscar Lange के मत में, "आजकल अनेक अल्पविकसित देश यह विश्वास करते हैं कि उनके पिछड़ेपन का एकमात्र समाधान आर्थिक नियोजन ही है" स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में निर्धनता, बेरोजगारी, भुखमरी आदि के आधारभूत समस्याओं को दूर करने के लिए तथा देश में उपलब्ध साधनों को उचित प्रयोग करने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं को प्रारम्भ किया। सन् 1951 से प्रारम्भ होकर अब तक नौ पंचवर्षीय योजनाएँ पूरी हो चुकी हैं तथा दसवीं पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 2002 से लागू होकर 31 मार्च 2007 तक चलेगी।

आर्थिक नियोजन (Economic Planning)– आर्थिक नियोजन से अभिप्राय एक ऐसी विधि से है जिसके अन्तर्गत एक केन्द्रिय योजना अधिकारी देश के प्राकृतिक तथा मानवीय साधनों को ध्यान में रखते हुए एक निश्चित समय की अवधि में पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आर्थिक तत्त्वों के नियमन तथा नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है।

भारतीय योजना आयोग (Indian Planning Commission) की राय में, "आर्थिक नियोजन आवश्यक रूप से सामाजिक उद्देश्यों के अनुरूप साधनों के अधिकतम लाभ हेतु संगठित एवं उपयोग करने का एक मार्ग है।" **गन्नार मिर्डल** (Gunnar Myrdal) के अनुसार, "आर्थिक नियोजन राष्ट्रीय सरकार की राजनीति से सम्बन्धित वह कार्यक्रम है, जिसके बाज़ार शक्तियों के कार्य-कलापों में राज्य हस्तक्षेप की प्रणाली को सामाजिक प्रक्रिया के ऊपर ले जाने हेतू लागू किया जाता है।"

अतः हम कह सकते हैं कि, "आर्थिक नियोजन से अर्थ एक संगठित आर्थिक प्रयास से है जिसमें एक निश्चित अवधि में सुनिश्चित एवं सुपरिभाषित सामाजिक एवं आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आर्थिक साधनों का विवेकपूर्ण ढंग से समन्वय एवं नियन्त्रण किया जाता है।"

भारत में आर्थिक नियोजन का विकास
(Growth of Economic Planning in India)

भारत में सर्वप्रथम योजना का विचार श्री एम० विश्वेश्वरैया ने सन् 1934 में अपनी किताब "Planned Economy in India" में आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। सन् 1938 में अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा राष्ट्रीय आयोजन समिति (National Planning Committee) का गठन श्री जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में किया गया, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र के महत्त्व की ओर विशेष ध्यान दिया गया। सन् 1940 में भारत के प्रमुख आठ उद्योगपतियों ने भारत के आर्थिक विकास के लिए एक योजना तैयार की जो "बम्बई योजना" (Bombay Plan) के नाम से प्रसिद्ध है जिसका उद्देश्य 15 वर्षों में 10 हज़ार करोड़ रुपए खर्च करके प्रति व्यक्ति आय को दुगुना करना था। इसी प्रकार श्री एम० एन० राय० ने 'जन योजना' (People's Plan) तैयार की जिसमें सामूहिक या सरकारी खेती (Collective or State Farming) पर बल दिया गया तथा भूमि के राष्ट्रीयकरण की सिफारिश की। सन् 1944 में श्री मन्नारायण अग्रवाल ने "गांधीवादी योजना" (Gandhian Plan) तैयार की जिसका उद्देश्य कृषि और उद्योग के साथ एक सन्तुलित विकास को महत्त्व देना एवं दस वर्ष की अवधि में न्यूनतम जीवन स्तर उपलब्ध कराने का लक्ष्य भी था। सन् 1950 में सर्वोदय आन्दोलन के नेता श्री जय प्रकाश नारायण ने **शोषण विहिन समाज** की स्थापना के उद्देश्य वाली "सर्वोदय योजना" प्रस्तुत की।

योजना आयोग तथा पंच वर्षीय योजनाएँ
(The Planning Commission and Five Year Plans)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्, भारत सरकार ने 15 मार्च, 1950 से देश की भौतिक पूँजी एवं मानवीय संसाधनों को अनुमान लगाने और इनका अधिक सन्तुलित प्रभावी प्रयोग के लिए स्वर्गीय पं० जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में योजना आयोग का गठन किया गया, जिसका कार्यकाल पांच वर्ष निर्धारित किया गया। 6 अप्रैल, 1952 को राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council—NDC) का गठन किया गया जिसका उद्देश्य राज्यों और योजना आयोग के बीच सहयोग का वातावरण बनाकर आर्थिक नियोजन को सफल बनाना होता है। योजना आयोग एवं राष्ट्रीय विकास परिषद् के अध्यक्ष भारतीय प्रधान मन्त्री ही होते हैं। स्वर्गीय पं० नेहरू ने 8 दिसम्बर, 1952 के लोकसभा के आगे प्रथम पंचवर्षीय योजना का अन्तिम प्रारूप (Final Draft) पेश किया था। भारत की दस पंचवर्षीय योजनाएं, व तीन एक-एक वर्षीय योजनाएं की अवधि, सार्वजनिक व्यय और उपलब्ध व द्धि दर निम्नलिखित प्रकार रहा है

तालिका

योजनाएं एवं अवधि	सार्वजनिक क्षेत्र का कुल व्यय (करोड़ रु०)	उपलब्ध व द्धि दर (प्रतिशत)
1. प्रथम योजना (1 अप्रैल 1951 से 31 मार्च 1956)	1,960	3.7
2. दुसरी योजना (1 अप्रैल 1956 से 31 मार्च 1961 तक)	4,672	4.2
3. तीसरी योजना (1 अप्रैल 1961 से 31 मार्च 1966 तक)	8,577	2.8
4. तीन एक वर्षीय योजनाएं (1 अप्रैल 1966 से 31 मार्च 1969 तक)	6,625	3.9

5. चौथी योजना (1 अप्रैल 1969 से 31 मार्च 1974 तक)	15,779	3.4
6. पांचवी योजना (1 अप्रैल 1974 से 31 मार्च 1979 तक)	39,426	5.0
7. छठी योजना (1 अप्रैल 1980 से 31 मार्च 1985 तक)	1,10,467	5.5
8. सातवीं योजना (1 अप्रैल 1985 से 31 मार्च 1990 तक)	2,21,436	5.8
9. दो एक वर्षीय योजना (1 अप्रैल 1990 से 31 मार्च 1992 तक	1,33,120	3.3
10. आठवीं योजना (1 अप्रैल 1992 से 31 मार्च 1997 तक)	4,74,121	6.8
11. नौवी योजना (1 अप्रैल 1997 से 31 मार्च 2002 तक)	8,59,200	5.6
12. दसवीं योजना (1 अप्रैल 2002 से 31 मार्च 2007 तक)	15,92,300	8.0

(Source—Economic Survey 2003)

भारत में योजनाओं का मूल्यांकन
(Evaluation of Planning in India)

भारत में आर्थिक नियोजन 1 अप्रैल, 1951 से प्रारम्भ किया गया, तब से अब तक 'दस पंचवर्षीय योजनाएं, तीन एकवर्षीय योजनाएं, दो एक वर्षीय योजनाएं लागू की जा चुकी है, इस अवधि में देश ने निस्सन्देह प्रगति की है। कृषि का उत्पादन बढ़ा है। उद्योगों का विकास हुआ है। परिवहन व संचार सुविधाओं में व द्धि हुई है। शिक्षा का प्रसार हुआ है। विदेशी व्यापार के आकार का समूचित विस्तार हुआ है। राष्ट्रीय आय, घरेलू बचत व विनियोग दरों में भी व द्धि हुई है। हम आत्म निर्भरता की ओर अग्रसर हुए हैं, लेकिन अभी भी ग़रीबी बेरोज़गारी दूर करने में सफलता नहीं मिली है। अतः भारत की योजनाओं का मूल्यांकन निम्नलिखित प्रकार से करेंगे-

1. योजनाओं के लक्ष्य

   (Objectives of Planning)

2. योजनाओं की प्राप्तियां

   (Achievements of Planning)

3. योजनाओं की असफलताएँ

   (Failures of Planning)

योजनाओं के लक्ष्य
(Objectives of Planning)

भारत में विभिन्न योजनाओं के उद्देश्य इस प्रकार से हैं-

1. **पहली पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan)**– इस योजना का मुख्य उद्देश्य "जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना" था इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित उद्देश्य थे-
   (i) देश में युद्ध एवं विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न असन्तुलन को ठीक करना,
   (ii) अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में सन्तुलित आर्थिक विकास करना,
   (iii) बढ़ती हुई कीमतों को रोकना,

(iv) देश में उपलब्ध मानवीय व भौतिक सम्बन्धों का अधिकतम प्रयोग करना जिससे अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके,

(v) सामाजिक व आर्थिक न्याय प्रदान करना।

2. **दूसरी पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan)**– इस योजना का उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना करना तथा इस योजना का आधार महालनोविस मॉडल (Mahalnobis Model) था। निम्नलिखित उद्देश्य थे-

(i) राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत वार्षिक दर से व द्धि करना, जिससे की जनता का जीवन स्तर ऊपर उठाया जा सके,

(ii) देश में तीव्र गति से औद्योगीकरण करना एवं आधारभूत व भारी उद्योगों के विकास पर विशेष रूप से ध्यान देना,

(iii) रोजगार अवसरों में व द्धि करना,

(iv) देश में आय व सम्पत्ति की विषमता को दूर करना ताकि आर्थिक शक्ति का केन्द्रियकरण कम किया जा सके।

3. **तीसरी पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan)**– इस योजना में आत्मनिर्भर एवं आत्मवाहक-अर्थव्यवस्था (Self Riliant and Self-sustained Economy) की दिशा में बढ़ने पर बल दिया गया और निम्नलिखित उद्देश्य थे-

(i) राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत वार्षिक दर से व द्धि करना,

(ii) खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना तथा उद्योग व निर्यात की आवश्यकताओं की पूर्ति करना,

(iii) आधारभूत उद्योगों जैसे इस्पात, रसायन, ईंधन शक्ति आदि का विस्तार करके औद्योगीकरण की मांग को 10 वर्षों में पूरा करने का प्रयास करना,

(iv) मानवीय साधनों का अधिकतम उपयोग करना तथा रोज़गार के अवसरों में पर्याप्त व द्धि करना,

(v) देश में समानता लाने का प्रयास करना, आय व धन की विषमता को दूर करना, तथा आर्थिक शक्ति का समान वितरण करना।

4. **चौथी पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan)**– चतुर्थ योजना का मुख्य उद्देश्य स्थिरता के साथ विकास (Growth with stability) और आत्मनिर्भरता (Self-Riliance) की अधिक-से-अधिक प्राप्त करना; इसके प्रमुख उद्देश्य-

(i) राष्ट्रीय आय में 5.5 प्रतिशत वार्षिक व द्धि करना,

(ii) कृषि उत्पादन में व द्धि के साथ बफर स्टॉक का निर्माण तथा कृषि मूल्यों में स्थिरता लाना,

(iii) आय तथा धन के असमान वितरण को कम करना,

(iv) आर्थिक रोज़गार के अधिक अवसरों को प्रदान करना,

(v) कृषि क्षेत्र में 5 प्रतिशत व निर्यात में 7 प्रतिशत वार्षिक व द्धि प्राप्त करना,

(vi) तीव्र गति से आर्थिक विकास करना जिसके फलस्वरूप देश में सामाजिक व आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना की जा सके।

(vii) बैंकों का सामाजिक स्वामित्व व पंचायती राज की स्थापना करना।

5. **पांचवी पंचवर्षीय योजना (Fifth Five Year Plan)**– इस योजना के दो मुख्य उद्देश्य थे -

(i) गरीबी उन्मूलन,

(ii) आत्मनिर्भरता की प्राप्ति। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित अन्य उद्देश्य इस प्रकार थे- राष्ट्रीय आय में 4.37 प्रतिशत वार्षिक व द्धि करना, विदेशी सहायता पर निर्भरता न्यूनतम करना, मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए प्रभावी कदम उठाना, विनियोग पर अधिकतम लाभ प्राप्त करने की चेष्ठा करना, कृषि, सिंचाई, शक्ति एवं इनसे सम्बन्धित क्षेत्रों के विकास पर अधिक कर देना, न्यूनतम आवश्यकता के राष्ट्रीय कार्यक्रम (Minimum Needs Programme) को लागू करना, देश के आधारभूत उद्योगों तथा ऐसे उद्योगों के विस्तार पर जोर देना जो जन साधारण के लिए वस्तुओं का उत्पादन करते हैं।

6. **छठी पंचवर्षीय योजना (Sixth Five Year Plan)**– इस योजना का मुख्य उद्देश्य गरीबी को दूर करना व रोजगार में व द्धि करना था। अन्य उद्देश्य थे-

(i) अर्थव्यवस्था की विकास दर को बढ़ाना, साधन एवं उत्पादन की कार्यकुशलता में व द्धि करना,

(ii) आर्थिक व तकनीकी आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए आधुनिकीकरण की प्रव त्ति को मज़बूत करना,

(iii) ऊर्जा के सम्बन्धों का तेजी से विकास करना,

(iv) निर्धनता एवं बेरोजगारी में कमी करना,

(v) लोगों के जीवन स्तर की गुणवत्ता में सुधार,

(vi) क्षेत्रीय, असमानताओं में कमी,

(vii) योजना में लोगों के सभी वर्गों की सक्रिय सहभागिता को प्रोत्साहन देना,

(viii) अन्य आर्थिक विषमताओं में कमी,

(ix) अल्प व दीर्घकालीन विकास लक्ष्यों में समन्वय।

7. **सातवीं पंचवर्षीय योजना (Seventh Five Year Plan)**– इस योजना के तीन प्रमुख उद्देश्य-

(i) **तीव्र विकास**-आधुनिकीकरण करना तथा खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाना,

(ii) **समानता तथा सामाजिक न्याय**-अधिक रोज़गार अवसर प्रदान करना,

(iii) **आत्म-निर्भरता, बहेतर एवं उत्पादकता**- उपलब्ध उत्पादन क्षमता का पूर्ण इष्टतम प्रयोग करना।

इन मुख्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कुछ अन्य उद्देश्य इस प्रकार निर्धारित किए गए -

(i) अर्थव्यवस्था की विकास दर 5 प्रतिशत वार्षिक निर्धारित की गई,

(ii) कृषि विकास की दर 4 प्रतिशत तथा उद्योगों के विकास की दर 8 प्रतिशत रखी गई,

(iii) रोज़गार अवसरों की श्रमशक्ति व द्धि से अधिक बढ़ाना,

(iv) निर्धनता रेखा से नीचे जीवन व्यतीत करने वाले लोगों की प्रतिशत संख्या कम करके 25.8 प्रतिशत करने का लक्ष्य रखा गया,

(v) विज्ञान और तकनीक को प्रोत्साहन दिया गया,

(vi) मुद्रा स्फीति पर नियन्त्रण,

(vii) पूर्वी पिछड़े क्षेत्रों में हरित क्रान्ति लाना,

(viii) प्राकृतिक तथा पर्यावरण सन्तुलन बनाए रखने के प्रयास किए जाएंगे,

(ix) लोगों को पौष्टिक आहार देने के लिए खाद्यान्नों की उत्पादन लागत को कम करने का उद्देश्य भी रखा गया।

8. **आठवीं पंचवर्षीय योजना (Eighth Five Year Plan)**– इस योजना के मुख्य लक्ष्य थे -

(i) सन् 2000 के अन्त तक लगभग पूर्ण रोज़गार की प्राप्ति के लिए पर्याप्त रोज़गार अवसर उपलब्ध कराना,

(ii) अर्थव्यवस्था के वित्तीय असन्तुलन को सन्तुलित करना,

(iii) खाद्य पदार्थों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने तथा निर्यात के लिए अधिक्य स जित करने के लिए कृषि का विकास एवं विविधीकरण,

(iv) विकास प्रक्रिया की स्थिरता के लिए ऊर्जा, यातायात एवं सिंचाई व्यवस्था को विकसित करना,

(v) सभी गाँवों तथा पूर्ण जनसंख्या के लिए शुद्ध पीने के पानी तथा स्वास्थ्य सुविधाओं का प्रबन्ध करना,

(vi) जन-सहयोग की सहायता से जनसंख्या व द्धि के नियन्त्रण में लाभ,

(vii) 15 से 35 वर्ष की आयु तक के लोगों में से निरक्षता को पूर्णतया समाप्त करना तथा प्राथमिक शिक्षा सबके लिए उपलब्ध कराना।

9. **नौवी पंचवर्षीय योजना (Ninth Five Year Plan)**– नौंवी पंचवर्षीय योजना का मुख्य लक्ष्य "व द्धि के साथ सामाजिक न्याय और समानता" (Growth with social justice and equality) इस योजना के विशिष्ट लक्ष्य जो बाजार-शक्तियां पर अधिक विश्वास और सार्वजनिक नीति की अनिवार्यताओं से उत्पन्न होने हैं, इस प्रकार थे-

(i) कृषि और ग्राम विकास को प्राथमिकता देना ताकि पर्याप्त उत्पादन रोज़गार कायम हो सके तथा गरीबी को दूर किया जा सके,

(ii) कीमतों में स्थिरता के साथ अर्थव्यवस्था की व द्धि दर को त्वरित करना,

(iii) सभी के लिए खाद्य और पौष्टिक सुरक्षा उपलब्ध कराना और ऐसा करते हुए समाज के कमजोर वर्गों का विशेष रूप से ध्यान रखना,

(iv) सभी को समय-बद्ध रूप से बुनियादी न्यूनतम सेवाएं (Basic-Minimum Services) उपलब्ध कराना, इनमें पीने का सुरक्षित पानी, प्राथमिक स्वास्थ्य रक्षा सुविधाएँ, सर्वव्यापक प्राथमिक शिक्षा, आवास और यातायात एवं परिवहन द्वारा सभी से सम्बन्ध स्थापित करना,

(v) जनसंख्या की व द्धि-दर पर नियन्त्रण प्राप्त करना,

(vi) विकास-प्रक्रिया पर्यावरणीय पोषणीयता के आश्वासन के लिए सामाजिक गतिशीलता और सभी स्तरों पर जन-सहयोग बढ़ाना,

(vii) स्त्रियों और सामाजिक द ष्टि से कम सम्पन्न वर्गों के लिए अर्थात् अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों तथा अल्पसंख्यकों को अधिकार-सम्पन्न (Empowerment) बनाकर सामाजिक परिवर्तन और विकास के एजेन्ट बनाना,

(viii) जन-सहभागिता (People's Participation) को प्रोन्नत एवं विकसित करना और इसके लिए सहभोगी संस्थानों अर्थात् पंचायती राज संस्थानों, सहकारिताओं और अन्य स्वतः सहायता समूहों को बढ़ावा देना, और

(ix) आत्मनिर्भरता के निर्माण के प्रयासों को सबल बनाना।

10. **दसवीं पंचवर्षीय योजना (Tenth Five Year Plan)**– आर्थिक व द्धि ही राष्ट्रीय आयोजन का एकमात्र लक्ष्य नहीं हो सकती और पिछले कुछ वर्षों में वस्तुतः विकास उद्देश्य (Development objectives) केवल सकल देशीय उत्पाद या प्रति व्यक्ति आय के रूप में ही परिभाषित नहीं किए जाते, परन्तु वे और विस्त त रूप में मानवीय कल्याण (Human welfare) की व द्धि के रूप में कल्पित किए जाते हैं। इनमें खाद्य एवं अन्य उपभोग वस्तुओं के उपभोग के पर्याप्त स्तर का ही समावेश नहीं है बल्कि समाजिक सेवाओं की उपलब्धि, विशेष कर शिक्षा, स्वास्थ्य, पीने का पानी और बुनियादी सफाई को भी शामिल किया जाता है। इसके सभी व्यक्तियों एवं समूहों द्वारा सामाजिक और आर्थिक अवसरों का विस्तार और निर्णय करने से अधिक सहभागिता भी शामिल किया जाता है। दसवीं योजना में इन क्षेत्रों के लिए उचित लक्ष्य और निर्धारित करने होंगे ताकि लोगों के जीवन की गुणवत्ता (Quality of Life) में सुधार सुनिश्चित किया जा सके।

मुख्य लक्ष्य- विकास आयोजन में इन आयामों के महत्त्व को व्यक्त करने के लिए दसवीं योजना में मानवीय विकास के कुछ मुख्य संकेतकों के विशिष्ट और परीक्षण-योग्य लक्ष्य (Moniterable targets) स्थापित करने होंगे। यह भी प्रस्तावित किया गया है कि 8 **प्रतिशत** व द्धि दर के लक्ष्य के अतिरिक्त, निम्नलिखित लक्ष्य योजना के लक्ष्य की प्राप्ति में केन्द्रिय महत्त्व वाले समझे जाने चाहिए।

(i) 2007 तक निर्धनता अनुपात को 5 प्रतिशत बिन्दुओं तक और 2012 तक 15 प्रतिशत बिन्दुओं तक कम करना।

(ii) इस योजना की अवधि के दौरान श्रम शक्ति में व द्धि के लिए लाभपूर्ण रोज़गार उपलब्ध कराना,

(iii) सन् 2007 तक प्राथमिक शिक्षा की पहुँच को सर्वव्यापी बनाना,

(iv) 2001 तथा 2011 के बीच जनसंख्या को दस वर्षीय व द्धि दर को 16.2 प्रतिशत तक काम करना,

(v) साक्षरता में व द्धि कर इसे 2007 तक 75 प्रतिशत करना,

(vi) मात म त्यु दर 2007 तक 45 प्रति हज़ार जीवित जन्मों और 2012 तक 28 तक कम करना,

(vii) 2007 तक वनों और व क्षों से धिरे क्षेत्र के 25 प्रतिशत और 2012 तक 33 प्रतिशत तक बढ़ाना,

(viii) सभी ग्रामों तक पीने योग्य पानी की पहुँच कायम करना,

(ix) सभी मुख्य नदियों को 2007 तक और अन्य अनुसूचित जल क्षेत्रों को 2012 तक साफ करना।

तालिका

पंचवर्षीय योजनाओं के उद्देश्य (Objectives s-Year Plans)—

पहली पंचवर्षीय योजना	-	कृषि को प्राथमिकता
दूसरी पंचवर्षीय योजना	-	आधारभूत एवं भारी उद्योगों के द्वारा देश का औद्योगीकरण
तीसरी पंचवर्षीय योजना	-	खाद्यान्न के आत्मनिर्भरता, कृषि एवं उद्योगों का समन्वित विकास
चौथी पंचवर्षीय योजना	-	स्थिरता के साथ विकास एवं आत्मनिर्भरता की प्राप्ति
पाँचवी पंचवर्षीय योजना	-	निर्धनता उन्मूलन एवं रोज़गार में व द्धि, आर्थिक विकास में पर्याप्त व द्धि, आधुनिकीकरण को प्रोत्साहन, जनसंख्या पर नियन्त्रण
छठी पंचवर्षीय योजना	-	कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र में रोज़गार का विस्तार करना, लघु एवं कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन
सातवीं पंचवर्षीय योजना	-	ऊर्जा का विकास, खाद्यान्न में व द्धि, जीवन स्तर में सुधार
आठवीं पंचवर्षीय योजना	-	रोजगार स जन, निर्यात से पर्याप्त व द्धि
नौंवी पंचवर्षीय योजना	-	संव द्धि के साथ सामाजिक न्याय और समानता
दसवीं पंचवर्षीय योजना	-	मानव विकास

आर्थिक नियोजन के मुख्य उद्देश्य
(Main Objectives of Economic Planning)

मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है-

1. **राष्ट्रीय आय में व द्धि या आर्थिक विकास (Increases in National Income or Economic Development)**– भारतीय योजनाओं का सर्वप्रथम उद्देश्य राष्ट्रीय आय में व द्धि लाना रहा है क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति में व द्धि लाए बिना जनसाधारण के जीवन स्तर को ऊपर नहीं उठाया जा सकता। राष्ट्रीय आय में व द्धि की वार्षिक दर का लक्ष्य 5 प्रतिशत के आस पास रही। पहली योजना में राष्ट्रीय आय में वार्षिक व द्धि दर का लक्ष्य 2.2 प्रतिशत था परन्तु इसमें 3.6 प्रतिशत व द्धि हुई। आठवीं यांजना का लक्ष्य 5.6 प्रतिशत व द्धि दर का था, परन्तु वास्तविकता में व द्धि दर 6.6 प्रतिशत हो गई। नौवीं योजना का लक्ष्य 6.5 प्रतिशत व द्धि दर का था, यद्यपि वास्तव में केवल 5.6 प्रतिशत व द्धि ही प्राप्त हुई। इसी प्रकार दसवीं पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य 8 प्रतिशत व द्धि दर प्राप्त करना है।

2. **आत्मनिर्भरता की प्राप्ति (Attainment of Self-Reliances)**– आर्थिक नियोजन का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य आत्मनिर्भरता की प्राप्ति से है। आत्मनिर्भरता से अभिप्राय है कि अति आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा कर आयात का प्रतिस्थापन्न किया जाए ताकि विदेशों पर निर्भरता कम हो सके। (आयात प्रति स्थापन द्वारा देश के आर्थिक जीवन के लिए अति आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में आत्मनिर्भरता प्राप्त की जा सकती है।

दूसरा उद्देश्य निर्यात को प्रोत्साहन करना ताकि बढ़ते हुए आयात-बिल के भुगतान के लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सके। अन्य शब्दों में आत्म निर्भरता के उद्देश्य का आशय निर्यात व्यापार को बढ़ाकर तथा आन्तरिक साधन का विकास करके विदेशी निर्भरता की स्वतन्त्रता से है।

3. **आधुनिकीकरण (Modernisation)**– भारत में आर्थिक नियोजन का एक और महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अर्थव्यवस्था को आधुनिकीकरण करने से है, अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक तथा संस्थागत परिवर्तन लाने से है। अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर एवं प्रगतिशील बन सके, इसके लिए राष्ट्रीय आय में कृषि की तुलना में उद्योगों और सेवा क्षेत्र का योगदान तेजी से बढ़े तथा तकनीकी में इस प्रकार के परिवर्तन हो जिसके फलस्वरूप कम लागत पर उच्च कोटि की वस्तुएं तैयार की जा सके तथा अर्थव्यवस्था की कुशलता में व द्धि हो सके।

इसके साथ-साथ संस्थागत परिवर्तनों की भी आवश्यकता है जैसे कि आधारभूत सेवाएं प्रदान करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की व्यवस्था, वित्तीय सुविधाओं को प्रदान करने के लिए बैंकों का विस्तार, कृषि भूमि के सम्बन्धों में समूचित सुधार तथा मानवीय कारकों के विकास के लिए अनुसंधान, शिक्षा-प्रशिक्षण आदि संस्थाओं की व्यवस्था का भी बहुत महत्त्व है।

4. **आर्थिक स्थिरता (Economic Stability)**– आर्थिक विकास की गति को निरन्तर बनाए रखने के लिए अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता का होना अत्यन्त आवश्यक है। आर्थिक स्थिरता से अभिप्राय है कि अर्थव्यवस्था में कीमतों में अत्यधिक उतार या चढ़ाव (तेजी/मंदी) की स्थिति न उत्पन्न हो सके। भारी अस्थिरता की स्थिति में आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यद्यपि यदि देश में कीमतें बढ़ती हैं तो भुगतान-शेष की स्थिति प्रतिकूल हो जाती है यद्यपि आर्थिक विकास के फलस्वरूप कीमतों में कुछ व द्धि तो बहुत ही आवश्यक होती है। सातवीं योजना से ही कीमतों में व द्धि प्रारम्भ हो गई।

5. **रोज़गार अवसरों में व द्धि (Increase in Employment opportunities)**– योजनाओं का मुख्य उद्देश्य रोजगार के अवसरों में व द्धि लाकर बेरोज़गारों को रोज़गार उपलब्ध कराना रहा है। सातवीं योजना में स्वयं रोजगार (Self-Employment) के अवसरों में अधिक से अधिक व द्धि करने का लक्ष्य रखा गया। रोज़गार के अवसर जहाँ एक ओर उत्पादक कार्यों में बढ़े वही दूसरी ओर इसके साथ ही श्रम की उत्पादकता भी बढ़े। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि रोज़गार बढ़ाने से उद्योगों के आध ुनीकिकरण पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए, अन्यथा रोज़गार तो बढ़ेगा, लेकिन प्रति श्रमिक उत्पादकता स्थिर रह सकती है। अतः न तो आय में व द्धि होगी आर न ही जीवन स्तर ऊपर उठ सकेगा।

6. **समाजवाद समाज की स्थापना करना (Establishment of Socialistic Pattern of Society)**– हर योजना का उद्देश्य सामाजिक न्याय को प्रोत्साहन करने का रहा है। यह उद्देश्य दो तरह से प्राप्त किया जा सकता है। एक तो समाज के सबसे गरीब वर्ग के आर्थिक उत्थान से सम्बन्धित है अन्य शब्दों में निर्धनता रेखा के नीचे रहने वाले लोगों के जीवन स्तर में सुधार लाना। अभी भी देश में लगभग 26 प्रतिशत जनसंख्या निर्धनता रेखा से नीचे रह रही है आठवीं योजना में इस समस्या को दूर करने के लिए न्यूनतम आवश्यकता प्रोग्राम भी शुरू किया गया

है। दूसरे आर्थिक असमानताओं को कम करने से है जो आय तथा सम्पत्ति के समान वितरण की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है।

7. **आर्थिक असमानताओं को कम करना** **(To Reduce Economic Inequalities)**– आर्थिक नियोजन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य आर्थिक असमानताओं को कम करना रहा है (वितरण में समानता प्राप्त करना) क्योंकि अगर अर्थव्यवस्था में आर्थिक असमानताएँ मौजूद रहती है। जैसे की धनी और धनी, तथा निर्धन और निर्धन हो जाता है; गरीब लोगों को अन्याय तथा शोषण किया जाता है, वर्ग संघर्ष उत्पन्न होता है समाज में अराजकता बढ़ने से अस्थिरता फैलती है। अतः उपरोक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धनी वर्ग पर प्रगतिशील कर लगाए गए हैं, सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया गया।

8. **विज्ञान एवं तकनीकी विकास** **(Development of Science and Technology)**– योजना अवधि में उद्योगों की स्वतन्त्रतापूर्वक स्थापना के लिए विज्ञान एवं तकनीकी विकास को विशेष स्थान दिया गया है क्योंकि 21वीं सदी सूचना एवं तकनीकी की सदी (I & T century) के नाम से जानी जाती है।

9. **सर्वांगीण विकास** **(Comprehensive Development)**– यद्यपि विभिन्न योजनाओं में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के महत्त्व दिया गया, परन्तु फिर भी योजनाओं का उद्देश्य प्राथमिक, द्वितीयक एवं त तीयक क्षेत्र का विकास करना है। इसके फलस्वरूप ही अर्थव्यवस्था का सर्वांगीण विकास सम्पन्न होता है।

10. **क्षेत्रिय समानता को प्राप्त करना** **(To attain Regional Equality)**– भारतीय अर्थव्यवस्था में विभिन्न क्षेत्र आर्थिक विकास की द ष्टि से असमान है। पंजाब, गोवा, हरियाणा, महाराष्ट्र, तामिलनाडु एवं आन्ध्र प्रदेश अधिक विकसित राज्य है। इसके विपरीत उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, नागालैण्ड, मेघालय, राजस्थान आदि राज्य काफी पिछड़े हुए राज्य हैं। पंचवर्षीय योजनाओं का मुख्य उद्देश्य पिछड़े प्रदेशों का तीव्र गति से विकास करके क्षेत्रीय समानता प्राप्त करना है।

विभिन्न योजनाओं के सामान्य उद्देश्य के उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि योजनाओं के कुछ सुनिश्चित उद्देश्य हैं जो एक-दूसरे से परस्पर जुड़े हुए हैं। प्रत्येक उद्देश्य अन्य उद्देश्यों को पूरा करने में सहायक होता है। और सभी उद्देश्य जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक होते हैं।

योजनाकाल में सफलताएँ तथा असफलताएँ
(Achievements and Failures of Planning)

भारत में आर्थिक योजनाओं की सफलताएँ कहाँ तक प्राप्त हुई हैं यह प्रश्न विवादास्पद है। अर्थशास्त्रियों व राजनीतिज्ञों का मत है कि आर्थिक नियोजन अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्ण सफल रहा है जबकि कुछ इसको पूर्णतया असफल मानते हैं। हम मध्यम मार्ग अपनाकर यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भारत अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्ण रूप से सफल न होकर आंशिक रूप से सफल रहा है। इसके लिए अग्रलिखित तथ्य प्रस्तुत कर सकते हैं-

राष्ट्रीय आय में व द्धि या आर्थिक विकास
(Increase in National Income or Economic Development)

1. स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था एक गतिहीन अर्थव्यवस्था है क्योंकि आय में व द्धि लगभग शून्य के बराबर थी। परन्तु आर्थिक नियोजन के फलस्वरूप पूरे

योजनाकाल की अवधि में औसत वार्षिक व द्धि दर लगभग 4.5 प्रतिशत रही है। निश्चित रूप से यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है क्योंकि राष्ट्रीय आय में व द्धि आर्थिक विकास का सूचक होती है। यद्यपि राष्ट्रीय आय की वास्तविक दर उसके लक्ष्य से कम थी परन्तु विकास-प्रक्रिया के प्रारम्भ होने के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था आगे बढ़ रही है। पहली पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय की व द्धि दर 3.6 प्रतिशत थी जो नौवीं पंचवर्षीय योजना में बढ़कर 5.4 प्रतिशत हो गई।

2. **प्रति व्यक्ति आय में व द्धि (Increase in Per Capita Income)**– ब्रिटिश काल में प्रति व्यक्ति आय में होने वाली व द्धि दर लगभग शून्य थी। परन्तु योजनाकाल की अवधि में 2.1 प्रतिशत व द्धि हुई है।

तालिका

राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय व द्धि की प्रतिशत दर

(Growth rates of NY nd PCY in Percentage)

योजना	राष्ट्रीय (NY) व द्धि दर	प्रति व्यक्ति आय (PCY) व द्धि दर
पहली योजना	3.6	1.8
दूसरी योजना	4.1	2.0
तीसरी योजना	2.5	6.2
चौथी योजना	3.8	—
तीन एक वर्षीय योजनाएं	3.3	1.0
पाँचवी योजना	5.0	2.7
छठी योजना	5.3	3.1
सातवीं योजना	5.9	3.7
नौवीं योजना	6.7	4.6
दसवीं योजना	5.4	3.5

Source—Eco. Survey, Govt. of India 2001—2002 & Monthly Economic Report May 2002

3. **बचत एवं निवेश दरों में व द्धि (Increase in Saving and Investment Rates)**– पहली योजना में घरेलू बचत की दर 5.5 प्रतिशत थी जो नौंवी योजना में बढ़कर 23.4 प्रतिशत हो गई। इसी प्रकार 1950-51 में निवेश की दर 10 प्रतिशत से बढ़कर 2001-2002 में 24 प्रतिशत हो गई। अतः पंचवर्षीय योजना की अवधि में पूँजी निर्माण की दर में बहुत व द्धि हुई क्योंकि पूँजी निर्माण की दर बचत तथा निवेश की दर पर निर्भर करती है।

4. **कृषि क्षेत्र में प्रगति (Progress in Agricultural Sector)**– योजनाकाल की अवधि में कृषि उत्पादन में औसतन तीन से चार गुणा तक व द्धि हुई है। 1950-52 में खाद्यान्न का उत्पादन 551 लाख टन से बढ़कर उत्पादन 2001-2002 में 2092 लाख टन हो गया है (अनाज के उत्पादन में 4 गुणा व द्धि हुई।) गन्ने का उत्पादन 1950-51 में 69 लाख टन से बढ़कर 2001-2002 की अवधि 2950 लाख टन हो गया (गन्ने के उत्पादन में 43 लाख गुणा व द्धि; इसी प्रकार कपास तथा पटसन का उत्पादन 1950-51 में 50 लाख गाँठे तथा 33 लाख गाँठे तथा गाँठे, 2001-2002

की अवधि में क्रमशः 120 लाख गाँठे तथा 107 लाख गाँठे हो गया। (कपास के उत्पादन में ढाई गुणा तथा पटसन के उत्पादन में तीन गुणा व द्धि हुई)

इसी प्रकार सिंचाई सुविधाओं में भी दुगुने से भी अधिक मात्रा की व द्धि हुई। 1950-51 में 2.26 करोड़ हैक्टेयर क्षेत्र में सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध थी जो 2001-2002 में बढ़कर 9.47 करोड़ हैक्टेयर हो गई। योजनाओं की अवधि में कृषि उत्पादन के विकास की औसतन दर 2.9 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। कृषि क्षेत्रों में प्रगति के कारण देश को अनाज के अधिक्य में बदल दिया है, इसका श्रेय जाता है सन 1966 से कृषि के तकनीकी विकास के कारण हरित क्रान्ति का सम्भव होना।

5. **औद्योगिक क्षेत्र में प्रगति (Progress in Industrial Sector)**– योजनाकाल की अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है आधारभूत उद्योगों की स्थापना की गई है। सार्वजनिक क्षेत्र का काफी विस्तार हुआ है। 1950-51 में भारत में केवल 5 सार्वजनिक उपक्रम थे जिनमें 29 करोड़ का निवेश था, परन्तु अब इनकी संख्या बढ़कर 246 हो गई है तथा 35.411 करोड़ रुपये का निवेश किया जा चुका है। उद्योगों का विविधिकरण तथा आधुनिकीकरण किया गया है तथा औद्योगिक उत्पादन क्षमता में काफी व द्धि हुई है। औद्योगिक उत्पादन की विकास दर लगभग 6.9 प्रतिशत रही है। जिन उद्योगों का भारत में पहले कोई नाम भी नहीं था वो उद्योग यहां स्थापित हुए है। औद्योगिक आत्मनिर्भरता बढ़ी है। कपड़ा, चीनी, सीमेन्ट का उत्पादन 2001-2002 के क्रमशः 3,963 वर्ग करोड़ मीटर, 181 लाख टन, 1069 लाख टन हो गया। इसी प्रकार पैट्रोल का उत्पादन भी बढ़कर 2001-2002 में 320 लाख टन हो गया तथा देश में खनिज पदार्थों का भी बहुत अधिक विकास हुआ है।

6. **परिवहन एवं संचार साधनों के क्षेत्र में प्रगति (Progress in Transport and Communication Sector)**– परिवहन के क्षेत्र में सड़कों की 1950-51 में 4 लाख किलोमीटर लम्बी थी जो अब बढ़कर 34 लाख किलोमीटर हो गई है, रेल-1950-51 में 53,600 किलोमीटर रेल मार्ग थे, इस समय 63,028 किलोमीटर हो गया है, इसी प्रकार जहाज़रानी की क्षमता 3.7 लाख G.R.T. थी जो अब बढ़कर 74 लाख G.R.T. हो गई है।

संचार के क्षेत्र में 1950-51 में देश में कुल 36,100 डाकखाने थे, मार्च 2001 तक इनकी संख्या बढ़कर 2 लाख से अधिक हो गई है। इसी तरह सन् 1950 में टेलीफोन की संख्या 1.70 लाख थी जो 2002 में बढ़कर लगभग 3.6 करोड़ हो गई है। अब देश में STD, Telex, Fax, इंटरनेट आदि की भी सुविधाएं उपलब्ध है।

7. **सामाजिक सुविधाएँ (Social Facilities)**– योजनाकाल की अवधि के देश की सामाजिक सुविधाएं जैसे, शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवार नियोजन आदि का काफी विकास हुआ है,

   (i) **शिक्षा सुविधाएं**- देश की साक्षरता दर 1951 में 16 प्रतिशत से 2001 में बढ़कर 65 प्रतिशत हो गई है। विश्वविद्यालयों की संख्या 27 से बढ़कर 244 हो गई है, 542 स्नातक व स्नातकोत्तर कॉलेजों की संख्या बढ़कर 8011 हो गई है।

(ii) **चिकित्सा तथा स्वास्थ्य सेवाएं**- औसत आयु 1951 में 32 वर्ष से बढ़कर 2001 में 65 वर्ष हो गई है, म त्यु दर-1951 में 26 प्रति हज़ार की तुलना में 2002 में घटकर 8 प्रति हज़ार ही रह गई है। हस्पताल और डिस्पैंसरियों की संख्या 44,000 हो गई है। अब 1,900 व्यक्तियों के पीछे एक डॉक्टर है।

8. **बैंकिंग क्षेत्र में प्रगति** (Progress in Banking Sector)– अर्थव्यवस्था में बैंकिंग संघ का काफी विस्तार किया जा चुका है। दिसम्बर 1951 में अर्थव्यवस्था में वाणिज्यिक बैंकों की शाखाओं की संख्या 8862 थी जो 2001 के अन्त में बढ़कर 65,931 हो गई है।

9. **विज्ञान व तकनीकी** (Science and Technology)– योजनाकाल की अवधि में विज्ञान व तकनीकी के क्षेत्र में इतनी प्रगति की है कि भारतीय वैज्ञानिक एवं इंजीनियर्स स्वतन्त्रतापूर्वक ढंग से किसी भी उद्योग को स्थापित कर सकते हैं। परिणामस्वरूप औद्योगिक विकास की द ष्टि से विश्व में भारत का दसवाँ स्थान है।

10. **रोज़गार** (Employment)– यद्यपि योजनाकाल की अवधि में रोज़गार के बहुत अवसरों का स जन किया परन्तु फिर भी अर्थव्यवस्था में बेरोज़गारी की समस्या को खत्म नहीं किया जा सका। पहली योजना में 70 लाख लोगों को रोज़गार दिया गया और दसवीं योजना में 5 करोड़ अतिरिक्त व्यक्तियों को रोज़गार प्रदान करने का लक्ष्य रखा गया है।

11. **आयात/निर्यात में व द्धि** (Increases in Imports and Exports)– आयात का मूल्य 1950-51 में 650 करोड़ रुपये का था जो 1984-85 में बढ़ कर 16,730 करोड़ रुपये के हो गए। इसी तरह निर्यात में व द्धि जो दूसरी योजना में केवल 2.2 प्रतिशत थी नौंवी योजना में यह व द्धि बढ़ कर 27.6 प्रतिशत हो गई। जहाँ तक अर्थव्यवस्था के आत्मनिर्भरता की बात है। वह निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट हो जाती हैं-

(i) विदेशी सहायता अनुपात जो दूसरी व तीसरी योजना में क्रमशः 22.5 प्रतिशत व 26.3 प्रतिशत था, जो घट कर आठवी योजना में 6.6 प्रतिशत ही रह गया,

(ii) राष्ट्रीय आय में आयात की प्रतिशत व द्धि में कमी हुई है, यह अनुपात तीसरी योजना की अवधि में अधिकतम 38 प्रतिशत था जो 2001-2002 में घट कर 6.2 प्रतिशत ही रह गया।

अतः हम कह सकते हैं कि अर्थव्यवस्था धीरे-धीरे आत्मनिर्भरता की और बढ़ती जा रही है।

12. **आधुनिकीकरण** (Modernisation)– योजनाकाल की अवधि में देश में कुछ संरचनात्मक व संस्थागत परिवर्तन इस बात को साबित करते हैं कि अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण हुआ है। संरचनात्मक परिवर्तनों में राष्ट्रीय आय की बनावट में उद्योग का जहां एक तरफ योगदान बढ़ा है वहीं दूसरी ओर कृषि का योगदान घटा है तथा कृषि क्षेत्र में नई तकनीक का प्रयोग किया गया है। संस्थागत परिवर्तनों में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास और वर्तमान में नए आर्थिक सुधारों में उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण को लागू किया गया है।

योजनाओं की असफलताएँ
(Failures of Plans)

यद्यपि भारतीय अर्थव्यवस्था में आर्थिक नियोजन का मुख्य उद्देश्य देश में जीवन स्तर को ऊँचा करना, कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना, समाजवादी प्रजातन्त्र की स्थापना एवं आय तथा धन की असमानता को दूर करना है। परन्तु उपरोक्त समानताओं के अध्ययन से इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि योजनाएँ अपने उद्देश्यों में आंशिक तौर पर ही सफल हो पाईं। इसलिए कुछ विद्वानों का कहना है कि नियोजन असफल रहा। डॉ० के० एन० राज (Dr. K. N. Raj) के अनुसार, "नियोजनक काल में देश में आय तथा सम्पत्ति की असमानता बढ़ी है तथा भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था में समाजवादी तत्त्वों की अपेक्षा पूँजीवादी तत्त्वों का बाहुल्य बना हुआ है।" आज भी 26 प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा के नीचे रह रहे हैं। इन लोगों के लिए स्वतन्त्रता कोई मायने नहीं रखती। क्योंकि इनकी आधारभूत आवश्यकताएँ ही अधूरी रहती है। योजनाओं की असफलताएँ निम्नलिखित हैं-

1. **व्यक्ति आय में धीमी प्रगति (Slow Progress of Per Capita Income)**– भारत में आर्थिक नियोजन के बाद भी प्रति व्यक्ति आय में व द्धि बहुत ही धीमी गति से हो रही है। 1950-51 में प्रति व्यक्ति आय 1,127 रुपये थी जो 2001-2002 में 10,653 रुपये हो गई इसका मुख्य कारण जनसंख्या में अत्यधिक व द्धि दर होना है।

2. **कीमतों में व द्धि (Increase in Prices)**– यद्यपि योजनाओं का उद्देश्य कीमत स्तर में स्थिरता का था परन्तु फिर भी योजनाकाल की अवधि में कीमतों में काफी व द्धि हुई जिसका मुख्य कारण था घाटे की वित्त व्यवस्था; इस घाटे की वित्त व्यवस्था के कारण अर्थव्यवस्था में मुद्रा की अनावश्यक पूर्ति में व द्धि होने के कारण कीमतें बढ़ती है। पहली योजना के अपवाद को छोड़कर बाकी सभी योजनाओं में कीमतें बढ़ती रही। दूसरी योजना में 6.3 प्रतिशत, छठी में 9.3 प्रतिशत आठवी में 6.6 प्रतिशत की व द्धि तथा 2001-2002 में कीमतों में 1.6 प्रतिशत की व द्धि हुई।

3. **बेरोज़गारी में व द्धि (Increase in Unemployment)**– आर्थिक नियोजन का उद्देश्य रोज़गार सुविधाओं में व द्धि करना रहा है लेकिन नियोजन काल में बेरोज़गारी में बराबर व द्धि होती रही है। जहाँ प्रथम योजना के प्रारम्भ में 33 लाख लोग बेरोज़गार थे वही आठवीं योजना के बाद इनकी संख्या बढ़कर 153 लाख हो गई। पिछले 20 वर्षों से जहाँ श्रमिकों की पूर्ति में 2.5 प्रतिशत की व द्धि हुई वहीं रोज़गार के अवसरों में केवल 2.3 प्रतिशत की व द्धि हुई। 2001-2002 में बेरोज़गारों की संख्या 2.66 करोड़ थी।

4. **क्षेत्रीय असन्तुलन (Regional Imbalances)**– नियोजन के फलस्वरूप क्षेत्रीय असन्तुलन कम होना चाहिए था लेकिन उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। क्योंकि आज भी उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश व उड़ीसा आदि राज्य पिछड़े हुए हैं। जबकि महाराष्ट्र, तामिलनाडु, पश्चिमी बंगाल, पंजाब व हरियाणा आदि राज्य आज भी विकसित है और नियोजन से पहले भी विकसित थे।

5. **आय एवं धन की असमानता में व द्धि (Increases in the Inequality of Income and Wealth)**– आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों में से एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य आर्थिक

केन्द्रियकरण को समाप्त कर आर्थिक समानता में व द्धि करना है लेकिन आयोजन के 5 दशकों के बाद भी अमीर और अमीर हो गए जबकि निर्धन और निर्धन हो गए। आय व धन की असमानता बढ़ी है और यह केवल उद्योग क्षेत्र में नहीं बल्कि कृषि क्षेत्र में भी पाई जाती है।

6. **सार्वजनिक उद्योगों की असफलताएं (Failure of Public Enterprises)**– केन्द्रिय सरकार के इस समय 246 उपक्रम है लेकिन अधिकतम उपक्रम हानि पर चला रहे हैं। इसके कारण है-
   (i) ये अपनी पुरी क्षमता से कार्य नहीं कर रहे हैं,
   (ii) कर्मचारियों के वेतन व भत्ते अधिक हैं,
   (iii) प्रबन्धकों में प्रबन्धकीय योग्यता की कमी है क्योंकि ये पेशेवर प्रबन्धक न होकर सरकारी अफसर हैं,
   (iv) उनके पास स्टॉफ अधिक रहते हैं। अतः सार्वजनिक उपक्रम आशा के अनुरूप परिणाम देने में असमर्थ रहे हैं।

7. **विदेशी सहायता पर निर्भरता (Dependence on Foreign-Aid)**– लगभग 5 दशकों के आर्थिक नियोजन के बाद भी विदेशी सहायता पर निर्भरता कम नहीं हो सकी। परिणामस्वरूप ऋण एवं ब्याज के भुगतान का भार बहुत बढ़ गया है अगर यही प्रव त्ति चलती रही तो देश कर्जे के दुष्चक्र (Debt-trap) में फंस जाएगा।

8. **लक्ष्य प्राप्ति में असफलता (Failure to Achieve targets)**– विभिन्न योजनाओं में निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सके जिसके मुख्य कारण इस प्रकार से हैं- पर्याप्त जन-सहयोग का अभाव, ऊँचे लक्ष्य, पर्याप्त पूँजी निवेश का अभाव, निजी क्षेत्र में सामाजिक उत्तरदायित्व का अभाव, प्रशासकीय एवं प्रबन्धकीय अयोग्यता, भार विनियोजन व्यवस्था देशी तकनीकी के विकास पर बल न देना आदि।

9. **दोषपूर्ण नियन्त्रण नीति (Defective Control Policy)**– इन पाँच दशकों के नियोजन में सरकारी नियन्त्रण भी दोषपूर्ण रही जिनसे आर्थिक नियोजन से लाभ प्राप्त नहीं हो सके हैं। विभिन्न क्षेत्रों में समय-समय पर जो नियमन और नियन्त्रण लगाए गए हैं वे परस्पर असम्बन्धित रहे। प्रत्येक नियन्त्रण ने एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति तो अवश्य की लेकिन देश की अर्थव्यवस्था एक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था के रूप में कार्य करती रही।

10. **अधिक महत्त्वकांक्षी (More Ambitions)**– उद्देश्यों की एक आलोचना यह भी थी कि ये अत्यन्त महत्त्वकांक्षी है। इसके दो कारण है एक तो साधनों की कमी और दूसरी योजनाओं का दोषपूर्ण क्रियान्वयन योजनाकाल में विकास की व द्धि दर के लक्ष्यों और प्राप्तियों में काफी अन्तर रहा है, देश की अर्थव्यवस्था की औसत व द्धि दर 4.5 प्रतिशत रही जबकि लक्ष्य 5 प्रतिशत रहा।

11. **सुद ढ़ आधार का अभाव (Lack of Strong Foundation)**– पाँच दशकों की योजनाओं से लागू करने के बाद भी आर्थिक आधार काफी कमज़ोर है। क्योंकि अभी भी कृषि मानसून पर जुटा है। 1966-67, 1979-80, 1982-83 में वर्षा के न होने के कारण सारी अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। सन् 1991 में गल्फ युद्ध (Gulf war) के कारण तथा सन् 1999 में कारगिल युद्ध के कारण सारी अर्थव्यवस्था भिन्न-भिन्न हो गई थी।

निष्कर्ष (Conclusion)– नियोजन के पाँच दशकों की सफलताएं एवं असफलताओं का मिश्रण है। इसमें दो राय नहीं है कि औद्योगिक उत्पादन में आशा के अनुरूप प्रगति नहीं हुई। विकास दर धीमी रही है। बेरोज़गारी कम होने के स्थान पर बढ़ी है लेकिन इस अवधि में देश ने बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को झेला है। प्राकृतिक प्रकोपों का सामना किया है। वास्तव में इन योजनाओं से कुछ सफलता भी मिली है। नए-नए उद्योग स्थापित हुए हैं। प्रति व्यक्ति आय बढ़ी है। कृषि उत्पादन बढ़ा है। सामाजिक सुविधाओं का विस्तार हुआ है। प्रति व्यक्ति आय एवं रहन-सहन का स्तर ऊपर उठा है। लेकिन यदि नियोजन की विफलताओं को ध्यान में रखकर कुछ और प्रयास किए जाएं तो नियोजन से और अधिक लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

आर्थिक नियोजन की कमियों के कारण (Reasons of Short Coming of Economic Planning)— या योजनाओं में विकास की धीमी प्रगति के कारण (Causes of Slow Rate of Growth during Planning)

भारत में आर्थिक नियोजन की असफलताओं या कमियों या योजनाओं में विकास की धीमी प्रगति के कारण निम्नलिखित हैं-

1. **आर्थिक कारण (Economic Causes)**– यद्यपि पहली योजना के कृषि एवं उद्योग के लक्ष्य पूरे हो गए परन्तु कृषि क्षेत्र में 1950-51 से 2000-2001 तक अनाज की उत्पादन भी प्रति वर्ष उत्पादन दर 2.9 प्रतिशत थी- जो कि कम थी इसके कारण खेती के परम्परागत तरीके, अच्छे खाद बीज की कमी एवं मानसून पर निर्भरता आदि से औद्योगिक क्षेत्र में औद्योगिक उत्पादन की दर 1951 से 2001 तक औसतन 4.5 प्रतिशत रही-यह भी काफी कम थी इसके कारण- आधारभूत उद्योगों की कमी, कच्चे माल व मशीनों के लिए विदेशों पर निर्भरता, उत्पादन के पुराने तौर तरीके, बिजली की कमी। उधर सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग हानि में चल रहे हैं क्योंकि प्रशासन अकुशल है और औद्योगिक अशान्ति निरन्तर रहती है। भारत में पूँजी-उत्पादन अनुपात भी काफी अधिक है।

2. **प्रशासनिक कारण (Administration Causes)**– भारत में योजनाओं का अत्यधिक केन्द्रियकरण होने के कारण गलत प्राथमिकताएं दी गईं, वस्तुओं के उत्पादन के लक्ष्य बहुत ऊँचे रखे गए। योजनाओं को लागू करने के लिए आज भी योग्य, कुशल एवं ईमानदार प्रशासकों की बहुत कमी महसूस की जाती है। महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति प्रशासनिक योग्यता के आधार पर नहीं बल्कि राजनैतिक सिफारिश के आधार पर की जाती है। भ्रष्टाचार बढ़ गया है करों की चोरी की जाती है।

3. **राजनैतिक कारण (Political Causes)**– क्योंकि भारत एक प्रजातन्त्रात्मक देश है अतः यहाँ जो भी नीति लागू की जाती है, इसका उद्देश्य वोट प्राप्त करना होता है। (आर्थिक आधार नहीं होता-बल्कि राजनैतिक आधार होता है) हर कदम पर राजनैतिक संरक्षण की आवश्यकता महसूस की जाती है। देश की राजनैतिक अस्थिरता के कारण भी आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

4. **प्राकृतिक कारण (Natural Causes)**– योजना के धीमे विकास पर प्राकृतिक कारण में जैसे वर्षा की कमी एवं बाढ़ आदि का काफी प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त भारतीय जलवायु अधिक गर्म होने के कारण श्रमिक की कार्यकुशलता को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करती है।

5. **सामाजिक कानून** (Social Causes)– भारतीय समाज में अभी भी जातिवाद, संयुक्त परिवार प्रणाली, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा आदि कुछ ऐसे सामाजिक कारण है जो आर्थिक विकास को प्रतिकुल प्रभावित करते हैं। और भारत में लोगों का आध्यात्मिकवाद की ओर, भौतिकवाद की तुलना में अधिक झुकाव है।

6. **नैतिक कारण** (Moral Causes)– देश में राष्ट्रीय भावना की बहुत कमी है निजी स्वार्थ के आधार पर कार्य किया जाता है। समाजवाद, स्वतन्त्रता केवल नारों तक ही सीमित है। अतः योजनाओं का कार्यकरण ठीक ढंग से नहीं हो पाया है।

7. **प्रभावपूर्ण नियोजन का अभाव** (Lack of Effective Planning)– प्रभावपूर्ण नियोजन के अभाव में भी आर्थिक विकास की गति काफी धीमी रही। प्रत्येक योजना में व्यय को पुरा करने के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लेना पड़ता है। जिसके कारण मुद्रा स्फीति की समस्या होती है और बेरोज़गारी भी बढ़ती है।

8. **अन्तर्राष्ट्रीय कानून** (International Causes)– भारत को 1962 में चीनी आक्रमण, 1965 में पाकिस्तानी आक्रमण एवं 1971 में बांग्लादेश की समस्या के कारण पाकिस्तान के पहले का मुकाबला करना पड़ा। सन् 1999 के कारगिल युद्ध का सामना करना पड़ा। जो धन देश के आर्थिक विकास पर खर्च किया जाना था उसका प्रयोग गैर विकासात्मक मदों (युद्ध सामग्री) आदि पर खर्च किया गया अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के कारण जून 1960 में 36.5 प्रतिशत व जुलाई 1991 को 20 प्रतिशत का अवमूल्यन (Devaluation) करना पड़ा-इन का हमारी आर्थिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

9. **जनता का कम सहयोग** (Inadequate Cooperation from the Public)– एक आम भारतवासी आर्थिक नियोजन के प्रति उदासीन रवैया रखता है क्योंकि उसे आयोजन से बहुत विशेष प्राप्ति नहीं हो पाई है।

योजनाओं को सफल बनाने के लिए सुझाव
(Suggestions for the Success of Plans)

देश के करोड़ों निवासियों के रहन-सहन से ऊपर उठाने, बेरोज़गारी को कम करने, प्राकृतिक साधनों को उचित विदोहन करने, आर्थिक असमानता को कम करने तथा समाजवादी व्यवस्था को आगे बढ़ाने को केवल एक ही रास्ता है कि नियोजन के रास्ते को और आगे बढ़ाया जाए। अतः आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं-

1. **जन-सहयोग** (Public Cooperation)– योजना की सफलता के लिए अति आवश्यक है कि जन सहयोग अवश्य प्राप्त किया जाए। इसके लिए जनता को योजनाओं से अवगत करवाया जाए। लाभों को बताया जाए तथा जनता में योजनाओं के प्रति उदासीनता की प्रव त्ति को त्याग कर योजनाओं में सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

2. **मूल्य स्थायित्व** (Price-Stability)– योजनाओं की समानता के लिए दूसरा सुझाव यह है कि मूल्य स्थायित्व लाया जाए, यदि योजनाकाल में मूल्य व द्धि होती है लेकिन यह सीमित मात्रा में ही होनी चाहिए क्योंकि अत्यधिक मूल्य व द्धि योजना की लागत को बढ़ाती है तथा योजना के लाभों को निष्क्रिय कर देती है। अतः अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

3. **सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र में समन्वय (Co-ordination in Public and Private Sector)**– योजनाओं की सफलता के लिए सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के उद्योगों में उचित समन्वय एवं सहयोग के साथ-साथ सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र का पर्याप्त विकास भी किया जाना चाहिए। यह दोनों क्षेत्र एक-दूसरे के प्रतियोगी न होकर सहयोगी होने चाहिए। भारत जैसे देश में जहाँ मिश्रित अर्थव्यवस्था का सिद्धान्त अपनाया जाता है वहाँ तो इनमें सहयोग एवं समन्वय और भी आवश्यक हो जाता है।

4. **गाँवों में ग़ैर-कृषि क्षेत्र का विकास (Development of Non-Agricultural Sector in Villages)**– भारत के गाँवों में लगभग 74 प्रतिशत जनसंख्या रहती हैं। अतः इस बात की आवश्यकता है कि देहाती जनसंख्या को ग़ैर-कृषि कार्यों में लगाया जाए जिसमें एक ओर के कृषि पर जनसंख्या का भार कम हो वहीं दूसरी ओर कुल उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय में व द्धि हो। इसके लिए गाँवों में ग़ैर-कृषि उद्योग धन्धों जैसे कुटीर उद्योग, दुग्ध उद्योग, मुर्गी पालन आदि का विकास किया जाना चाहिए जिसके लिए वित्तीय एवं तकनीकी सुविधाएं भी प्रदान की जानी चाहिए।

5. **बचत एवं विनियोग को प्रोत्साहन (Incentives to savings and Investments)**– देश में पूँजी निर्माण की दर को गति देने के लिए आवश्यक है कि बचत एवं विनियोगों को प्रोत्साहित किया जाए। इसके लिए व्ययों में भी छूट दी जानी चाहिए।

6. **केन्द्र व राज्यों के बीच अच्छे सम्बन्ध (Cordial Relations between the Centre and the States)**– भारत एक संघीय राष्ट्र है जहां केन्द्र व राज्यों के बीच विभिन्न उत्तरदायित्वों के बँटवारा संविधान के अन्तर्गत किया गया है। आर्थिक नियोजन सम्पूर्ण राष्ट्र के विकास के लिए किया जाता है। अतः केन्द्र व राज्यों के बीच अच्छे सम्बन्ध होने चाहिए।

7. **कुशल प्रशासन एवं मूल्यांकन (Efficient Administration and Evaluations)**– आर्थिक नियोजन की योजनाओं को कार्यरूप में परिगित करते समय उनका प्रशासन कुशलता से किया जाना चाहिए। हर स्तर पर मितव्ययता एवं बर्बादी का ध्यान रखना चाहिए। साथ ही समय-समय पर योजनाओं का मूल्यांकन भी करते रहना चाहिए जिसमें गलतियों को तुरन्त ठीक किया जा सके।

8. **पूँजी-प्रधान एवं उपभोग प्रदान उद्योगों में सम्बन्ध (Co-ordination among Capital Industries and Consumption Industries)**– योजनाओं की सफलता के लिए पूँजी एवं उपभोग प्रधान उद्योगों में समन्वय होना चाहिए जिसमें कि राष्ट्र आत्म निर्भर बने तथा जनता की उपभोग सम्बन्धी कठिनाइयां दूर हो सके।

9. **मानव शक्ति का प्रयोग (Utilization of man Power)**– योजनाएँ इस प्रकार की होनी चाहिए कि उन योजनाओं में उपलब्ध मानव-शक्ति अत्यधिक लगायी जा सके। इसमें बेरोज़गारी की समस्या को हल करने में सुविधा रहेगी।

10. **वास्तविक एवं व्यावहारिक नीतियां (Real and Practical Policies)**– नियोजन की सफलता के लिए वास्तविक एवं व्यावहारिक नीतियाँ निर्धारित की जाए जिससे कि लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।

11. **स्थानीय आवश्यकताओं में अधिक महत्त्व (More Emphasis on Local Needs)**– क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों की समस्याएं भिन्न-भिन्न होती है अतः इनका समाधान भी

अलग-अलग ढंग से ही किया जाना चाहिए। अतः इसके लिए स्थानीय आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। स्थानीय साधनों को ही ध्यान में रखकर योजनाएँ बनानी चाहिए।

12. **निश्चित उद्देश्य** (Specified Objectives)– योजनाएँ बनाते समय उद्देश्य निश्चित कर देने चाहिए जैसे आय/धन की असमानता को कम करना, जीवन स्तर ऊँचा उठाना, नियोजनता एवं बेरोज़गारी दूर करना इत्यादि। प्रत्येक योजना में लक्ष्य प्राप्ति का समय और सीमा दोनों ही उचित रूप से निर्धारित कर देनी चाहिए।

13. **सन्तुलित विकास** (Balance Growth)– योजना को सफल बनाने के लिए सभी क्षेत्रों प्राथमिक क्षेत्र, द्वितीयक क्षेत्र व त तीयक क्षेत्र) का सन्तुलित विकास करना चाहिए।

14. **लागत एवं लाभ का विश्लेषण** (Cost and Benefit Analysis)– भारत में योजनाओं की लागत का अध्ययन किया जाता है परन्तु लाभ की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया जाता है। वास्तव में योजनाओं को लागू करने से पूर्व लागत के साथ-साथ लाभ का भी विश्लेषण कर लेना चाहिए। इससे न केवल सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग लाभ में रहेंगे, अपितु योजनाओं को भी सफलता प्राप्त होगी।

15. **विज्ञान एवं तकनीकी का विकास** (Development of Science and Technology)– भारत में उत्पादकता, आयात व प्रतिस्थापन्न तथा घरेलू उत्पादन को बढ़ाने के लिए विज्ञान एवं तकनीकी का विकास किया जाना चाहिए। देश के वैज्ञानिकों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। उनके विदेशों में जाने से रोकने के लिए हमें अच्छी सुविधाएं उपलब्ध करवानी चाहिए।

16. **मानवीय पुँजी का विकास** (Development of Human Capital)– मानवीय पूँजी का विकास अत्यन्त आवश्यक है। इसके निर्माण के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि का उचित विकास किया जाना चाहिए तथा इस पर अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। इनके रोजगार के अवसरों का विकास किया जाना चाहिए।

निष्कर्ष (Conclusion)– भारतीय योजनाओं में आर्थिक विकास की सफलता उसके उचित उद्देश्यों, तथा जनता के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर करती है।

नए आर्थिक सुधार
(New Economic Reforms)

भूमिका (Introduction)**:** सन् 1991 में भारत को एक महान् आर्थिक संकट के दौर से गुजरना पड़ा। अनेक अर्थशास्त्रियों के अनुसार स्वतन्त्रता मिलने के समय से भारत की अर्थव्यवस्था के लिए यह सबसे गम्भीर आर्थिक संकट था। भारत को अब भी इस आर्थिक संकट से पूरी तरह मुक्ति नहीं मिल पाई है। अभी भी राजकोषीय घाटा अधिक है तथा मुद्रा स्फीति दबाव निरन्तर बना हुआ है। पिछले कुछ वर्षों से सरकार ने सनिष्ट आर्थिक स्थिरीकरण (Macro Stabilization) की नीति को अपनाया है और कुछ ढांचागत सुधार भी किए हैं। जिनमें से मुख्य सुधार हैं-1. सार्वजनिक क्षेत्र का संकुचन कर निजी क्षेत्र का विस्तार, 2. कृषि के आधुनिकीकरण को प्रोत्साहन करना, 3. उत्पादन की उन्नत तकनीक लागू करना, 4. विदेशी निवेश को प्रोत्साहन, 5. नियन्त्रित व्यवस्था के स्थान पर उदारता की नीति, 6. राजकोषीय घाटे पर

नियंत्रण, 7. व्यापक नीति, मौद्रिक नीति तथा राजस्व नीति में व्यापक परिवर्तन आदि। इन सभी आर्थिक सुधारों को ही नई आर्थिक नीति कहा जाता है। अतः आर्थिक नीति का संबंध नीतिगत उपायों और परिवर्तनों से है जिनका उद्देश्य अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता को बढ़ाना है।

नए आर्थिक सुधारों या नई आर्थिक नीति के अर्थ
(Meaning of New Economic Reforms or New Economic Policy)

नई आर्थिक नीति या आर्थिक सुधारों का संबंध जुलाई, 1991 के उपरान्त किए गए परिवर्तनों और उपायों से है जनका उद्देश्य अर्थव्यवस्था में कुशलता और उत्पादकता में व द्धि करने के लिए एक प्रतियोगी वातावरण तैयार करने से है।

आर्थिक सुधारों या नई आर्थिक नीति की आवश्यकता
(Need of Economic Reforms or New Economic Policy)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त, लगभग पांच दशक पहले, 1 अप्रैल, 1951 से भारत में मिश्रित समाजवादी अर्थव्यवस्था के ढांचे के अन्तर्गत, आर्थिक विकास की प्रक्रिया आरम्भ की थी। योजनाकाल की इस अवधि (पांच दशक) में, यद्यपि कुछ उपलब्धियां हासिल की हैं, परन्तु इसके साथ-साथ हमारी विफलताएं भी कम नहीं हैं। इस अवधि में, सरकार के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष नियन्त्रणों के फलस्वरूप निजी क्षेत्र का विकास काफी सीमा तक नियमन किया गया। इस अवधि में, क्योंकि उद्योग तथा व्यापक पर सरकार के अनेक प्रतिबन्ध थे, अतः निजी क्षेत्र काफी सीमा तक नियन्त्रित विकास किया गया। यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र की योजनाकाल की अवधि में बहुत अधिक महत्त्व दिया गया, परन्तु अत्यधिक नौकरशाही तथा लालफीताशाही के कारण, इस क्षेत्र में, भ्रष्टाचार, अकार्यकुशलता, लागतों में अप्रत्याशित व द्धि, अत्यधिक घाटा, कम विस्तार तथा आशाओं के विपरीत कम व द्धि दर एक सामान्य स्थिति बन कर रह गई। दरअसल अस्सी के दशक में जिस लापरवाही के साथ समष्टि, प्रबन्धन (Macro Management) किया गया उसी के फलस्वरूप अन्नतः समष्टि आर्थिक असन्तुलन उत्पन्न हो गया। विकास की रणनीति अथवा युक्ति इस संकट के लिए जिम्मेवार नहीं थी। सरकार के राजस्व और व्यय में बढ़ते हुए अन्तर से निरन्तर बढ़ता हुआ राजकोषीय घाटा उत्पन्न हुआ जिसे काफी अधिक मात्रा में घरेलू लोक ऋण के द्वारा पूरा किया गया। इसके अतिरिक्त, समग्र अर्थव्यवस्था की आय और व्यय में निरन्तर बढ़ते हुए अन्तर का भुगतान सन्तुलन के चालू खाते में भारी घाटा उत्पन्न हुआ, जिसे विदेशी ऋण के द्वारा पूरा किया गया। **दीपक नैयर के अनुसार**, ''राजकोषीय स्थिति में आन्तरिक सन्तुलन और भुगतान-स्थिति बाहरी असन्तुलन अर्थव्यवस्था के समष्टि प्रबन्धन में विवेक के अभाव द्वारा परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थे।'' इसलिए अस्सी के दशक में बिना समझे साधनों से कहीं ज्यादा खर्च करते हुए अर्थव्यवस्था को चलाने की कोशिश की गई थी। इसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था गम्भीर आर्थिक संकट में फंस गई।

इस सबका परिणाम यह हुआ कि जून 1991 के अन्त तक देश में अभूतपूर्व आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। विदेशी मुद्रा के भण्डार सिर्फ दो सप्ताह के आयात के लिए ही पर्याप्त थे। नए ऋण नहीं मिल रहे थे, अनिवासी भारतीयों (Non-Resident) के खातों से बड़ी-बड़ी राशियां निकाली जा रही थी, भारतीय अर्थव्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास डगमगा रहा था, औद्योगिक विकास विपरीत दिशा में चल रहा था तथा महंगाई तेजी से बढ़ रही थी, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। रूस का विघटन हो चुका था। समाजवादी अर्थव्यवस्थाएं प्रतियोगिता तथा निजीकरण की तरफ बढ़ रही थीं इसके कई

कारण थे जैसे व्यापक राजनैतिक स्थिरता, खाड़ी संकट, मुद्रा स्फीति राजकोषीय घाटे में अत्यधिक व द्धि, भुगतान सन्तुलन के घाटे में व द्धि और विदेशी मुद्रा के भण्डार में भी बहुत अधिक कमी।

परन्तु यह अवश्य मानना होगा कि देश की अर्थव्यवस्था की ये समस्याएं एकदम ही गम्भीर रूप धारण नहीं कर बैठीं, क्योंकि ये समस्याएं पहले से ही काफी समय से विद्यमान थीं तथा उपरोक्त समस्याओं ने भारतीय अर्थव्यवस्था की सामर्थ्य शक्ति को बहुत कुछ नष्ट कर दिया था। यद्यपि सत्तर के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था की सामर्थ्य अधिक थी तथा वह तेल की कीमतों में भारी व द्धि से उत्पन्न स्थिति को भी झेलने में कामयाब रही। लेकिन 1990 तक स्थिति इतनी बदल चुकी थी कि तेल की कीमतों में मामूली व द्धि का अर्थव्यवस्था को भारी झटका लगा और एक गम्भीर समष्टि आर्थिक असन्तुलन उत्पन्न हो गया। अतः अर्थव्यवस्था को आर्थिक संकट से निकालने और उसे तेज गति से लगातार विकास के मार्ग पर वापिस लाने के लिए वित्तीय असन्तुलन को दूर करने, महंगाई को नियन्त्रण में लाने और भुगतान सन्तुलन को सन्तुलित करने तथा विदेशी मुद्रा के भण्डारों में व द्धि करने के लिए आर्थिक सुधार करने अर्थात् एक उचित नीत को लागू करना अत्यन्त आवश्यक था। आर्थिक सुधारों या नई आर्थिक नीति की आवश्यकता मुख्य रूप से निम्नलिखित कारणों से अनुभव की गई -

1. **राजकोषीय घाटे में व द्धि (Increase in Fiscal Deficit)**- अस्सी के दशक में सरकार के गैर-विकासात्मक व्यय में निरन्तर व द्ध के फलस्वरूप राजकोषीय घाटा बढ़ता जा रहा था। राजकोषीय घाटा से अभिप्राय है सरकारी राजस्व और अनुदान की राशि के ऊपर सरकारी व्यय का आधिक्य तथा, जिसका उद्देश्य सरकारी ऋण की स्थिति को जानने से है। 1981-82 में यह राजस्व घाटा सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का 5.4 प्रतिशत से बढ़कर 1990-91 में 8.4% हो गया। इस घाटे की व द्धि को ऋण लेकर पूरा किया जाता है जिससे ब्याज भी काफी बढ़ गया। स्थिति इतनी गम्भीर हो गई कि 1980-81 में ब्याज भुगतान सरकार के कुल व्यय का 10% से बढ़कर 1990-91 में बढ़कर 36.4% हो गया। इस बात की पूरी सम्भावना हो गई थी कि सरकार ऋण-जाल (Debt-Trap) में फंस जाए, और अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं जैसे विश्व बैंक का सरकार की वित्तीय स्थिति में विश्वास कम हो गया। परिणामस्वरूप इस विपरीत परिस्थितियों में सरकार के लिए और भी आवश्यक हो गया कि वह राजकोषीय घाटे को कम करने के उद्देश्य से गैर-विकासात्मक व्ययों में कटौती करें।

2. **भुगतान सन्तुलन की कमजोर स्थिति (Fragile Balance of Payment Position)**-जब कुल आयात, निर्यात से अधिक हो जाते हैं, तो भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है। भुगतान सन्तुलन के घाटे में निरन्तर व द्धि हो रही थी जिसके लिए अल्पकालिक विदेशी ऋण के पलायन और अनिवासी भारतीयों (NRI's) द्वारा अपनी जमा राशि वापस ले जाने की प्रव त्ति काफी हद तक जिम्मेवार थी। इस अस्थिरता की स्थिति में दायित्वों के निर्वाह में असफलता से बचने के लिए तीन उपाय ही सम्भव थे। प्रथम, स्वर्ण के बदले में विदेशी मुद्रा प्राप्त की जा सकती थी (चन्द्र शेखर सरकार को विदेशी ऋण सेवा भुगतान के लिए सोना गिरवी रखना पड़ा), दूसरा, द्विपक्षीय आधार पर विकसित देशों में सहायता मांगी जा सकती थी। तीसरा, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से विशेष सुविधाओं के प्रावधान के अन्तर्गत ऋण लिए जा सकते थे। इन उपायों से 1991-92 में भारत भुगतान संबंधी दायित्वों के पालन में असफलता से तो बच गया परन्तु अर्थव्यवस्था मन्दी की स्थिति में फंस गई।

1980-81 में भुगतान सन्तुलन का घाटा 2214 करोड़ रुपये से बढ़कर 1990-91 में बढ़कर 17,367 करोड़ रुपए हो गया। इसी तरह 1980-81 में विदेशी कर्जे सकल घरेलू उत्पाद के 12% से बढ़कर 1990-91 में सकल घरेलू उत्पाद के 23% हो गए। यही प्रव त्ति ऋण सेवा के भार में बहुत अधिक व द्धि के रूप में देखने के मिली। 1980-81 में विदेशी ऋण सेवा भार, यद्यपि भारत को निर्यात से प्राप्तियों का 15% ही था परन्तु 1990-91 में भी यह बढ़कर 30% हो गया। अतः नई आर्थिक नीति को लागू करने की आवश्यकता और पड़ गई।

3. **बढ़ते हुए मुद्रा-स्फीतिक दबाव (Increasing Inflationary Pressures)**-यद्यपि अस्सी के दशक के बाद पांच वर्षों में मुद्रा स्फीति की औसत वार्षिक दर 6.7% थी परन्तु बाद में यह दर बढ़कर 16.7% हो गई। **दीपक नैयर** के अनुसार, ''अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीतिक दबाव अप्रत्याशित नहीं थे। ये जमा हुआ दबाव भारी घाटों के कारण था, जो बजट घाटों के मुद्रीकरण और मुद्रा की पूर्ति में अत्यधिक विस्तार से सम्बद्ध था।'' मुद्रा स्फीति बढ़ने के कारण आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ा। अतः नए आर्थिक सुधारों को अपनाने की आवश्यकता महसूस हुई।

4. **सार्वजनिक क्षेत्र के निवेश में व द्धि (Increase in the Investment of Public Sector)**-भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में 1951 में केवल 5 उद्यम थे, जो 2001 में उनकी संख्या बढ़कर 232 हो गई। इन उद्यमों में कई हजारों करोड़ रुपये के निवेश के बावजूद, यद्यपि प्रारम्भिक 15 वर्षों तक इन का कार्यकरण सन्तोषजनक रहा, परन्तु इसके बाद, कई कारणों के फलस्वरूप अधिकतर उद्यमों में हानि होकर बढ़ती चली गई। अतः ये उद्यम सरकार के लिए दायित्व बन गए।

5. **विदेशी विनिमय भण्डारों में कमी (Reduction in Foreign Exchange Reserves)**-जून, 1991 में विदेशी मुद्रा भण्डार में इतनी कमी हो गई की वे मात्र 10 दिन के आयात के लिए भी अपर्याप्त थे। सन् 1986-87 में विदेशी विनिमय कोष में 8151 करोड़ रुपए से कम होकर 1989-90 में 6,252 करोड़ रुपए के ही रह गए। फलस्वरूप सरकार को भुगतान करने के लिए सोना गिरवी रखना पड़ा और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कर्जे लेने के लिए उनकी उदारवादी नीति को लागू करने के लिए विवश होना पड़ा।

6. **खाड़ी युद्ध (Gulf-War)**-1990-91 में इराक युद्ध के कारण पैट्रोल की कीमतों में अप्रत्याशित व द्धि हुई, इसी खाड़ी संकट के कारण भुगतान सन्तुलन का घाटा और तेज गति से बढ़ने लगा। अन्य शब्दों में भुगतान सन्तुलन पर अधिक प्रतिकूल प्रभाव के कारण, नई आर्थिक नीति को लागू करना पड़ा।

अन्नतः उपरोक्त परिस्थितियों के कारण सरकार को औद्योगिक उत्पादन में व द्धि तथा विदेशी पूंजी को आकर्षित करने के लिए विवशतापूर्ण एक नई आर्थिक नीति अपनानी पड़ी क्योंकि सरकार के पास अन्य कोई भी विकल्प मौजूद नहीं था।

आर्थिक सुधारों या नई आर्थिक नीति की मुख्य विशेषताएं

(Main Features of Economic Reforms or New Economic Policy)

नई आर्थिक नीति की मुख्य विशेषताएं अर्थव्यवस्था का उदारीकरण, निजीकरण एवं विश्वीकरण है।

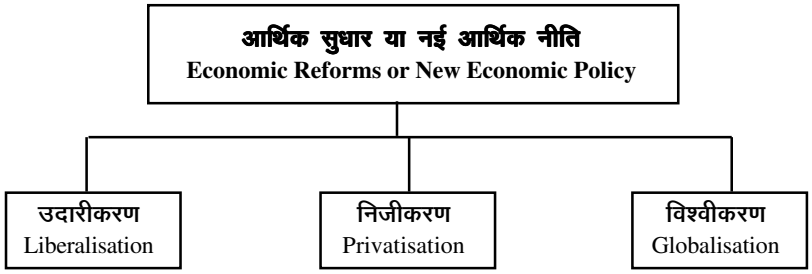

उदारीकरण (Liberalisation)-उदारीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें सरकार द्वारा अपनाये जा रहे **लाइसैन्स, नियन्त्रण, कोटा प्रशुल्क आदि प्रशासनीय नियन्त्रणों/अवरोधों को कम किया जाता है ताकि देश के आर्थिक विकास के मार्ग पर ले जाया जा सके।**

उद्देश्य (Objectives)

1. औद्योगिक उत्पादन की कुशलता तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को बढ़ाना है।
2. सार्वजनक क्षेत्र की उत्पादकता में व द्धि करना।
3. विदेशी निवेश तथा तकनीकी का और अधिक मात्रा में प्रयोग करना।
4. वित्तीय क्षेत्र में इस प्रकार के सुधार करना, जिसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को और अधिक कुशलता से पूरा कर सकें।

उदारीकरण के उपाय

(Measures Taken for Liberalisation)

1. **लाइसैंस तथा पंजीकरण की समाप्ति (Abolition of Industrial & Licensing and Registration)**-जुलाई, 1991 में नई औद्योगिक नीति की घोषणा के अनुसार अब केवल 6 उद्योगों (शराब, सिगरेट, रक्षा उपकरण, खतरनाक रसायन, औषधियां एवं औद्योगिक विस्फोटक) को छोड़ कर बाकी सभी उद्योगों के लाइसैंसों को समाप्त कर दिया गया है। नई नीति के अन्तर्गत उत्पादक, बाजार में मांग के आधार पर उत्पाद के विषय में निर्णय ले सकते हैं। नई कम्पनी, किसी भी उद्यमी द्वारा बिना किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध के प्रारम्भ की जा सकती है और इसी तरह उसके शेयर भी बेचे जा सकते हैं।
2. **एकाधिकारी कानून से छूट (Concessions from Monopolies Act)**-एकाधिकार अधिनियम लागू होने के लिए बड़ी औद्योगिक इकाईयां (जिनकी परिसम्पत्ति 100 करोड़ रुपए से अधिक होती थी, उन्हें एम०आर०टी०जी० फर्म घोषित किया जाता था)। इस अधिनियम के दायरे से बाहर हो गई है।
3. **उद्योग का विस्तार तथा उत्पादन की स्वतन्त्रता (Freedom for Expansion and Production of Industries)**-इस नीति के अनुसार औद्योगिक इकाइयों को अब बिना पूर्व स्वीकृति के विस्तार कर सकती है तथा नई परियोजनाएं भी चालू कर सकती हैं।

   अनेक उद्योगों के उत्पादन संबंध में उत्पादन क्षमता पर लगाई जाने वाली अधिकतम सीमा को हटा दिया गया है। पुरानी नीति के अन्तर्गत लाइसैंस देते समय सरकार की ओर से क्षमता-स जन की उच्चतम सीमा निर्धारित की जाती थी जिसके ऊपर औद्योगिक इकाई अपना विस्तार नहीं कर सकती थी। अब इस सीमा बन्दी को हटा दिया गया है। ताकि बड़े पैमाने के उत्पादन को विभिन्न लाभ प्राप्त किए जा सकें। उत्पादकों को उत्पाद-चयन के संबंध में भी छुट्टी मिल गई है। पहले लाइसैंस में जिन पहलुओं का

उल्लेख होता था केवल उन्हीं तक उत्पादन को सीमित रखना जरूरी था, अब ऐसी बात नहीं है।

4. **लघु उद्योगों की निवेश सीमा में व द्धि (Increase in the Investment Limit of Small Industries)**-लघु क्षेत्रों के उद्योगों की निवेश सीमा को बढ़ा कर 1 करोड़ रुपए कर दिया है ताकि वे भी उत्पादन-तकनीक आदि में आवश्यक सुधार लाकर आधुनिक रूप धारण कर सके। इसी तरह लघु उद्योगों की निवेश सीमा को बढ़ाकर 25 लाख रुपए कर दिया है।
5. **पूंजीगत पदार्थों के आयात की स्वतन्त्रता (Freedom to import Capital Goods)**-उदारीकरण की नीति के अनुसार, भारतीय उद्योगों को अपना विस्तार और आधुनिकीकरण करने के लिए विदेशों से मशीनें तथा कच्चा माल खरीदने की स्वतन्त्रता होगी।
6. **टैक्नोलॉजी आयात की छूट (Freedom to import Technology)**-आधुनिकीकरण को प्रोत्साहित करने के लिए उच्च तकनीकी के महत्त्व की ओर अधिक ध्यान दिया गया है तथा उद्दीयमान उद्योगों (Sunrise Industries) जिसमें कम्प्यूटरों तथा इलैक्ट्रोनिक्स शामिल होती है) को विकसित करने का इस नीति का उद्देश्य है। नई औद्योगिक नीति के अनुसार उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों को तकनीकी समझौते के लिए कोई भी इजाजत लेने की आवश्यकता नहीं है। परिणामस्वरूप भारतीय उद्योगों को नई तकनीकी आसानी से उपलब्ध हो सकेगी।
7. **ब्याज दरों का स्वतन्त्र निर्धारण (Free Determination of Interest Rates)**-इस नीति के अनुसार देश के बैंकों को यह स्वतन्त्रता दी गई है कि वह स्वयं ही ब्याज की दर का निर्धारण करे तथा वर्तमान की तरह बैंकिंग प्रणली की ब्याज दर रिर्जव बैंक द्वारा निर्धारित नहीं की जाएगी।

अन्त में हम कह सकते हैं कि उदारीकरण नीति की सम्भवतः सबसे प्रमुख विशेषता निजी क्षेत्र के विनियमन और नियन्त्रण में ढील देने से सम्बन्धित है जिसका मुख्य उद्देश्य निवेश, उत्पादन, बिक्री आदि के सिलसिले में निजी क्षेत्र को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का है।

निजीकरण
(Privatisation)

साधारण शब्दों में जब सार्वजनिक स्वामित्व में हस्तांतरण निजी क्षेत्र की ओर होता है तो इस प्रक्रिया को निजीकरण कहते हैं। निजीकरण का अर्थ निम्नलिखित रूप में होता है।

1. **संकुचित अर्थ (Narrow Meaning)**-वह प्रक्रिया जिसमें सार्वजनिक उद्योग में निजी स्वामित्व का प्रवेश होता है।
2. **विस्त त अर्थ (Broad Meaning)**-वह प्रक्रिया जिसमें निजी स्वामित्व के अतिरिक्त सार्वजनिक उद्यमों में निजी प्रबन्ध तथा नियन्त्रण को आरम्भ किया जाता है।
3. निजीकरण का अर्थ अविनियमन (Deregulation) से है। निजीकरण समाज में एक नई संस्कृति के विकास को बोध करता है जिसमें विपणन, प्रतिस्पर्धा और कुशलता का आधार आर्थिक निर्णय करने के मार्ग-दर्शन बन जाते हैं।

संक्षेप में, निजीकरण का उद्देश्य निजी क्षेत्र को सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का केवल स्वामी बनाना ही नहीं, बल्कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का प्रबन्ध, नियन्त्रण एवं संचालन भी निजी क्षेत्र द्वारा ही किया जाता है।

निजीकरण की आवश्यकता मुख्य रूप से सार्वजनिक क्षेत्र उद्यमों के अकुशल निष्पादन के कारण हुई तथा विश्व भर में निजीकरण की लहर फैल गई। इन अर्थव्यवस्थाओं में समष्टि-आर्थिक असन्तुलन (Macro Economic Balance) में असन्तुलन पैदा हो जाने के कारण इनके भुगतान-शेष में भी असन्तुलन उत्पन्न हो गया। इन अर्थव्यवस्थाओं के द्वारा विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्य वित्तीय संकटों पर निरन्तर दबाव के कारण उन्हें आर्थिक संकट से छुटकारा दिलाने के लिए सहायता दी जाए, इन्हें और भी मजबूर कर दिया है कि वे निजीकरण को अपने पुनरुत्थान का नया दर्शन स्वीकार करें। निजीकरण के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता में व द्धि होगी, प्रतिस्पर्धा तथा प्रतियोगी बढ़ने के कारण उत्पादन की गुणवत्ता तथा विविधकरण में व द्धि होगी, परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं को विशेष लाभ होगा।

निजीकरण के उद्देश्य (Objectives of Privatistion)-निजीकरण के उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. घाटे की वित्त व्यवस्था तथा सार्वजनिक घाटे को कम करना।
2. आर्थिक साधनों का इष्टतम उपयोग, और कुशल तथा व्यापक स्वामित्व।
3. उद्योगों की कार्यकुशलता एवं प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति में व द्धि करना।
4. औद्योगिक क्षेत्र के विकास दर में तीव्र व द्धि।
5. निवेशी विनिमय की मात्रा में अधिकतम व द्धि करना।

भारत में निजीकरण के मुख्य उपाय (Main Measures for implementation of Privatisation in India)-भारत में आर्थिक सुधारों में निजीकरण के लिए निम्नलिखित उपाय लागू किए गए।

1. **सार्वजनिक क्षेत्र का संकुचन (Contraction of Public Sector)**-योजनाकाल के पहले चार दशकों की अवधि में, देश के आर्थिक विकास की प्रक्रिया में यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र को सर्वोच्च स्थान दिया गया परन्तु औद्योगिक विकास, निर्धनता उन्मूलन एवं ऊंची से संव द्धि दर आदि पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्रापत करने में असफल रहा। परिणामस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र की संकुलन नीति के अन्तर्गत इस क्षेत्र के 17 सुरक्षित उद्योगों की संख्या कम करके केवल 4 कर दी गई।
2. **निजी क्षेत्र का कुल निवेश में अधिक भाग (Increase in Private Sector's Investment)**-निजी क्षेत्र का कुल निवेश में पहले 45% ही हिस्सा होता था उसे आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप बढ़ा कर 55% कर दिया गया है, जो कि निजीकरण का महत्वपूर्ण सूचक है।
3. **अनिवेश (Disinvestment)**-निजीकरण को प्रोत्साहन करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के घाटा उठा रहे उद्यमों को निजी क्षेत्र में बेच रही है (इन उद्यमों का स्वामित्व तथा प्रबन्ध निजी क्षेत्र का हो जाएगा)। अब तक सरकार लगभग 20,000 करोड़ रुपए का अनिवेश कर चुकी है।
4. **ऋण सरकारी उद्यम (Sick Industries in Public Sector)**-ऋण सरकार के क्षेत्र के उद्यमों को पुनर्गठन के लिए सरकार ने औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निमाण बोर्ड (Board for Industrial and Financial Reconstruction—BIFR) को सौंपे जाने का निर्णय दिया है जिसके लिए ऋण औद्योगिक कम्पनी अधिनियम, 1985 (Sick Industrial Companies Act, 1985) में दिसम्बर, 1991 में संशोधन किया गया।
5. **सार्वजनिक क्षेत्र के शेयरों की निजी क्षेत्र को बिक्री (Sale of Shares of Public Sector to the Private Sector)**-सार्वजनिक क्षेत्र के 5 से 20% शेयर वित्तीय संस्थाओं, म्युचुअल फण्ड्स, जनता तथा श्रमिकों को बेचे गए। परिणामस्वरूप इन उद्यमों पर निजी क्षेत्र का

आंशिक स्वामित्व हो जाएगा।

6. **राष्ट्रीय नवीनीकरण निधि (National Renewal Fund)**-निजीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप, सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए फरवरी, 1992 में एक राष्ट्रीय नवीनीकरण निधि की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य उन कर्मचारियों की क्षतिपूर्ति लाभ के लिए भुगतान किया जाएगा, जो अपनी इच्छा से सेवानिव त्त (Retire) हो जाते हैं या जिनका छंटनीकरण (Retrenchment) किया जाता है।

विश्वीकरण
(Globalisation)

विश्वीकरण से अभिप्रायः विश्व अर्थव्यवस्था में आये खुलेपन, बढ़ती हुई परस्पर आर्थिक निर्भरता तथा आर्थिक एकीकरण के फैलाव से है। (Globalisation may be defined as a process associated with increasing openness, growing economic independence and dupening economic integration in the world economy)

विश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें विश्व बाजारों के मध्य पारस्परिक निर्भरता उत्पन्न होती है और व्यापार देश की सीमाओं में प्रतिबन्धित न रहकर विश्व व्यापार में निहित तुलनात्मक लागत लाभ दशाओं का विदोहन करने की दिशा में अग्रसर का होता है।

विश्व व्यापीकरण शब्द आज व्यापार क्रिया-कलापों, विशेषकर विपणन सम्बन्धी क्रियाओं का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करना है जिसमें सम्पूर्ण विश्व बाजार को एक ही क्षेत्र के रूप में देखा जा सकता है।

नई आर्थिक नीति या आर्थिक सुधार कार्यक्रम की यह आधारभूत मान्यता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्व अर्थव्यवस्था से वस्तुओं/सेवाओं, तकनीकी एवं अनुभव का बिना किसी प्रतिबन्ध के साथ विनिमय हो सकेगा। इस सारी प्रक्रिया के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक सहयोग में व द्धि होगी और विकसित देशों से पूंजी तथा तकनीक का प्रवाह भारतीय अर्थव्यवस्था की ओर होगा, जिसके फलस्वरूप देश के आर्थिक विकास की संव द्धि दर में तेज गति से व द्धि होगी। भारतीय सरकार के विश्वीकरण के लिए निम्नलिखित कदम उठाए हैं-

1. **अवमूलयन (Devaluation)**-नए आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप निर्यातों को प्रोत्साहित करने के जुलाई, 1991 में रुपए का औसतन 20% अवमूलयन किया जिसका उद्देश्य निर्यात, प्रोत्साहन, आयात का प्रतिस्थापन एवं विदेशी पूंजी को आकर्षित करना था।
2. **विदेशी निवेश में व द्धि (Increase in Foreign Investment)**-नए आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग (Direct Foreign Investment) की सीमा को 40% से बढ़ाकर 51% तक कर दिया गया है। निर्यात क्रियाओं में लगी हुई व्यापारिक कम्पनियों को भी 51% तक विदेशी पूंजी निवेश की इजाजत दी जाएगी। इसी प्रकार उच्च प्राथमिकता वाले 47 उद्योगों में 51 प्रतिशत तक पूंजी निवेश की इजाजत बिना किसी रोक-टोक तथा अफसरशाही के दी जाएगी तथा सरकार इन्हीं उद्योगों में टेकनालॉजी सन्धियों के लिए स्वतः स्वीकृति (Automatic Approval) प्रदान करेगी।
3. **निर्यात प्रोत्साहन (Export Promotion)**-विदेशी व्यापार के भुगतान सन्तुलन के घाटे को पूरा करने के लिए निर्यातों को प्रोत्साहित किया गया है। संसार के विदेशी व्यापार में भारत के निर्यात की **प्रतिस्पर्धा शक्ति बढ़ाने** के लिए इन्हें विशेष सुविधाएं प्रदान की गई हैं। क्योंकि विदेशी व्यापार में भारत का हिस्सा 0.6% से बढ़ाकर 1% करने का लक्ष्य रखा गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मात्रात्मक प्रतिबन्ध (Quantitative Restrictions) हटा दिए गए हैं।

4. **टैरिफ दरों में कमी** (Reduction in Tariffs)-देश की अर्थव्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का प्रतियोगी बनाने के लिए निर्यात व आयात पर लगाए जाने वाले टैरिफों और सीमा-शुल्कों में काफी रियायतें दी गई हैं। आयात लाइसैंसिंग प्रणाली अपनाई गई है।
5. **भारतीय अर्थव्यवस्था के खुलेपन का विस्तार** (Expansion of Openness of Indian Economy)-इस उद्देश्य प्राप्त करने के लिए अर्थव्यवस्था में विदेशी आधुनिक तकनीकी एवं विदेशी निवेश को बढ़ावा दिया गया है।
6. **दीर्घकालीन व्यापार नीति** (Long Term Trade Policy)-विश्वीकरण के सन्दर्भ में विदेशी व्यापार नीति को पांच वर्ष की अवधि के लिए लागू किया गया तथ इस नीति के उदारवादी होने के फलस्वरूप व्यापार पर लगे सभी नियन्त्रण एवं प्रतिबन्धों से मुक्त किया गया है। (प्रशासनिक नियन्त्रणों को न्यूनतम किया गया है) खुली प्रतियोगिता को प्रोत्साहन करने के लिए सभी सुविधाएं उपलब्ध कराई गई हैं। हस्तशिल्प को प्रोत्साहित करने के लिए निर्यात शुल्क में छूट दी गई है।
7. **रुपए की आंशिक परिवर्तनशीलता** (Partial Convertibility of Rupee)-रुपए की आंशिक परिवर्तनशीलता से अभिप्राय है कि विदेशी सौदों के लिए बाजार द्वारा निर्धारित कीमत पर विदेशी मुद्रा जैसे डॉलर या येन को बाजार में क्रय-विक्रय करना। यह आंशिक परिवर्तनशीलता पूंजीगत सौदों पर लागू नहीं होती थी।

अन्य आर्थिक सुधार

(Other Economic Reforms)

1. **वित्तीय सुधार** (Financial Reforms)-वित्तीय सुधारों का संबंध अर्थव्यवस्था की मौद्रिक एवं बैंकिंग नीतियों में सुधार करने से होता है और इसी उद्देश्य के लिए नरसिंहम समिति की नियुक्ति की थी जिससे दिसम्बर, 1991 में प्रस्तुत किया गया और इसी समिति की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने निम्नलिखित महत्वपूर्ण वित्तीय सुधार किए।
   i. अस्सी के दशक में वैधानिक तरलता अनुपात और नकद कोष अनुपात निरन्तर बढ़ते गए थे। रिजर्व बैंक द्वारा इन्हें ऊपर उठाने का मुख्य उद्देश्य बजटीय घाटों से उत्पन्न मुद्रा स्फीति दबावों पर रोक लगाना था। परन्तु इससे बैंकों की लाभप्रदता पर बुरा प्रभाव पड़ा और इन्हें विवश होकर वाणिज्यिक क्षेत्र को ऊंची ब्याज दर पर ऋण देने पड़ते थे। पिछले कुछ वर्षों में अब प्रभावी वैधानिक (SLR) को 38.5% से कम करके 25% कर दिया गया है और नकद कोष अनुपात (CRR) 10% है। फलस्वरूप बैंकों की उधार देने की क्षमता में व द्धि हो गई।
   ii. बैंकिंग प्रणाली की पुनर्संरचना में दो-तीन बैंक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के, आठ से दस बैंक राष्ट्रीय बैंक और अधिक संख्या में स्थानीय बैंक होने चाहिए।
   iii. बैंकों को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए विभिन्न बैंकों को अधिकारियों की भर्ती में स्वतन्त्रता दी गई है। बैंकों के निरीक्षण एवं नियमन के कार्य के लिए संगठित एजेन्सी वित्तीय नियमन एवं निरीक्षण बोर्ड (Board for Financial Regulation and Supervision) की स्थापना की है।
   iv. नए निजी क्षेत्रीय बैंकों की लाइसैंस देने की नीति को जारी रखा गया है। ब्याज की दरों का निर्धारण रिजर्व बैंक के स्थान पर बैंकों द्वारा किया जाने लगा है।
2. **राजकोषीय सुधार** (Fiscal Reforms)-राजकोषीय सुधारों का उद्देश्य सार्वजनिक रूप में व द्धि एवं व्यय में कमी करके उत्पादन में व द्धि और आर्थिक कल्याण को अधिकतम करना

होता है। सरकार ने राजकोषीय घाटे को कम करने के लिए (1990-91 में सकल घरेलू उत्पाद के 8.4% से 1999-2000 तक 4.4%) कई सुधार किए गए जैसे सार्वजनिक व्यय पर नियन्त्रण, केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारें दोनों राजकोषीय अनुशासन (Fiscal discipline) लागू करें, आर्थिक सहायता (Subsidies) में कटौती की आरम्भ की गई प्रक्रिया को और आगे बढ़ाया जाएगा, एक निरपेक्ष प्रशासनिक कीमतों (Administered Prices) की प्रणाली कायम की जाएगी, सरकार एक अधिक कुशल-व्यय प्रणाली का विकास करने का सुनिश्चित प्रयास करेगी। इसके अतिरिक्त, केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को अपने सार्वजनिक उद्यमों, विशेषकर राज्य बिजली बोर्डों एवं सड़क परिवहन निगमों की स्थिति सुधारने के लिए प्रोत्साहन देगी।

आर्थिक सुधारों या नई आर्थिक नीति के पक्ष में तर्क
(Arguments in favour of Economic Reforms or New Economic Policy)

आर्थिक सुधारों के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए गए हैं-

1. **आर्थिक विकास की दर में व द्धि (Increase in the rate of Economic Growth)**-देश की अर्थव्यवस्था में 1951 से 1981 तक, सकल घरेलू उत्पाद की विकास दर 3.6% और प्रति व्यक्ति आय की विकास दर 1.4% थी; 1981 से 2001 की अवधि में यह बढ़कर 6.5% और 4.3% हो गई, परन्तु एशिया के कई देश जैसे सिंगापुर, मलेशिया, हांगकांग तथा दक्षिणी कोरिया और देशों की 8% विकास दर की तुलना में भारत की विकास दर काफी कम है। अतः यह और भी महसूस किया गया कि अर्थव्यवस्था की विकास दर में व द्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से आर्थिक सुधार आवश्यक रूप से लागू करने चाहिए।
2. **औद्योगिक क्षेत्र की प्रतियोगिता में व द्धि (Increase in Competitiveness of Industrial Sector)**-हालांकि योजनाकाल अवधि के पिछले 4 दशकों में औद्योगिक क्षेत्र में अरबों रुपए निवेश करके, विविधिकरण के साथ विकास किया, परन्तु सरकार की संरक्षण एवं बड़े घरेलू बाजार के कारण भारतीय उद्योग तकनीकी तौर पर काफी पिछड़े हुए थे, परिणामस्वरूप उनकी लागत भी काफी अधिक थी और कार्यकुशलता भी काफी कम थी। अतः वे निर्यात क्षेत्र में कई छोटे देशों से भी प्रतियोगिता करने में असमर्थ रहे। इसके फलस्वरूप 1950 में भारत का विदेशी व्यापार में लगभग 2% हिस्सा था जो 2001-2002 में घट कर 0.6% ही रह गया। नई आर्थिक नीतियों के कारण उद्योगों की कुशलता तथा उत्पादकता में व द्धि के फलस्वरूप ये अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर और अधिक प्रतियोगी बनेगी। इस प्रक्रिया के कारण विदेशी निवेश में व द्धि के फलस्वरूप नई तकनीकी आने के कारण उद्योगों में कार्यकुशलता और बढ़ेगी।
3. **निर्धनता तथा असमानता में कमी (Reduction in Poverty and Inequality)**-आर्थिक नियोजन की अवधि, अर्थव्यवस्था में निर्धनता और असमानता में उत्साहजनक कमी नहीं हो पाई। इस नई नीति का मुख्य उद्देश्य मानवीय संसाधनों का विकास करके, उत्पादन एवं रोजगार में बढ़ोत्तरी करके लोगों की गरीबी में कमी करना है। नई नीति में उदारीकरण के फलस्वरूप लोगों को स्वरोजगार के अधिक अवसर मिल पाएंगे जिसके परिणामस्वरूप निर्धनता एवं असमानता में कमी होगी।
4. **सार्वजनिक क्षेत्र की कुशलता एवं लाभदायकता में व द्धि (Increase in the Effciency and Profitabilities of Public Sector)**-यद्यपि भारत के आर्थिक नियोजन में, सार्वजनिक क्षेत्र के अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया गया परन्तु यह क्षेत्र अकुशल एवं अुनत्पादक सिद्ध हुआ क्योंकि इस क्षेत्र में लाभ की दर (Rate of Return) केवल 3% ही रही जो कि इसमें

निवेशित पूंजी के द ष्टिकोण से बहुत ही कम है। नए आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र की कमियों एवं त्रुटियों को दूर करके, इसकी कुशलता में व द्धि की जा सकेगी।

5. **कीमत व द्धि का नियन्त्रण** (Control over Price Increase)-नई आर्थिक नीति के फलस्वरूप राजकोषीय ब्याज कम होने के कारण करों की दर में कमी होगी, मुद्रा का संकुचलन होगा, सरकारी व्यय कम होगा तथा उत्पादन में व द्धि होने के फलस्वरूप कीमत व द्धि पर अंकुश लगाया जा सकेगा।

6. **भुगतान सन्तुलन के घाटे में कमी** (Decline in Deficit of Balance of Payment)-नई आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में प्रतियोगी हो जाने के कारण निर्यातों में व द्धि होगी और आयात कम होंगे। इसके परिणामस्वरूप भुगतान सन्तुलन के घाटे में कमी होगी तथा विदेशियों का भारतीय अर्थव्यवस्था में विश्वास और अधिक द ढ़ होगा। फलस्वरूप विदेशी मुद्रा कोष में व द्धि होगी।

7. **राजकोषीय घाटे तथा मुद्रा स्फीति में कमी** (Fall in Fiscal Deficit and Inflation)-योजनाकाल की अवधि में अनेक कारणों से राजकोषीय घाटे में व द्धि हो रही थी जिसे पूरा करने के लिए सरकार की आन्तरिक एवं बाहरी ऋणों की आवश्यकता पड़ती गई और इन ऋणों पर बहुत अधिक दर से ब्याज देना पड़ता है तथा सरकार की आय का अधिकांश भाग ब्याज (अनुत्पाद व्यय) पर ही खर्च होने के कारण निवेश संबंधित बहुत कम आय बचती है। बजट घाटे को घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा ही पूरा करना पड़ता है जिसके कारण कीमतों में और व द्धि होती है अतः नए आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप राजकोषीय घाटे में तथा बजट का घाटा कम होने के कारण मुद्रा स्फीति में कमी होगी।

8. **कुशलता में व द्धि** (Increase in Efficiency)-देश की अर्थव्यवस्था में कुशलता में तेज गति से व द्धि नहीं हो पाई है जैसे भारी संरक्षण, नियन्त्रण को गलत ढंग से लागू करना, आयात प्रतिस्थापन्न आदि। भारत के अकुशलता के मुख्य सूचक हैं-क्षमता से कम उत्पादन, पूंजी की निम्न उत्पादकता तथा रुग्ण इकाइयों की अधिक संख्या आदि। नई आर्थिक नीति के अग्रलिखित उपायों द्वारा अर्थव्यवस्था की कुशलता में व द्धि होगी जैसे-नियन्त्रणों से मुक्ति।

9. **मध्यवर्ग को प्रोत्साहन** (Middle Class Promotion)-देश की अर्थव्यवस्था की संख्या बढ़कर लगभग 10 करोड़ हो गई है। इस वर्ग की आय अर्जित करने की क्षमता एवं खर्च करने की इच्छा से भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष करो ं में दी गई रियायतों के फलस्वरूप इस वर्ग को प्रयोज्य आय (Desposable Income) में व द्धि के कारण, यह वर्ग अधिकतर आय के टिकाऊ उपभोग वस्तुओं पर खर्च करने की प्राथमिकता देते हैं। जैसे-रंगीन टी०वी०, कार, वांशिग मशीन, फ्रिज, वी०सी० आर आदि। इन वस्तुओं की करों में होने वाली अप्रत्याशित व द्धि का लाभ उठाने के लिए निजी क्षेत्र को स्वतन्त्र छोड़ने की आवश्यकता महसूस होती है। निजी क्षेत्र के विस्तार से मध्यवर्ग की क्रय क्षमता और आय में व द्धि होगी। फलस्वरूप उपभोग वस्तुओं उद्योगों के विकास को और अधिक प्रोत्साहन मिलेगा।

10. **लघु उद्योगों का विकास** (Development of Small Scale Industries)-स्वतन्त्रता से पूर्व तथा उपरान्त में लघु उद्योगों का भारतीय अर्थव्यवस्था में विशेष महत्त्व है। परन्तु सरकार के अनावश्यक लाइसैंस प्रणाली और नियन्त्रणों के फलस्वरूप कार्यकुशलता में व द्धि नहीं

हो पाई है। नए आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप इस विशेष क्षेत्र के विकास के लिए स्वतन्त्र वातावरण एवं विशेष सुविधाएं प्राप्त होंगी। जिसके कारण लघु क्षेत्र के विकास के फलस्वरूप रोजगार में व द्धि होगी, निर्धनता कम होगी तथा आय की असमानता कम होगी।

अतः नए आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था की विकास दर में तेजी से व द्धि होगी।

आर्थिक सुधारों की कुछ उपलब्धियां
(Some Achievements of Economic Reforms)

जुलाई, 1991 में घोषित आर्थिक सुधारों की कुछ उपलब्धियों का सारांश निम्नलिखित हैं-

1. कीमत व द्धि की औसतन दर में काफी कमी हुई है, अगस्त, 1991-92 में 17% से घटकर मार्च, 2000 में 5.30% ही रह गई।
2. आर्थिक विकास की दर में भी व द्धि हुई है, 1992-93 में आर्थिक विकास की दर केवल 1.2% थी। 1996-97 में यह दर बढ़कर 8.2% हो गई।
3. विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (Foreign Direct Investment-FDI) में भी काफी व द्धि हुई है, 1992 में इसकी मात्रा 675 करोड़ थी जो 2001 में बढ़कर 16,127 करोड़ रुपए हो गया।
4. विदेशी विनिमय कोष (Foreign Exchange Reserves) में भी काफी व द्धि हुई है। 1991-92 में ये कुल विदेशी विनिमय कोष 23850 करोड़ रुपए से बढ़कर 2001-02 में 2,31,817 करोड़ रुपए के हो गए। यानि 872% की व द्धि हुई है।
5. निर्यात की मात्रा में भी व द्धि हुई है; 1991-92 में निर्यातों का मूल्य 44,041 करोड़ रुपए था जो 2001-02 में बढ़कर 2,10,011 करोड़ रुपए हो गया। निर्यातों के मूल्य में 377% की व द्धि हुई।
6. औद्योगिक विकास की दर 1999-2000 में 6.7% थी।
7. भारत का विदेशी व्यापार में हिस्सा भी बढ़ गया है। 1990 में विश्व व्यापार में भारत का हिस्सा 0.5% था। वह 2001-02 में बढ़कर 0.6% हो गया है।
8. सकल घरेलू उत्पाद के विदेशी ऋण का अनुपात 1991-92 में 39% से घटकर मार्च, 2002 के अन्त तक लगभग 21% ही रह गया।

आर्थिक सुधारों या नई आर्थिक नीति की आलोचनाएं या विपक्ष में तर्क
(Criticisms of Economic Reforms or New Economic Policy or Arguments Against)

''नई आर्थिक नीति अपनी संकल्पना में, विषयवस्तु में, द ष्टिकोण एवं युक्ति और कुछ अन्य बातों में दोषपूर्ण हैं।'' इसकी कमियां निम्नलिखित हैं-

1. **कृषि को कम महत्त्व (Less Importance to Agriculture)**-यद्यपि भारतीय अर्थव्यवस्था एक कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था है। फिर भी यह नीति कृषि तथा इससे संबंधित क्रियाओं को विशेष महत्त्व नहीं देती। इस नीति का मुख्य उद्देश्य उद्योगों का विकास एवं आधुनिकीकरण तक ही सीमित है। अतः भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास तभी संभव होगा जब तक कृषि का उचित विकास नहीं होता।
2. **सुधारों का गलत क्रम (Wrong Sequencing of Reforms)**-सुधारों के गलत क्रम के कारण आर्थिक प्रबन्ध में अनेक विकृतियां उत्पन्न हो गई हैं। जिसके तीन स्पष्ट उदाहरण हैं। प्रथम, राजकोषीय, राजस्व तथा बजटीय घाटों में भारी कमी के पहले गैर-विकास

व्यय में कटौती और कर आधार का विस्तार करना जरूरी है, परन्तु सरकार ने वित्तीय सुधार कार्यक्रम करों को देरी करके और पूंजीगत व्यय में कटौती के द्वारा प्रारम्भ किया। द्वितीय, सरकार ने बिना यह सुनिश्चित किए ही कि निजी क्षेत्र और विदेशी निवेशक की मात्रा बढाएंगे, सरकारी पूंजीगत व्यय में कटौती कर डाली। तीसरा घरेलू पूंजीगत पदार्थ क्षेत्रों में प्रौद्योगिकी के विकास की योजना तैयार किए बिना ही पूंजीगत वस्तुओं के आयात के बारे में उदारीकरण नीति को कार्यान्वित कर दिया गया।

3. **सुधार लागू करने की अनावश्क जल्दबाजी (Hasty Pace of Reforms)**-सुधारों को लागू करने में अनावश्यक जल्दबाजी का कारण भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था का अतिशीघ्र अंग बनाने का विवादास्पद लक्ष्य था। औद्योगिक संव द्धि में तेजी के साथ गिरावट, पूंजी पदार्थ उद्योगों की संव द्धि में कमी, निर्यातों से सापेक्ष रूप से निर्मित माल के महत्त्व में कमी और औद्योगिक रोजगार के विस्तार में बाधा, तेजी के साथ सुधारों के कुछ स्पष्ट परिणाम हैं। अतः इन सुधारों ने भारतीय उद्योगों को न तो संभालने का मौका दिया और न ही रोकने और सन्तुलन की उपयुक्त व्यवस्था की।

4. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक से प्रभावित (Influenced by IMF and World Bank)**-आलोचकों के अनुसार, उदारीकरण (Liberalisation) एवं विश्वीकरण (Globalisation) की नीति को स्वीकार करने का मुख्य कारण केवल World Bank तथा IMF का दबाव रहा है। इन अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं ने ऋण देने के लिए नए प्रावधान जैसे शर्तों के अनुसार ऋण (Conditional or Tied loan) शुरू किए हैं। इन संस्थाओं से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और धनी वर्ग पर तो अनुकूल प्रभाव पड़ेगा परन्तु निर्धन वर्ग पर केवल प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

5. **विदेशी ऋण पर अत्यधिक निर्भरता (More Dependence on Foreign Debt)**-नई आर्थिक नीति विदेशी ऋण पर आधारित है और इसमें आन्तरिक साधनों के विकास की अवहेलना की गई है। विकास के लिए ऋण लेने के कारण देश की ऋणग्रस्तता इतनी बढ़ गई है कि हम कर्जों के भंवर जाल (Debt-Traps) में फंसने के निकट पहुंच गए हैं। नए ऋण का 85% भाग तो पुराने ऋणों और उनके ब्याज के भुगतान में ही चला जाता है और अगर यही ऋण लेने की प्रव त्ति चलती रही तो हमारी आर्थिक प्रभुसत्ता भी खतरे में पड़ जाएगी।

6. **विदेशी तकनीकी पर निर्भरता (Dependence on Foreign Technology)**-नई आर्थिक नीति में स्वदेशी तकनीकी की तुलना में विदेशी तकनीकी को अधिक महत्व दिया है। नई तकनीकी केवल बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के पास ही उपलब्ध होती है और ये कम्पनियां केवल अपने लाभ के लिए ही उच्च तकनीकी का प्रयोग करेगी तथा इस तकनीकी के पूंजी प्रधान होने से देश में बेरोजगारी बढ़ेगी अतः देश को अधिक हानि तथा लाभ कम होगा।

7. **निजीकरण को अधिक महत्व (More Importance in Private Sector)**-नई आर्थिक नीति में सार्वजनिक क्षेत्र की तुना में निजी क्षेत्र को अधिक महत्व दिया गया है क्योंकि निजी क्षेत्र की उत्पादकता, लाभदायकता तथा कार्यकुशलता भी सार्वजनिक क्षेत्र से अधिक होती है।

सार्वजनिक क्षेत्र का उद्देश्य मात्र लाभ प्राप्त करना नहीं है बल्कि आधारभूत एवं पूंजीगत उद्योगों का विकास, रोजगार के अवसरों में व द्धि करना, आत्मनिर्भरता प्राप्त करना, जब

उपयोगी सेवाएं सस्ते मूल्य पर उपलब्ध कराना, लघु एवं सहायक उद्योगों के विकास में योगदान, क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर करना निर्यात को प्रोत्साहन करना आदि हैं। यद्यपि निजी क्षेत्र में उद्यमों की तुलना में सार्वजनिक उद्यमों की लाभदायकता कम है परन्तु फिर भी निजीकरण को प्रोत्साहन करना, केवल विकल्प नही है। भारत में लाखों बीमार इकाइयां अकेले निजी क्षेत्र में मौजूद हैं जिन्होंने बैंकों के करोड़ों रुपए के कर्जे देने हैं, इसके अतिरिक्त निजीकरण में बुराइयों के फलस्वरूप समाज में अन्याय और बढ़ेगा।

8. **बेरोजगारी की समस्या (Problem of Unemployment)**-नई आर्थिक नीति के फलस्वरूप बेरोजगारी में और अधिक व द्धि होगी क्योंकि निजी क्षेत्र अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए पूंजी प्रधान तकनीकी का प्रयोग करेगा, अतः श्रमिकों की छंटनी की जाएगी, श्रमिकों तथा पूंजीपतियों में वर्ग संघर्ष होने के कारण उत्पादन कम होगा तथा बेरोजगारी और बढ़ेगी।

9. **सुधारों की मान्यताओं की उपेक्षा (Prerequisties of Reforms Ignored)**-समष्टि आर्थिक स्थिरीकरण एवं ढांचागत सुधारों (Macro-Economic Stabilistion and Structural Reforms) पर जो कुछ लिखा गया है उससे इस बात के बहुत सारे प्रमाण मिलते हैं कि यदि अर्थव्यवस्था में मानव विकास के एक निकश्चत न्यूनतम स्तर पर पहुंच चुकी हो तो इन नीतियों से उत्पन्न झटकों को ज्यादा अच्छी तरह से झेला जा सकता है और उनके जन साधारण के कल्याण पर पड़ने वाले दुष्पभावों को काफी कम किया जा सकता है। दक्षिण कोरिया, मलेशिया, थाईलैंड और इंडोनेशिया हाल में सफल आर्थिक संव द्धि के उदाहरण हैं लेकिन इन सभी देशों में जब ढांचागत सुधारों का कार्यक्रम शुरू हुआ उस समय वहां न केवल भूमि सुधारों और कुछ अन्य उपायों के कारण सामाजिक-आर्थिक ढांचा ज्यादा सामंतवादी था, बल्कि मानव विकास के सूचक जैसे कि जीवन सम्भावना और साक्षरता दरें ऊंची थी और बाल-म त्यु दर नीची थी। इसकी तुलना में भारतीय स्थिति मानव विकास और सामाजिक-आर्थिक ढांचे की द ष्टि से बिल्कुल उत्साहवर्धक नहीं थी।

10. **युक्ति के अभिन्न अंग के रूप में मानव विकास के लक्ष्यों का अभाव (Absence of human development goals in Integral Part of Strategy)**-भारत में अधूरे ढांचागत परिवर्तनों, व्यापक गरीबी, मानव विकास के नीचे स्तर और शिक्षा व स्वास्थ्य के सम्पन्न वर्गों के पक्ष में विकृत सरकारी व्यय की प ष्ठभूमि में स्थिरीकरण एवं ढांचागत सुधारों का कार्यक्रम लागू किया गया है। इस निराशाजनक स्थितियों और आर्थिक संव द्धि की नीची दर के होते हुए ढांचागत सुधारों को मानवीय चेहरे के साथ लगाया जाना चाहिए। अन्य शब्दों में, मानव विकास के लक्ष्य ढांचागत समायोजनों की युक्ति के अभिन्न अंग होने चाहिएं। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि भारत में ऐसा कुछ भी नही किया गया हैं

संक्षेप में, नई आर्थिक नीति भारतीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान जरूरतों के काफी अनुरूप है। इसके सम्मुख आज तो समस्याएं हैं, उनके समाधान में यह एक सीमा तक बहुत सहायक हो सकती है, लेकिन इसमें अनेक कमियां भी मौजूद हैं जैसे कृषि की उपेक्षा, मांग के विस्तार की ओर अपर्याप्त ध्यान, लघु तथा कुटीर उद्योगों के समुचित विकास के लिए विशेष प्रयास का अभाव तथा नई आर्थिक प्रणाली के सुचारू संचालन के लिए वैकल्पिक संस्थागत प्रबन्ध का न किया जाना। अतः इस नीति से लाभ उठाने के लिए इन कमियों को दूर किया जाना आवश्यक है।

प्रश्नावली
Questions

निबन्ध रुपी प्रश्न (Essay Type Questions)

1. भारतीय अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करो। क्या भारत एक अल्पविकसित देश है ? स्पष्ट कीजिए।

   (Discuss the salient features of Indian Economy. Is India an underdeveloped country? Clarify.)

2. भारतीय अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएं क्या हैं?

   (What are the main characteristics of Indian Economy?)

3. क्या भारतीय अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें। वे कहां तक कम विकास दर की ज़िम्मेदार हैं?

   (Is Indian Economy an underdeveloped economy? Give arguments in support of your answer.)

4. भारतीय अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें। वे कहां तक कम विकास दर की ज़िम्मेदार हैं?

   (Discuss the basic features of Indian Economy and state to what extent those have been responsible for the slow growth rate of our national economy?)

5. भारतीय अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें। भारतीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान दिशा का वर्णन करें।

   (Explain the main features of Indian economy. Also discuss the present direction of Indian Economy.)

6. भारतीय अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषतायें बताइये। क्या भारत में अभी तक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था है?

   (Give the main features of Indian Economy. Is India still an underdeveloped economy?)

7. मिश्रित अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें। 1991 की नई आर्थिक नीति के सन्दर्भ में इसके भविष्य के बारे में आपके क्या विचार हैं?

   (Discuss the main features of mixed economy. How do you view its feature in the light of new economic policy of 1991?)

8. भारतीय अर्थव्यवस्था की विभिन्न आर्थिक समस्याओं की रुपरेखा दीजिए। 1950 की आर्थिक समस्याओं का तुलनात्मक अन्तर 2000 से कीजिए।

   (Outline various economic problems of Indian Economy. Compare and contrast the economic problems of 1950's with that of 2000.)

9. **भारत में निर्धनता के विस्तार का वर्णन करें। सरकार ने निर्धनता निवारण के लिए क्या कदम उठाए हैं?**

(What is the extent of poverty in India? What steps have been taken by the government to eradicate poverty?)

10. **भारत में निर्धनता के कारणों और उपचार (या निर्धनता कम करने) के तरीकों का वर्णन कीजिए।**

(Explain the causes and methods of reducing poverty in India.)

11. **निर्धनता से क्या अभिप्राय है? इसके कारण तथा रोकने के क्या उपाय हैं?**

(What is poverty? What are its causes and measures to check?)

12. **निर्धनता दूर करने के लिए सरकार द्वारा उठाए गए कदमों का वर्णन करो।**

(Discuss the steps taken by Govt. to eradicate poverty.)

13. **भारत में आय की असमानता वितरण के विस्तार का विवरण करें। सरकार ने आय की असमानताओं को कम करने के लिए कौन से उपाय अपनाए हैं?**

(Discuss the steps taken by Govt. to eradicate poverty.)

14. **भारत में आय की असमानता वितरण के विस्तार का विवरण करें। सरकार ने आय की असमानताओं को कम करने के लिए कौन से उपाय अपनाए हैं?**

(Discuss the extent of inequalities of income in India. What steps have been adopted by the government of reduce inequalities of income).

15. **भारत में आय तथा धन की असमानता के क्या कारण हैं? भारत सरकार इन असमानताओं को दूर करने के लिए कौन से उपाय अपना रही है?**

(What are the causes of inequalities of income and wealth in India? What measures are taken by the government to remove these inequalities)?

16. **क्या भारत जैसी मिश्रित अर्थव्यवस्था में आय की असमानतायें अनिवार्य हैं? अपने उत्तर की पुष्टि में कारण देते हुए बताइये कि कराधान किस प्रकार इन असमानताओं को कम करने में प्रयुक्त हो सकता है।**

(In a mixed economy of the nature of the Indian economy, are inequalities of income inevitable? Give reasons for your answer and indicate how taxation can be used to reduce inequalities?)

17. **भारत में आय तथा सम्पत्ति की असामनताओं की प्रव त्ति तथा विस्तार का वर्णन कीजिए। इन असमानताओं को कम करने के लिए आप किन उपायों का सुझाव देते हैं?**

(Discuss the nature and extent of inequalities of income and wealth in India. What measures would you suggest to reduce these inequalities?)

18. **भारत जैसे देश में असमानताओं का विस्तार कहां तक है? राजकोषीय नीति का प्रयोग इन असमानताओं को करने के लिए कहां तक किया जा सकता है।?**

(To what extent do inequalities in income and wealth exist in a country like India? How can fiscal policy can be used to reduce these inequalities?)

19. **क्या भारत में आय के वितरण में असमानता बढ़ रही है? व्याख्या करें। इन असमानताओं को करने के लिए सरकार ने कौन से उपाय अपनाए हैं?**

(Are inequalities in the distribution of income increasing in India? Explain what measures have been adopted by the government to reduce those inequaities).

20. **भारत में बेरोज़गारी की समस्या के स्वरूप की चर्चा कीजिए। बेरोज़गारी के क्या प्रभाव हैं?**

(Discuss the nature of the problem of unemployment in India. What are the effects of the unemployment?)

21. **भारत में अधिक बेरोज़गारी होने के कारण बताइए? इसे दूर करने के उपायों का सुझाव दीजिए।**

(What are the causes of increase in unemployment in India? Suggest remedies.)

22. **भारत में बेरोज़गारी तथा अल्प-रोज़गार से क्या अभिप्राय है? भारत में बेरोज़गारी के विस्तार का वर्णन करें।**

(Discuss the unemployment and underemployment in India. What is extent of unemployment in India?)

23. **बेराज़गारी से क्या अभिप्राय है? भारत में बेरोज़गारी के कारणों का वर्णन करें। इस समस्या के समाधान के लिए सरकार ने कौन-कौन से प्रयत्न किए हैं?**

(Explain the term unemployment. What are the causes of unemployment in India? What steps have been taken by the government in recent years to solve this problem?)

24. **भारत में बेरोज़गारी अधिक होने के क्या कारण हैं? बेरोज़गारी को दूर करने के उपयुक्त सुझाव दें।**

(What are the causes of unemployment in India? Suggest suitable measures to solve the employment problem.)

25. **बेकारी तथा अल्प बेकारी में क्या भेद है? सरकार ने इस समस्या को दूर करने के लिए कौन-कौन से कदम उठाएं हैं?**

(What is the difference between unemployment and underemployment? What steps have been taken by the government to solve this problem?)

26. **भारत का आयोजन विफल रहा है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं?**

(Planning has failed in India. Do you agree?)

27. **भारत के आर्थिक नियोजन की सफलताओं तथा असफलताओं का मूल्यांकन कीजिए।**

(Evaluate either the achievements or the shortcomings of the economic planning in India).

28. **भारत में योजनाओं की सफलताओं तथा असफलताओं पर एक विस्त त नोट लिखें।**

(Write a detailed note on the acheivements and failures of planning in India.)

29. **भारत में आर्थिक योजनाओं के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए। इन उद्देश्यों के संदर्भ में देश में आर्थिक नियोजन की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।**

(Explain the objectives of economic planning in India. Discuss the achievements of economic planning in our country in the light of these objectives.)

30. **भारतीय नियोजन पर एक विस्त त टिप्पणी लिखें।**

(Write a detailed note on Indian planning.)

31. **भारतीय योजना के मुख्य उद्देश्य क्या हैं? इस उद्देश्यों को कहां तक प्राप्त करने में सफलता मिली है?**

(What are the principal objectives of Indian planning? How far these have been achieved)?

32. **भारत में आर्थिक नियोजन की व्याख्या करें।**

(Evaluate the achievement of Economic Planning in India.)

33. **आर्थिक नियोजन से क्या अभिप्राय है? हमारे देश में नियोजन के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए नियोजन की उपलब्धियों का उल्लेख करें।**

(What is economic planning? Discuss the achievements of planning in our country in the light of the objective of planning?)

34. **भारतीय नियोजन की उपलब्धियों का आलोचनात्मक वर्णन करें।**

(Critically examine the achievements of Indian Planning.)

35. **भारत में आर्थिक नियोजन की असफलताओं का मूल्यांकन कीजिए।**

(Evaluate the shortcomings of Economic Planning in India.)

36. **आर्थिक सुधार से क्या अभिप्राय है? आर्थिक सुधारों की क्या आवश्यकता थी? इनकी मुख्य विशेषताएं बताएं।**

(What is meant by Economic Reforms? What was the need of Economic Reforms? Explain the main features of Economic Reforms?)

37. **उन परिस्थितियों के बारे में बताइये जिनके आधार पर सरकार ने उदारीकरण का चयन किया।**

(Discuss the circumstances under which the government of India opted for liberalisation programme.)

38. **भारतीय अर्थव्यवस्था के विश्वीकरण से आपका क्या अभिप्राय है? इनकी विशेषताओं का वर्णन करें।**

(What do you mean by Globalisation of Indian Economy? Discuss the features.)

39. **आर्थिक सुधारों के पक्ष या विपक्ष में तर्क दें।**

(Give arguments for and against on Economic Reforms.)

40. **भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण, निजीकरण तथा विश्वीकरण या खुलेपन से क्या अभिप्राय है?**

(What is meant by Liberalisation, Privatisation and Globalisation of Indian Economy?)

41. **निजीकरण से क्या अर्थ है? भारत में निजीकरण की मुख्य विशेषताएं बताएं।**

(What is meant by Privatisation? Explain the main features of Privatisation in India).

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत

[State whether the following statements are true (right) or false (wrong)]

1. **भारत में 10 प्रतिशत जनसंख्या राष्ट्रीय आय का 40 प्रतिशत भाग प्राप्त करती है।**

(10 percent of the population takes away 40 percent of the National Income.)

2. **भारत में कृषि श्रम की उत्पादकता गैर-कृषि श्रम की उत्पादकता से काफी अधिक है।**

(The productivity of agricultural labour is much higher than productivity of non-agricultural labour.)

3. **बैकिंग सुविधाओं के अभाव के कारण देश के अधिकांश उद्यमी अपनी आर्थिक दशा को सुधारने में अयोग्य हैं।**

(Most of the enterpreneurs are unable to improve their economic condition due to the absence of Banking facilities.)

4. **भारत में आधारभूत तथा उत्पादक वस्तु उद्योग अभी भी अपर्याप्त है।**

(Basic and capital goods industries are still insufficient in India.)

5. **भारत में निर्धनता का मुख्य कारण आय की असमानता है।**

(The main cause of Poverty in India is Inequality of Income.)

6. **निर्धनता की समस्या केवल भारत की समस्या है न कि विश्वव्यापी।**

(The problem of poverty is not worldwide, but related only to India.)

7. **10वीं पंचवर्षीय योजना का 8% का विकास-दर लक्ष्य प्राप्त होने पर सम्पूर्ण भारत का निर्धनता अनुपात 20% से कम हो जाएगा।**

(The All India Poverty ratio would be less than 20%, when 8% growth rate under 10th 5-Year Plan is achieved.)

8. **अन्त्योदय कार्यक्रम का मूल उद्देश्य था गरीबी में सबसे अधिक गरीबों की मदद करना।**

(The main objective of Antyodya Programme was to help poorest of the poor.)

9. **स्कूली बच्चों के लिए दोपहर की भोजन योजना में सभी स्तर की शिक्षा (प्राथमिक तथा माध्यमिक) सम्मिलित थी।**

(The Mid-day meal Scheme included education at all levels.)

(Primary and Middle)

10. **विश्व बैंक रिपोर्ट के अनुसार नीचे के** 20 **प्रतिशत लोगों का राष्ट्रीय आय में केवल** 11.6 **प्रतिशत भाग है।**

(20 per cent of people have only 11.6 per cent part in National income according to World Bank report).

11. **आय की पूर्ण समानता सम्भव नहीं है।**

(Complete equality of income is not possible).

12. **आय की असमानता से अभिप्राय है कि कुछ व्यक्तियों की आय बहुत अधिक कम है जबकि अधिकतर लोगों की आय बहुत अधिक है।**

(By inequality of income we mean that some people have very less income while majority of people have very high income).

13. **भारत में प्रचलित उत्तराधिकार के नियमों के फलस्वरूप आय तथा सम्पत्ति के वितरण की असमानता में व द्धि नहीं हुई है।**

(The inequality of income and wealth has not increased due to the existing inhesitance laws in India).

14. **उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में परिसम्पत्ति की असमानता काफी अधिक एवं व्यापक है।**

(On the basis of existing data, it can be said that inequality in wealth has been very high and deep in India).

15. **छिपी बेरोज़गारी वह स्थिति है जिसमें पूँजी की सीमांत उत्पादकता शून्य होती है।**

(The Disguised Unemployment is that situation in which Marginal Productivity of Capital is zero.)

16. **भारत में बेरोज़गारी के आंकड़े** National Sample Survey (NSS) **द्वारा एकत्रित एवं प्रकाशित किए जाते हैं।**

(The data of unemployment are collected and published by National Sample Survey (NSS) in India.)

17. **छठी योजना में उत्पादन की तुलना में रोज़गार को अधिक महत्त्व दिया गया है।**

(In the sixth 5 Year Plan, Employment was given more importance to production.)

18. **भारतीय नियोजन रोज़गार प्रेरक की अपेक्षा उत्पादन प्रेरक है।**

(The Indian planning is Product oriented rather than Employment Oriented.)

19. **औद्योगिक बेरोज़गारी वह स्थिति है जिसमें श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है।**

(The Industrial Unemployment is that situation, in which Marginal Productivity of Labour is zero.)

20. **हरित क्रान्ति के कारण बेराज़गारी अधिक बढ़ी है।**

(The Unemployment increased more due to green Revolution.)

21. **व्यापार-चक्र की मंदी के समय उत्पन्न बेरोज़गारी 'चक्रीय बेरोज़गारी' कहलाती है।**

(The Unemployment generated during depression of trade-cycle is known is Cyclical Unemployment.)

22. **भारत में विकासात्मक योजनाएं मिश्रित अर्थव्यवस्था के अनुरूप तीन क्षेत्रों द्वारा लागू की जा रही हैं।**

(The development problems in India are being implemented in three areas as per mined economy.)

23. **भारतीय नियोजन आय तथा सम्पत्ति के वितरण में समानता नहीं ला सकी।**

(The Indian planning could not bring equality in income and wealth.)

24. **भारत में नियोजन का मुख्य उद्देश्य आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण है।**

(The main objective of Indian planning has been centralisation of Economic power.)

25. **योजना काल में विकास की व द्धि दर के लक्ष्यों तथा प्राप्तियों के बीच कोई अन्तर नहीं रहा है।**

(There has been no gap in objectives and realised growth rates during plans.)

26. **नए आर्थिक सुधारों का उद्देश्य नियन्त्रण व्यवस्था के स्थान पर मुक्त व्यवस्था को अपनाना है।**

(The objective of new Economic Reforms is to adopt for economy in place of Controlled economy.)

27. **नए आर्थिक सुधारों का उद्देश्य है व्यापार नीति, मौद्रिक नीति तथा राजस्व नीति में कोई परिवर्तन न लाना।**

(The objective of new Economic Reforms is to make no changes in Trade Policy. Monetary Policy and Fiscal Policy.)

28. विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करना एक मुख्य आर्थिक सुधार है।
(To encourage foreign investment is own of main Economic Reform.)

29. भारत में राजकोषीय असन्तुलन का मुख्य कारण लोक व्यय में विवेकहीन व द्धि है।
(The main cause of fiscal imbalance in India is illogical increase in public expenditure.)

30. नए आर्थिक सुधारों की आवश्यकता कीमत में व द्धि के कारण नहीं है।
(The main Reason for necessary new economic Reforms in not an increase in Prices).

सही विकल्प चुनिए (Choose the correct alternative)

1. निम्नलिखित में से कौन-सी भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषता नहीं है-
(a) प्रति व्यक्ति आय में स्थिरता (b) उचित औद्योगीकरण का अभाव
(c) अशोषित प्राक तिक साधन (d) उच्च स्तरीय मानवीय पूंजी।

2. भारत जैसे अल्पविकसित देशों का मुख्य उद्देश्य होता है-
(a) जन्म दर को बढ़ाना (b) म त्यु दर को बढ़ाना
(c) आर्थिक विकास की गति को बढ़ाना (d) उपभोग स्तर को कम करना।

3. अल्पविकसित देशों में निर्धनता के दुष्चक्र का कारण है-
(a) कम आय (b) कम बचत
(c) कम निवेश (d) उपरोक्त सभी।

4. भारत में निम्न जीवन-स्तर का निम्नलिखित में से कौन-सा कारण नहीं है-
(a) निम्न प्रति व्यक्ति आय (b) उपभोग का निम्न स्तर
(c) सन्तुलित भोजन (d) इनमें से कोई नहीं।

5. भारत में क षि पर निर्भरता है-
(a) बहुत कम (b) बहुत अधिक
(c) सीमान्त (d) तुलनात्मक रुप से शून्य।

6. निम्नलिखित में से कौन से कर आय की असमानता को कम करने के लिए अधिक उपयुक्त है:
a. प्रगतिशील b. अनुपातिक
c. प्रतिगामी d. उद्योगामी।

7. निम्नलिखित में से कौन सा आय तथा सम्पत्ति की असमानता का कारण नहीं है:
a. मुद्रा स्फीति b. अप्रत्यक्ष करों का कम भार
c. उत्तराधिकार के नियम d. भ्रष्टाचार तथा समगलिंग।

8. आय की पूर्ण समानता वांछनीय नहीं है क्योंकि वह:

a. काम करने की प्रेरणा में बांधा डालती है

b. प्रतिस्पर्धा को कम करती है

c. पूंजी निर्माण को कम करती है

d. दोनों (a) तथा (c)

9. निम्नलिखित में से किस राज्य में आर्थिक विकास की दर तथा प्रति व्यक्ति आय सापेक्षता बहुत कम हैः

a. पंजाब b. आय तथा उपभोग की असमानता

c. बिहार d. ये सभी।

10. भारत में वितरण सम्बन्धी समानताएं निम्नलिखित में से कौन सी हैं?

a. परिसम्पत्ति की असमानता b. आय तथा उपभोग की असमानता

c. क्षेत्रीय असमानता d. ये सभी।

11. निम्नलिखित में से कौन-सा भारत में योजनाओं के दौरान विकास की धीमी दर का जिम्मेवार है,

(a) प्रशासनिक (b) राजनैतिक

(c) प्राकृतिक (d) उपरोक्त सभी।

12. निम्नलिखित में से भारतीय नियोजन का कौन-सा उद्देश्य नहीं है,

(a) सामाजिक न्याय (b) आत्मनिर्भरता

(c) बचत तथा निवेश में कमी (d) आर्थिक स्थिरता।

13. योजना आयोग के उपाध्यक्ष (Deputy Chairman) कौन हैं,

(a) प्रधानमन्त्री (b) वित्त मन्त्री

(c) वाणिज्य मन्त्री (d) इनमें से कोई भी नहीं।

14. भारतीय नियोजन की रणनीति किस क्षेत्र को अधिक महत्त्व देना था,

(a) निजी (b) सार्वजनिक

(c) संयुक्त (d) ये सभी।

15. 52 वर्ष के नियोजन के बाद भी भारत में बेरोजगारों की संख्या है,

(a) 2.66 लाख (b) 100 लाख

(c) 90 लाख (d) 80 लाख।

उपयुक्त शब्द छांटकर दिए हुए वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति करें।

(Fill up the blanks with appropriate words)

1. जनसंख्या का दबाव भारत के आर्थिक विकास के मार्ग में _____ बाधा है।

(कम, बड़ी)

(Population pressure is a _____ obstacle in the economic growth of India.)

(minor, major)

2. भारत में अधिकांश लोग सन्तुलित आहार _____ करते हैं।

(प्राप्त, नहीं प्राप्त)

(Most of the people in India _____ balanced diet.)

(get, do not get)

3. भारत के उद्यमी _____ द्वारा तुरन्त लाभ प्राप्त करना चाहते हैं।

(सट्टेबाज़ी, बैंकिंग)

(Indian entrepreseurs wish to achieve immediate gains through _____)

(speculation, banking)

4. यातायात के साधनों का कम विकास वस्तुओं तथा श्रम की गतिशीलता पर _____ प्रभाव डालता है।

(अनुकूल, प्रतिकूल)

(Less development of means of transportation has on _____ effect on mobility of labour and goods.)

(positive, adverse)

5. पंचवर्षीय योजनाओं में रोज़गार के स्तर को बढ़ाने वाले प्रयत्नों ने _____ परिणाम दिए हैं।

(उत्साहजनक, निराशाजनक)

(The efforts to increase employment level during five year plans have given _____ results.)

(enthusiastic, pessimistic)

6. भारत में प्रति व्यक्ति न्यूत्तम आय वाला राज्य _____ है।

(बिहार, उड़ीसा)

(The state with lowest per capita in India is _____.)

(Bihar, Orissa)

7. भारत में निर्धनता रेखा से नीचे की जनसंख्या का भाग सगसे कम _____ में है।

(हरियाणा, पंजाब, गुजरात)

(The Lowest portion of population below poverty line less in _____.)

(Haryana, Punjab, Gujrat)

8. भारत में ऐसा कौन-सा गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम चलाया गया था जिसमें बैंक की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

(IRDP, MNP)

(Name the Poverty-Alleviation programme, in which Bank played a significant Role.)

(IRDP, MNP)

9. भारत में पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में निर्धनता रेखा से नीचे लोगों की संख्या में _____ हुई है।

(कमी, व द्धि)

(In India, during Planning Period, these has been _____in the number of pepole living below the poverty line.)

(Decrease, Increases)

10. कुल जनसंख्या में निर्धन जनसंख्या का प्रतिशत _____ है।

(26%, 28%)

11. भारत में 'गरीबी हटाओ' का नारा _____ पंचवर्षीय योजना में दिया गया।

(पाँचवीं, आठवीं)

(The slogan of "Poverty Alleviation" was given in _____ plan.)

(4th, 8th)

12. भारत में निर्धनता को कम करने के लिए _____ में व द्धि की जाए।

(आय की असमानता, रोज़गार)

(In order to reduce poverty in India, these should be an increase in _____)

(Inequality of Income, Employment)

13. वर्तमान में भारत में निर्धनों की कुल संख्या _____ है।

(26 करोड़, 30 करोड़)

(The number of Poor persons in India at present is _____

(26 Crore, 30 Crore)

14. भारत में कुल जनसंख्या के _____ प्रतिशत लोग निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे है।

(26, 30)

(In India, out of total population _____ percent are living under below poverty line.)

(26, 30)

15. आय की पूर्ण समानता आसान _____. (है, नहीं है)

(Complete equality of India _____easy. (is, is not

16. सम्पत्ति तथा आय के केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए लघु उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन सहायक सिद्ध _____. (होगा, नहीं होगा)

(The encouragement to small scale industries _____ be helpful in checking centralisation of income and wealth). (would be, would not be)

17. कीमतों में व द्धि के फलस्वरूप निर्धन वर्ग की वास्तविक आय _____हुई है।

(व द्धि, कमी)

(The real income of poor has _____ due to inflation)

(increased, decreased)

18. श्रम की _____ बेरोज़गारी कस एक मुख्य कारण है।

(गतिशीलता, गतिहीनता)

(The main cause of unemployment is _____ of labour.)

(Mobility, Immobility)

19. छिपी हुई बेरोज़गारी कहाँ पाई जाती है? _____ में।

(कृषि क्षेत्र, औद्योगिक क्षेत्र)

(Where is Disguised Unemployment found? In _____)

(Agri. Sector, Industrial Sector)

20. देश में रोज़गार बढ़ाने के लिए पूँजी-उत्पाद अनुपात को _____ रखा जाना चाहिए।

(कम, अधिक)

(In order to increase employment _____ in the country.)

(Less, More)

21. कृषि की मौसमी प्रकृति के कारण _____ फैलता है।

(छिपी बेरोज़गारी, अल्प-रोज़गार)

(Due to seasonal character of Agriculture, _____ is generated.)

(Disguised Unemployment, Under Employment)

22. बेरोज़गारी के फलस्वरूप औद्योगिक झगड़ों में _____ होती है।

(कमी, व द्धि)

(Due to unemployment there is _____ in Industrial Disputes.)

(Decrease, Increase)

23. भारतीय नियोजन की व्यूह रचना _____ है।

(आत्मनिर्भरता, निर्भरता)

(The strategy of Indian planning is _____)

(self reliance, reliance)

24. किसी भी योजना की सफलता उसके _____ लक्ष्यों की प्राप्ति से आंकी जानी चाहिए।

(वित्तीय, भौतिक)

(The success of any plan should be measured through the achievement of its _____ objectives.)

(Financial, physical)

25. **पांचवी पंचवर्षीय योजना _____ साल में समाप्त हो गई।**

(चार, तीन)

(The fifth five year plan ended within _____ years.

(four, three)

26. **एक सफल योजना वह है जिसकी कार्यकरण अवधि** (Gestation Period) _____ **हो।** **(कम से कम, अधिकतम)**

(A successful plan is that whose gestation period is _____)

(the least, maximum)

27. **सातवीं योजना अपने विकास दर के लक्ष्य को पूरा करने में _____ हुई।** **(सफल, सफल नहीं)**

(Seventh plan _____ to achieve the growth rate.)

(succeeded, failed)

28. **आर्थिक सुधारों का उद्देश्य है उत्पादकता तथा कुशलता में .....करना।**
(व द्धि, कमी)

(The objective of Economic Reforms is to have..... in Productivity and Efficiency).

(Decrease, Increase)

29. **आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत उदारीकरण में लघु उद्योगों की निवेश सीमा में..... ..... करना है।**

(व द्धि, कमी)

(In Liberalisation, under Economic Reforms, the objective is to make.....in the Investment.)

(Decrease, Increase)

30. **आर्थिक सुधारों की आवश्यकता का कारण है कि विदेशी विनिमय के भण्डारों में... .....।**

(कमी, व द्धि)

(The urgency of Economic Reforms arose because of.....in the Reserves of foreign exchange.)

(Decrease, Increase)

31. **आर्थिक सुधारों की आवश्यकता का कारण है, सार्वजनिक उद्यमों की .....।,**
(सफलता, असफलता)

(The Main Reason of Economic Reforms is.....of Public Sector.)

(Success, Failure)

32. आर्थिक सुधार की आवश्यकता का मुख्य कारण है प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन में .....।

(व द्धि, कमी)

(The urgency of Economic Reforms arose because of.....in adverse Balance of Payment)

(Increase, Decrease)

33. आर्थिक सुधारों का उद्देश्य है अर्थव्यवस्था में.....प्रतियोगी वातावरण तैयार करना।

(अधिक, कम)

(The objective of Economic Reforms in create.....competitive atmosphere in the Ecomomy.)

(More, Less)

34. निजीकरण में सार्वजनिक क्षेत्र का ..... किया जाएगा।

(संकुचन, विस्तार)

(In private Sector, these world be ..... of Public Sector.) (Contraction, Expansion)

35. आर्थिक सुधारों में निजीकरण में निजी क्षेत्र का कुल निवेश का .....भाग होगा।

(अधिक, कम)

(In Privatisation under Economic Reforms there would be.....Portion of Private Investment in total Investment.)

(More, Less)

36. विश्वीकरण के फलस्वरूप निर्धनता तथा असमानता में ..... आएगी।

(कमी, व द्धि)

(Due to Globalisation, there would be.....in Poverty and Inequality.)

(Decrease, Increase)

37. विश्वीकरण में विदेशी निवेश के प्रतिशत में ..... की जाएगी। (व द्धि, कमी)

(In Globalisation, these would be.....in the percentage of foreign Investment.)

(Decrease, Increase)

लघु/परिभाषा रुपी प्रश्न (Short/Definitional Type Questions)

1. भारतीय अर्थव्यवस्था किस प्रकार एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था है।

(How is Indian economy an under developed economy?)

2. भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रक ति क्या है?

(What is nature of Indian Economy?)

3. भारतीय अर्थव्यवस्था किस प्रकार एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है?

(How is Indian economy a mixed economy?)

4. **सामाजिक आधारिक संरचना के विकास से क्या अभिप्राय है?**

(What is meant by social based composition.)

5. **भारत की वर्तमान में औसत आयु** 1960 **की तुलना में कितनी है?**

(What is the current average age as compared to 1960.)

6. **निर्धनता रेखा क्या है?**

(What is Poverty line?)

7. **निर्धनता के दो मुख्य कारण क्या हैं?**

(What are the two main causes of poverty?)

8. **निर्धनता को दूर करने के लिए क्या उपाय किया जाना चाहिए?**

(What steps should be taken to eradicate poverty?)

9. **न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम से क्या अभिप्राय है?**

(What is minimum needs programme (MNP)?)

10. **निर्धनता से क्या अभिप्राय है?**

(What is meant by poverty?)

11. **सापेक्ष निर्धनता क्या है?**

(What is relative poverty?)

12. **निरपेक्ष निर्धनता क्या है?**

(What is absolute poverty?)

13. **भारत में निर्धनता रेखा से नीचे की धारणा का क्या अभिप्राय है?**

(What is meant by poverty line in India?)

14. **सर्वशिक्षा अभियान** 2003 **क्या है?**

(What is SSA 2003?)

15. **अन्नापूर्णा योजना क्या है?**

(What is Annapoorna Yojna?)

16. **राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम क्या है?**

(What is National Social Assistance Programme?)

17. **शिक्षा सहयोग योजना क्या है?**

(What is Shiksha Sahayog Yojna)

18. **प्रौद्योगिक बेरोज़गारी को कम करने के लिए दो उपाय सुझाइए।**

(Suggest two remedies for reducing technical unemployment.)

19. **भारत में रोज़गार समस्या के मुख्य पहलू कौन-से हैं?**

(What are the main aspects of employment problem in India?)

20. **गुप्त बेरोज़गारी के अर्थ की व्याख्या करते हुए इसका एक उपयुक्त उदाहरण भी दीजिए।**

(Explain the meaning of disguised unemployment. Give its suitable examples.)

21. **भारत की विकास नीति में रोज़गार को इतना महत्त्व क्यों दिया गया है?**

(Why so much importance has been given to employment in India's development strategy?)

22. **प्रौद्योगिक बेरोज़गारी किसे कहते हैं? इसके दो उदाहरण दीजिए।**

(What is Technical Unemployment? Give its two examples.)

23. **बेरोज़गारी के चार कारणों की व्याख्या करें।**

(Explain four causes of unemployment in India.)

24. **भारत में ग्रामीण बेरोज़गारी को कम करने के दो उपाय सुझाइए।**

(Suggest two remedies for reducing rural unemployment in India.)

25. **भारत में बेरोज़गारी की स्थिति पर जनसंख्या व द्धि ने कहां तक विपरीत प्रभाव डाला है?**

(To what extent increase in population has affected employment situation in India?)

26. **मौसमी बेरोज़गारी क्या है?**

(What is a seasonal unemployment?)

27. **औद्योगिक बेरोज़गारी से क्या अभिप्राय है?**

(What is meant by industrial un-employment?)

28. **बेरोज़गारी से क्या अभिप्राय है?**

(What is meant by Unemployment?)

29. **अल्प-रोज़गार की परिभाषा दें।**

(Define Under-employment.)

30. **संरचनात्मक बेरोज़गारी से क्या अभिप्राय है?**

(What is meant by structural unemployment?)

31. **अद श्य बेरोज़गारी से क्या अभिप्राय है?**

(What is meant by disguised unemployment?)

32. **बेरोज़गारी के पांच प्रकार बताइए।**

(Give five kinds of Unemployment.)

33. **ग्रामीण बेरोज़गारी के दो प्रकार क्या हैं?**

(What are the two types of rural unemployment?)

34. **भारत सरकार द्वारा बेरोज़गारी दूर करने के लिए अभी हाल ही में अपनाए जाने वाले तीन कार्यक्रमों के नाम लिखें।**

(Name the three main programmes started by the government to reduce unemployment in recent years.)

35. **भारत की रोज़गार की समस्या के तीन मुख्य पहलू कौन-से हैं?**

(What are the three main aspects of employment problem in India?)

36. **स्वर्ण जयन्ती ग्रामीण स्वरोज़गार योजना क्या है?**

(What is Swaran Jayanti Gramin Savrojgar Yojana?)

37. **भारत में शहरी बेरोज़गारी के दो प्रकार क्या हैं?**

(What are the two types of urban unemployment in India?)

38. **भारत में बेरोज़गारी का वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है?**

(What is meant by industrial un-employment?)

39. **भारत की योजनाओं का मुख्य उद्देश्य क्या है?**

(What are main objectives of Indian plans?)

40. **भारत में अब तक कितनी योजनाएं लागू की गई हैं?**

(How many plans have been Implemented in India?)

41. **योजना आयोग के अध्यक्ष कौन होते हैं?**

(Who is chairman of Indian Planning Commission?)

42. **भारत में योजनाओं का निर्माण कौन करता है?**

(Who formulates plans in India?)

43. **आर्थिक नियोजन से क्या अभिप्राय है?**

(What is economic planning?)

44. **पांचवीं योजना की क्या अवधि थी?**

(What was the tenure of fifth five year plan?)

45. **आत्मनिर्भरता से क्या अभिप्राय है?**

(What is self reliance?

46. **मुख्य नए आर्थिक सुधार कौन-से हैं?**

(What are the main New Economic Reforms?)

47. **नई आर्थिक नीति क्या है? अथवा नए आर्थिक सुधार क्या हैं?**

(What is New Economic Policy? Or What are New Economic Reforms?)

48. **नए आर्थिक सुधारों की व्याख्या क्या थी?**

(What was the need of Economic reforms?)

49. **भारत में आर्थिक संकट के तीन मुख्य कारण क्या थे?**

(What were the three main causes of Economic Crisis in India?)

50. **निजीकरण से क्या अभिप्राय है?**

(What is Privatization?)

51. **उदारीकरण से क्या अभिप्राय है?**

(What is Liberalization?)

52. **विश्वीकरण से क्या अभिप्राय है?**

(What is Globalization?)

53. **निजीकरण के कौन-से उपाय अपनाए गए हैं?**

(What are the measures of Privatization?)

54. **विश्वीकरण से क्या उपाय अपनाए गए हैं?**

(What are the measures of Globalization?)

55. **नए आर्थिक सुधारों में उदारीकरण के कौन से उपाय अपनाए गए हैं?**

(Which measures of liberalization have been adopted in New Reforms?)

56. **राजकोषीय सुधारों से क्या अभिप्राय है?**

(What are Fiscal Reforms?)

57. **समष्टि आर्थिक स्थिरीकरण क्या है?**

(What is Macro Economic Stabilisation?)

(i) **मुद्रा स्फीति की नीची व स्थिर दर,** (ii) **राजकोषीय सन्तुलन तथा** (iii) **भुगतान सन्तुलन की समर्थ नीति।**

58. **ढांचागत सुधार क्या है?**

(What are Structural Reforms?)

इकाई-IV

भारतीय कृषि एवं औद्योगिक स्वरूप
(Indian Agriculture and Industrial Structure)

भारतीय कृषि : प्रकृति तथा महत्त्व
(Indian Agriculture: Nature and Importance)

भूमिका
Introduction

संसार के निर्धन देशों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वर्ग-संघर्ष न श्रम और पूंजी के बीच है और न ही विदेशी और राष्ट्रीय हितों के बीच। सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग-संघर्ष ग्रामीण व शहरी वर्गों के बीच है।

कृषि समस्त उद्योगों की जननी, मानव-जीवन की पोषक, प्रगति का सूचक तथा सम्पन्नता का प्रतीक समझी जाती है। तीव्र आर्थिक विकास की ओर उन्मुख वर्तमान गतिशील विश्व के समस्त विकसित एवं विकासशील देश अपने उपलब्ध संसाधनों को अपनी परिस्थितियों एवं क्षमताओं के अनुरूप यथासम्भव अनुकूलतम उपयोग कर कृषि उत्पादों में परिणामस्वरूप एवं गुणात्मक सुधार तथा प्रगतिशील एवं व्यावसायिक कृषि के विकास हेतु सचेत एवं प्रयासरत हैं।

भारत जैसे अल्पविकसित राष्ट्रों में प्रधान व्यवसाय होने के कारण कृषि राष्ट्रीय विकास आय का सबसे बड़ा स्त्रोत, रोजगार एवं जीविका का प्रमुख साधन, औद्योगिक विकास, वाणिज्य एवं व्यापार का आधर है। ये निर्धन एवं विकासशील राष्ट्र अपने सीमित साधनों द्वारा आर्थिक विकास की ऊंची दर तब तक नहीं प्राप्त कर सकते जब तक कि वे आधारभूत कृषि उद्योग का विकास न कर लें। प्रो. गुन्नर मिर्डन के अनुसार, ''भारत की दीर्घकालीन आर्थिक विकास की लड़ाई कृषि क्षेत्र में जीती या हारी जाएगी।''

आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका
Role of Agriculture in Economic Development

कृषि समस्त उद्योगों की जननी तथा औद्योगीकरण का मूल आधार है। कोई भी अल्पविकसित देश, जिसका प्रमुख व्यवसाय कृषि है अपने सीमित साधनों द्वारा आर्थिक विकास की ऊंची दर तक तक नहीं प्राप्त कर सकता, जब तक वह अपने आधारभूत कृषि उद्योग को विकसित नहीं कर सकता।

प्रो. कुजनेटस (Prof. Kuznets) ने आर्थिक विकास के कृषि की भूमिका को चार भागों में बांटा है-

1. **उत्पादन योगदान** (Production Contribution): खाद्यान्नों एवं अन्य कृषिगत उत्पादों में व द्धि द्वारा कृषि क्षेत्र उत्पादकीय भूमिका निभाता है।
2. **बाजार योगदान** (Market Contribution): यह अन्य क्षेत्रों से व्यापार सम्बंधों द्वारा बाजारीय भूमिका निभाता है।
3. **साधन योगदान** (Factor Contribution): अन्य क्षेत्रों को श्रम शक्ति की पूर्ति करने में कृषि क्षेत्र महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।
4. **विदेशी विनिमय में योगदान** (Foreign Exchange Contribution): कृषि क्षेत्र के उत्पादन का निर्यात करके, विदेशी पूंजी कोष में व द्धि हो जाती है।

प्रमुख अर्थशास्त्री किण्डलबर्जर (Kindleberger) के अनुसार कृषि क्षेत्र आर्थिक विकास में मदद अग्रलिखित छः महत्त्वपूर्ण कारकों की सहायता से करता है-

1. कृषि उद्योगों को श्रमिक प्रदान करता है, क्योंकि प्रो. रोस्टोव के अनुसार कृषि औद्योगिक विकास की आधारशिला है और कृषि उत्पादन औद्योगीकरण के लिए मूलभूत कार्यशील पूँजी है।
2. कृषि, औद्योगिक उत्पादन के लिए कच्चा माल उत्पन्न करता है।
3. कृषि, उद्योगों तथा सरकार के लिए बचत प्रदान करता है।
4. कृषि क्षेत्र कर प्रदान करता है।
5. कृषि द्वारा विनिमय प्राप्त हो सकता है।
6. कृषि, मुख्य क्षेत्रों को महत्त्वपूर्ण पूंजीगत उपकरण और कच्चा माल प्रदान कर सकता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्त्व
(Importance of Agriculture in Indian Economy)

प्रो. शुलट्ज के अनुसार ''कोई भी अविकसित राष्ट्र खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त किए बिना आर्थिक विकास की कल्पना नहीं कर सकता।''

अन्य अल्पविकसित देशों की भाँन्ति भारत भी मूलरूप से एक कृषि-प्रधान देश है। देश की 61 प्रतिशत श्रम-शक्ति, अपनी आजीविका इस क्षेत्र से प्राप्त करती है तथा राष्ट्रीय आय का 29 प्रतिशत भाग कृषि क्षेत्र से प्राप्त होता है। भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और आज भी यह महत्त्वपूर्ण है। विगत तीन दशकों से भी अधिक अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में हुए संगठित प्रयास के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का गौरवपूर्ण स्थान बना हुआ है। देश के उद्योग-धन्धे, विदेश व्यापार, विदेशी मुद्रा एवं निर्यात विभिन्न योजनाओं की सफलता यहां तक कि राजनितिक स्थायित्व भी कृषि पर ही निर्भर करता है।

निम्नलिखित तत्त्व भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्त्व को स्पष्ट करते हैं-

1. **राष्ट्रीय आय में महत्त्वपूर्ण योगदान (Significant Contribution in National Income):** देश की राष्ट्रीय आय में कृषि क्षेत्र का योगदान अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक

है। 1950-51 में सकल घरेलु उत्पाद (GDP) में कृषि का योगदान 56.46 प्रतिशत से घटकर 2001–02 में 26.1 प्रतिशत हो गया है। यह प्रकृति देश के आर्थिक विकास का सूचक है। यद्यपि विकसित देशों में कृषि बहुत विकसित है तथापि इन देशों की_कृषि पर निर्भरता बहुत कम है। उदाहरण के लिए अमेरिका और इंग्लैण्ड के कृषि से केवल राष्ट्रीय आय का 3 प्रतिशत होता है। इससे सिद्ध होता है कि जैसे-जैसे कोई देश विकास करता है, उसकी कृषि पर निर्भरता कम होती जाती है।

2. **रोजगार में योगदान (Contribution in Employment):** भारत में कृषि प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अधिकांश जनसंख्या का आजीविका का साधन है। लगभग 58.4 प्रतिशत देश की कार्यशील जनसंख्या प्रत्यक्ष रूप से कृषि व्यवसाय में लगी है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से लोग कृषि-पदार्थों के व्यापार, परिवहन आदि में लगकर अपनी आजीविका कमाते हैं। अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों का उपयुक्त विकास न होने के कारण उनमें रोजगार अवसरों में व द्धि बहुत कम हो पाई है जिसके फलस्वरूप मजबूरन बहुत से लोगों को कृषि पर काम करना पड़ता है हालांकि भूमि पर उनकी सीमान्त उत्पादकता बहुत कम है। अधिकतर अल्पविकसित देशों में कार्यकारी जनसंख्या की कृषि पर अत्यधिक निर्भरता दिखाई देती है। जबकि इसके विपरीत, विकसित देशों में जनसंख्या का एक बहुत छोटा-सा भाग कृषि में लगा हुआ है। जापान में केवल 5 प्रतिशत, फ्रांस में 4 प्रतिशत, इंग्लैण्ड व अमेरिका में मात्र 2 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर करती है।

3. **मजदूरी पदार्थों की पूर्ति (Supply of wage goods):** मजदूरी पदार्थ वे पदार्थ हैं जिसे देश की जनता अपनी जीवन योग्य आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए प्रयोग करती है। जैसे गेहूँ, चावल, बाजरा, तिलहन एवं मक्का आदि कृषि वस्तुओं को इनमें शामिल किया जाता है। भारत में कृषि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान देश की विशाल एवं बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए पर्याप्त मात्रा में खाद्य सामग्री (मजदूरी पदार्थ) को उपलब्ध कराना है। खेती की असन्तोषजनक स्थिति एवं तेज गति से बढ़ रही जनसंख्या के कारण कभी-कभी सीमित मात्रा में दूसरे देशों से खाद्यान्न आयात करना पड़ता है। फिर भी अनाज की कुल उपलब्धता में आयात का भाग अपेक्षाकृत बहुत कम रहता है। इसके अतिरिक्त देश के लगभग 42 करोड़ पशुओं का चारा कृषि से प्राप्त होता है।

4. **उद्योगों का आधार (Basis of Industry):** कृषि देश के अनेक छोटे-बड़े उद्योगों का आधार भी है। सूती वस्त्र, चीनी, पटसन, चाय, कॉफी, रबड़, वनस्पति घी, तेल, आदि अनेक उद्योग अपने कच्चे माल के लिए मुख्य रूप से देश की कृषि पर ही निर्भर हैं। लघु उद्योगों में चावल, आटा, तेल आदि अनेक उद्योग अपने कच्चे माल के लिए मुख्य रूप से देश की कृषि पर ही निर्भर हैं। लघु उद्योगों में चावल, आटा, तेल व दालें आदि की मिलों का कच्चा माल कृषि से ही प्राप्त होता है। किसी ने ठीक ही कहा है कृषि उत्पादन औद्योगीकरण के लिए आधारभूत कार्यशील पूंजी है।

5. **परिवहन से साधनों की आय का स्त्रोत (Source of Revenue of Means of Transportation):** देश में कृषि उत्पादन के सम्बन्ध में भारी प्रादेशिक अन्तरों के कारण रेल, मोटर आदि परिवहन के साधनों की आय का काफी बड़ा भाग कृषि पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त गांव एवं देहात से शहर की मंडियों तक कृषि पदार्थों की ढुलाई से सम्बद्ध परिवहन के

परम्परागत और आधुनिक साधनों की आय का आधार भी कृषि ही है।

6. **विदेशी व्यापार में महत्व (Significant in Foreign Trade):** विदेशी व्यापार की द ष्टि से भी कृषि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। देश के कुल निर्यात का लगभग 15 प्रतिशत भाग कृषि पदार्थों तथा कृषि से सम्बन्धित पदार्थों का होता है। भारत में निर्यात की जाने वाली प्रमुख वस्तुएं हैं- कॉफी, चाय, चावल, काजू, गरम मसाले तथा कपास आदि। विगत कुछ वर्षों में भारत के कृषि उत्पादों के निर्यात की मात्रा व मूल्य दोनों में व द्धि हुई है जो कि आर्थिक विकास के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

7. **भूमि का सर्वाधिक उपयोग कृषि के लिए (Land—Maximum in Agriculture):** वर्तमान समय में देश में उपलब्ध कुल 32.85 करोड़ हैक्टेयर भूमि का क्षेत्रफल में से लगभग 14.2 करोड़ हैक्टेयर भूमि पर खेती की जाती है जो कुल भूमि क्षेत्रफल का लगभग 43.2 प्रतिशत है। इस तरह देश में भूमि क्षेत्रफल का सर्वाधिक भाग खेती के काम में आता है।

8. **राजस्व में योगदान (Contribution in Revenue):** देश की सरकारी बजट कृषि क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित होता है। देश में कराधान, ऋण तथा व्यय सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण मुख्य रूप से कृषि उत्पादन की मात्रा के आधार पर किया जाता है। देश में प्रति वर्ष कृषि विकास पर भारी मात्रा में धन व्यय किया जाता है तथा देश को प्रति वर्ष करोड़ों रुपये से आय मालगुजारी तथा कृषि आय कर से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त कृषि वस्तुओं के निर्यात से सरकार से सरकार को राजस्व की अतिरिक्त प्राप्ति भी हर वर्ष होती है।

9. **अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व (International Significance):** अन्तर्राष्ट्रीय द ष्टि से भी भारतीय कृषि का स्थान ऊंचा है। अनेक कृषि पदार्थों के उत्पादन में भारत को विश्व में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उदाहरण के लिए मूंगफली तथा चाय के उत्पादन में भारत का विश्व में प्रथम स्थान है, जबकि चावल, कपास, गन्ना तथा जूट में द्वितीय स्थान, तम्बाकू के उत्पादन में तीसरा स्थान तथा प्राकृतिक रबड़ के उत्पादन में पांचवां स्थान है। लाख के उत्पादन में तो भारत का एकाधिकार है।

10. **सामान्य मूल्य स्तर पर प्रभाव (Effect on General Price Level):** अन्य अल्पविकसित देशों भान्ति भारत में भी लोगों की आय का अधिकांश भाग खाद्यान्नों एवं अन्य कृषिजन्य पदार्थों पर ही खर्च किया जाता है क्योंकि ये जीवन की आवश्यकताएं हैं। निम्न आय-स्तर के कारण लोगों का खाद्यान्न, उपभोग स्तर पर भी बहुत नीचा है तथा खाद्यान्न मांग के प्रति आय की लोच अधिक है। फलस्वरूप खाद्यान्न-उत्पादन में उतार-चढ़ाव आने से कृषि मूल्यों ने भी अत्यधिक उतार-चढ़ाव आते हैं तथा इसका बुरा प्रभाव सामान्य मूल्य स्तर पर भी पड़ता है। इसलिए सामान्य मूल्य में स्थिरता बनाए रखना आवश्यक होता है। इस तरह कृषि उत्पादन व कृषि मूल्यों का रहन-सहन की लागत पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस कारण कृषि क्षेत्र का भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

11. **सामाजिक व राजनीतिक महत्त्व (Social and Political Relevance):** जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग कृषि पर आश्रित रहने के कारण भारत में कृषि का सामाजिक एवं राजनीतिक महत्त्व बहुत अधिक है। कृषि भारतीय संस्कृति का रक्षक है। कृषि की व्यावसायिक स्थिरता, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिरता को भी प्रभावित करती है।

संक्षेप में, भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का विशिष्ट स्थान है। अर्थव्यवस्था के विकास की गति भी कृषि क्षेत्र की सफलता पर निर्भर करती है।

भारतीय कृषि की मुख्य विशेषताएं
(Main Features of Indian Agriculture)

भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **आजीविका का प्रमुख साधन (Main Source of Livelihood):** भारत की कुल जनसंख्या का 72.2 प्रतिशत भाग गांवों में रहता है जहां लोगों की आजीविका का साधन कृषि है। यहां कुल कार्यशील जनसंख्या का 58.4 प्रतिशत भाग कृषि कार्यों में लगा हुआ है। जिसमें 31.7 प्रतिशत कृषि कृषक है तथा शेष खेतिहर मजदूर के रूप में कार्य करते हैं।

2. **छोटी तथा अनार्थिक जोतें (Small and Uneconomic Holding):** भारत में कृषि जोतों का आकार छोटा है। यह भूमि पर जनसंख्या के भारी दबाव, ऊंचे जनसंख्या घनत्व तथा उत्तराधिकार के दोषपूर्ण नियमों का परिणाम है। भूमि के उपविभाजन तथा विखण्डन से ये जोतें और अनार्थिक हो गई हैं। यहां जोत का औसत आकार 1.55 हैक्टेयर है तथा 59.4 प्रतिशत जोतें एक हैक्टेयर से कम है और मात्र 1.6 प्रतिशत जोतें 10 हैक्टेयर से अधिक हैं।

   जबकि विदेशों में जोत का आकार इससे कई गुना अधिक है। ऑस्ट्रेलिया में जोत का औसत आकार 1,933 हैक्टेयर, कनाडा में 188 हैक्टेयर, अमेरिका में 158 हैक्टेयर तथा ब्रिटेन में 55 हैक्टेयर है। खेतों के आकार छोटे होने से जहां एक तरफ वैज्ञानिक ढंग से खेती नहीं हो पाती वहीं दूसरी ओर समय, पूंजी, श्रम तथा पशु शक्ति का अपव्यय होता है।

3. **उत्पादन की परम्परागत तकनीक (Traditional Technique of Promotion):** भारतीय कृषि की एक विशेषता यह है कि यहां अभी भी अधिकांश खेती उत्पादन की पुरानी तकनीकों के आधार पर ही होती है। यहां कृषि का यथोचित पंजीकरण नहीं हो पाया है।

4. **खाद्यान्न फसलों को प्रधानता (Predominance of Food Crops):** भारतीय कृषि में खाद्यान्न फसलों की प्रमुखता है। यहां कृषि के प्रयोग में पाई जाने वाली कुल भूमि में 66 प्रतिशत भाग खाद्यान्न फसलों के उत्पादन में काम आता है तथा शेष 34 प्रतिशत भाग अन्य व्यावसायिक फसलों के काम में लाया जाता है। देश के कृषि उत्पादन ने खाद्यान्नों का योगदान लगभग 64 प्रतिशत है।

5. **निम्न कृषि उत्पादकता (Low Agriculture Productivity):** अन्य देशों की तुलना में भारत में कृषि उत्पादकता बहुत कम है। यहां प्रति हैक्टेयर तथा प्रति श्रमिक उत्पादकता स्तर दोनों ही बहुत कम हैं। भारत में एक हैक्टेयर भूमि में गेहूँ 2,470 किलोग्राम पैदा होता है, जबकि ब्रिटेन में एक हैक्टेयर भूमि में 6,910 किलोग्राम गेंहूँ पैदा होता है।

6. **मानसून पर निर्भरता (Dependence on Monsoon):** भारतीय कृषि को मानसून का जुआ कहा जाता है। यदि किसी वर्ष वर्षा अच्छी हो जाती है तो कृषि उत्पादन बढ़ जाता है। इसके निर्धारित वर्षा कम होने पर कृषि उत्पादन काफी कम हो जाता

है। आर्थिक नियोजन के 52 वर्षों के उपरान्त अभी भी कुल कृषि भूमि का लगभग 62 प्रतिशत क्षेत्र को सिंचाई की सुविधा नहीं मिल पाई है। इसी तरह, यहां अभी भी कुल कृषि योग्य भूमि का 38 प्रतिशत भाग ही ऐसा है जिसे सिंचाई की सुविधा मिलती है।

7. **श्रम प्रधान व्यवसाय (Labour Dominated Occupation):** भारतीय कृषि एक श्रम प्रधान व्यवसाय है। इसमें पूंजी की अपेक्षा श्रम का अधिक प्रयोग होता है। इसका एक कारण कृषि जोतों का का आकार बहुत छोटा होता है जिसमें यन्त्रों का प्रयोग नहीं हो पाता तथा दूसरा कारण किसानों का गरीब होना है जिनके पास कृषि यन्त्रों एवं उपकरणों को खरीदने हेतु पर्याप्त पूंजी का आभाव रहता है। इसके अतिरिक्त देश में जनसंख्या की अधिकता के कारण श्रम शक्ति का भी अधिक्य रहता है जिसे अन्य जगह रोजगार न मिलने के कारण कृषि में ही कार्य करना पड़ता है।

8. **विपणन आधिक्य की कमी (Lack of Marketable Surplus):** भारत में कृषि में उत्पादन तथा उत्पादकता दोनों ही कम हैं। पूंजी एवं अन्य सुविधाओं के आभाव में यहां किसान उतना ही उत्पादन कर पाता है जितना की उसको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। (अन्य शब्दों में, भारत में जीवन निर्वाह योग्य खेती (Subsitance Farming) ही की जाती है) भारतीय किसान के पास विपणन आधिक्य या तो रहता ही नहीं और यदि रहता भी है तो बहुत कम। इसलिए कहा जा सकता है कि भारतीय कृषि एक व्यवसाय नहीं बल्कि आजीविका चलाने का साधन है।

9. **कृषि में अर्ध-रोजगार की स्थिति (Under-employment in Agriculture):** भारतीय कृषि की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि यहां कृषि कार्य में लगे सभी लोगों को पूरे वर्ष भर रोजगार की सुविधाएं उपलब्ध नहीं हो पाती। यहां किसान 150 से 270 दिनों तक बेकार रहते हैं। इसलिए भारतीय कृषि में अल्प-रोजगार एवं अर्ध-बेरोजगारी की समस्या मौजूद है।

कृषि उत्पादन
(Agriculture Production)

किसी भी कृषि प्रधान देश में कृषि उत्पादन में होने वाले परिवर्तन का बहुत अधिक महत्त्व है। भारत में जनाधिक्य होने तथा जनसंख्या की व द्धि दर अधिक होने के कारण कृषि उत्पादन की मांग निरन्तर बढ़ती जा रही है। परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में उसी दर में व द्धि न होने से ये अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत कृषि उत्पादन में उचित दर से व द्धि होने पर आर्थिक विकास पर (अनुकूल) प्रभाव पड़ता है। अतः कृषि उत्पादन में होने वाली परिवर्तन की प्रव त्ति अग लिखित तालिका से स्पष्ट हो जाती है-

योजनाकाल के दौरान किए गए व्यापक प्रयासों के फलस्वरूप खाद्यान्नों के उत्पादन में लगभग 4 गुना व द्धि हो गई है। 1950–51 में खाद्यान्नों का कुल उत्पादन 51 मिलियन टन था जो बढ़कर 2001–02 में 212.0 मिलियन टन हो गया। अनुभव है कि वर्ष 2002-03 में खाद्यान्नों का कुल उत्पादन 183.2 मिलियन टन होगा। गेहूँ के उत्पादन में लगभग 11 गुना उत्पादन 1950–51 में 57 मिलियन टन था, जो 2001–02 में बढ़कर 300.1 मिलियन टन हो गया।

तालिका

भारत में प्रमुख फसलों के उत्पादन की प्रवृत्तियां (मिलियन टन)

फसलें	1950-51	1960–61	1970–71	1980–81	1990–91	2000–01	2001–02	2002–03
सभी खाद्यान्न	50.82	82.0	108.4	129.6	178.6	195.9	212.0	183.2
चावल	20.58	34.6	42.8	53.6	74.3	84.9	93.3	77.7
गेहूँ	6.46	11.0	23.8	36.3	55.1	68.7	71.8	68.9
दालें	8.41	12.7	11.8	10.6	14.3	10.7	13.2	11.5
मोटा अनाज	15.38	23.74	30.56	29.02	32.70	31.6	33.9	25.1
गन्ना	57.0	110.0	126.4	154.2	241.0	299.0	300.1	285.4
कपास (मि. गाठें)	3.0	4.56	4.8	7.0	9.8	9.7	10.1	8.9

* अनुमान

Source: Economic Survey 2002–2003, p-5-16, p-158

भारत में खाद्यान्नों के उत्पादन में काफी विभिन्नता पाई गई है। भारत में सभी खाद्यान्नों की वार्षिक दर हरित क्रान्ति के पूर्व 1950–51 से 1965–66 के दौरान 3.2 प्रतिशत थी। प्रमुख अनाज जैसे चावल तथा गेहूँ की वार्षिक दर हरित क्रान्ति के दर्ज की गई, परन्तु मोटे अनाज तथा दालों की वृद्धि दरें अपेक्षाकृत नीची रहीं। इस दौरान चावल की वृद्धि दर 3.5 प्रतिशत तथा गेहूँ की वार्षिक दर 4 प्रतिशत पाई गईं।

हरित क्रान्ति के पूर्व एवं उसके आगमन के पश्चात् के वर्षों में सभी खाद्यान्नों एवं कुल प्रमुख फसलों के उत्पादन की वार्षिक दर को निम्नलिखित तालिका में प्रदर्शित किया जा सकता है।

तालिका

खाद्यान्नों के उत्पादन की वार्षिक (वृद्धि दरें)

फसलें	वार्षिक वृद्धि दर (प्रतिशत)			
	1950–51 से 1965–66	1967–68 से 1979–80	1979–80 से 1989–90	1990–91 से 2001–01
सभी खाद्यान्न	3.2	2.02	3.54	1.66
चावल	3.5	1.99	4.29	1.79
गेहूँ	4.0	5.68	4.42	3.04
मोटे अनाज	2.2	0.67	0.74	6.06
दालें	1.4	– 0.44	2.38	– 0.58

Source: Economic Survey, 2001-02 and Earlier Issues

तालिका से स्पष्ट है कि 1950–51 से 1989–90 तक कुल खाद्यान्नों के उत्पादन में प्रभावशील वृद्धि हुई जबकि नब्बे के दशक में खाद्यान्नों की वार्षिक वृद्धि दरों में गिरावट आई। हरित क्रान्ति के आगमन से देश में गेहूँ तथा चावल के उत्पादन की दर में वृद्धि हुई जबकि मोटे अनाज की वृद्धि दर में गिरावट आई। दालों के उत्पादन में भी पर्याप्त सुधार नहीं हुआ।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि-

1. हरित क्रान्ति से पूर्वकाल में कृषि उत्पादन में व द्धि का श्रेय श्रेत्रफल विस्तार को जाता है जबकि हरित क्रान्ति के आगमन के पश्चात् के काल में कृषि उत्पादन में व द्धि का कारण उत्पादकता में सुधार होना रहा।
2. हरित क्रान्ति के दौरान आधुनिक कृषि तकनीकी के प्रयोग के बावजूद, कृषि फसलों की उपज व द्धि दर को पूर्व स्तर पर बनाए नहीं रखा जा सका। बल्कि 1951-66 अवधि की तुलना में 1966-99 अवधि में व द्धि दरों और भी कम हो गईं।

उल्लेखनीय है कि पचास के दशक में तो खद्यान्न के उत्पादन में सुधार हुआ, परन्तु साठ के दशक ने खाद्यान्न के उत्पादन में गिरावट आई जिसके परिणामस्वरूप कुछ सीमा तक खाद्यान्नों का आयात किया गया। सत्तर का दशक भारत की खाद्यान्न अर्थव्यवस्था का निर्णायक मोड़ (Turning Point) माना जाता है। इस दौरान बीज प्रौद्योगिकी में क्रान्तिकारी परिवर्तन आने से खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त हुआ। अस्सी के दशक में हरित क्रान्ति को साकार करते हुए खाद्यान्न उत्पादन की 3.5 प्रतिशत व द्धि दर ने भारत को खाद्यान्न में न केवल आत्मनिर्भरता ही नहीं, बल्कि कुछ हद तक निर्यातक भी बना दिया। नब्बे के दशक में अस्सी की व द्धि को कायम नहीं किया जा सका। इस दौरान वार्षिक व द्धि दर कम होकर 2.0 प्रतिशत पर आ गई जो लगभग देश की वार्षिक जनसंख्या व द्धि दर के बराबर है।

योजनाकार कृषि-उत्पादन की व द्धि दरें (Plan-wise Growth-Rates): योजनाकार कृषि-उत्पादन की व द्धि दर पर यदि द ष्टि डाली जाए तो यह स्पष्ट होता है कि प्रथम योजना में कृषि उत्पादन की औसत व द्धि दर 2.9 प्रतिशत, दूसरी योजना में 2.6 प्रतिशत, तीसरी योजना में (–) 1.2 प्रतिशत, चौथी योजना में 3.0 प्रतिशत, पांचवीं योजना में 4.3 प्रतिशत, छठी योजना में 6.0 प्रतिशत, सातवीं योजना में 4.2 प्रतिशत, आठवीं योजना में 3.9 प्रतिशत रही। नौवीं योजना के लिए कृषि उत्पादन में 3.9 प्रतिशत व द्धि दर का लक्ष्य रख गया। कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र में देश में गम्भीर सूखे के कारण वर्ष 2002-03 में –3.5 प्रतिशत व द्धि होने की सम्भावना है जो देश में दो दशकों में सर्वाधिक निम्न है।

कृषि का पिछड़ापन या कम कृषि उत्पादकता
(Low Agricultural Productivity of Backwardness of Agriculture)

यद्यपि भारत एक कृषि प्रधान देश है और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान भी है। फिर भी यहां के कृषि के पिछड़ेपन की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। यद्यपि नियोजन काल में किए गए प्रयासों के फलस्वरूप दीर्घकालीन गतिहीनता की स्थिति हुई है, कई फसलों की उपज बढ़ानें में महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। खाद्यान्नों के क्षेत्र में लगभग आत्मनिर्भरता की स्थिति है। फिर भी यह निर्विवाद रूप के कहा जा सकता है कि भारतीय कृषि अन्य विकसित देशों की अपेक्षा अभी भी पिछड़ी हुई है। हमारी जनसंख्या का लगभग 58.4 प्रतिशत भाग अभी भी कृषि क्षेत्र में लगा हुआ है परन्तु इस क्षेत्र की कुल राष्ट्रीय आय में योगदान मात्र 26 प्रतिशत का ही है। यहां प्रति श्रमिक तथा प्रति हैक्टेयर उत्पादकता बहुत ही कम है। आज भी कृषि वह है जिसकी प्रति हैक्टेयर उत्पादकता अन्य देशों की तुलना में कम होती है।

कृषि के पिछड़ेपन के सूचक (Indicators of Backwardness of Agriculture): भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के मुख्य सूचक निम्नलिखित हैं-

1. **प्रति हैक्टेयर कम उत्पादकता (Low Yield Per Hectare):** भारत में प्रति उत्पादकता अन्य विकसित देशों जैसे फ्रांस, जापान, इंग्लैण्ड तथा अमेरिका आदि की तुलना में बहुत कम है।

   अग्र तालिका में गेहूँ, चावल तथा दाल की प्रति हैक्टेयर उत्पादकता को प्रदर्शित किया गया है।

तालिका: प्रति हैक्टेयर उत्पादकता (किग्रा./हैक्टेयर) : 1999

फसल	देश	किलोग्राम
चावल	भारत	2,930
	जापान	6,410
	चीन	6,320
	अमेरिका	6,620
गेहूँ	भारत	2,580
	चीन	3,960
	इंग्लैण्ड	8,050
	फ्रांस	7,240
दाल (1996)	भारत	602
	चीन	1,580
	जापान	1,830
	फ्रांस	4,770

Source: (i) Statistical Outline of India 2000-02
(ii) FAO year Book 1996

नियोजन काल में कृषि की नई विकास निति के फलस्वरूप सभी फसलों के उत्पादन में व द्धि हुई गेहूँ की प्रति हैक्टेयर उत्पादन 1950-51 ने 663 किलोग्राम से बढ़कर 2001-02 में 2,770 कि. ग्राम हो गया, इसी तरह चावल का प्रति हैक्टेयर उत्पादन 668 किलोग्राम से बढ़कर 2001-02 में 609 किलोग्राम हो गया। गन्ने का उत्पादन 33 टन प्रति हैक्टेयर से बढ़कर 267 टन प्रति हैक्टेयर तथा कपास का उत्पादन 88 किलो ग्राम प्रति हैक्टेयर से बढकर 189 किलो ग्राम प्रति हैक्टेयर हो गया।

2. **प्रति श्रमिक कम उत्पादकता (Low Yield Per Labour):** श्रम उत्पादकता से अभिप्राय है कि कृषि में जगा हुआ प्रत्येक श्रमिक एक वर्ष में कितने मूल्य का उत्पादन करता है। भारत में प्रति श्रमिक उत्पादकता जर्मनी, अमेरिका, जापान आदि अन्य विकसित देशों की तुलना में काफी कम है। डॉ. बलजीत सिंह के अनुसार, ''भारत में प्रति श्रमिक उत्पादकता जर्मनी की प्रति श्रमिक उत्पादकता का $\frac{1}{33}$, अमेरिका का

   तथा जापान का भाग है।''

3. **खाद्यान्नों की कम आपूर्ति (Inadequate Supply of Foodgrain):** भारत में खाद्यान्न व अन्य कृषि पादार्थों की अपर्याप्त आपूर्ति है। भारतीय कृषि जनसंख्या की खाद्य सामग्री की आवश्यकताओं और कृषि पर निर्भर उद्योगों के लिए कच्चे माल और निर्यात

के लिए पर्याप्त कृषि आधिक्य की आवश्यकताओं की आपूर्ति करने में असफल रही है। आज भी भारत को अपने देश की खाद्यान्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए करोड़ों रुपये का अनाज विदेशों से मंगवाना पड़ता है।

भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के कारण
(Cases of Backwardness of India Agriculture)

भारतीय कृषि के पिछड़ेपन या निम्न उत्पादकता के कारणों कार्यों को मुख्य रूप से सामान्य, तकनीकी तथा संस्थागत कारणों में नहीं बांटा गया है।

I. सामान्य कारण
(General Factor Causes)

कृषि के पिछड़ेपन के लिए निम्नलिखित सामान्य कारण उत्तरदायी हैं।

1. **किसानों का परम्परावादी द ष्टिकोण (Conservative Outlook of the Farmers):** भारतीय कृषि के पिछड़ेपन का एक महत्त्वपूर्ण कारण किसानों का परम्परावादी द ष्टिकोण है इसके कारण वह आधुनिक तकनीकी को अपनाने में कठिनाई महसूस कराता है। जिसका मुख्य कारण है कि भारतीय किसान अभी भी अशिक्षित, अज्ञानी, अन्धविश्वासी तथा रूढ़िवादी है। इसके अतिरिक्त वह जाति-प्रथा और संयुक्त परिवार प्रणाली, जैसी पुरानी प्रथाओं में जकड़ा हुआ है। आर्थिक प्रगति का विचार उसे प्रेरित नहीं करता।

2. **भूमि पर जनसंख्या का दबाव (Pressure of Population on Land):** देश में कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल तो यथावत बना हुआ है जबकि जनसंख्या में निरन्तर व द्धि होती जा रही है। परिणामस्वरूप कृषि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ता जा रहा है और कृषि पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। सन् 1901 से अब तक कृषि पर जनसंख्या का का भार 74.5 प्रतिशत से 58.4 प्रतिशत के बीच बना हुआ है। जिसके परिणामस्वरूप जोतों का उप-विभाजन एवं विखण्डन की समस्या बढ़ती जा रही है तथा प्रति व्यक्ति कृषि योग्य भूमि का अनुपात घटता जा रहा है। 1901 में प्रति व्यक्ति कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल 3.2 एकड़ था जो घटकर अब 0.39 एकड़ रह गया है।

3. **कृषकों की निर्धनता एवं ऋणग्रस्तता (Poverty and Indebtedness of Farmers):** किसानों की निर्धनता एवं ऋणग्रस्तता भी बहुत सीमा तक कृषि के पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी है। भारतीय किसान सदैव ही ऋणों में दबे रहते हैं। वे कृषि उत्पादन में व द्धि हेतु धन का निवेश करने में असमर्थ रहते हैं। भूमि सुधार एवं अन्य कृषि कार्यों हेतु उन्हें आवश्यकता पड़ने पर उचित ब्याज पर ऋण एवं साख की सुविधाएं उपलब्ध नहीं हो पाती। अतः पूंजी की कमी के कारण जो किसान आधारभूत कृषि आगतों की व्यवस्था नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन कम होता है।

4. **दोषपूर्ण विपणन व्यवस्था (Defective Marketing System):** दोषपूर्ण विपणन व्यवस्था के कारण भी किसान अपने उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रेरित नहीं होते। असन्तोषजनक विपणन व्यवस्था के कारण कृषकों को विवश होकर अपने स्थान पर या स्थानीय मण्डियों में कम मूल्य पर अपनी पैदावार को बेचना पड़ता है। सामान्यतः कृषकों को बाजार कीमतों की उचित जानकारी नहीं रहती। अतः उन्हें अपनी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। भण्डारण की उचित व्यवस्था न होने के कारण तथा फसल के बाद कर्ज के मुक्ति के लिए उन्हें फसल तैयार होते ही बेच देना पड़ता है तथा

उचित परिवहन व्यवस्था के आभाव में वे अपनी उपज को मण्डियों तक नहीं ले जा पाते, परिणामस्वरूप उन्हें स्थानीय या अनाज व्यापारियों को बेचना पड़ता है।

5. **कृषि अनुसन्धान की कमी (Lack of Agricultural Research):** भारत में कृषि अनुसन्धान की कमी है। इसके अतिरिक्त अनुसन्धान का परिणाम प्रायः प्रयोगशालाओं, पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं तक ही सीमित है। वह किसानों तक नहीं पहुँच पाता है। अतः_कृषि उत्पादन में व द्धि नहीं हो पा रही है।

II. संस्थागत कारण
(Institutional Causes)

संस्थागत कारण को दो भागों में बांटा जा सकता है-

1. **कृषि जोत का छोटा आकार (Small size of Agricultural Holding):** भारतीय कृषि की निम्न उत्पादकता या पिछड़ेपन के लिए जोतों का छोटा आकार होना भी उत्तरदायी है। जोतों के छोटे एवं अनार्थिक आकार होने के कारण कृषि में आधुनिक तकनीकी एवं उपकरणों को प्रयोग में लाना सम्भव नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप एक और श्रम शक्ति का अपव्यय तो दूसरी ओर उत्पादन कम होता है। भारत में औसतन जोत का आकार 1.35 हैक्टेयर है। यहां 59.4 प्रतिशत जोतें एक हैक्टेयर से भी कत हैं तथा 32 प्रतिशत जोतें एक से चार हैक्टेयर के बीच हैं तथा 7 प्रतिशत जोतें 4 से 10 हैक्टेयर तक तथा मात्र 2 प्रतिशत जोतें 10 हैक्टेयर से अधिक हैं। जबकि जोतों का आकार ऑस्ट्रेलिया में 1,993, कनाड़ा में 188 तथा अमेरिका में 158 हेक्टेयर।

2. **भू-स्वामित्व प्रणाली Land Tenure System):** यद्यपि भारत में जमींदारी प्रथा का अन्त किया जा चुका है तथा भूमि सुधार कानून लागू है फिर भी अनेक क्षेत्रों में वास्तव में कृषि करने वाले लोगों को भूमि उपलब्ध नहीं हो पाई है। जिन लोगों के पास अधिक खेत हैं, वे उसे बटाई पर अथवा पट्टेदारी पर देते हैं। जो व्यक्ति खेतों पर कार्य करते हैं। वो भूमि का स्वामी ने होने के कारण, समुचित ध्यान नहीं देते परिणामस्वरूप उत्पादन प्रभावित होता है।

III. तकनीकी कारण
(Technical Causes)

1. **उत्पादन की पुरानी तकनीकी (Old Techniques of Production):** अशिक्षा, अज्ञानता, अनभिज्ञता, धनभाव तथा रुढ़िगत भावना से ग्रस्त भारतीय कृषक अभी भी पुरानी तकनीकों को अपनाए हुए हैं। कृषकों द्वारा आधुनिक सुधरी हुई तकनीक को प्रयोग न किए जाने से भारतीय कृषि अभी भी पिछड़ी हुई है तथा यहां उत्पादकता का स्तर निम्न है। किसान अभी भी लकड़ी का हल, बैल, रस्सी का प्रयोग करते हैं जबकि बाजार में आधुनिक इस्पात के हल, ट्रैक्टर, पावर लिफ्ट, थ्रेसिंग मशीन एवं बिजली और डीजल के पम्पिंग सेट आदि उपलब्ध हैं।

2. **अपर्याप्त सिंचाई सुविधाएं (Inadequate Irrigational Facilities):** भारतीय कृषि में गतिरोधन का एक अन्य मुख्य कारण सिंचाई सुविधाओं की अपर्याप्तता भी है। भारत में अभी भी लगभग 38 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि के लिए ही सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध हैं। शेष 62 प्रतिशत भूमि को मानसून पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए यहां उत्पादन का स्तर भी नीचा रहता है।

3. **उन्नतशील बीजो, कीटनाशकों तथा रासायनिक खादों का प्रयोग कम होना (Less use of High yielding variety of seeds, H.Y.V., pestisides and chemical fertilizer):** भारत में कृषि उत्पादन कम होने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि भारतीय किसान उन्नतशील बीजों का प्रयोग नहीं करता। वह अपने खेतों मे उत्पन्न हुई फसल को ही बीज के रूप में प्रयोग करता है जो अच्छी श्रेणी के नहीं होते। इसके साथ धन अभाव के कारण अच्छी और पर्याप्त मात्रा में रासायनिक खादों का भी प्रयोग नहीं करता है। भारत में प्रति हैक्टेयर रासायनिक खादों का प्रयोग 290 किलोग्राम तथा फ्रांस में 248 किलोग्राम प्रति हैक्टेयर है।,

इसके अतिरिक्त भारतीय किसान अपनी फसलों के लिए कीड़े-मकौड़ों तथा रोगों आदि से भी रक्षा नहीं कर पाते हैं। राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक शोध संस्थान के अनुसार भारत में कुछ खाद्यान्नों का लगभग 16 प्रतिशत भाग कीड़ों व रोगों से नष्ट हो जाता है। इसका कारण यह है कि यहां किसान पर्याप्त मात्रा में कीटनाशकों का प्रयोग नहीं करते।

इसके अतिरिक्त मिट्टी की गुणवत्ता में कमी, भूमि कटाव, जलाधिक्य, बाढ़ की समस्या तथा कृषि एवं उद्योग के बीच परस्पर समन्वय का अभाव आदि ऐसे तत्त्व हैं जो कृषि के उत्पादन को प्रभावित करते हैं।

कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के उपाय
(Suggestions to Improve Agricultural Productivity)

भारत में कृषि के नियोजन को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं -

1. **नवीन कृषि तकनीकों का प्रयोग (Use of New Agricultural Techniques):** देश में कृषि के विकास तथा उत्पादकता में व द्धि के लिए यह आवश्यक है कि देश की कृषि के सम्बन्ध में नई तकनीकी का अधिक प्रचार व प्रयोग किया जाना चाहिए। इस नीति के अर्न्तगत गहन खेती पर विशेष ध्यान, खेती के साधनों, उत्तम बीजों, मशीनों, रासायनिक खाद की अधिक पूर्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए।

2. **वित्त एवं साख की सुविधाओं की व्यवस्था (Provision of finance and credit facilities):** उन्नतशील बीजो, खाद, कृषि उपकरण आदि की सहायता से किसान तभी लाभ उठा सकता है तथा कृषि उत्पादन बढ़ा सकता है जब इनकी प्राप्ति के लिए उसके पास आवश्यक मात्रा में वित्त की सुविधा उपलब्ध हो। गरीबी के कारण किसान अपनी आय में से बचत नहीं कर पाते और महाजनों से जो उन्हें ऋण प्राप्त होता है वह अपर्याप्त तो होता है तथा साथ में उसमें शोषण का भी अंश मौजूद रहता है।

3. **भूमि सुधार कानूनों को प्रभावी ढंग से लागू करना (Effective Implementation of Land Reforms):** कृषि उत्पादन व्यवस्था में सुधार कानूनों को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाना चाहिए। भूमि का स्वामित्व उन्हीं के पास होना चाहिए जो भूमि पर स्वामित्व रूप से कार्य करता हो? ऐसा करने से किसान में उत्पादन कार्य करने की प्रेरणा बनी रहेगी। चकबन्दी हुई भूमि पर फिर से विखण्डन होने पर छोटी आकार की जोत वाले किसानों में सहकारिता की भावना का विकास किया जाना चाहिए ताकि छोटे-छोटे किसान भी नवीन तकनीक का तथा यन्त्रीकरण का लाभ उठा सकें।

4. **विपणन व्यवस्था में सुधार** **(Improvement in Marketing System):** किसानों को अधिक उत्पादन हेतु प्रेरित करने के लिए वर्तमान विपणन प्रणाली में सुधार किया जाना चाहिए। बाजार और बिक्री की सुविधाएं भी किसानों को उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रेरित करती हैं। फसल की बिक्री से किसानों को कितनी आय की प्राप्ति हो सकेगी, यह बहुत कुछ बाजार और विपणन सुविधाओं पर निर्भर करता है। इसके लिए सुविधाजनक स्थानों पर बाजार उपलब्ध होना चाहिए ताकि उत्पादन में होने वाली व द्धि तथा बिक्री योग्य अधिक्य को किसान आसानी से बाजारों तक पहुंचा सके। इसके लिए नियमित बाजारों की स्थापना के साथ-साथ परिवहन सुविधाओं में व द्धि की जानी चाहिए। सहकारी विपणन व्यवस्था को भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

5. **कीमत-स्थिरता की व्यवस्था** **(Provisions for Price-stability):** कृषि में पर्याप्त निवेश को प्रोत्साहन देने के लिए कृषि वस्तुओं की कीमतों पर स्थिरता का भी ध्यान दिया जाना चाहिए। क्योंकि कीमतों में अस्थिरता निवेश क्रियाओं के लिए घातक सिद्ध होती है। यदि किसानों को पहले से ही जानकारी नहीं है कि उनको अपने उत्पादन के लिए कितनी कीमती मिल सकेगी तो सामान्यतया वे अपनी बचत या दूसरों से ऋण लेकर उत्पादन में व द्धि करने के लिए धन नहीं लगाएंगे। अतः ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि कृषि पदार्थों की कीमतों में स्थिरता बनी रहे। इसके लिए धन नहीं लगाएंगे। अतः ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि कृषि पदार्थों की कीमतों में स्थिरता बनी रहे। इसके लिए सरकार द्वारा फसल की विजन बिजाई से पूर्व कीमतों में से पूर्व कीमतों की घोषणा कर देनी चाहिए जिस पर सरकार आने पर खरीदने को तैयार हो।

6. **जनसंख्या का कम दबाव** **(Less Pressure of Population):** कृषि की उन्नति के लिए तथा उत्पादन बढ़ाने के लिए कृषि पर जनसंख्या का दबाव कम किया जाना चाहिए। इसके लिए देश में उद्योग-धन्धों का विकास किया जाना चाहिए तथा गांवों में औद्योगिक बस्तियों की स्थापना भी की जानी चाहिए।

7. **सिचांई सुविधाओं का विकास तथा बाढ़ नियन्त्रण** **(Flood Control and Development of Irrigational Facilities):** देश में 52 वर्षों के नियोजन के बावजूद अभी भी अधिकांश कृषि भूमि को सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध नहीं हो पाई हैं। कृषि के विकास के सारे प्रयास किसी भी वर्ष मानसून की प्रतिकूलता के कारण निष्फल हो जाते हैं और अतः आज भी भारतीय कृषि को मानसून के साथ जुआ कहा जाता है। इसलिए मानसून पर कृषि की निर्भरता को कम करने एवं दोहरी फसल उत्पन्न करने के लिए सिंचाई सुविधाओं का पर्याप्त विकास किया जाना चाहिए। इसके साथ बाढ़ नियन्त्रण की भी उचित व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि किसान निश्चिन्त होकर कृषि कार्यों में संलग्न रहें।

8. **कृषि यन्त्रीकरण को प्रोत्साहन** **(Encouragement to Farm Mechanization):** कृषि में उत्पादन बढ़ाने तथा वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के लिए कृषि यन्त्रीकरण को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। ट्रैक्टरों, पावर टिकर्स, आधुनिक पम्पिंग सैटो, थ्रैसरों आदि का अधिक-से-अधिक प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके लिए सेवा संस्थाओं का विस्तार किया जाना चाहिए ताकि इन यन्त्रों को छोटे किसान उचित मूल्य पर किराए पर ले सकें।

9. **मिश्रित एवं बहुफसली खेती (Mixed and Multiple Cropping):** देश में बहु फसली कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए तथा मिश्रित खेती का ढंग अपनाया जाना चाहिए। उसके लिए पशु पालन, डेरी व्यवसाय, फलों व सब्जियों को उगाने आदि कार्यों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

10. **फसल बीमा योजना (Crop-Insurance Scheme):** कृषि प्रकृति की अनिश्चितताओं जैसे बाढ़, सूखा आदि से अधिक प्रभावित होती है। प्राकृतिक आपदा फसल खराब होने की स्थिति मे किसानों को वित्तीय सुविधा प्रदान किए जाने के लिए व्यापक स्तर पर फसल बीमा योजना लागू की जानी चाहिए।

11. **पशुओं की दशा में सुधार (Improvement in the Condition of Livestock):** भारतीय कृषि व्यवसाय में पशुओं का विशेष महत्त्व है। अतः इनकी हीन दशा को सुधारने के लिए उनके चारे पानी, चिकित्सा एवं नस्ल सुधार के लिए समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

12. **छोटे किसानों की सहायता (To help Small Farmers):** हरित क्रान्ति को स्थिर रखने तथा कृषि के विकास के लिए आवश्यक है कि छोटे किसानों को नए बीज, तकनीकी और नए यन्त्रों का लाभ पहुंचाने में सहायता दी जानी चाहिए। उन्हें सस्तें ब्याज पर ऋण दिलवाए जाएं जिससे वे नई तकनीकों का अधिक प्रयोग कर सकें। अगर ऐसा सम्भव हुआ तो देश में कृषि विकास के साथ-साथ आर्थिक सम्पन्नता भी बढ़ जाएगी।

13. **योग्य प्रशासन (Efficient Administration):** भारत में कृषि विकास के लिए सरकार द्वारा किए गए कार्यों का बहुत महत्त्व है, परन्तु सरकारी योजनाएं तभी सफलतापूर्वक लागू की जा सकती हैं जब सरकारी कर्मचारी योग्य तथा कुशल हो। एकीकृत ग्रामीण विकास योजना, सहकारी समितियां, कृषि से सम्बन्धित कार्यों में वे ही लोग जाने चाहिए जिन्हें गांवों के जीवन का ज्ञान हो तथा गांवों में काम करना पसन्द करते हों।

उपयुक्त सभी उपायों के कारण भारतीय कृषि में उल्लेखनीय व द्धि हुई है तथा भविष्य में कृषि उत्पादन में और तेज गति से व द्धि होगी।

सन् 2000 की नई राष्ट्रीय कृषि नीति
(New National Agricultural Policy of 2000)

सरकार ने 28 जुलाई, 2000 को राष्ट्रीय कृषि नीति की घोषणा की। नब्बे के दशक में कृषि का कम विकास होने के कारण यह नीति आवश्यक हो गई थी क्योंकि पूंजी की अपर्याप्तता, अधोसंरचना का अभाव और मांग पक्ष में सीमा बन्धनों जैसे कृषि वस्तुओं की गतिविधि, भण्डारण एवं विक्रय आदि पर लगाए गए नियन्त्रणों आदि के फलस्वरूप कृषि क्षेत्र की आर्थिक सक्षमता पर लगातार प्रभाव पड़ा है। इसके नतीजे के तौर पर नब्बे के दशक में कृषि-विकास दर मन्द हो गई है।

इस नीति का मुख्य उद्देश्य ''ऐसी कृषि अर्थव्यवस्था की स्थापना करना है जो देश की 100 करोड़ जनसंख्या को खाद्य एवं पोषण उपलब्ध करा सके, इसके बढ़ते हुए औद्योगिक आधार के लिए कच्चा माल उपलब्ध करवा सके और निर्यात के लिए अतिरेक कायम कर सके। इसके साथ इसका उद्देश्य हमारे किसान समुदाय के लिए तीव्र और न्यायपूर्ण प्रतिफल प्रणाली उपलब्ध कराना है, ताकि समाज के किसानों द्वारा उपलब्ध करायी गई सेवाओं

का उचित मुआवजा मिल सके।'' इस प्रकार राष्ट्रीय कृषि नीति के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य रखे गए हैं।

1. कृषि क्षेत्र में 4 प्रतिशत की वार्षिक व द्धि-दर प्राप्त करना।
2. ऐसे विकास को प्रोन्नत करना जिसमें हमारे संसाधनों का कुशलतापूर्वक प्रयोग हो और हमारी जल भूमि और जीवविधिता (Biodiversity) को सुरक्षित रखा जा सके।
3. समता के साथ विकास (Growth with Equity) अर्थात् ऐसा विकास जो विभिन्न क्षेत्रों एवं किसानों में फैला हुआ हो।
4. ऐसा विकास जो मांग द्वारा संचालित हो और देशीय बाजारों के लिए किया जाए। इसके साथ-साथ इस विकास का उद्देश्य आर्थिक उदारीकरण एक वैश्वीकरण (Globalization) की चुनौतियों का मुकाबला करते हुए कृषि वस्तुओं के निर्यात से अधिकतम आय प्राप्त करना हो।
5. ऐसा विकास जो तकनालाजीय, पर्यावरणीय एवं आर्थिक द ष्टि से पोषणीय हो।

इन्द्रधनुष क्रान्ति के लक्ष्य

- कृषि में 4 प्रतिशत से अधिक वार्षिक व द्धि-दर।
- ठेका खेती द्वारा निजी क्षेत्र का अधिक सहयोग।
- किसानों के लिए कीमत संरक्षण।
- सभी किसानों एवं सभी फसलों के एिल राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना चालू करना।
- देश भर में कृषि वस्तुओं की गतिविधि पर लगाई गयी पाबन्दियों को समाप्त करना।

इस निति की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. साधनों तथा तकनीक का कुशलतापूर्वक प्रयोग किया जाएगा।
2. किसानों को साख की पर्याप्त उपलब्धता प्रदान कराई जाएगी।
3. कृषि क्षेत्र में निजी निवेश को प्रोत्साहित किया जाएगा।
4. कृषि पर विश्व व्यापार संगठन (W.T.O.) के समझौते के प्रतिकूल प्रभावों को कम करने के लिए विभिन्न कृषि उत्पादन के लिए अलग-अलग नीतियां बनाई जाएंगी।
5. कृषि वस्तुओं के मूल्य में व्यापक परिवर्तन को काम करने तथा उनके जोखिम से बचने के लिए विशेष प्रयत्न किए जाएंगे।
6. पौधों की नई किस्मों तथा अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के लिए कानूनी सुरक्षा प्रदान की जाएगी।
7. देश भर में कृषि वस्तुओं का आवागमन पर प्रतिबन्धों को समाप्त किया जाएगा।
8. कृषि क्षेत्रों को मशीनों, उर्वरकों आदि पर से उत्पादन शुल्क कम किया जाएगा।
9. कृषि क्षेत्र को पैकेज बीमा पालिसी प्रदान की जाएगी।
10. ग्रामीण विद्युतीकरण तथा सिंचाई के विकास को विशेष प्रोत्साहन किया जाएगा।

मूल्यांकन- राष्ट्रीय कृषि निति, जो दो दशकों के समय को लेकर बनाई गई है, देश की अर्थव्यवस्था की आवयश्कताओं के अनुरूप है। इसमें निर्धारित उद्देश्य वर्तमान स्थिति में बहुत ठीक उतरते हैं। स्पष्टतः नीति का विस्तार बहुत व्यापक है। कृषि क्षेत्र के लगभग हर पहलू को नीति में शामिल किया गया है। साथ ही कृषि क्षेत्र की मुख्य समस्याओं के लिए आवश्यक उपायों का उल्लेख किया गया है। इस सन्दर्भ में विभिन्न एजेन्सियों जैसे किसान, सरकारी, सहकारी संगठन और निजी कम्पनियां की भूमिका पर यथोचित प्रकाश डाला गया है।

फिर भी नीति में कुछ कमजोरियां नजर आती हैं। नब्बे के दशक (1990-91 से 1998-99) के दौरान, कृषि उत्पादन की वृद्धि दर 2.1 प्रतिशत रही और खाद्यान्न उत्पादन की औसत व द्धि दर केवल 1.8 प्रतिशत थी, जोकि जनसंख्या की व द्धि-दर के लगभग बराबर है। इस प्रकार हम देश में भूख को समाप्त किए बिना खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर पाए हैं। यह भी सत्य है कि खाद्य-सुरक्षा प्राप्त का लक्ष्य अभी एक स्वप्नमात्र ही प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कृषि उत्पादन में 4 प्रतिशत वार्षिक व द्धि का लक्ष्य प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है परन्तु नई नीति में मात्रात्मक द ष्टि से कोई ठोस लक्ष्य निर्धारित नहीं किए गए। इस नीति में समता के साथ विकास की बात तो की गई है। जिसका यह अभिप्राय है कि विकास सभी क्षेत्रों में समान रूप से फैलना चाहिए। परन्तु यह उन राज्यों की पहचान करने में विफल रही है जो कृषि सामर्थ्य का प्रयोग करने में पीछे रह गये हैं।

कृषि में निजी निवेश को बढ़ावा देने की बात की गई है इसमें सन्देह नहीं है कि निवेश से बड़े किसानों को अपनी उत्पादकता बढ़ाने में मदद मिलती है परन्तु छोटे किसान जो भारतीय किसान समुदाय का बड़ा भाग हैं अपनी उत्पादकता को बढ़ाने के लिए निजी निवेश नहीं कर पाते। उन्हें तो अधिकांशतः सार्वजनिक निवेश पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसमें हाल के वर्षों में गिरावट आई है। नयी कृषि नीति इस सम्बन्ध में किसी गम्भीर वचनबद्धता का परिचय नहीं देती। नयी कृषि नीति, पट्टा प्रणाली के माध्यम से ठेका खेती द्वारा निजी क्षेत्र का सहयोग प्राप्त करना चाहती है। ठेका खेती अपनाने से रोजगार का अवसर कम होगा तथा रोजगार के विस्तार का लक्ष्य प्रभावित होगा। अतिरिक्त श्रमशक्ति में लगभग आधे भाग को कृषि से रोजगार उपलब्ध करवाया जाता है। अतः भारत जैसे श्रम अधिक्य वाली अर्थव्यवस्था में इस ठेका खेती और निगम क्षेत्र को नहीं जोड़ा जाना चाहिए।

केन्द्र सरकार ने कृषि विकास के सभी क्षेत्रों के बारे में व्यापक सिफारिश करने के पश्चात् इनके कार्यान्वयन के लिए कोई रूपरेखा निर्धारित नहीं की है। कार्य-योजना के आभाव की स्थिति में और कृषि की द ष्टि से पिछड़े हुए राज्यों के लिए आधारित संरचना पैकेज के अभाव में नयी कृषि नीति नीति को लागू करने के लिए केन्द्र और राज्य के बीच सहभागी प्रोग्रामों की योजनाएं उपलब्ध करानी होंगी।

अतः निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि कुछ खामियों के बावजूद, राष्ट्रीय कृषि नीति बहुत व्यापक और सराहनीय है।

ग्रामीण साख
(Rural Credit)

ग्रामीण साख की समस्या
(Problem of Rural Credit)

भारत में ऋणग्रस्तता की समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी की कृषि। यहां किसानों का ऋणग्रस्त होना एक सामान्य बात है। शाही कृषि आयोग ने इस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि ''भारतीय किसान ऋण में जन्म लेता है, ऋण में पलता है और ऋण में ही मरता है।'' इस तरह यहां कृषक की ऋण पैत क सम्पत्ति के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होता रहता है। ग्रामीण ऋणों की एक यह विशेषता है कि ये उत्पादक कार्यों के साथ-साथ अनुत्पादक कार्यों के लिए भी लिए जाते हैं। एक सर्वे के अनुसार 1951 में ग्रामीण ऋणग्रस्तता में 44 प्रतिशत ऋण उत्पादक तथा 56 प्रतिशत ऋण अनुत्पादकता था। भारत में 42.8 प्रतिशत किसान ऋणग्रस्त हैं।

यदि किन्हीं कारणों से कृषि की दशा खराब होती है तो इन ऋणों का भार और भी अधिक बढ़ जाता है। ऋणग्रस्तता के भारी बोझ के कारण किसान उन्नत उत्पादन विधियों का प्रयोग नहीं करत पाता, परिणामस्वरूप उत्पादन का स्तर निम्न रहता है। अन्य शब्दों में, ऋणग्रस्तता ने ही भारतीय कृषि को जर्जरित कर रखा है।

कृषि साख से अभिप्राय (Meaning of Agriculture Credit): कृषि वित्त एवं साख से तात्पर्य उस वित्त (साख) से होता है जिसका उपयोग कृषि से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों को पूरा करने के लिए होता है। कृषि वित्त की आवश्यकता सामान्यतः भूमि पर स्थायी सुधार करने, बीज, खाद, कीटनाशक, कृषि यन्त्र पर क्रय करने, सिंचाई की व्यवस्था करने, मालगुजारी देन, विपणन से सम्बद्ध कार्य अथवा कृषि से सम्बन्धित किसी कार्य के लिए हो सकती है।

कृषि साख या वित्त की आवश्यकता
(Need for Agriculture Credit-or Finance)

कृषि वित्त या साख की आवश्यकता भारत में कृषकों को विभिन्न उद्देश्यों एवं काल विधियों के लिए वित्त, साख या ऋण की आवश्यकता पड़ती है। कृषि वित्त की आवश्यकता को उद्देश्य एवं समयानुसार निम्नलिखित भागों में बांटा जाता है।

1. **उत्पादन ऋण (Production loan):** वो ऋण जो की कृषि की विभिन्न क्रियाएं जैसे- खाद, बीज, यन्त्र खरीदने व लगवाने, सिंचाई, भूमि कर स्थायी सुधार करने तथा वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के लिए किए जाते हैं। इस तरह के ऋण में से उत्पादक और आय में व द्धि होती है।

2. **उपभोग ऋण (Consumption loan):** ये ऋण फसल की बिजाई और बिक्री के बीच के समय कृषक को अपने परिवार के उपभोग सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण की आवश्यकता पड़ती है जिसे प्रायः फसल की बिक्री के बाद चुकता किया जाता है।

3. **अनुत्पादक ऋण (Unproduction loan):** वो ऋण जो उत्पादक कार्यों में नहीं लगाए जाते बल्कि कुछ अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं जैसे मुकद्दमा लड़ने, आभुषण खरीदना, विवाह, जन्म, म त्यु तथा अन्य सामाजिक, धार्मिक रीति रिवाज के पालन के लिए, जिनका उत्पादन से सम्बन्धित नहीं होता और जिसके उधार वापसी के प्रबन्ध स्वतः निहित नहीं होता।

4. **अल्पकालीन ऋण (Short-term loans):** ये ऋण सामान्यतः 15 माह की अवधि से लिए प्राप्त किए जाते हैं। तथा फसल कटने के बाद चुका दिए जाते हैं। ये ऋण उत्पादन या उपभोग कार्यों के लिए प्राप्त किए जाते हैं।

5. **मध्यकालीन ऋण (Medium-term loans):** इन ऋणों की अवधि 15 महीने से लेकर 5 वर्ष तक की होती है। ये ऋण प्रायः भूमि पर सुधार करने, पशु एवं कृषि यन्त्र खरीदने, कुआं खुदवाने आदि कार्यों हेतु लिए जाते हैं। इन ऋणों की मात्रा अधिक होती है तथा अधिक समय की अवधि के बाद चुकाए जाते हैं।

6. **दीर्घकालीन ऋण (Long-term loans):** इन ऋणों की अवधि 5 वर्ष से अधिक तथा प्राय 10 से 20 वर्ष तक की होती है। ये ऋण प्रायः भूमि खरीदने, पुराने ऋणों को चुकाने, मंहगे कृषि यन्त्र (ट्रैक्टर) खरीदने तथा अन्य पूंजी व्यय हेतू लिए जाते हैं।

कृषि साख के साधन
(Source of Agriculture Credit)

भारत में कृषि वित्त की अल्पकालिन, मध्यकालिन और दीर्घकालिन आवश्यकताओं को पूरा करने वाले स्त्रोतों को दो भागों में बांटा जाता है-

1. **गैर-संस्थागत स्त्रोत (Non-Institutional Sources):** इनके अन्तर्गत ग्रामीण साहूकार अथवा महाजन, व्यापारी एवं कमीशन एजेन्ट, मित्र एवं सम्बन्धी आदि को शामिल किया जाता है।

2. **संस्थागत स्त्रोत (Institutional Sources):** इसके अन्तर्गत सरकार सहकारी समीतियां तथा बैंकों को सम्मिलित किया जाता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् ग्रामीण संस्था देने वाले साधनों के तुलनात्मक महत्त्व में काफी परिवर्तन हुआ है। सन् 1951 से लगभग 90 प्रतिशत कृषि साख **गैर-संस्थागत** साधनों से और केवल 10 प्रतिशत कृषि साख संस्थागत साधनों से प्राप्त होती थी। परन्तु इन संस्थागत साख का योगदान 10 प्रतिशत से बढ़कर 25 प्रतिशत हो गया है। जबकि गैर-संस्थागत साख का योगदान 90 प्रतिशत से घटकर 25 प्रतिशत ही रह गया है। संस्थागत साख में व द्धि मुख्य रूप से सहकारी समीतियों तथा राष्ट्रीय बैंकों के कारण ही सम्भव हो सकी है। व द्धि साख के मुख्य साधनों का विवरण निम्नलिखित प्रकार से दिया जा सकता है।

1. **महाजन या गैर-संस्थागत स्त्रोत (Money lenderor Non-Institutional Sources):** गौर-संस्थागत स्त्रोतों से सबसे महत्त्वपूर्ण साधन साहूकार अथवा महाजन का है। ग्रामीण क्षेत्र में महाजन दो प्रकार के होते हैं।
   (a) **गैर पेशेवर महाजन-** इसमें वे व्यक्ति होते हैं जो मुख्य व्यवसाय के रूप में कृषि करते हैं परन्तु धनी होने के कारण कृषि के साथ सहायक व्यवसाय के रूप में धन के उधार देने का भी काम करती है।
   (b) **पैशेवर महाजन-** वो व्यक्ति जिनका मुख्य व्यवसाय ही उधार देना होता है।

गैर संस्थागत व्यवस्था की लोकप्रियता के कारण- (1) ऋण देने की प्रक्रिया अति सरल तथा कम औपचारिकता पुरी कराते हैं। (2) इनसे सम्पर्क करना आसान होता है। (3) यह उत्पादक और उपभोग दोनों ही उद्देश्यों के लिए ऋण देते हैं। (4) यह अल्पकालिन, मध्यकालीन अथवा दीर्घकालीन देने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। (5) यह बिना जमानत के ऋण प्रदान करते हैं। (6) यदि इनको समय पर ब्याज मिलता रहे, तो यह ऋण के मूलधन की वापसी पर जोर नहीं देते।

प्रमुख दोष/कमियाँ- (1) ब्याज की दर बहुत ऊंची होती है जो सामान्यतः 18 से 36 प्रतिशत तक हाती है। (2) किसानों को ऋण देते समय ब्याज पहले ही काट लेते हैं। (3) किसानों से उनकी फसल सस्ते दामों पर ही खरीद लेते हैं। (4) यह उत्पादक तथा गैर-उत्पादक ऋणों की सहजता से प्रदान कर, कृषकों में फिजूलखर्ची की आदत डाल देता है।

अतः जब तक देश ने सहकारी साख आन्दोलन का विस्तार नहीं हो जाता तब तक कृषि की व्यवस्था में महाजनों का प्रभुत्व बना रहेगा। इन पर नियन्त्रण करने के लिए समय-समय पर कई कानून बनाए गए हैं तथा व्याज की अधिकतम सीमा निश्चित की गई है।

2. **व्यापारी एवं कमीशन एजेन्ट-** ये भी किसानों को उत्पादक कार्यों के लिए ऋण प्रदान करते हैं। यह साख कुछ विशिष्ट फसलें-तम्बाकू, मूंगफली तथा फल आदि के लिए दिए जाते हैं। ये भी महाजनों की तरह शाषण की प्रक्रिया अपनाते हैं क्योंकि ये कृषकों को कम मूल्य पर फसल बेचने को बाध्य करते है तथा अधिक कमीशन वसूल करते हैं। 1950-51 में ग्रामीण साख में इनका हिस्सा 5.1 प्रतिशत था, जो 1990-91 में घटकर 2.5 प्रतिशत ही रह गया।

3. **संस्थागत स्त्रोत (Institutional Sources):** कृषि साख के संस्थागत साधन सहकारी संस्थाएं, भूमि विकास बैंक, व्यापारिक बैंक तथा क्षेत्रीय बैंक ग्रामीण बैंक आदि हैं। कृषि के लिए संस्थागत ऋण प्रवाह को अग्रलिखित तलिका से प्रदर्शित किया गया है।

तालिका

कृषि के संस्थागत ऋण प्रवाह का विवरण (करोड़ रु. में)

संस्थाएं	1998–99	1999–2000	2000–01	2003–02	2002–03 (लक्ष्य)
सहकारी बैंक	15,957	18,363	20,784	27,080	35,111
अल्पकालिक बैंक	12,571	14,845	16,564	21,542	24,171
मध्य/दीर्घकालिक बैंक	3,388	3,518	4,220	5,538	10,400
क्षेत्री ग्रामीण बैंक	2,460	3,172	4,219	4,956	5,745
वाणिज्य बैंक	18,443	24,733	27,714	31,964	41,217

स्त्रोत- आर्थिक समीक्षा 2002–03

1. **सहकारी संस्थाएं (Cooperative Institutions):** ग्रामीण साख के संस्थागत स्त्रोतों में सहकारी संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसानों को ग्रामीण साहूकारों के शोषण से मुक्ति दिलाने तथा कृषि कार्यकलापों के संचालन के लिए प्रर्याप्त और सस्ती ब्याज की दर पर ऋण उपलब्ध कराने के उद्देश्य से इनका सहकारी साख संस्थाओं का विकास किया गया। देश में इनका त्रिस्तरीय संगठन है-ग्रामीण स्तर पर प्राथमिक सहकारी समीतियां, जिस स्तर पर जिला सहकारी बैंक तथा राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक कार्य कर रहें हैं। ये संस्थाएं अल्पकालिन व मध्यकालिन ऋण सुविधाएं प्रदान करती हैं।

2. **सहकारी सतितियां (Cooperative Socities):** सहकारी समितियां कृषि साख एक महत्त्वपूर्ण स्त्रोत है। ग्रामीण साख की लगभग 41 प्रतिशत आवश्यकता सहकारी समीतियों द्वारा ही पूरी की जाती है। 1950-51 में कुल कृषि ऋण में इनका योगदान केवल 3 प्रतिशत था। सहकारी संगठन को ऋण की अवधि के अनुसार दो भागों में बांटा जा सकता है-

   (i) **कृषि सहकारी साख समितियां (Agriculture Cooperative Credit Societies):** पंचवर्षीय योजनाओं में इन समीतियों ने काफी प्रगति की है। 1950-51 में इन

समीतियों के अन्तर्गत केवल 9 प्रतिशत जनसंख्या थी जबकि अब लगभग 90 प्रतिशत जनसंख्या है। इन समितियों को जिला स्तर पर केन्द्रित सहकारी बैंक (Central Cooperative Banks) तथा राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक (State Cooperative Banks) से सहायता प्राप्त होती है। वर्तमान समय में देश के कुल कृषि ऋण वितरण में सहकारी बैंकों का हिस्सा 43 प्रतिशत है।

(ii) **भूमि विकास बैंक या सहकारी कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (Lond Development Banks or Cooperative Agricultural and Rural Development Banks):** किसानों की दीर्घकालीन साख की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए भूमि पर स्थायी सुधार कार्यों के लिए ऋण देते हैं। ये बैंक भूमि को बन्धक बना कर ऋण प्रदान करते हैं। इन बैंकों का नाम बदलकर अब प्राथमिक सहकारी कृषि एवं ग्राम विकास बैंक कर दिया गया है। इन बैंकों की सख्या जो 1950 में 286 थी, अब बढ़कर 2001-02 में 732 हो गई। जबकि राज्य सहकारी कृषि एवं ग्राम विकास बैंक की संख्या इसी अवधि में 5 से बढ़कर 20 तक पहुचँ गई है।

2. **व्यापारिक बैंक (Commercial Banks):** ये बैंक सन् 1969 से पहले कृषि साख का केवल 0.9 प्रतिशत भाग प्रदान करते थे, परन्तु इस वर्तमान समय (2002-2003) में देश के कुल कृषि ऋण वितरण में व्यापारिक बैंकों का हिस्सा 50 प्रतिशत है।

1969 में 14 तक 1980 में 6 व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीकरण के पश्चात् संगठित क्षेत्र कृषि की साख में बैंकों द्वारा दी गई साख का अनुपात बढ़ कर 26 प्रतिशत हो गया। सन् 2002 देश में कार्यरत व्यापारिक बैंकों की 49 प्रतिशत शाखाएं ग्रामीण क्षेत्र में थी।

3. **स्टेट बैंक (State Bank):** स्टेट बैंक कृषि कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार की साख सुविधाएं प्रदान करता है। (1) यह बैंक सहकारी समीतियों को नीची दर पर प्रत्यक्ष ऋण देती है। (2) यह बैंक ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएं खोल कर कृषकों को प्रत्यक्ष रूप से वित्त की सुविधाएं उपलब्ध करवाने का प्रयास कर रहा है। वर्तमान में स्टेट बैंक 41 प्रतिशत शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रों में है। (3) इन बैंकों ने कृषि को अधिक साख देने के लिए (Village Adoption Scheme) गांव अंगीकृत योजना आरम्भ की है। (4) किसानों को ट्रैक्टर, ट्यूबवैल व अन्य कृषि मशीनरी खरीदने के लिए ऋण प्रदार करता है।

4. **ग्रामीण क्षेत्रीय बैंक (Regional Rural Banks):** लघु एवं सीमान्त कृषकों एवं भूमिहीन कृषि श्रमिकों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए 2 अक्टूबर, 1975 को एक ग्रामीण बैंकों की स्थापना की गई। इनका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण साख प्रदान करना है। इन बैंको के ऋणों का 90 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों के कमजोर वर्गों को दिया जाता है। देश के कुल कृषि ऋण प्रवाह में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का हिस्सा 7 से 8 प्रतिशत है।

5. **राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NBARD–National Bank for Agriculture and Rural Development):** देश में कृषि साख व्यवस्था को सुद ढ़ करने, विभिन्न साख संस्थाओं के कार्यों में समन्वय स्थापित करने तथा कृषि साख को एक छत के नीचे लाने के उद्देश्य से 12 जुलाई, 1982 को ''राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास

बैंक'' की स्थापना की गई। इस बैंक को कृषि साख के ''सर्वोत्तम बैंक'' के रूप में स्थापित किया गया। यह बैंक देश के कृषि विकास तथा ग्रामीण विकास एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। तथा इस बैंक का मुख्य कार्य, राज्य सरकारों, राज्य सहकारी बैंकों, भूमि विकास बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों अब अन्य वित्तिय संस्थाओं द्वारा लघु तथा कुटीर उद्योगों, हस्तकला एवं ग्रामीण विकास आदि के लिए दिए गए ऋणों का पूर्नर्वित करना है। सन् 2001-02 में (NBARD) ने अल्पकालिक ऋण के रूप में 6,485 करोड़ रुपये स्वीकृत किए। तथा इस अवधि में 894 करोड़ रुपये के मध्य एक दीर्घकालिक ऋण वितरित किए।

6. **किसान क्रेडिट कार्ड स्कीम (Kisan Credit Card Scheme):** सरकार ने 1998-1999 से किसान क्रेडिट कार्ड योजना आरम्भ की है। जिसके अन्तर्गत व्यापारिक बैंको, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों तथा सहाकरी बैंकों से कार्ड धारकों की तरन्त साख उपलब्ध हो जाती है। ये कार्ड उन किसानों को जारी किए जाते हैं, जो 5,000 रुपये या उससे ऊपर की साख प्राप्त करने योग्य हैं। किसान कार्ड, वार्षिक समीक्षा की शर्त पर 3 वर्ष के लिए वैध होगी। सितम्बर, 2002 तक 27.1 मिलियन किसान क्रेडिट कार्ड जारी किए थे जिसमें 64,000 करोड़ रु. की ऋण स्वीकृतियां शामिल थी।

7. **राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना (National Agriculture Insurance Scheme):** यह योजना कृषि मन्त्रालय की ओर से साधरण बीमा निगम (GIC) द्वारा कार्यान्वित की जा रही है जिसका मुख्य उद्देश्य सुखे, बाढ़, ओलाव ष्टि, आग, कीट/बीमारियों तथा चक्रवात जैसी प्राकृतिक विपदाओं के कारण फसल को हुई क्षति से किसानों का संरक्षण करना है ताकि आगामी मौसम में उनकी ऋण साख बहाल हो सके।

कृषि साख की समस्याएं
(Problems of Agriculture Credit)

कृषि-ऋण, अन्य उद्यमों के एिल प्राप्त ऋण के भिन्न होता है जिसका मुख्य कारण कृषि उद्यम की कुछ विशेषताओं का होना है। कृषि-ऋण की समस्याएं अन्य व्यवसायों की ऋण समस्याओं से भिन्न होती हैं। कृषि-ऋण की प्रमुख समस्याएं निम्न हैं।

1. **अपर्याप्त उपलब्धि (Inadequate Availibility):** कृषि की आवश्कताओं को देखते हुए कृषि की उपलब्धि अपर्याप्त है। यद्यपि कृषि साख की मात्रा में भारी व द्धि हुई है परन्तु हमारी जनसंख्या में व द्धि तथा कृषि उपकरणों खाद व बीजों आदि के मूल्य में भारी व द्धि को ध्यान में रखकर देश जाए तो यह रकम अभी भी हमारी कृषि साख आवश्यकताओं की तुलना से काफी कम है।

2. कृषि ऋणों की कम वसूली (Less Recovery of Agricultural Credit): कृषि ऋणों की वसूली में कमी तथा बन्धया ऋण की व द्धि ने भी कृषि साख को प्रभावित किया है। फिर तीन-चार वर्षों में 40 से 42 प्रतिशत ऋण राशि बकाया के रूप में रही है। इससे सहकारी संस्थाओं तथा बैंकों को अन्य व्यक्तियों को कृषि साख सुविधाएं उपलब्ध कराने में बाधा आई है।

3. **निर्धन कृषकों को कम साख (Less Credit to poor farmers):** कृषि साख का लाभ: उन निर्धन कृषकों को नहीं मिल पाता। जिन्हें इसकी वास्तव में आवश्यकता होती है। अधिकतर ऋण धनी तथा प्रभावशाली किसान प्राप्त कर लेते हैं। इसके फलस्वरूप जहां एक और ऋण की वसूली में बाधा आती है, वहीं दूसरी और जरूरतमंद कृषकों

को ऋण नहीं मिल पाता।

4. **ऋणों की अपर्याप्त मात्रा (Inadequate amount of Loans):** कृषि साख की एक मुख्य समस्या ऋणों की अपर्याप्त मात्रा है। समान्यतः देखा गया है कि कृषकों को पर्याप्तमात्रा में ऋण नहीं मिलता। इस कारण उस ऋण का प्रयोग वे कृषि कार्यों में न करके बल्कि अपनी सामाजिक आवश्कताओं की पूर्ति में लगा देते हैं। जिसके फलस्वरूप कृषि साख का उद्देश्य पुरा नहीं हो पाता तथा कृषि वसूली की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

5. **देरी से कार्यवाही या लाल फीताशाही (Red Tapism):** कृषि प्रदान करने वाली समस्याओं की कागजी करवाई इतनी लम्बी-चौड़ी तथा तटिल होती है कि गांव के गरीब तथा अशिक्षित किसानों के लिए ऋण सम्बन्धी सारी औपचारिकताएं पूरी करना मुश्किल हो जाता है। इससे कृषकों को ऋण मिलने में कठिनाई आती है।

6. **ऋण वापस करने की अनिश्चित क्षमता (Uncertain Capacity of Refunding Loans):** अधिकतर किसानों की ऋण वापिस करने की क्षमता अनिश्चित होती है। पर्याप्त सिंचाई सुविधाएं न होने के कारण कृषि आज भी मानसून का जुआ है। अगर कृषक को ऋण मिल भी जाए, परन्तु वर्षा पर्याप्त न होने के कारण उसकी ऋण चुकाने की क्षमता प्रभावित होगी। इसके फलस्वरूप बैंकों को नई साख सुविधा उपलब्ध कराने में कठिनाई होगी।

7. **अपर्याप्त संस्थागत साख सुविधाएं (Inadequate Institutional Credit Facilities):** भारत में अभी भी संस्थागत साख सुविधाएं अपर्याप्त हैं। प्राथमिक कृषि साख समीतियां, ग्रामीण बैंकों तथा व्यापारिक बैंकों की शाखाओं की संख्या अभी भी अपर्याप्त हैं। बहुत ही ग्रामीण क्षेत्र इनकी सुविधाओं से वंचित हैं। वहां के निवासियों को कृषि सम्बन्धी ऋण प्राप्त करने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

कृषि साख की कमियों को दूर करने के सुझाव
(Suggestions to Remove Limitations of Agricultural Credit)

(i) सहकारी समीतियों को अधिक उपयोग तथा कुशल बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। बहु-उद्देशीय समीतियों (Multipurpose Socieities) की संख्या में व द्धि करनी चाहिए। सहकारी संस्थाओं को काफी मात्रा में धन मिलना चाहिए।

(ii) सरकार द्वारा दिए गए कर्जे की कमियों को दूर करके उनमें सुधार करना चाहिए।

(iii) रिजर्व बैंक को दीर्घकालिन ऋण के लिए अधिक धन उधार देना चाहिए।

(iv) अमेरिका की तरह ''साख गारन्टी संस्था'' आरम्भ की जानी चाहिए जो किसानों को दिये जाने वाले ऋणों की गारन्टी दे सके।

(v) सहकारी संस्थाओं, पोस्ट आफिसों, बचत बैंकों द्वारा किसानो को बचत करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए।

(vi) भारत में गोदामों (ware houses) की स्थापना पर अधिक बल दिया जाना चाहिए जिनकी रसीद पर किसानों या ग्रामीण बैंकों से अधिक धन उधार मिल सकें।

(vii) महाजनों तथा व्यापारियों के काम को नियन्त्रित किया जाना चाहिए तथा उनको संगठित करने का प्रयन्त किया जाना चाहिए।

(viii) कृषक कभी-कभी विभिन्न संस्थाओं से एक ही वस्तु के बन्धक पर कई ऋण प्राप्त करे लेते हैं, जिसके कारण ऋण वसूली में परेशानी होती है। इसे दूर करने के लिए कृषकों के ऋण कार्ड दिये जाने चाहिए। इससे विभिन्न संस्थाओं से लिए गए ऋण का विवरण, राशी भूगतान और वस्तुओं का पर्ण विवरण होना चाहिए, जिसे देखकर ऋण देने वाली संस्था कृषक की स्थिति का पता लगा सके और भविष्य मे होने वाली संस्था कृषक की स्थिति का पता लगा सके और भविष्य में होने वाली समस्याओं से बच सकें।

(ix) भु-राजस्व अधिकारियों द्वारा भूमि की जोत, कुआं आदि प्रमाणित कराने की आवश्यकता परेशानी को दूर करने के लिए कृषकों की भूमि की जोत को पास बुक देनी चाहिए। इस पास बुक में सभी आवश्यक जानकारी अंकित होनी चाहिए जैसे सिंचित, असिंचित क्षेत्रफल, भूमि की किस्म, खेतों की संख्या, कुआँ आदि। इस पास बुक में कृषक द्वारा बन्धक बैंकों से प्राप्त ऋण भी अंकित होना चाहिए जिससे ऋण देने वाली संस्थाएं पास बुक को बन्धक रखकर ही ऋण दे सकें।

(x) ऋण देने वाली संस्था को ऋण स्वीकृति से ऋण के पूर्ण भूगतान तक सम्बन्धित कार्यों की पूर्ति के लिए नियन्त्रक और आवश्यकतानुसार तकनीकी ज्ञान प्रदान करना चाहिए।

(xi) कृषकों को ऋण पर लगने वाले अतिरिक्त ब्याज से बचाने के लिए ऋण कार्ड की सुविधा प्रदान करनी चाहिए। ऋण का भुगतान एक किश्त में न करके आवश्यकतानुसार समय-समय पर करने की सुविधा होनी चाहिए। भुगतान की रकम का ब्यौरा ऋण कार्ड में दिया जाना चाहिए।

(xii) कभी-कभी ऋणदाता और ऋण लेने वाले के बीच मध्यस्थों की कड़ी पाई जाती है जो दोनों वर्गों के लिए हानिकारक है। अतः इस गलत कार्य को बन्द करने की पूरी कोशिश करनी चाहिए।

(xiii) उत्पादक ऋण के साथ-साथ कृषकों को आवश्यक उपभोग कार्यों के लिए भी ऋण प्रदान करना चाहिए।

(xiv) ऋण देने वाली संस्थाओं द्वारा फसल पद्धति या निर्धारण ऋण पद्धति या निरीक्षण ऋण पद्धति अपनानी चाहिए। इस पद्धति के अर्न्तगत ऋण देने वाली संस्थाएं ऋण स्वीकृति के अतिरिक्त कृषक को ऋण के उपयोग, तकनीकी ज्ञान, नए उत्पादन साधानों के उपभोग के विषय में जानकारी देती हैं और ऋण के उपयोग पर ध्यान रखती है, जिससे कृषक ऋण का पूरा लाभ उठा सकें।

कृषिगत साख पुनर्निरीक्षण समीति (Agriculture Credit Review Committee): भारत सरकार के आग्रह पर रिजर्व बैंक ने 1987 में प्रो. खुसरों की अध्यक्षता में कृषिगत साख जाँच समिति (Agriulture Credit Review Committee) की नियुक्ती की थी। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट 1989 में प्रस्तुत की थी। इस समिति के अनुसार भारत में संस्थागत विसाख (Institutional Finance) के विकास के फलस्वरूप किसान काफी सीमा तक महाजन के चुंगल से स्वन्त्र हो गया है। परन्तु अभी तक लघु तथा मध्यम श्रेणी के किसानों को आवश्कतानुसार साख नहीं मिल रही है। इस समीति के मुख्य सुझाव निम्नलिखित हैं।

1. श्रेत्रीय ग्रामीण बैंक अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो सकते। उन्हें सम्बन्धित बैंकों में ही मिला दिया जाना चाहिए।
2. भारत में एक राष्ट्रीय सहकारी बैंक (National Cooperative Bank) स्थापित किया जाना चाहिए।
3. एक फसल बीमा निगम (Crop Insurance Corporation) स्थापित की जानी चाहिए जो फसल बीमा योजना को लागू करेंगी।
4. तीन पूर्वी राज्यों अर्थात् बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल के लिए अलग-अलग तथा बाकी सभी राज्यों के लिए कृषि एवं ग्रामीण अद्योसंरचना विकास निगम (Agriculture and Rural Infrastructure Development Corporation) स्थापित की जानी चाहिए। इस निगम को राज्यों में कृषि का तीव्र गति से विकार करना चाहिए। जिससे कृषि में प्रादेशिक असन्तुलन को कम किया जा सके।
5. कृषि ऋणों पर केवल दो प्रकार की ब्याज दर लागू होनी चाहिए- (i) लघु एवं सीमान्त किसानों के लिए रियायती ब्याज की दर। (ii) बाकी किसानों के लिए व्यावसायिक दर जिससे कृषि साख को लाभदायक बनाया जा सके।
6. सरकारी तथा व्यापारिक बैंकों के लिए ऋण वसूली के कानून एक समान होने चाहिएं।
7. ग्रामीण बैंकर्स को परीक्षण देने के लिए शीर्ष एजेन्सी (Apex Agency) की स्थापना की जानी चाहिए।

कृषि ऋण-ग्रस्तता
(Rural Indebtedness)

भारतीय किसान सारा साल उधार लेता है परन्तु वह उनका भुगतान नहीं कर पाता क्योंकि या तों ये ऋण बहुत अधिक होते हैं या उसका कृषि उत्पादन इतना अधिक नहीं होता कि वह ऋण का भुगतान कर सके। परिणामस्वरूप कृषक का ऋण बढ़ता चला जाता है। और इसे ही ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता कहा जाता है। भारत में एक प्रसिद्ध कहावत है कि ''भारतीय किसान कर्जे में जन्म लेता है, कर्जे में ही जीवन व्यतीत करता है और कर्जे में ही त्याग देता है।''

ग्रामीण ऋण का विस्तार (Extent of Rural Indebtedness)

तालिका

अनुमान कर्त्ता	वर्ष	कर्जे की रकम (करोड़ रुपये)
1. श्री मैक लेगन	1911	300
2. श्री एम. एल. डार्लिंग	1925	600
3. केन्द्रिय बैंकिंग जांच समिति	1931	990
4. प्रो. पी. जे. थोमस	1933	2200
5. श्री आर. के. मुखर्जी	1935	1200
6. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया	1937	1800
7. श्री मेनन	1938	1100
8. डॉ. एन. एस. नायडू	1938	1100
9. अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति	1951-52	750

Contd...

10. राष्ट्रीय आय समिति	1954	913
11. एस थिरुमलाई	1956	1800
12. वित्त मन्त्रालय	1962	2,762
13. अखिल भारतीय ऋण तथा विदेश सर्वेक्षण से	1972	4,000

ग्रामीण ऋणग्रस्तता की विशेषताएं
(Features of Rural Indebitedness)

1991-92 में रिजर्व बैंक ने अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण तथा विनियोग सर्वेक्षण की व्यवस्था की तथा इस सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार भारत में ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं।

(i) भारत में 23.4 प्रतिशत कृषक परिवार ऋणग्रस्त हैं।

(ii) प्रति परिवार ऋण औसतन 1906 रुपये है।

(iii) सभी ग्रामीण परिवारों के सन्दर्भ में संस्थाजनक ऐजन्सियों का ऋण में भाग जो 1971 में 29.2 प्रतिशत था बढ़कर 1991 में 64 प्रतिशत हो गया तथा इसी अवधि में गैर-संस्थानात्मक ऋण 70.8 प्रतिशत से घटकर 32.7 प्रतिशत ही रह गया।

ग्रामीण ऋण के कारण
(Causes of Rural Indebtedness)

भारत में ग्रामीण ऋणग्रस्तता के मुख्य कारण निम्नलिखित है-

1. **कृषिकों की निर्धनता (Poverty of Farmers):** कृषक की निर्धनता तथा उसकी दयनीय आर्थिक स्थिति ही ग्रामीण ऋणग्रस्तता का प्रमुख कारण है। कृषक अत्यन्त निम्न आय से अपनी आधारभूत आवश्यकताओं को भी नहीं पूरा कर पाते अतः उन्हें कृषि में किसी भी सुधार करने या किसी आपत्ति आने पर ऋण लेना पड़ता है। कृषि के पिछड़ेपन के कारण अधिक मात्रा में अधिशेष उपलब्ध नहीं हो पाता जिसके कारण ऋण की वापसी कठिन हो जाती है।

2. **पैत क ऋण (Ancestoral Debt):** ग्रामीण ऋणग्रस्तता का एक प्रमुख कारण पैत क ऋण भी है जो उचित प्रबन्धक के आभाव में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है और समय के साथ बढ़ता जाता है। भारत में पैत क ऋण चुकाना अपना नैतिक दायित्व व पुनीत कर्त्तव्य समझा जाता है।

3. **भूमि पर जनसंख्या के भार में व द्धि (Increase in the burden of debt of Land):** भारत में तेजी से जनसंख्या व द्धि के कारण भूमि पर जनसंख्या का भार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। कृषि भूमि सीमित है परन्तु इस पर निर्भरता बढ़ने से खेती का उपविभाजन तथा विखण्डन की समस्या भी बढती जा रही है। खेतों के छोटे आकार होने के कारण इतना उत्पादन भी नहीं हो पाता कि किसान अपने सब खर्चों को पूरा कर सके। अतः उन्हें और कर्जे लेने पड़ते हैं।

5. **फिजूल खर्च (Extravegant):** भारतीय किसान समाजिक रीतियों के अनुसार शादियों, धार्मिक त्यौहारों, जन्म-म त्यु आदि पर भी उधार लेकर बहुत अधिक धन खर्च करता है।

6. **मुकद्दमेबाजी की प्रव त्ति (Tendency of Litigation):** ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि-सम्बन्धी निवादों को लेकर या अन्य व्यक्तिगत कार्यों से बात-बात पर अदालतों की शरण लेते हैं तथा मान-मर्यादा की रक्षा के नाम पर भी वे ऊंची अदालतों में जाने से नहीं झिझकते। देश में मुकद्दमेबाजी, समय तथा साधन की द ष्टि से बहुत महंगी है। इसी मुकद्दमेबाजी के कारण उन्हें अधिक कर्जा लेना पड़ता हैं।

7. **साहूकारों की कुरीतियां (Mal practices of Monylenders):** साहूकार उधार प्राप्त करने वालों की भूमि हथियाना चाहते हैं। परिणामस्वरूप वे किसानों को ऋण लेने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, उस पर ब्याज की बहुत ऊंची दर वसूल करते हैं, और झूठे खाते रखते हैं तथा इन खातों में किसान पर ऋण की राशि बहुत बढ़ जाती है, तो वे उन्हें अपनी भूमि का स्वामित्व छोड़ने के लिए मजबूर करते हैं।

8. **वैकल्पिक एवं पूरक आय साधनों का आभाव (Lack of Alternative and Supplementary Sources of Income):** यदि ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि के अतिरिक्त आय एवं रोजगार के पूरक साधन भी उपलब्ध हो सके तो ग्रामीणों की आय में सुधार होगा और वे ऋण को बाध्य नहीं होंगे।

9. **दोषपूर्ण विपणन प्रणाली (Defective Marketing System):** मध्यस्थों के आधिक्य तथा मण्डियों में व्यापक कुरीतियों के फलस्वरूप कृषकों को अपनी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। गांव में ही बेचने पर महाजन, जिससे उसने ऋण लिया था, सस्ते मूल्य पर फसल खीरदने के प्रयास करता है। इस तरह, दोनों ही परिस्थितियों में किसानों को उचित मूल्य नहीं मिल पाता। परिणामस्वरूप उसकी आय कम हो जाती है तथा आवश्यक खर्चों के लिए भी उसे ऋण लेना पड़ता है।

10. **भूमि की कमियों को दूर करने में असमर्थक (Failure to Provide for Defficiency of Land):** अच्छी खाद, उत्तम बीज और खेती की उन्नत विधियों के आभाव में भूमि का उत्पादन घटता जाता है। (वैसे भी खेती पर घटते उत्पादन का नियम लागू होता है) किसान अपनी निर्धनता के कारण खेती में सुधान नहीं कर पाता और उसकी आय और कम हो जाती है।

11. **आगतों की लागतों में व द्धि (Increase in Input Cost):** कृषकों के उपभोग वाले गैर कृषि उत्पादों तथा कृषि उपकरणों एवं आगतों में निरन्तर व द्धि होती जा रही है परन्तु कृषि उत्पादों के मूल्य में उसी अनुपात में व द्धि नहीं हो पाती। परिणामस्वरूप कृषकों को कृषि अपनी ही आय से अधिक मात्रा में व्यय करना पड़ता है। इन व्ययों की पूर्ति हेतू कृषकों को ऋण लेने हेतू बाध्य होना पड़ता है। इस तरह से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय किसान जिस सामाजिक और आर्थिक परिवेश में रहता है उसमें उसके लिए ऋण लेना एक मजबूरी है। क्योंकि उसके अधिकांश ऋण अनुत्पादक होते हैं और वित्तिय संस्थाओं द्वारा उन्हें सस्ती साख सुविधाएं उचित समय पर उपलब्ध नहीं करायी जाती है और कृषि एक अलाभकारी व्यवसाय बना हुआ है, अतः वह सदा ऋणग्रस्त बना रहता है।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता के परिणाम
(Consequences of Rural Indebtedness)

भारत में अलाभकारी कृषि एवं निर्धनता से अधिकांश ऋण अनुत्पादक कार्यों हेतु लेते हैं जिसे वे वापिस करने में असमर्थ रहते हैं। कृषकों की इस भारी ऋणग्रस्तता का उनके

आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक जीवन पर बहुत ही गम्भीर प्रभाव पड़ता है। मख्य प्रभाव निम्नलिखित हैं-

1. **आर्थिक परिणाम (Economic Consequences):** आर्थिक द ष्टि से बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता के नतीजे के तौर पर छोटे एवं सीमान्त किसान का दरिद्रीकरण (Pauperisation) बढ़ा है। छोटे किसान अपनी भूमि साहूकारों के पास गिरवी रख देते हैं। या अन्ततः यह भूमि उनके हाथों से छिन ली जाती है। अतः वे भूमिहीन श्रमिको की श्रेणी में पहुंच जाते हैं।

   इसके अतिरिक्त छोटे किसान पर दोहरी भार पड़ती है-वह अपनी उपज की कम कीमत प्राप्त कर पाता है, परन्तु आगत (Inputs) खरीदने के लिए उसे अधिक कीमत देनी पड़ती है। अतः ग्रामीण ऋणग्रस्तता भारतीय किसानों की निर्धनता का कारण भी है और परिणाम भी। जब किसान ने लम्बे समय के लिए ऋण लिए होते हैं तो उसकी आय का आधा से अधिक भाग ऋण चुकाने में चला जाता है। उसे अपना जीवन-निर्वाह करना भी कठिन हो जाता है।

2. **सामाजिक एवं नैतिक परिणाम (Social & Moral Consequences):** कृषकों की ऋणग्रस्तता का प्रभाव उनके सामाजिक जीवन पर ही पड़ता है। ब्याज की ऊंची दरों व अन्य कारणों से ऋण दाताओं एवं ऋणप्राप्तकर्त्ताओं में परस्पर मतभेद अविश्वास, घूणा एवं विरोध की भावनाएं जन्म लेती है। फलस्वरूप तरह-तरह के झगड़े उत्पन्न होते हैं। तथा मुकद्दमेबाजी प्रारम्भ हो जाती है। कृषकों के भूमिहीन हो जाने के कारण उनके पास आजीविका का कोई भी साधन नहीं रह जाता। परिणामस्वरूप उन्हें बड़े-बड़े भू-स्वामियों एवं साहूकरों पर निर्भर रहना पड़ता है। उनकी स्थिति एक दास की तरह होती है। प्रायः उनके घरों की इज्जत भी सुरक्षित नहीं रहती। ऋण लेने और भूमि खोने के बाद किसान प्रायः अपना मानसिक स्तर खो बैठते हैं। उनका जीवन निराशापूर्ण एवं कुण्ठग्रस्त हो जाता है तथा वे अनैतिक कार्यों में सलिप्त हो जाते हैं। झूठ, बेईमानी, धोखेबाजी, तथा अनेक तरह की अनैतिकता में व द्धि हो जाती है। ऋणग्रस्तता के परिणामस्वरूप ग्रामीण जनता का नैतिक पतन हो जाता है।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या का समाधान
(Remedies of the Problems of Rural indebtedness)

ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या को सुलझाने के लिए निम्नलिखित प्रयास किये जा सकते हैं।

1. **कृषकों की आर्थिक स्थिति में सुधार (Improvement in the economic condition of farmers):** कृषकों की ऋणग्रस्तता का मुख्य कारण उनकी निर्धनता है। अतः उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हेतु प्रयास किया जाना चाहिए। इसके लिए देश में औद्योगिकरण को बढ़ावा दिए जाने के साथ-साथ कृषि से सम्बन्धित कुटीर एवं ग्रामीण उद्योगों का विकास किया जाना चाहिए। इससे कृषकों की आर्थिक स्थिति भ मजबूत होगी, और उन्हें ऋण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसके अतिरिक्त यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि बड़े-बड़े कृषकों के साथ-साथ छोटे-छोटे सीमान्त किसान भी बेहतर कृषि कर सके।

2. **अनावश्यक एवं अनुत्पादन व्ययों की कमी (Reduction in Unnecessary and Unproductive Expenses):** कृषक के अनावश्यक एवं अनुत्पादक व्ययों को हतोत्साहित

करने का प्रयास किया जाना चाहिए। इसके लिए-

(i) पंचायत प्रणाली को प्रोत्साहन किया जाना चाहिए ताकि गांव के झगड़े गांव में ही निपट जाएं और मुकद्दमेबाजी में होने वाला अनावश्यक खर्च बच जाए।

(ii) ऐसा सामाजिक वातावरण बनाया जाना चाहिए ताकि शादी-विवाह, जन्म-म त्यु तथा अन्य सामाजिक उत्सवों आदि पर होने वाला अनुत्पादक व्यय समाप्त हो सके।

(iii) रहन-सहन सुधार समितियों की स्थापना की जानी चाहिए, जो किसानों को सादा-जीवन एवं उच्च विचार, अच्छे स्वास्थ्य के लिए खेल-कूद एवं चिकित्सा आदि की शिक्षा एवं सलाह दे तथा सामाजिक उत्सवों पर होने वाले अनावश्यक व्ययों के विरुद्ध प्रचार करें।

3. **सहकारी समीतियों की स्थापना** **(Establishment of Coperative Societies):** बहु-उद्देश्यीय सहकारी समीतियों का गठन किया जाना चाहिए जो किसनों की साख सुविधा उपलब्ध कराने के साथ-साथ विपणन तथा भूमि-सुधार आदि से भी किसानों की सहायता करे।

4. **लगान व्यवस्था में सुधार** **(Improvement in Rent System):** लगान के नियमों और अधिक उदार बनाया जाना चाहिए तथा प्राकृतिक आपदा आदि के समय कृषकों के लगान में छूट दी जानी चाहिए।

5. **आपदा कोष** **(Natural Calamities-Relief Fund):** आपदा के समय किसानों को आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। इसके लिए एक आपदा कोष बनाना चाहिए।

6. **फसल का बीमा** **(Crop Insurance):** किसानों की फसल का बीमा किया जाना चाहिए ताकि फसल के नष्ट होने या अन्य किसी कारणवश फसल के न होने पर किसानों को क्षतिपूर्ति दी जा सके।

7. **पुराने ऋणों से मुक्ति** **(Freedom from Old Debts):** किसानों की ऋणग्रस्तता से छुटकारा दिलाने के लिए आवश्यक है कि एक सीमा तक उनके पुराने तथा वर्तमान ऋणों से छुटकारा दिलाया जाना चाहिए तथा उन्हें सलाह दी जानी चाहिए कि वे भविष्य में अनुत्पादक ऋण को लेने से बचें। आवश्कता पड़ने पर इन खेतीहर मजदूरों, भूमिहीन तथा सीमान्त कृषकों को सरकार द्वारा अनुदान दिया जाना चाहिए।

8. **नए ऋण पर नियन्त्रण** **(Control over new Debts):** कृषकों को उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण की सुविधा दी जानी चाहिए तथा इस बात की भी निगरानी की व्यवस्था होनी चाहिए कि वे प्राप्त ऋणों का अनुत्पादक कार्यों में न खर्च करने पाएं। यदि आवश्यक हो तो उन्हें ऋण मुद्रा में न देकर, खाद, बीज, कृषि यन्त्रों आदि के समय दिया जाना चाहिए।

9. **साहूकारों पर उचित नियन्त्रण** **(Control over Moneylenders):** साहूकारों की क्रियाओं पर उचित कानूनी नियन्त्रण लगाया जाना चाहिए ताकि वे अवैधानिक अथवा अनियमित कार्य न कर सकें।

10. **साख संस्थाओं का विस्तार** **(Expension of Credit Societies):** ग्रामीण क्षेत्रों में रियायती दरों पर साख उपलब्ध कराने वाली संस्थाओं का विस्तार किया जाना चाहिए।

कृषि विपणन
(Agricultural Marketing)

भूमिका (Introduction): कृषि पदार्थों के उत्पादन के साथ-साथ उसके आधिक्य के बिक्री की व्यवस्था करना भी आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण होता है। आज कृषि जीवन-निर्वाह का साधन मात्र ही नहीं रह गई बल्कि औद्योगिक विकास का एक माध्यम तथा कृषकों के सुख एवं सम द्धि का आधार भी बन गई है। वर्तमान समय में कृषक केवल खाद्यान्नों का ही उत्पादन नहीं करता बल्कि व्यापारिक फसलों जैसे गन्ना, कपास, तिलहन आदि भी उत्पन्न करता है (जिसे कृषि का व्यावसायीकरण भी कहा जाता है)। इन फसलों एवं खाद्यान्नों के आधिक्य की बिक्री करना आज कृषकों की एक प्रमुख समस्या है। एक उचित कृषि विपणन व्यवस्था से कृषकों की आय में व द्धि होती है परिणामस्वरूप कृषक उत्पादन बढ़ाने का भरपूर प्रयास करता है। उत्पादन बढ़ाने से एक और तो खाद्यान्न की समस्या हल होती है, तो दूसरी कृषकों की आय में व द्धि के कारण उनका जीवन स्तर सुधरता है और देश के विकास को गति मिलती है।

कृषि का विपणन का अर्थ (Meaning of Agricultural Marketing): सामान्य कृषि उपज के विपणन या बिक्री से तात्पर्य उन समस्त क्रियाओं से लगाया जाता है जिसके द्वारा कृषि उपज उपभोक्ताओं तक पहुंचती है। प्रो० जोन एवं प्रो० खुसरों के अनुसार, ''खाद्यान्न विपणन के अन्तर्गत उन क्रियाओं को शामिल किया जाता है जो खाद्यान्नों को उत्पादकों से उपभोक्ताओं तक पहुंचाने के लिए समय (भण्डारण), स्थान (परिवहन), स्वरूप (परिनिर्माण) एवं स्वामित्व परिवर्तन, आदि विपणन प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों पर की जाती है।'' कृषि पदार्थों की बिक्री में शामिल होने वाली मुख्य क्रियाएं निम्नलिखित हैं-एकत्रीकरण (Collection), उनका श्रेणीकरण तथा प्रमाणीकरण (Grading and Standardisation), परिष्कण Processing), संग्रहण एवं भण्डारण Preservation and Storage), परिवहन (Transportation), पैकेजिंग (Packaging) और विपणन वित्त (Marketing Finance).

बिक्री योग्य आधिक्य
(Marketable Surplus)

किसी उत्पादक की उपज का वह अतिरिक्त भाग, जो पारिवारिक उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद, बाजार में बेचा जाता है उसे बिक्री योग्य आधिक्य कहा जाता है। किसी अल्प-विकसित देश के आर्थिक विकास में कृषि वस्तुओं के बिक्री योग्य आधिक्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है जिसे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

1. **नगरीय जनसंख्या की खाद्यान्नों की आपूर्ति (Foodgrains's Supply forUrban Population):** आर्थिक विकास की प्रक्रिया के साथ-साथ औद्योगिकीकरण को भी बढ़ावा मिलता है, परिणामस्वरूप गांवों की जनसंख्या भी नगरों में बसने लगती है। इस बढ़ती हुई नगरीय जनसंख्या को अधिक से अधिक खाद्यान्न की आवश्यकता पड़ती है। यदि कृषक अपने-अपने अतिरिक्त खाद्यान्न को बाजार में न बेचें तो नगरीय जनसंख्या का जीवन निर्वाह मुश्किल हो जाएगा।

2. **उद्योगों को कच्चे माल की आपूर्ति (Supply of Raw Materials to Industries):** अनेक उद्योगों को कृषि से ही कच्चा माल प्राप्त होता है। अतः यदि कृषि उत्पादन में व द्धि न हो तथा कृषक के पास बिक्री योग्य आधिक्य न रहे तो उद्योगों की

कच्चे माल की आवश्यकता पूरी नहीं हो पाएगी जिसके फलस्वरूप उद्योगों का विकास बुरी तरह प्रभावित होता है।

3. **आर्थिक विकास के लिए पूंजी निर्माण (Capital Formation for Economic Development):** कृषकों के पास बिक्री योग्य आधिक्य होने से ही आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूंजी निर्माण प्राप्त हो सकते हैं। यही कारण है जापान में पहले कृषि का विकास किया गया फिर उससे प्राप्त आय का प्रयोग औद्योगीकरण के लिए किया गया।

आर्थिक विकास में कृषि विपणन की भूमिका
(Role of Agricultural Marketing in Economic Development)

मिश्रा एवं पूरी के अनुसार ''कृषि वस्तुओं की विपणन व्यवस्था में सुधार से देश के आर्थिक विकास में सहायता प्राप्त होगी। देश के आर्थिक विकास में कृषि विपणन की भूमिका की निम्नलिखित तथ्यों से व्याख्या की जा सकती है:

1. **कृषकों के लिए महत्व (Importance for Farmers):** कृषि क्षेत्र में तकनीकी परिवर्तनों के फलस्वरूप देश में कृषि उत्पादोंकी मात्रा में पर्याप्त व द्धि हुई है परन्तु कृषकों को कृषि उत्पादों के विक्रय से अधिकतम आय तभी ही प्राप्त हो सकती है जब इन कृषि उत्पादों के विक्रय हेतु देश में एक सुव्यवस्थिति विपणन प्रणाली विद्यमान है। उपयुक्त विपणन प्रणाली से कृषकों को अपने उत्पाद की उचित कीमत प्राप्त होती है तथा विक्रय लागत कम होती है। फलस्वरूप कृषकों को उत्पादन में व द्धि करने के प्रेरणा प्राप्त होती है। कृषि उत्पादों में व द्धि से राष्ट्रीय अय में व द्धि होगी जो देश के आर्थिक विकास का सूचक है।

2. **उपभोक्ताओं के लिए महत्व (Importance for Consumers):** कृषि विपणन द्वारा देश में उपलब्ध खाद्यान्नों एवं अन्य कृषि उत्पादों के करोड़ों उपभोक्ताओं तक पहुंचाया जाता है तथा उनकी आवश्यकताएं पूरी की जाती है। उपायुक्त विपणन व्यवस्था के अभाव में देश में अधिक मात्रा में उपलब्ध खाद्यान्नों को देश की जनता तक आवश्यक मात्रा में उचित कीमत पर नहीं पहुंचाया जा सकता है। उपभोक्ताओं को वस्तुओं की अच्छी किस्मों को आवश्यक मात्रा में न्यूनतम कीमतों पर उपलब्ध कराती है। उपभोक्ता अपनी सीमित आय को विभिन्न आवश्यक वस्तुओं पर खर्च करके अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करना चाहता है। एक कुशल विपणन व्यवस्था से आवश्यक वस्तुओं की कीमतों को कम करने में सहायता मिल सकती है और उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की जा सकती है।

3. **सरकार के लिए महत्व (Importance for the Govt.):** सरकार की द ष्टि से एक उपयुक्त विपणन व्यवस्था वह होती है जो उत्पादक कृषकों को लाभकारी मूल्य दिलवाकर उन्हें उत्पादन बढ़ने की प्रेरणा दे और साथ ही वह उपभोक्ताओं को कम-से-कम कीमत पर उचित किस्म की आवश्यक मात्रा में वस्तुएं भी उपलब्ध करवाए और विपणन मध्यस्थों को भी उनके द्वारा प्रदान की गई सेवाओं के लिए उचित मात्रा में धनराशि प्राप्त करवाए।

4. **योजनात्मक आर्थिक विकास की सफलता के लिए महत्व (Importance for Success of Planned Eco Development):** देश के योजनात्मक विकास की सफलता अन्ततः कृषि विपणन प्रणाली पर ही निर्भर करती है। ग्रामीण क्षेत्रों में

व्यापक गरीबी कम करने आवश्यक वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुंचाने, कृषि उत्पादों की बढ़ी हुई कीमतों को रोकने, कृषि उत्पादों के निर्यात से अधिक विदेशी मुद्रा अर्जित करने आदि के लिए देश में कृषि वस्तुओं के लिए उपयुक्त एवं कुशल विपणन की व्यवस्था का होना आवश्यक होता है।

5. **लोगों का जीवन स्तर सुधारने में सहायक (Helpful in Improving Standard of Living of the People):** कृषि विपणन देश के करोड़ों लोगों (उत्पादकों, विपणन कार्य से सम्बन्धित महस्थी, परिष्करण एवं भण्डारण) के जीवन स्तर को सुधारने तथा उनकी आय में व द्धि करने में सहायत होता है। आय में व द्धि के फलस्वरूप मांग में व द्धि होती है। फलस्वरूप उत्पादन, रोजगार एवं आय में पुनः व द्धि होती है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप कृषि और उद्योगों का विस्तार होता है। अन्ततः आर्थिक प्रगति की गतिशीलता में व द्धि होती है।

6. **कृषि क्षेत्र के निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करने में सहायक (Help in Attaining Targets of Agricultural Sector):** देश में कृषि उत्पादन के निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि कृषकों को आवश्यक कृषि आगतों (Imports) उर्वरकों, उन्नतशील बीजों कीटनाशकों तथा कृषि उपकरणों आदि को उचित समय तथा उपयुक्त कीमत पर उपलब्ध करवाया जाए। उचित विपणन व्यवस्था के अभाव में देश में कृषि उत्पादन वांछित स्तर पर नहीं पहुंचता जोकि अन्त में आर्थिक विकास को बोधित करता है।

भारत में कृषि विपणन की वर्तमान व्यवस्था
(Present System of Agricultural Marketing in India)

भारत में कृषि उपज की निम्न व्यवस्था मौजूद है:

1. **गांव में बिक्री (Sales in Villages):** भारत में किसान अपनी उपज का अधिकतम भाग गांवों का ही साहूकारों, महाजनों या घूमते-फिरते व्यापारियों को ही बेच देते हैं। एक अनुमान के अनुसार पंजाब में गेहूं का 60 प्रतिशत, तिलहनों का 70 प्रतिशत और कपास का 35 प्रतिशत उत्पादन गांवों में ही बेचा जाता है।

   गांवों में कृषि उपज तीन प्रकार से बेची जाती है: (i) गांव में कभी भी लगनेवाले बाजारों (पेंठ तथा हाटों): में इनकी संख्या करीब 22,000 है। (ii) गांव में महाजनों एवं साहूकारों को (iii) गांवों में घूमते हुए व्यापारियों को।

   जिन कारणों के फलस्वरूप किसानों को गांवों में फसल बेचने से अधिक हानि होती है: वे इस प्रकार हैं:

   (i) कृषकों को धन की आवश्यकता तुरन्त होती है। (ii) ये गांवों के साहूकारों से ऋण लिए रहते हैं जिन्हें चुकाना भी होता है। (iii) गांवों में परिवहन के साधनों का अभाव पाया जाता है। (iv) फसलों के कटने से पहले ही सौदा कर लते हैं। (v) कृषकों के पास गोदामों की सुविधाएं नहीं होती। (vi) किसानों की अशिक्षा, मण्डियों में धोखेबाजी एवं प्रचलित मूल्यों की सूचना का अभाव।

2. **मण्डियों में बिक्री (Sale in Market):** भारत में कृषि उपज का एक अन्य भाग ही मण्डियों में बिकने के लिए आता है। मण्डियों से अभिप्राय उन स्थानों से होता है जहां थोक मात्रा में कृषि उत्पादित वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। ये मण्डियां

शहरी क्षेत्रों या कस्बों में होती हैं। मण्डियां दो तरह की होती हैः (i) अनियमित मण्डी (Unregulated Market) (ii) नियमित मण्डी (Regulated Market)। अनियमित मण्डियों में किसान की उपज को बिक्री का अधिकतम भाग आढ़तियों द्वारा हड़प लिया जाता है। भारत में अब थोड़ी सी ही मण्डियां अनियमित हैं?

नियमित मण्डियों की स्थापना राज्य सरकारों के नियमानुसार होती है जहां किसानों को निर्धारित नियमों के आधार पर उचित मूल्य प्राप्त होते हैं। इन मण्डियों में किसानों के साथ धोखा नहीं किया जाता।

3. **अन्य प्रणालियां (Other Methods):** उपरोक्त प्रणालियों के अतिरिक्त कृषि उपज की बिक्री अन्य दो प्रकार से भी की जाती है। (i) सहकारी समितियां (Cooperative Societies) द्वारा। (ii) सरकारी क्रय पद्धति (Government Purchase System)। इसके अन्तर्गत सरकारों ने भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India), कपास निगम (Cotton Corporation); जूट निगम (Jute Corporation) आदि संस्थाओं की स्थापना की है।

भारत में कृषि विपणन के दोष
(Defects of Agricultural Marketing in India)

भारत में कृषि विपणन व्यवस्था अनेक प्रकार से सन्तोषजनक स्थिति में नहीं है फलस्वरूप किसानों को अपने फसलों का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। विपणन व्यवस्था के मुख्य दोष निम्नलिखित हैंः

1. **दोषपूर्ण संग्रहण व्यवस्था (Defective Storage Facility):** भारतीय कृषकों के पास ऐसी भण्डारण सुविधाओं का अभाव है जहां किसान अपने उपज को कुछ समय के लिए सुरक्षित रख सकें। गांवों में कृषि उपज खत्तियों, मिट्टी के बर्तनों और कच्चे कोठों में जमा की जाती है। ऐसे संग्रहण के प्राय 1.5 प्रतिशत उपज सड़-गलकर नष्ट हो जाती है या चूहे एवं कीटाणुओं द्वारा खा ली जाती है। कभी-कभी तो इस प्रकार किसान की एक-तिहाई उपज नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में कृषक को अपनी उपज को शीघ्र बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

२. **श्रेणी विभाजन एवं प्रमापीकरण का अभाव (Lack of Gradation and Standardisation):** भारतीय मण्डियों में जो कृषि उपज बिकने को आती है वे प्रायः अप्रमाणित एवं श्रेणीकरण नहीं होता जो कि कृषक की अज्ञानता एवं उपज थोड़ी होने का परिणाम होता है। इसके फलस्वरूप किसान जानबूझकर मिलावट करते हैं। और उन्हें उपज का कम मूल्य मिलता है। इस स्थिति का लाभ बाजार में उपस्थिति बेईमान व्यापारी, ऐजन्ट और तोल करने वाले उठाते हैं।

3. **अल्पविकसित परिवहन व्यवस्था (Under-developed Transportation System):** ग्रामीण कृषि में परिवहन व्यवस्था असंतोषजनक है। गांव व शहरों को जोड़ने वाली अधिकांश सड़कें कच्ची हैं जिन पर बरसात के मौसम में चलना बहुत ही कठिनाईपूर्ण होता है। परिणामस्वरूप इन साधनों के अभाव में यातायात की लागत कृषि उपज के मूल्य का 20 प्रतिशत हो जाती है, कई परिस्थितियों में कृषकों को गांवों में फसल कम कीमत पर बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

4. **मध्यस्थों की बड़ी संख्या (Multiplicity of Inter Mediaries):** भारत में कृषि उपज के विपणन में कृषकों एवं उपभोक्ताओं के बीच मध्यस्थों की एक लम्बी श्रंखला

है जिसमें साहूकार, महाजन, कच्चा आढ़तियां, दलाल थोक व्यापारी, फुटकर व्यापारी आदि शामिल है। मध्यस्थों की अधिक संख्या के परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं द्वारा दिए जाने वाले मूल्य का लगभग 50 प्रतिशत ही मिल जाता है। डी०एस० सिंधु के अनुसार, ''किसानों को चावल की कीमत का केवल 53 प्रतिशत प्राप्त होता है। (31 प्रतिशत हिस्सा मध्यस्थों का है) तथा 16 प्रतिशत विपणन लागत है। जबकि गेहूं की बिक्री से पचास पैसे ही प्राप्त होते हैं। अतः कृषि व्यापार का अधिकतर लाभ इन्हीं मध्यस्थों द्वारा ही हड़प लिया जाता है।

5. **मण्डियों में कपटपूर्ण रीतियां (Malpractices in Mandis):** इन मण्डियों में आढ़तिएं और दलाल किसान का अज्ञानता का लाभ उठाकर उसके साथ विविध प्रकार के कपट करते हैं। तराजू और बांटों की गड़बड़ी, प्रमाणिक वज़नों का प्रयोग न करना, उपज का एक अंश नमूने के रूप में लेकर वापिस न करना, कपड़े के नीचे हाथ के इशारों से मूल्य निर्धारित करना, तुलाई, आढ़त, बोराबंदी, प्याऊ आदि के लिए अनुचित कटौती करना मण्डियों की कुछ प्रचलित कपटपूर्ण रीतियां हैं।

6. **मूल्य सम्बन्धी जानकारी का अभाव (No Knowledge about Prices):** किसानों के लिए विभिन्न मण्डियों में समय-समय पर प्रचलित मूल्यों के विषय में सही सूचना प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं होता क्योंकि गांवों में समाचार-पत्र व पत्रिकाएं नहीं पहुंच जातीं। साथ ही अधिकांश किसान अनपढ़ भी होते हैं। अतः किसान को अपनी उपज का वही मूल्य स्वीकार करना पड़ता है जो मूल्य उसे स्थानीय व्यापारी बताते हैं।

7. **विपणन हेतु वित्त का अभाव (Lack of Marketing Finance):** विपणन क्रिया के लिए वित्त की आवश्यकता होती है। सहकारी समितियों से उपलब्ध वित्त का लाभ बड़े किसानों को ही हो सकता है। छोटा किसान अब भी वित्त के लिए व्यापारी-महाजन के पास जब पहुंचता है तो वह किसान को मंडी में अपना माल बेचने के लिए हतोत्साहित करता है और स्वयं ही उसे खरीद लेता है।

8. **प्रतिकूल परिस्थितियों में विपणन (Marketing Under Unfavourable Circumstances):** जमीदारी उन्मूलन से पहले लगान की रकम का भुगतान करने के लिए कृषक को अपनी उपज का एक बड़ा भाग फसल आने के बाद तुरन्त बाद ही बेचना पड़ता था। परन्तु जमीदारी उन्मूलन के बाद किसानों में एक सम्पन्न वर्ग पैदा हो गया जो भूमि का स्वामी है तथा उससे अपनी उपज को कम दामों पर बेचने की विवशता भी नहीं होती। दूसरी और छोटा किसान भी है जिनके पास पांच एकड़ से कम भूमि है तथा इनमें सम्पन्न किसान की तरह, बिक्री योग्य आधिक्य को उचित कीमतों के इन्तजार में संग्रह करने का सामर्थ्य नहीं होता। अतः परिणामस्वरूप इन्हें अपनी उपज, ऋण वापिस करने या लगान चुकाने के लिए फसल के तुरंत बाद ही बेचनी पड़ती है।

9. **विवशता पूर्ण बिक्री (Forced Sale):** भारत का औसत किसान इतना गरीब और ऋणग्रस्त है कि उसमें अच्छी कीमतों के लिए प्रतीक्षा करने की क्षमता ही नहीं है। उसे ऋण भारत से मुक्ति पाने के लिए फसल तैयार होते ही अपनी फालतू उपज ग्रामीण साहूकार या व्यापारी के हाथों बेचनी पड़ती है। अन्य शब्दों में कृषकों को अपने उत्पादन का बहुत ही प्रतिकूल बाजार में प्रतिकूल समय पर प्रतिकूल दरों पर बेचना पड़ता है।

10. **संगठन का अभाव (Lack of Organisation):** भारतीय कृषक देश के दूर-दूर स्थानों तक फैले हुए हैं। और वे आर्थिक तथा सामाजिक द ष्टि से पिछड़े हुए भी हैं। परिणामस्वरूप वे किसी शक्तिशाली संगठन का निर्माण नहीं कर पाए हैं। अतः फसल बेचते समय व्यापारी उसको दबा लेते हैं और कम मूल्य पर उपज बेचने को बाध्य करते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय कृषक सीधा सादा है तथा रूढ़िवादिय और अन्धविश्वासी भी है। यही कारण है कि व्यापारी द्वारा ठगा जाता है। उनको अनेक तरह से समझाकर गांव में बेचने के लिए बाध्य किया जाता है।

अतः भारत की वर्तमान कृषि उपज को विपणन, व्यवस्था को भूमि सम्बन्धों से स्वतन्त्र रूप में देख सकना सम्भव नहीं है। बाजारों के नियन्त्रण, आकाशवाणी द्वारा भावों के प्रसारण, यातायात व्यवस्था में सुधार आदि से पूंजीवादी ढंग से खेती करने वाले किसानों को तो लाभ हुआ है और वे अपने ''विपणन आधिक्य'' को उचित मूल्य पाने में सफल हुए हैं परन्तु इन सबका लाभ मध्यम श्रेणी के और छोटे किसानों की अपेक्षाकृत बहुत कम मिल पाया है।

कृषि विपणन में सुधार हेतु सरकारी उपाय
(Govt. Measures to Improve Agricultural Marketing)

कृषि विपणन में सुधार की द ष्टि से सरकार ने कई कदम उठाए हैं तथा इस कार्य के लिए (Directorate of Marketing and Inspection) की स्थापना की है। मुख्य उपाय निम्नलिखित हैं।

1. **नियन्त्रित मण्डियों की स्थापना (Organisation of Regulated Markets):** मंडियों में दलालों तथा आढ़तियों के कपटपूर्ण व्यवहार से बचाने के उद्देश्य के लिए नियन्त्रित मण्डियों की स्थापना की गई। नियन्त्रित मण्डी का संगठन एक बाजार समिति (Market Committee) के रूप में होता है जिसके सदस्यों से राज्य सरकार के प्रतिनिधि, उत्पादकों व्यापारियों, किसानों तथा नगरपालिका से भी प्रतिनिधि शामिल होते हैं। दलालों और व्यापारियों को लाइसेंस लेना पड़ता है। ये समितियां विपणन व्यवस्था को सुधारने की द ष्टि से श्रेणी विभाजन को प्रोत्साहन देती है। खुली नीलामी पद्धति को लागू करती है। किसानों और व्यापारियों को सुधारने की द ष्टि से श्रेणी विभाजन को प्रोत्साहन देती है। खुली नीलामी पद्धति को लागू करती है। किसानों और व्यापारियों के बीच मतभेदों को दूर करने के लिए मध्यस्थी करती है। राज्यों में नियन्त्रित मंडियों के कार्यों का समन्वय करने तथा उनको नियन्त्रण करने के लिए राज्य कृषि बिक्री मण्डलों की स्थापना की गई है तथा अब देश की खाद्यान्न फसलों का 80% उपज का भाग नियन्त्रित मंडियों में ही बेची जाती है। इस समय देश में 7,062 नियन्त्रित मण्डियां हैं।

2. **श्रेणी विभाजन एवं मानकीकरण (Gradation and Standarisation)**-कृषि उपज का वर्गीकरण करने के लिए 1937 में ''कृषि उत्पादन, श्रेणी विभाजन एवं अकेन कानून'' पास किया गया तथा जिसमें विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय (Directorate and Inspection) को अधिकार दिया गया कि वह स्वीकृत मानकों के अनुसार श्रेणी विभाजन तथा अकेन करने की अनुमति किसी संस्था को दे सकता है। इस निदेशालय ने अब तक 159 कृषि वस्तुओं एवं कृषि से सम्बद्ध वस्तुओ के लिए

मानक निर्धारित किए हैं। निर्धन के लिए 44 कृषि वस्तुओं का श्रेणी विभाजन अनिवार्य है। इन वस्तुओं जैसे चावल, गना, गुड, आलू, घी, तेल आदि पर एग्मार्क (Agmark) का निशान होना चाहिए। नागपुर में केन्द्रीय श्रेणी नियन्त्रण प्रयोगशाला (Central Quality Control Laboratory) तथा इसके अतिरिक्त 22 क्षेत्रीय श्रेणी नियन्त्रण प्रयोगशालाएं (Regional Quality Control Laboratories) भी है, जो वस्तुओं की किस्म सुधारने के सम्बन्ध में सलाह देती है।

3. **मानक बाट और नाप तोल की अनिवार्यता (Use of Standard Weights and Measures)**-1958 में नाप तोल की मीट्रिक प्रणाली (Metric System of Weights and Measures) शुरू की है तथा 1 अप्रैल, 1962 से मीट्रिक बाटों का प्रयोग भी अनिवार्य कर दिया है। इन नीतियों को लागू करने से माप तोल की गड़बड़ियों में कुछ कमी आई है।

4. **कृषि उपज के मूल्यों के विषय में किसानों को सूचना देने की व्यवस्था (Dissemination of Market Information)**-कृषि उपज की विपणन व्यवस्था में सुधार के लिए आवश्यक है कि मंडियों में प्रचलित मूल्यों के अलावा, उपज की मात्रा, जो दिन विशेष को बिकने के लिए मंडी में आती है, से सम्बद्ध आकाशवाणी एवं समाचार पत्रों द्वारा नियमित रूप से किसानों को मिलनी चाहिए। इस संबंध में आजकल आल इंडिया रेडियो प्रतिदिन सायं को प्रमख मंडियों के भाव प्रसारित करता है।

इसके अतिरिक्त किसानों को उत्पादन में प्रोत्साहन तथा इनके जोखिम को कम करने के लिए देश में **कृषि लागत तथा कीमत आयोग** (Commission for Agricultural Costs and Prices) एक न्यूनतम कीमत (Minimum Price) एवं कीमत समर्थन (Price Support) की प्रणाली को लागू करता है।

5. **संग्रह के लिए गोदामों का निमार्ण (Godown and Storage Facilities):** अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के अनुसार, कृषि विकास के कार्यक्रम में गोदाम के निर्माण का महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। गोदाम के निर्माण से संग्रहण में सुधार तो होता ही है जिससे संग्रहण काल में पदार्थ की हानि नहीं होती, साथ में इससे किसानों की कृषि उपज को कुछ समय राक कर बेचने की सामर्थ्य बढ़ जाती है।

इसके अतिरिक्त किसान की नकदी की आवश्यकता होने पर भी उपज बेचने के लिए विवश नहीं होते क्योंकि उन्हें प्रमाणित गोदामों से प्राप्त रसीदों की प्रतिभूति पर सहकारी समितियों और व्यापारिक बैंकों से ऋण प्राप्त हो सकते हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए, 1954 में इस सर्वेक्षण समिति ने तीन स्तरों (i) राष्ट्रीय स्तर (ii) राज्य स्तर (iii) ग्रामीण स्तर पर गोदाम के निर्माण की सिफारिश की। परिणामस्वरूप 1947 में केन्द्रीय गोदाम निगम (Central Warehousing Corporation) की स्थापना हुई और कई राज्यों में राज्य गोदाम, निगमों (State Warehousing Corporation) की स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त, भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India FCI) की स्थापना हुई, तथा FCI के गोदामों की क्षमता 251 लाख टन है। राज्य गोदामों की संग्रह क्षमता 123 लाख टन है।

6. **विपणन अनुसंधान एवं सर्वेक्षण (Marketing Research and Surveys):** विपणन में सुधार हेतु विपणन अनुसन्धान तथा सर्वेक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए जिसमें कि कृषि पदार्थों के विपणन से सम्बन्धित समस्याओं का पता लगाने तथा उनका समाधान निकालने में सहायता मिल सके।

   भारत में केन्द्रीय सरकार ने कृषि मन्त्रालय के अन्तर्गत एक निदेशालय ''विपणन एवं जाँच निदेशालय'' (Directorate of Marketing and Inspection) है, जो कृषि विपणन कृषि बागवानी एवं पशुपालन सम्बन्धी बातों के लिए सर्वेक्षण एवं अनुसन्धान करता है जिसकी सिफारिशों के आधार पर केन्द्रीय सरकार विभिन्न प्रकार के नियम बनाती है।

7. **सहकारी विपणन समितियां (Cooperative Marketing Societies):** विभिन्न प्रकार के मध्यस्थों से बचने के लिए एवं मंडियों की व्यापार पूर्ण रीतियों के बचने के लिए कृषक को अपनी सहकारी समितियां बनानी चाहिए जिससे उनकी उपज के उचित मूल्य मिल सकें, विक्रय सुविधा प्राप्त हो सके, अच्छी खाद व उन्नत बीजों की किस्मों की व्यवस्था हो सके तथा सामूहिक मोल भाव का लाभ उठा सकें।

   वर्तमान समय में 7001 प्राथमिक सहकारी सतितियां, 160 जिला या क्षेत्रीय सहकारी समितियां, 25 राज्य सहकारी विपणन तथा एक राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ (National Agricultural Cooperative Marketing Federation) कार्यरत हैं। जिसका उद्देश्य सहकारी समितियों के बीच समन्वय स्थापित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना है तथा आयात-निर्यात का भी कार्य करती है और खाद्य निगम (Food Corporation) के लिए भी वस्तुएं खरीदती हैं।

8. **वित्त की व्यवस्था (Provision for Finance):** कृषि विपणन के सुधार हेतु वित्तीय सुविधाओं के विकास की बहुत अधिक आवश्यकता है। जिससे कि कृषक को महाजन वह साहूकारों के चुंगल से बचाया जा सके और वह अपनी उपज पूर्व निर्धारित मूल्य पर न बेचकर फसल आने पर मंण्डियों में बेच सके।

   इस सम्बन्ध में ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों का विस्तार किया गया है तथा जिन स्थानों पर भण्डार एवं भारतीय स्टेट बैंक हैं वहां वहा पर भण्डार ग ह की रसीद देने पर बैंक से उधार देने की व्यवस्था की गई है। परन्तु इस प्रकार के बैंकों की संख्या बहुत कम है।

9. **राज्य व्यापार (State Trading):** भारत में राज्य सरकार द्वारा कृषि पदार्थों का विपणन भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किए हुए है, राज्य की एजेन्सियां जैसे FCI भारतीय खाद्य निगम, फसल तैयार होने पर ग्रामीण क्षेत्रों या मण्डियों के निकट अपने विशेष केन्द्र स्थापित करती है, जहां सरकार द्वारा निर्धारित कीमतों पर उपज को खरीदा जाता है। भारतीय राष्ट्रीय सहकारिता विपणन संघ NAFED एक शीर्ष सहकारिता विपणन संगठन है जो कृषि से सम्बन्धित कुछ चयनित वस्तुओं के आयात-निर्यात का कार्य करता है। यह संगठन आलू, प्याज, अंगूर, सन्तरे, सेब, मिर्च, अण्डे आदि की बाजार मध्यस्थता करता है।

10. **कृषि विपणन कर्मचारियें को प्रशिक्षण सुविधाएं (Training Facilities to Marketing Personnel):** कृषि विपणन में बहुत सी कमियां तो कृषि विपणन कर्मचारियों की

होती हैं अतः उनको प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। इसके लिए नागपुर, हैदराबाद तथा लखनऊ में मार्किट विभाग व नियमित बाजारों के प्रशिक्षण केन्द्र हैं। जहां विपणन विभाग के अधिकारियों, विपणन सचिवों एवं वर्गीकरण अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है।

11. **ग्रामीण यातायात का विकास (Development of Rural Transport)**-पंचवर्षीय योजनाओं में सरकार ने गांवों की मण्डियों में मिलाने वाली सड़कों के निर्माण की ओर ध्यान दिया है। इस विषय में **सामुदायिक विकास कार्यक्रम** का योगदान उल्लेखनीय रहा तथा छटी पंचवर्षीय योजना के तहत एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण सड़कों के विकास को महत्त्व दिया है।

12. **विशेष बोर्डों की स्थापना (Establishment of Specialised Boards)**-भारत सरकार ने रबड़, काफी, चाय, तम्बाकू, गर्म मसाले, नारियल, तिहलन और वनस्पति तेल आदि के बारे में विशिष्ट बोर्ड (Specialised Commodity Boards) स्थापित किए हैं। हाल ही के वर्षों में **राष्ट्रीय दुग्धशाला विकास बोर्ड** ने न केवल 'आप्रेशन फ्लड' में सहायता दी बल्कि यह तेल और अन्य कृषि वस्तुओं के विक्रय का भी कार्य कर रहा है। भारत सरकार ने कुछ विशेष वस्तुओं जैसे चावल, दालों, पटसन, मोटे अनाज, तम्बाकू, रूई, तिलहन, गन्ना, सुपारी आदि के लिए बहुत सी विकास परिषदें भी कायम की हैं। भारत सरकार ने बहुत सी निर्यात प्रोन्नति परिषद भी कायम की जैसे काजू निर्यात प्रोन्नति परिषद् और कृषि एवं संसाधित खाद्य निर्यात विकास प्राधिकरण (Agricultural and Processed Food Export Development Authority)।

सहकारी विपणन
(Co-operative Movement)

सहकारी विपणन स्वेच्छा से बनाया हुआ एक व्यापारिक संगठन है जिसका उद्देश्य पारस्परिक लाभ की द ष्टि से विपणन समस्याओं को हल करने के लिए मिल कर कार्य करना है। **कृषि शाही आयोग** के अनुसार, ''सहकारी विपणन समितियां कृषक को उपज पैदा करने एवं तैयार करने के संबंध में शिक्षा देती हैं, बाजार के लिए उपज को एकत्रित करती है और श्रेणीकरण करती है। इस तरह के किसानों को निर्यात बाजार के सम्पर्क में लाती हैं।''

फिलिप्स एवं डंकन के अनुसार, ''वे संगठन जो सहकारिता के आधार पर समूहों द्वारा अपनी वस्तुओं को बेचने के लिए और सामान तथा अन्य वस्तुओं को क्रय करने हेतु स्थापित हुए हैं, **सहकारी विपणन संघ** कहलाते हैं।''

सहकारी विपणन के मुख्य उद्देश्य हैं-

1. अपने सदस्यों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलवाना।
2. भण्डारण की सुविधा प्रदान करना।
3. आवश्यकता के समय सदस्यों को ऋण प्रदान करना।
4. सदस्यों को बाजार सम्बन्धी सूचनाओं की जानकारी प्रदान करना।
5. सदस्यों के लिए बाजार, खाद अन्य आगतों की व्यवस्था करना।
6. मूल्यों में स्थिरता लाना।

भारत में सहकारी विपणन संगठन
(Organisation of Co-operative Marketing in India)

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण की रिपोर्ट में सहकारी साख और सहकारी विपणन के एकीकरण की आवश्यकता पर जोर दिया था, इस समिति की सिफारिशों को स्वीकार करने के बाद साख, विपणन, विधायन, संग्रहण आदि को सहकारी आधार पर एकीकृत योजना के अन्तर्गत करने का प्रयास किया गया है। फलस्वरूप बहुउद्देशीय समितियां (Multipurpose Societies) स्थापित की गई हैं। जिनके संगठन निम्नलिखित हैं-

1. **प्राथमिक सहकारी विपणन समितियां (Primary Cooperative Marketing Societies)**- ये समितियां ग्राम स्तर पर कार्य करती हैं तथा अपने सदस्यों के लाभ के लिए कार्य करती हैं। अपने सदस्यों को उपज को एकत्रित करना, श्रेणी, विभाजन, प्रमाणीकरण तथा बिक्री की व्यवस्था करनी है। इसके अतिरिक्त खाद, बीज, कृषि यन्त्र आदि की पूर्ति करती है तथा आवश्यकता के समय उन्हें ऋण देती है। वर्तमान समय में सहकारी समितियों की संख्या 7001 है।

2. **केन्द्रीय सहकारी विपणन समितियां (Central Cooperative Marketing Societies)**- जिला स्तर पर इस प्रकार की समितियों का गठन प्राथमिक सहकारी विपणन समितियों को सहायता प्रदान करने के लिए किया जाता है। ये समितियां शहरों या कस्बों में पाई जाती हैं। ये समितियां कृषि उपज का क्रय-विक्रय करने, प्राथमिक समितियों को वित्तीय सहायता प्रदान करने तथा अन्य सहकारी विपणन समितियों के बीच समन्वय बनाए रखने का कार्य करती है। वर्तमान समय में इन समितियों की संख्या 160 है।

3. **प्रांतीय सहकारी विपणन समितियां (State-Coperative Marketing Societies)**- ये समितियां राज्य स्तर पर सर्वोच्च संस्था (Apex Institution) के रूप में कार्य करती हैं तथा केन्द्रीय विपणन समितियों के माध्यम से प्राथमिक समितियों की सहायता करती हैं। ये समितियां साधारणतया प्रदेश या राज्य की राजधानी में पाई जाती हैं। इस समय राज्य स्तर पर 29 प्रांतीय समितियां और 25 विपणन फैडरेशन कार्य कर रहे हैं।

4. **राष्ट्रीय सहकारी कृषि विपणन संघ (National Agricultural Cooperative Marketing Federation—NAFED)**-यह राष्ट्रीय स्तर पर सहकारी विपणन कार्य करने वाली शीर्ष संस्था है जिसकी स्थापना 1958 में की गई। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि एवं अन्य वस्तुओं में अपने सदस्यों के विपणन एवं व्यापारिक क्रिया-कलापों में समन्वय लाना, उन्हें प्रोत्साहित करना, तथा अन्तर्राष्ट्रीय कृषि व्यापार को प्रोत्साहन करना और सदस्यों की कृषि से सम्बन्धित आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करना है।

भारत में सहकारी विपणन की प्रगति
(Progress of Cooperative Marketing in India)

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में सहकारी विपणन के विकास की स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी। देश में सीमित संख्या में ही सहकारी विपणन समितियां कार्यरत थीं। इसके अतिरिक्त विभिन्न विपणन समितियों में परस्पर समन्वय का भी अभाव था। स्वतन्त्रता पश्चात् प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारी साख के साथ सहकारी विपणन के विकास की आवश्यकता पर बल दिया गया परन्तु कोई विशिष्ट लक्ष्य निर्धारित किया गया।

1950-51 में सहकारी विपणन समितियों के माध्यम से 47 करोड़ रुपए के मूल्य के कृषि पदार्थों का विक्रय किया गया, 1960-61 में 169 करोड़ रुपए, 1970-71 में 650 करोड़ रुपए, 1980-81 में 1,950 करोड़ रुपए, 1990-91 में 5,600 करोड़, तथा 2002 में 13,400 करोड़ रुपए के कृषि उत्पाद सहकारी समितियों के माध्यम से बेचे गए।

भारत में सहकारी विपणन समितियों ने काफी प्रगति की है। 2002 में 7001 प्राथमिक विपणन समितियां, 160 केन्द्रीय समितियां, तथा राज्य स्तर पर 21 राज्य समितियां तथा राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय सहकारी विपणन संगठन कार्यरत हैं। ये समितियां आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं जैसे चावल, गेहूं तथा व्यापारिक फसलों जैसे कपास और जूट की वसूली कार्यों में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

कृषि विपणन समितियों के लाभ या सफलताएं
(Advantages or Achievements of Cooperative Marketing)

सहकारी विपणन कृषक की स्थिति को विक्रेता के रूप में सुद ढ़ बनाता है। उसकी उपज के नियमित रूप से बिकने का विश्वास स्थापित करता है और उसको अच्छे मूल्य पर बिकने के योग्य बनाता है। यह सिखाता है कि कृषकों को भी व्यावसायिक संगठों की भांति अपने आपको संगठित करना चाहिए। भारत में सहकारी विपणन अभी बचपन की अवस्था में है। उसके विकास की काफी आवश्यकता है। सहकारी विपणन संगठन ने कृषि उपज विपणन में जो कठिनाई आती है उन्हें एक सीमा तक दूर करने में सफलता प्राप्त की है।

भारत में सहकारी विपणन के मुख्य लाभ/सफलताएं निम्नलिखित हैं-

1. **मध्यस्थों का अन्त (Elimination of Middlemen):** सहकारी विपणन में सबसे पहला लाभ यह है कि उपभोक्ता एवं उत्पादक के बीच मध्यस्थों की जो श ंखला बनी रही है उसका अन्त हो जाता है जिसके उपभोक्ता व उत्पादक दोनों को लाभ होता है। मध्यस्थों का अन्त होने से उपभोक्ता को वस्तु सस्ती मिल जाती है व उत्पादक को अपनी वस्तु का उचित मूल्य मिल जाता है।

2. **बाजार की बुराइयों से छुटकारा (Relief from Bad Market Practices):** सहकारी विपणन हो जाने के कारण उत्पादक बाजार की विभिन्न बुराइयां जैसे आढ़त, तुलाई, गौशाला, चौकीदार आदि से बच जाता है। सहकारी विपणन समिति में कुछ निश्चित खर्चे ही निश्चित दर पर लिए जाते हैं।

3. **वर्गीकरण की सुविधा (Facilities for Proper Weight Measurement):** ये समितियां अपने सदस्यों के उत्पादन का वर्गीकरण करती हैं तथा मिलावट से रोकती है। फलस्वरूप उन्हें उत्पादन का अधिक मूल्य मिल जाता है।

4. **उचित तोल की सुविधा (Facilities for Proper Weight Measurement):** इन समितियों के द्वारा ठीक तरह से माप-तोल की जाती है जबकि इनके अभाव में माप तोल उचित नहीं होता। यद्यपि सरकार ने इस सम्बन्ध में कानून बना रखे हैं, लेकिन फिर भी विभिन्न प्रकार के बांट पाए जाते हैं।

5. **संग्रह की सुविधा (Storage Facility):** उत्पादक के पास उत्पादन करने के लिए उचित साधन नहीं होने तथा जो साधन हैं वही पुराने तथा रूढ़िवादी सम्बन्ध होते हैं। सहकारी समितियां आधुनिक वैज्ञानिक भण्डार-ग ह सुविधा अपने, सदस्यों

को उपलब्ध करवाती है। इनके द्वारा माल को सुरक्षित करने का बहुत ही कम व्यय लिया जाता है। भण्डार की सुविधा होने से माल खराब नहीं होता और बाजार की परिस्थितियां अपने पक्ष में आने तक माल को रोका जा सकता है।

6. **वित्तीय सहायता (Financial Assistance):** सहकारी समितियां अपने सदस्यों को आवश्यकता के समय वित्तीय सहायता प्रदान करती है और साहूकारों, महाजनों के चुंगल से फंसने से बचाती है। इन समितियों की ब्याज की दर भी कम होती है।

7. **एकीकरण की सुविधा (Facility in Collection):** सहकारी विपणन समितियां सदस्यों की सुविधा के लिए गांव में ही उपज को एकत्रित करने के लिए केन्द्र खोल देती है जिसमें वे अपने उत्पादन को बाजार में ले जाने की परेशानी से बच जाती हैं। यह सुविधा उन कृषकों के लिए बहुत ही लाभप्रद है जिनके पास उत्पादन ले जाने के लिए साधन उपलब्ध नहीं है।

8. **सामूहिक सौदेबाज़ी व अधिक मूल्य (Advantage of Collection Bargaining and Better Prices):** सहकारी विपणन के लिए किसानों की सौदेबाज़ी की शर्त बढ़ गई है क्योंकि व्यक्तिगत रूप में कृषकों में सौदेबाज़ी की शक्ति व्यापारियों की तुलना में कम होती है लेकिन सहकारिता में संगठित होकर उनमें सामूहिक क्षमता आ जाती है जिसका प्रभाव यह पड़ता है कि उसको वस्तु का मूल्य कुछ अधिक मिल जाता है तथा बहुत खरीद व बिक्री के लाभ का भी भागी बन जाता है ये समितियां अपने सदस्यों को लाभप्रद सूचनाएं भी उपलब्ध करवाती हैं।

9. **पूर्ति पर नियन्त्रण (Control Over Supply):** ये समितियां कृषि उत्पादन की पूर्ति को नियन्त्रित करती है तथा इस प्रकार कीमतों को प्रभावित करती है कि कीमतों में अधिक उतार-चढ़ाव न होने पाए।

10. **अन्य लाभ (Other Advantages):** सहकारी विपणन के अन्य लाभ भी है जैसे (i) उचित मूल्य पर रासयनिक खाद, उत्तम बीज व औज़ार समितियों द्वारा सदस्यों को बेचना। (ii) अपने सदस्यों को अग्रिम (Advance) देती है तथा उन्हें उचित कीमतों की प्रतीक्षा करने के योग्य बनाती हैं। (iii) गांव में समितियों द्वारा अन्य सामाजिक उत्थान के कार्य करना जिससे जीवन स्तर में उन्नति हो।

सहकारी विपणन की कमियां
(Weakness of Cooperative Marketing)

सहकारी कृषि विपणन का अत्याधिक लाभ एवं महत्व होते हुए भी इनकी अपनी कुछ कमियां हैं जो इसके लाभों में गतिरोध उत्पन्न कर देती हैं।

1. **मध्यस्थों का अन्त एकमात्र साधन नहीं (Elimination of Middlemen – not the only alternative):** यदि कहा जाए कि केवल सहकारी विपणन की मध्यस्थों का अन्त कर सकता है तो ऐसा नहीं है। मध्यस्थों का अन्त व्यापारिक क्रियाएं भी कर सकती हैं, जैसे उत्पादकों से उपभोक्ताओं को सीधे माल बेचना, आदि।

2. **हमेशा उच्च प्रतिफल की गारन्टी नहीं (Non Gurantee for Always Higher Returns):** सहकारी विपणन समितियां अपने सदस्यों को यह गारंटी नहीं दे सकतीं कि वे हमेशा उन्हें उच्च प्रतिफल ही प्रदान करती रहेंगी, क्योंकि मूल्य का निर्धारण तो बाजार में मांग एवं पूर्ति की शक्तियों पर निर्भर करता है। सहकारी

विपणन का क्षेत्र विस्त त होते हुए भी वे वस्तुओं की कीमतें नहीं निर्धारित कर सकतीं।

3. **प्रबन्ध व्यय सस्ता नहीं (Management Expenses are not economical):** यह भी केवल एक भ्रम है कि सहकारी प्रबन्ध निजी प्रबन्ध से सस्ता होता है। विपणन कार्यों के उचित संचालन के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें सहकारी समितियों को वेतन पर नियुक्त करना पड़ता है, जबकि आढ़तिये अपनी फर्म को स्वयं चलाते हैं, ऐसे व्यय उन्हें नहीं करने पड़ते। दूसरी ओर सहकारी समितियों के प्रबन्धक कर्मचारी होते हैं, मालिक नहीं। इसलिए वे मितव्ययिता की तरफ कम ध्यान देते हैं।

4. **प्राथमिक सहकारी समितियों के सदस्यों की कम संख्या (Less Number of Members of Primary Cooperative Socieities):** भारत में प्राथमिक सहकारी समितियों की सदस्यों की संख्या बहुत कम है और देश के कुल कृषि उत्पादकों की बिक्री में उनका हिस्सा भी बहुत कम है। मधु पावस्कर के अनुसार 1979-80 में देश के 5 प्रतिशत से भी कम कृषक इन समितियों के सदस्य थे और देश के कुल कृषि राष्ट्रीय उत्पादक की बिक्री में उन समितियों का हिस्सा 10 प्रतिशत से ज्यादा नहीं था।

5. **आर्थिक रूप से असक्षम (Ecomomically not Viable):** सहकारी विपणन की सबसे बड़ी कमज़ोरी प्राथमिक समितियों की निष्क्रियता है। (लगभग एक तिहाई समितियां निष्क्रिय पड़ी हुई हैं) इन समितियों के अध्ययन से पता चलता है कि लगभग 40 प्रतिशत समितियां तो कृषि विपणन का कार्य करती ही नहीं थी, पूर्ति समिति बिक्री औसत लगभग 1.15 करोड़ रुपये थी जबकि आर्थिक रूप से क्षम होने के लिए 1987-88 में कम से कम 1.50 करोड़ रुपये की औसत बिक्री होना आवश्यक थी।

6. **वित्तीय स्थिति सन्तोषजनक नहीं (Financial Position not Satisfaction):** सन् 1986-87 में किए गए एक अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ है कि केवल दो-तिहाई समितियां ही लाभ कमा पाई हैं अर्थात् एक तिहाई समितियों को हानि उठानी पड़ी है। इतना ही नहीं जिन दो-तिहाई समितियों को लाभ हुआ है उनमें से भी अधिकांश समितियों को लाभ नहीं मिलता यदि उन्हें रासायनिक उर्वरकों व उपभोग वस्तुओं के वितरण की जिम्मेवारी नहीं सौंपी जाती (उर्वरकों व उपभोग वस्तुओं पर लाभ सुनिश्चित होते हैं)।

7. **सहकारी विपणन समितियों के विकास में प्रादेशिक असन्तुलन (Regional Imbalance in Development of Primary Marketing Societies):** 1990-91 में सहकारी विपणन समितियों द्वारा की गई कुल बिक्री में केवल आठ ही राज्यों-गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक, महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र की सहकारी समितियों का हिस्सा लगभग 90 प्रतिशत था, कि देश की सहकारी समितियों का योगदान मात्र 10 प्रतिशत, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सभी योजनाओं का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य (क्षेत्रीय असमानता, असन्तुलन का कम करना) को पाने में असफल रहे हैं। इसके अतिरिक्त सातवीं योजना के अनुसार, कृषि सहकारी विपणन का प्रसार भी विभिन्न राज्यों में एक जैसा नहीं हो पाया है। उदाहरण के लिए, जहां राजस्थान में इन समितियों ने

प्रति हैक्टेयर 8 रुपये का कृषि उत्पादन बेचा वहां महाराष्ट्र में प्रति हैक्टेयर 509 रुपये का कृषि उत्पादन बेचा।

8. **विभिन्न स्तर पर की समितियों में समन्वय का अभाव (Lack of Linkage among Primary Marketing Societies):** सहकारी विपणन समितियों के विभिन्न स्तरों पर जैसे प्राथमिक, केन्द्रीय एवं राज्य समितियों में परस्पर समन्वय तथा निर्भरता का अभाव पाया जाता है। फलस्वरूप उनके कार्यों में मजबूती एवं विविधता नहीं पाई जाती।

9. **किसानों के विश्वास की कमी (Lack of Confidence of Farmers):** ये समितियां किसानों के विश्वास को नहीं जीत पाई हैं। फलस्वरूप किसान अपने उत्पादन को निजी व्यापारियों के माध्यम से बेचना ही पसन्द करते हैं। इसका मुख्य कारण है कि व्यापारी वर्ग किसान की शीघ्रतापूर्वक एवं बिना अधिक कागज़ी कार्रवाई के ऋण अन्य सुविधाएं प्रदान करते हैं।

10. **अस्वस्थ प्रतियोगिता (Unhealthy Competition):** विभिन्न विपणन समितियों में अस्वस्थ प्रतियोगिता पाई जाती है। इनका मुख्य उद्देश्य किसानों की सेवा के स्थान पर लाभ कमाना है। अतः वे अपने सदस्यों की पूर्ण सेवा नहीं कर पाते तथा निजी व्यापारियों से प्रतियोगिता करने में असफल रहते हैं।

सहकारी विपणन में सुधार के सुझाव
(Suggestions to Improve Cooperative Marketing)

भारत में सहकारी विपणन में सुधार के लिए निम्नलिखित सुझाव हैः

1. **बहुउद्देशीय समितियां (Multipurpose Societies):** प्राथमिक सहकारी समितियों का पुनर्गठन करके उन्हें पुष्ट बहुउद्देशीय समितियों में परिवर्तन कर देना चाहिए ताकि वे आर्थिक द ष्टि से सक्षम हो सके।

2. **वित्तीय साधनों में व द्धि (Increase in Financial Resources):** सहकारी विपणन समितियों की पूंजी में व द्धि करने हेतु सरकार तथा बैंकों द्वारा उन्हें सहायता प्रदान की जानी चाहिए। सहकारी समितियों द्धारा रिज़र्व कोष की स्थापना की जानी चाहिए। निर्बल एवं आर्थिक द ष्टि से कमज़ोर समितियों को सबल बनाने के लिए आर्थिक सहायता भी दी जानी चाहिए।

3. **परिवह तथा संचार के साधनों का विकास (Development of Means of transport and Communication) –** सरकार को गांवों तथा मण्डियों के बीच परिवहन तथा संचार के साधनों का विकास करना चाहिए, ताकि देश में सहकारी विपणन संस्थाओं का समुचित विकास हो सके।

4. **पर्याप्त गोदाम व भण्डार ग्रह (Adequate Godowins and Warehouses)–** सहकारी विपणन समितियों में ग्रामीण क्षेत्र में तथा मण्डियों व अपने गोदाम तथा भण्डार स्थापित करने चाहिए, ताकि विपणन समितियां इन भण्डारों में कृषि उपज को रख सकें। इसके लिए सरकार तथा बैंकों से ऋण प्राप्त किए जा सकते हैं।

5. **प्रशिक्षण सुविधाओं का विकास (Development of Training Facilities)–** सरकार की विपणन समितियों को प्रशिक्षण तथा कुशल कर्मचारियों कोसुविधा प्रदान हेतु

प्रशिक्षित केन्द्र खोले जाने चाहिए ताकि कर्मचारी अपने कार्य को दक्षता से कर सके।

6. **सरकारी एजेन्सी** (Government Agency)– सहकारी विपणन समितियों को सरकारी एजेन्सी के रुप में महत्त्वपूर्ण कार्य करने चाहिए जैसे कि भारतीय खाद्य निगम (FCI) को सहकारी विपणन समितियों से ही अपने लिए खाद्यान्न का स्टाक खरीदना। इससे किसानों को अपने उत्पादन का उपुयक्त मूल्य प्राप्त हो सकेगा।

7. **अनार्थिक समितियों को सहायता** (Help to Uneconomic Societies)– अनार्थिक विपणन समितियों को या तो पूर्णतया बन्द कर दिया जाए या फिर सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान करके उनकी कार्यकुशलता में व द्धि की जानी चाहिए। इसके साथ-साथ सहकारी समितियों द्वारा गांवों में ही उपलब्ध बचत की गयी राशि को एकत्रित करने का कार्य भी किया जाना चाहिए।

8. **अधिक प्रोसैसिंग कार्य** (More Processing Activities)– सहकारी विपणन समितियों को कृषि वस्तुओं के प्रोसैसिंग कार्य अधिक मात्रा में करना चाहिए। इसके परिणामस्वरुप उन्हें अधिक कीमत पर बेचा जा सकेगा तथा किसानों को अधिक लाभ होगा। उदाहरण के लिए तिलहनों से तेल निकाल कर या कपास से बिनौले निकाल कर उसकी खल बना कर बेचा जाए तो कृषि पदार्थो की अधिक कीमत मिल सकेगी।

9. **विस्त त क्षेत्र** (Wider Area)– सहकारी विपणन समितियों के कार्य क्षेत्र में विस्तार किया जाना चाहिए जिससे उन्हें सक्षम व सबल होने का अवसर मिल सके। उन्हें अपना कार्य क्षेत्र कई गांवों या एक पूरी तहसील तक विस्त त कर लेना चाहिए। इसके फलस्वरुप समितियां कृषि उत्पादन का अच्छी तरह से क्रय-विक्रय कर सकेंगी और अपने प्रबन्ध कार्य के लिए योग्य प्रबन्धों की नियुक्ति कर सकेंगी।

10. **ग्रेडिंग** (Grading)– सहकारी विपणन समितियों को अपने सदस्यों के उत्पादन का वर्गीकरण करना चाहिए जिसके कारण उन्हें अपनी उपज का उचित मूल्य मिल सकेगा तथा सदस्यों को अपना उत्पादन को उन्नत करने में सहायता मिलेगी।

कृषि निर्यात
(Agricultural Exports)

कृषि विपणन में कृषि के निर्यात का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृषि निर्यात के फलस्वरुप कार्य की आय में व द्धि, बेरोज़गारी की समस्या को सुलझाने एवं विदेशी मुद्रा प्राप्त करने की सबसे अधिक संभावना मौजुद होती है।

भारत में कृषि निर्यात को मौटे तौर पर तीन श्रेणियों अर्थात् (क) कच्चे उत्पाद (ख) अर्धनिर्मित उत्पाद (ग) संसाधिक और खाने के लिए तैयार उत्पाद। निर्यातित कच्चे उत्पाद अनिवार्यतः कम मूल्य एवं अधिक मात्रा की प्रक ति के हैं जबकि अर्धनिर्मित उत्पाद मध्यम मूल्य और सीमित मात्रा के हैं तथा संसाधिक खाने के लिए तैयार उत्पाद अन्य मूल्य परन्तु कम मात्रा की प्रक ति के है।

भारत द्वारा निर्यात किए जाने वाले प्रमुख कृषि उत्पाद हैं - मोटे अनाज (अधिकांशतः चावल-बासमती और गैर बासमती), मसाले खली, भूसी, तम्बाकू, चाय, काफी, काजू, समुद्री

उत्पाद, चीनी बागवानी तथा फूल, प्रोससड फल आदि। विगत कुछ वर्षो में देश के कुल निर्यात की तुलना में कृषि निर्यात कर हिस्सा 13 से 20 प्रतिशत के बीच रहा।

तालिकाः भारत के कृषि उत्पादों के निर्यात में व द्धि

(हज़ार करोड़ रुपए)

वर्ष	देश का कुल निर्यात	कृषि उत्पादों कर निर्यात	देश के कुल निर्यात में कृषि उत्पादों का हिस्सा
1993-94	69.75	13.02	18.7
1994-95	82.67	13.71	16.6
1995-96	106.35	21.14	19.8
1996-97	118.81	24.24	20.4
1997-98	130.10	25.42	18.8
1998-99	139.75	26.10	18.1
1999-2000	15.56	25.02	15.2
2000-01	203.57	28.58	13.5
2001-02	209.02	29.31	13.4

Source: Economic Survey, 2002-03

भारत में औद्यौगिक विकास

(Industrial Development in lndia)

भूमिका (Introduction)– बी. एम. डांडेकर के अनुसार औद्यौगिक वस्तुओं के उत्पादन, उद्योगों की विभिन्न क्षेत्रों में स्थापनाा तथा उद्योगों पर स्वामित्व-इन सब कसौटियों पर अब भारत का औद्योगिक आधार काफी बड़ा माना जा सकता है। परन्तु इस प्रक्रिया में अनार्थिक पौद्यौगिकी तथा अनार्थिक उत्पादन स्तरों पर या तो बने रहने दिया गया है या फिर प्रोत्साहित किया गया है या फिर प्रोत्साहित किया गया है जिसके परिणामस्वरूप उत्पादनक लागतों में व द्धि हुई है। घरेलू बाजार में प्रतिस्पर्धा न होने के कारण, तथा उपर्युक्त निर्यात प्रयासों के अभाव में, भारत के उद्योग बिना उत्पादन-लागत तथा बिना उत्पाद कि किस्म पर ध्यान दिए, उत्पादन करते जा रहे हैं।

भारत जैसे विकासशील देश के लिए औद्योगीकरण की बहुत अधिक आवश्यकता है क्योंकि यह एक कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था होने के साथ इसमें असन्तुलित विकास भी पाया जाता है। अतः इसके सन्तुलित एवं सम्पूर्ण विकास के लिए, औद्योगिकरण का महत्व और भी अधिक हो जाता है। उद्योगों के विकास के फलस्वरूप आय, उत्पादन और रोजगार की मात्रा में व द्धि से देशों के विकास में व द्धि लाई जा सकती है।

पं. जवाहर लाल नेहरू के अनुसार– "सभी राष्ट्र जिस देवता की पूजा करते हैं औद्योगिकीकरण, वह देवता है। मशीन, वह देवता है उच्च उत्पादन तथा प्राकृतिक साधनों का अधिकाधिक लाभप्रद उपयोग।"

योजनाकाल में भारत का औद्योगिक विकास
(India's Industrial Development during Plan Period)

1947 में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना एवं विकास के लिए 1951 में योजना अपनाने के बाद देश के औद्योगिक क्षेत्र में अनेक एवं विभिन्न प्रकार के महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इनके

फलस्वरूप औद्योगिक अर्थव्यवस्था का रूप व आकार में परिवर्तन हुआ है, स्तर ऊपर उठा है और इससे काफी विविधीकरण हुआ है। अब भारत की गिनती विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों में की जाने लगी है। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में जो औद्योगिकरण विकास हुआ है, उसका विवरण निम्नलिखित है-

1. **उद्योग और प्रथम योजना (Industry and First Plan, 1951-56)–** यद्यपि प्रथम योजना मुख्यतः 'कृषि योजना' थी परन्तु फिर भी इसकी अपेक्षा मूल सेवाओं (Basic Services) जैसे संचालन शक्ति तथा सिंचाई के निर्माण पर बल दिया गया ताकि बाद में सुविधाजनक रूप में औद्योगिकीकरण सम्भव हो सके। पहली योजना के आरम्भ होने के समय भारत का औद्योगिक आधार बहुत सीमित था।

   इस योजना में 55 करोड़ रुपए औद्योगिक क्षेत्र पर खर्च किए गए जो कुल व्यय का 2.8 प्रतिशत ही था। इस योजना में कई उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किए गए और कई उद्योगों ने उत्पादन प्रारम्भ किए। इनमें हिन्दुस्तान शिपयार्ड, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, सिन्दरी फर्टिलाईजर फैक्टरी, हिन्दुस्तान केबिल्स, इसैक्टिसाइड्स, एंटीबायोटिक्स, इंटिग्रल कोच फैक्टरी, यू. पी. गवर्नमैंट सीमेंट फैक्टरी एवं नेपा मिल्स (न्यूज प्रिंट), चितरंजन का इंजन बनाने का कारखाना, भारतीय टैलीफोन उद्योग आदि। प्रथम योजना में औद्योगिक उत्पादन की व द्धि दर 7 प्रतिशत प्रति वर्ष थी।

   इसी योजना में औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक जो 1951 में 100 था वह बढ़कर 1956 में 139 हो गया। इस प्रकार इस योजना में उद्योगों के उत्पादन में 39 प्रतिशत की व द्धि हुई तथा औद्योगिक उत्पादन की व द्धि दर 7.4 प्रतिशत रही।

2. **उद्योग और दूसरी योजना (Industry and Second Plan, 1956-1961)–** दूसरी योजना 'औद्योगिक योजना' थी क्योंकि वह महालनोबिस मॉडल (Mahalnobis Model) पर आधारित थी, तथा इसका उद्देश्य औद्योगिक विकास को बहुत ऊंची प्राथमिकता देकर औद्योगिक ढांचे को मजबूत करना था।

   इस योजना में सरकार ने बड़े पैमाने पर मूल व पूंजीगत वस्तु उद्योगों की स्थापना का लक्ष्य रखा ताकि भाविष्य में औद्योगिक विकास के लिए मजबूत आधार तैयार किया जा सके।

   इस योजना में बड़े उद्योगों एवं कारखानों के विस्तार पर सार्वजनिक क्षेत्र में 938 करोड़ रुपए तथा लघु उद्योगों पर 187 करोड़ रुपऐ खर्च किए गए जो कुल खर्च का 24 प्रतिशत था जबकि पहली योजना में केवल 5 प्रतिशत भाग ही खर्च किया गया था। इस योजना की सबसे बड़ी एवं महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र में तीन बड़े लोहे-इस्पात के कारखानों की स्थापना की गई। (भिलाई, राऊरकेला एवं दुर्गापुर)। इनके अतिरिक्त नांगल में खाद, भोपाल में बिजली का सामान तथा केरल में डी.डी.टी के कारखाने लगाए गए। कई पुराने कारखानों की उत्पादन क्षमता को भी बढ़ाया गया। भारी रसायन, मशीन और इंजीनियरिंग के कारखाने लगाए गए। इसके अतिरिक्त कृषि तथा परिवहन के लिए इस्तेमाल होने वाली मशीनों सम्बन्धी उद्योगों का विस्तार किया गया। साथ-साथ कागज सूती वस्त्र, सीमेंट, चाय व खनिज उद्योगों का भी विस्तार किया गया। स्थायी उपभोग वस्तुओं जैसे साइकिल, बिजली के पंखे, लैम्प, सिलाई मशीन आदि के उत्पादन में

भी व द्धि हुई। अतः दूसरी पंचवर्षीय योजना में उद्योगों का पर्याप्त विविधीकरण और विस्तार हुआ तथा औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक 139 से बढ़कर 194 हो गया। औद्योगिक आधार विकसित करने में सफल रही।

3. **उद्योग और तीसरी योजना (Industry and Third Plan 1961-66)**– जहां दूसरी योजना में औद्योगिकी विकास का आधार बनाने का लक्ष्य रखा गया वहीं तीसरी योजना में उस आधार को और मजबूत बनाने तथा इसका आगे विस्तार करने का लक्ष्य रखा गया। आधारभूत एवं पूंजीगत उद्योगों के और विकास पर जोर दिया गया ताकि शीघ्र ही आत्मनिर्भरता की प्राप्ति की जा सके। इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत छोटे-बड़े उद्योगों एव खनिजों के विकास के लिए 1784 करोड़ रुपया खर्च किया गया जो कि कुल राशि का लगभग 23 प्रतिशत था।

   इस योजना में, दूसरी योजना में स्थापित किए गए कई उद्योग जैसे- लोहा एवं इस्पात, मशीनें, सीमेंट तथा कागज की उत्पादन क्षमता को बढ़ाया गया। मशीन टूल की नई फैक्ट्री और कोटा में वैज्ञानिक औजार बनाने के कारखाने लगाए गए। बोकारो में इस्पात बनाने का सार्वजनिक क्षेत्र का चौथा कारखाना स्थापित किया गया। इस योजना में एल्युमीनियम, विद्युत ट्रांसफार्मर, ऑटो मोबाइल, सूती वस्त्र, मशीनरी, मशीन निर्माण, डीजल इंजन तथा पैट्रोलियम आदि उद्योग में 15 प्रतिशत प्रति वर्ष से भी हुई तीसरी योजना में व द्धि लक्ष्य की तुलना में 30 प्रतिशत 265 (1950 –51 = 100) हो गई जबकि लक्ष्य 329 था। औद्योगिक उत्पादन की विकास दर 9 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी जबकि लक्ष्य 11 प्रतिशत वार्षिक रखा गया था। कुल औद्योगिक उत्पादन में व द्धि लक्ष्य की तुलना में 30 प्रतिशत कम थी। अतः तीसरी योजना में अर्थव्यवस्था में औद्योगिक मन्दी (Industrial Recession) का दौर आरम्भ हो गया।

4. **उद्योग और तीन वार्षिक योजनाएं (Industry and Three Annual Plans, 1966-69)**– तीसरी योजना की समाप्ति पर चौथी योजना को किन्हीं कारणों के फलस्वरूप शुरू नहीं किया जा सका। फलस्वरूप इसे तीन वर्षों के लिए स्थगित किया गया और इस अवधि में (1966-69) में तीन वार्षिक योजनाओं का सहारा लिया गया।

   इन तीन वर्षों के छोटे-बड़े उद्योगों पर लगभग 1636 करोड़ रुपये खर्च किए गए। परन्तु विभिन्न कारणों (विदेशी वर्षों तक प्रतिकूल मौसम के कारण गम्भीर कृषि स्थिति, बचत, निवेश और क्रयशक्ति में कमी, जिसके फलस्वरूप उद्योग-धन्धों को गहरी ठेस लगी) के फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन की वार्षिक व द्धि दर केवल 2.6 प्रतिशत रही जबकि तीसरी योजना की अवधि में औसत व द्धि दर 7 प्रतिशत के लगभग थी।

5. **उद्योग और चौथी योजना (Industry and Fourth Plans, 1969-74)**– चौथी योजना के दौरान तीसरी योजना के अधीन आरम्भ किए औद्योगिक प्रोजेक्टों को पूरा करने पर बल दिया गया ताकि औद्योगिक ढांचे के असन्तुलन को दूर किया जाए। उद्योगों की वर्तमान उत्पादन क्षमता का अधिकतम उपयोग हो सके तथा निर्यात-प्रोत्साहन एवं (Export Promotion) एवं आयात-प्रतिस्थापन (Import-Sustitution) उद्योगों के विस्तार का लक्ष्य रखा गया। चौथी योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में उपयोग एवं खनिज के विकास पर 2864 करोड़ रुपये खर्च किए गए जो कुल व्यय का 18.2 प्रतिशत भाग था।

चौथी योजना में औद्योगिक उत्पादन में व द्धि केवल 3.9 प्रतिशत प्रतिवर्ष हुई जबकि लक्ष्य 8-10 प्रतिशत था। इस धीमे विकास के कई कारण थे जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं-

(1) मांग की कमी

(2) आधारभूत कच्चे माल की कमी

(3) मजदूरों में बढ़ती हुई कीमतों के कारण असन्तोष

(4) परिवहन सम्बन्धी कठिनाई जिसके कारण भारी वस्तुएं जैसे- कोयला, सीमेंट, इस्पात, कच्चा लोहा इत्यादि लाने, ले जाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा

(5) कोयला तथा बिजली की कमी जिसके कारण कई महत्वपूर्ण उद्योग जैसे इस्पात, सूती वस्त्री, सीमेंट, उर्वरक, रसायन, एल्युमीनियम इत्यादि में उत्पादन में कमी आई

(6) कई उद्योगों में क्षमता उपयोग का कम स्तर और क्षमता स जन में देरी।

6. **उद्योग और पांचवीं योजना (Industry and Fifth Plan, 1974-78)–** पांचवीं योजना के औद्योगिक कार्यक्रम इस प्रकार से तैयार किए कए जिसमें आत्म-निर्भरता एवं संव द्धि के साथ सामाजिक न्याय के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके। निवेश तथा उत्पादन के निम्न प्रणाली की संकलपना की गई जिसमें -

(1) प्रमुख क्षेत्र (Core Sector) उद्योगों का तेज विकास था क्योंकि ये उद्योग दीर्घकालिक आर्थिक विकास की द ष्टि से विशेष महत्व रखते हैं। (इसलिए इस्पात, उर्वरकों, खनिज तेलों, कोयला और मशीन निर्माण उद्योग में विस्तार को उच्च प्राथमिकता दी गई)

(2) निर्यात-उत्पादक उद्योगों का तेज विविधीकरण और विकास।

(3) कपड़ा, खाद्य तेल व वनस्पति, चीनी, दवाइयां, साइकिल इत्यादि आवश्यक उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में व्यापक विस्तार।

(4) अनावश्यक वस्तुओं के उत्पादन पर रोक। पांचवीं योजना में औद्योगिक क्षेत्र का हिस्सा 8989 करोड़ रुपये रहा, जो कि कुल व्यय का 22.8 प्रतिशत भाग था।

इस योजना का उद्देश्य 8.1 प्रतिशत वार्षिक व द्धि लक्ष्य रखा गया, लेकिन औद्योगिक उत्पादन में केवल 5.9 प्रतिशत वार्षिक व द्धि हुई, जो निर्धारित लक्ष्य से कम थी। इस योजना के अन्तर्गत औद्योगिक क्षेत्र में गतिरोध के मुख्य कारण थे- महत्वपूर्ण आयात-माल की कमी, मांग की दिशा में रुकावट, औद्योगिक सम्बन्धों में बिगाड़-झगड़े तथा असन्तोषजनक प्रबन्धन इत्यादि।

7. **उद्योग तथा छठी योजना (Industry and Sixth Plan, 1980-85)–** इस योजना में समग्र विकास में अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण में, उसे आत्मनिर्भर बनाने एवं संरचनात्मक विविधता लाने में औद्योगिक विकास का योगदान बहुत महत्वपूर्ण ठहरता है। इस योजना में उद्योग और खनिज के लिए 22,200 करोड़ रुपए खर्च किए गए जो योजना के कुल व्यय का 22.8 प्रतिशत भाग था।

इस योजना में रोजगार बढ़ाने के उद्देश्य से कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर बल दिया गया। इस योजना का केंद्र बिन्दु कृषि एवं ग्रामीण विकास था। छठी योजना में पैट्रोल, खाद, इस्पात तथा शक्ति साधनों का उत्पादन बढ़ाने के विशेष प्रयत्न किए गए। इस योजना में औद्योगिक उत्पादन में 7 प्रतिशत वार्षिक दर से व द्धि करने का लक्ष्य रखा गया था परन्तु औद्योगिक विकास की दर केवल 5.5 प्रतिशत ही रही। इसके कम होने के मुख्य कारण थे

(1) बिजली की कमी

(2) कच्चे माल की कमी

(3) हड़तालें तथा कई उद्योगों के उत्पादन की मांग में कमी, तकनीकी का अनुपयुक्त चयन, ऊंची पूंजी-अनुपात की दर आदि थे।

8. **उद्योग और सातवीं योजना (Industry and Seventh Plan, 1985-90)**– सातवीं योजना में देश की तीव्र औद्योगीकरण की नीति जारी रही। इस योजना में संव द्धि के साथ विकास तथा उत्पादकता में सुधार को विशेष महत्व दिया गया। इन बातों को ध्यान में रखते हुए उद्देश्य रखे गए-

(1) जनता के उपभोग के लिए आवश्यक पदार्थों तथा मजदूरी पदार्थों की उत्तम गुणवत्ता के उत्पादन की पर्याप्त पूर्ति की व्यवस्था उचित कीमतों पर की जाएगी।

(2) उत्पादन की वर्तमान क्षमता का अधिकतम प्रयोग किया जाएगा जिसके लिए उत्पादकता में सुधार किया जाएगा तथा उन्नत तकनीकी का प्रयोग किया जाएगा।

(3) उन उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाएगा जिनके घरेलू बाजार का विस्तार बड़ा है तथा जिनकी निर्यात सम्भावनाएं अधिक हैं।

(4) विकास सम्भावनाओं वाली "सनराईज उद्योगों." (Sunrise Industries) जैसे - कम्प्यूटर, इलैक्ट्रानिक्स आदि की स्थापना की जाएगी।

(5) महत्वपूर्ण क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने तथा प्रशिक्षित श्रमिकों के लिए रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध कराने के लिए समन्वित नीति अपनाई जाएगी। सातवीं योजना की अवधि मे ंउद्योगों तथा खनिज पर 29,229 करोड़ रुपए खर्च किए गए जो कि कुल व्यय का 13.4 प्रतिशत भाग था।

सातवीं योजना में औद्योगिक उत्पादन में व द्धि का लक्ष्य 8.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष था जबकि योजना में वास्तविक संव द्धि दर 8.5 प्रतिशत पूर्ति वर्ष रही। अतः औद्योगिक क्षेत्र में व द्धि लक्ष्य के अनुसार रही।

9. **उद्योग और आठवीं योजना (Industry and Eight Plan, 1992-97)**– इस योजना में 24 जुलाई, 1991 को नई औद्योगिक नीति की घोषणा की गई, जिसमें भारतीय अर्थव्यवस्था को उदारीकरण तथा विश्वीकरण (Liberalisation and Globlisation) का नया काम दिया गया तथा साथ ही निजीकरण (Privatisation) का महत्व भी बढ़ गया।

(1) इस नीति के अनुसार, देश में औद्योगिक विकास सार्वजनिक क्षेत्र की अपेक्षा निजी क्षेत्र के माध्यम से होगा। सार्वजनिक क्षेत्र की मूलभूत (Basic) तथा कोर (Core) उद्योगों तक ही केन्द्रित कर दिया गया।

(2) सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व पहले की अपेक्षा केवल 50 प्रतिशत ही रह गया है।

(3) केवल राष्ट्रीय महत्व के 8 उद्योगों को कोर क्षेत्र के लिए छोड़कर बाकी सब उद्योग निजी उद्यमियों के लिए छोड़ दिए गए।

(4) लाइसैंस लेने में छूट दे दी गई है किसी भी उद्योग को शुरू करने के लिए केवल सूचना मात्र ही देनी होगी। आठवीं योजना में औद्योगिक क्षेत्र का व्यय 40,588 करोड़ रुपए दिया गया, जो कुल व्यय का 9.3 प्रतिशत भाग था।

आठवीं योजना के मुख्य उद्देश्य थे–

(1) औद्योगिक उत्पादन की वार्षिक दर 7.4 प्रतिवर्ष रखी गई।

(2) इस योजना के अन्तर्गत तकनीकी और उत्पादकता (Technology and Productivity) के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर प्राप्त करने के लिए प्रमुख वस्तु-निर्माताओं से आशा की जाती है कि वे विदेशी सहयोग (Foreign Collaboration) जो विदेशी निवेश निजी उद्यमों के उत्पादन का बेहतर उपयोग, खुले व प्रतियोगी माहौल से उत्पन्न श्रेष्ठ संगठनात्मक कार्यकुशलता आदि का लाभ उठा सके। आठवीं योजना में उद्यमों को निर्यात से जोड़ा गया है। भारतीय उद्योगों को अधिक प्रतियोगी बनाने के लिए उनके आधुनिकीकरण तथा नवीकरण को अधिक महत्व दिया है। औद्योगिकी उत्पादन की वार्षिक दर 7.3 प्रतिशत प्रति वर्ष प्राप्त थी।

10. **उद्योग और नौवीं योजना (Industry and Ninth Plan, 1997-2002)–** इस योजना में उद्योगों व खनिजों के विकास के लिए 65,148 करोड़ रुपए खर्च किए गए जो कुल व्यय का 7.6 प्रतिशत भाग था। औद्योगिक विकास की दर का लक्ष्य 8.2 प्रतिशत प्रति वर्ष रखा गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित नीतियों को अपनाने की बात की गई है-

(1) पर्याप्त मात्रा में तथा उपयुक्त किस्म की अधिकारिक संरचना प्रदान करना।

(2) पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों के विकास के लिए विशिष्ट कदम उठाना।

(3) औद्योगिक और वित्तीय पुनः संरचना बोर्ड के कामकाज की समीक्षा करना तथा उसमें ऐसे परिवर्तन लाना जिससे कि बीमार औद्योगिक इकाइयों को पुनः जीवनदान दिया जा सके।

(4) प्रौद्योगिकी में सुधार द्वारा और साख की उपयुक्त मात्रा में उपलब्धि द्वारा लघु क्षेत्र की औद्योगिकी इकाइयों के उत्पादन व उत्पादकता में व द्धि करना।

(5) असगठित आद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन, उत्पादकता तथा कारीगरों की आमदनी में व द्धि के लिए एक ही स्थान पर प्रशिक्षण, कौशल में सुधार, काम करने के औजारों में सुधार आदि की व्यवस्था करना।

(6) उत्तर-पूर्वी राज्यों के औद्योगिक विकास के लिए एक विशेष पैकेज कार्यक्रम अपनाना।

11. **उद्योग और दववीं योजना (Industry and Tenth Plan, 2002-07)–** दसवीं योजना में औद्योगिक विकास पर 40,372 करोड़ रुपए खर्च किए जाएंगे, जोकि नौवीं योजना

से 20.6 प्रतिशत आधिक है। इस योजना में औद्योगिक उत्पादन की विकास दर का लक्ष्य 10 प्रतिवर्ष निर्धारित किया गया है। इस योजना की मुख्य विशेषताएं अग्रलिखित हैं-

(1) इस योजना की रणनीति में नीजी क्षेत्र को इस योग्य बनाना है कि उसके सम्भाव्य उद्यमीकरण का पूर्ण उपयोग हो सके ताकि उसका उत्पादन दर और आय प्रजनन में प्रभावपूर्ण येागदान हो सके।

(2) इस योजना से अपेक्षा की गई है कि सभी महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र में प्रतियोगी उत्पादन तकनीकी, प्रक्रिया तथा व्यवहार को प्रोत्साहन मिले।

(3) कुशल व द्धि नीतियों, जैसे बाजार शक्तियों, स्वतन्त्र कार्यकरण पर अधिक बल दिया जाएगा।

(4) अप्रत्यक्ष करों को अधिक युक्तिकरण (Rationalisation) किया जाएगा।

(5) उद्योगों से सम्बन्धित आधारिक संरचना में महत्वपूर्ण सुधार करने के लिए नए प्रोत्साहन प्रदान करने का प्रावधान है।

(6) सार्वजनिक क्षेत्र में कम उत्पादकता वाले क्षेत्रों से विशाल वित्तीय साधन उपलब्ध करवाने का विचार है। इसके लिए सभी बीमार सार्वजनिक उद्यम (Public Sector Enterprises) का विनिवेश (Disinvestment) किया जाएगा और वहां से उपलब्ध वित्तीय साधनों का कुशल प्रबन्ध की ओर हस्तांतरित किया जाएगा, ताकि वहां इस धन राशि का उचित उपयोग किया जा सके।

(7) अतिरिक्त वित्तीय साधनों को एकत्रित करने के लिए योजना स्वरूप भारतीय पूंजी तथा वित्तीय बाजार को विकसित करने के प्रयास करेगी ताकि भारतीय घरेलू क्षेत्र की विशाल सम्भावित बचतों को एकत्रित किया जा सके और इनका कुशल वित्तीय मध्यस्थों के माध्यम से उद्योग में हस्तांतरण किया जा सके।

(8) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (Foreign Direct Investment—FDI)– को आकर्षित करने के मामलों में भारत की भूमिका सराहनीय नहीं रही है। अतः दसवीं योजना में यह अपेक्षा की गई है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की ओर आकर्षित करने के लिए काफी सुधार किए जाएंगे।

योजनाकाल में औद्योगिक विकास का मूल्यांकन
(An Appraisal of the Industrial Development during the Planning Period)

योजनाकाल की अवधि में औद्योगिक संरचना अपेक्षाकृत अधिक मजबूत, विविधतापूर्ण एवं आधुनिक बन गई है। साथ ही अनेक महत्वपूर्ण औद्योगिक वस्तुओं के सन्दर्भ में देश आत्मनिर्भर हो गया है तथा औद्योगिक उत्पादन में व द्धि काफी प्रभावशाली रही है। भारत में औद्योगिक विकास पर सरकार का भारी नियन्त्रण रहा है इसके लिए व्यापक लाइसैंसिंग प्रणाली का प्रयोग किया गया तथा सरकार ने व्यवहार में दो उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है।

(1) निजी क्षेत्र में निवेश की दिशा एवं मात्रा को निर्धारित करना। (2) प्रायः तकनीकी के चुनाव, उत्पादन के पैमाने, औद्योगिक इकाइयों का स्थानीयकरण, उत्पादित माल में अत्यधिक कच्चे पदार्थों का हिस्सा तथा विदेशी कम्पनियों की साझेदारी की शर्तों को प्रभावित करना।

परिणामस्वरूप सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों में लक्ष्यों तथा उपलब्धियों में भारी अन्तर औद्योगिक क्षेत्र में त्रुटिपूर्ण नियोजन की प्रव त्ति को दर्शाते हैं। यद्यपि सन् 1991, की औद्योगिक नीति ने उदारीकरण की प्रक्रिया की गति को और भी तेज कर दिया है।

उपलब्धियां (Achievements)– औद्योगिक विकास के क्षेत्र में नियोजन की मुख्य उपलब्धियां इस प्रकार से हैं-

1. **सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार (Expansion of Public Sector)**– स्वतन्त्रता से पूर्व सार्वजनिक क्षेत्र का अस्तित्व न के बराबर था। इसी आद्योगिक गतिविधियों पर नियन्त्रण निजी क्षेत्र का था। योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र का बहुत विस्तार व विकास हुआ है। सन् 1951 में सार्वजनिक क्षेत्र का कुल निवेश 29 करोड़ रुपए का था और इस क्षेत्र में केवल 5 इकाइयां थीं, लेकिन आज सार्वजनिक क्षेत्र का कुल निवेश बढ़कर 2,23,047 करोड़ रुपए तक पहुंच गया और इस क्षेत्र के उद्योगों की संख्या 236 हो गई है।

2. **आधारित अद्योसंरचना का निर्माण (Building up by Infrastructure)**– आधुनिक औद्योगिक विकास अर्थसव्यवस्था की अधोसंरचना में व्यापक विस्तार के बिना सम्भव नहीं है जिसमें बिजली, रेलवे, सड़कें (परिवहन) व संचार जैसी बुनियादी सेवाएं सुविधाओं के लिए बहुत प्रयास किए गए हैं। यही कारण है कि इन सुविधाओं को उपलब्ध कराने वाले तथा इनसे जुड़े उद्योगों के विकास को उच्च प्राथमिकता दी गई है। बिजली के उपकरण बनाने, खनिज तेल एवं कोयले, टेलीफोन इत्यादि आदि के नए उद्योग स्थापित करने के लिए कई औद्योगिक वित्तीय संस्थाएं भी स्थापित की गईं।

3. **सकल घरेलू उत्पाद तथा निर्यात में औद्योगिक क्षेत्र के हिस्से में व द्धि (Increase in the Share of Industrial Sector in G.D.P. and Exports)**– भारत की GDP में उद्योगों का हिस्सा (विनिर्माण, निर्माण, बिजली, गैस तथा जलपूर्ति शामिल है), 1950-51 में 15 प्रतिशत से बढ़कर अब लगभग 29 प्रतिशत हो गया। इसी प्रकार निर्यात में उद्योगों का योगदान भी 45 प्रतिशत के लगभग है।

4. **भारी तथा पूंजीगत वस्तु उद्योगों का निर्माण (Building up of heavy and Capital goods Industry)**– क्योंकि आयोजन के आरम्भ से ही पूरा जोर अर्थव्यवस्था की उत्पादक शक्ति को बढ़ाने पर था, इसलिए औद्योगिक क्षेत्र में निवेश का एक बड़ा हिस्सा उन उद्योगों में लगाया गया जो भविष्य में उत्पादन को प्रोत्साहित कर सकने के लिए आवश्यक थे, जैसे "मशीनों का उत्पादन करने वाली मशीनों का उत्पादन।" यही कारण है कि आयोजकों ने भारी व पूंजीगत व वस्तु उद्योगों में निवेश पर बहुत ध्यान दिया। परिणामस्वरूप देश का औद्योगिक आकार 1950-51 की तुलना में कहीं ज्यादा मजबूत हो चुका है। कई प्रकार की इंजीनियरिंग वस्तुओं, लोहा व इस्पात, धातु आधारित वस्तुओं इत्यादि का अब देश में ही उत्पादन होता है तथा अन्य देशों पर निर्भरता काफी कम है।

5. **सबल औद्योगिक ढांचा (Strong Industrial Base)**– आयोजन की अवधि में भारत का औद्योगिक ढांचा पहले से अधिक सबल हुआ है। जहां 1951 में औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादित राष्ट्रीय आय में उपभोग पदार्थों का उत्पादन करने वाले उद्योगों का हिस्सा 70 प्रतिशत था, वहां अब इनका हिस्सा केवल 30 प्रतिशत है। योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में विविधता आई है तथा अनेकों नई तथा महत्वपूर्ण वस्तुओं का उत्पादन किया जाने लगा है। परिणामस्वरूप औद्योगिक विकास सन्तुलित हो गया है।

6. **व द्धि दर (Growth Rate)**– 1951 से 2002 तक औद्योगिक उत्पादन में लगभग 4.5 प्रतिशत व द्धि हुई है जबकि 20 वीं सदी के पहले चार दशकों में औद्योगिक उत्पादन में इतनी अधिक व द्धि हुई है।

7. **आधुनिकीकरण (Modernisation)**– अनेक उद्योगों के आधुनिकीकरण द्वारा उत्पादन तकनीकी को सुधारा गया है। नए उद्योगों की उत्पादन तकनीकी को यथासम्भव आधुनिकतम रखने का प्रयास किया गया जिसके लिए विदेशी तकनीकी सहयोग भी प्राप्त किया गया है।

8. **उद्योगों को क्षेत्रीय सन्तुलन (Regional Balance of Industries)**– आर्थिक नियोजन से उद्योगों का क्षेत्रीय सन्तुलन करने में भारी मदद मिली है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग उन क्षेत्रों के स्थानों में स्थापित किए गए हैं जो पहले उपेक्षित थे जैसे इस्पात के कारखाने राउरकेला, दुर्गापुर तथा भिलाई में इसी उद्देश्य को लेकर स्थापित किए गए हैं। इसी तरह हिन्दुस्तान मशीन टूल्स की इकाइयां भी पिछड़े एवं औद्योगिक द ष्टि से अविकसित क्षेत्रों में स्थापित की गईं।

9. **ओद्योगिक उत्पादन में व द्धि (Increase in Industrial Product)**– योजनाओं में हुए औद्योगिक विकास के कारण औद्योगिक उत्पादन में काफी व द्धि हुई है। कई नई वस्तुओं का उत्पादन होने लगा है। योजनाकाल की अवधि में औद्योगिक उत्पादन में होने वाली व द्धि का अनुमान निम्न तालिका नं. 28.1 से लगाया जा सकता है।

तालिकाः महत्वपूर्ण उद्योगों का उत्पादन

उद्योग	इकाई	(1950-51)	(2001-20002)
1. तैयार इस्पात	लाख टन	10	311
2. सीमेंट मशीनरी	करोड़ रुपए	Nil	376
3. चीनी बनाने की मशीनरी	करोड़ रुपए	Nil	97
4. पैट्रोल	लाख टन	.03	320
5. कोयला	लाख टन	328	3,226
6. कागज व गत्ता	हजार टनों में	116	2,906
7. सीमेंट	लाख टन	27	1,069
8. साइकिल	हजार	99	10,834
9. टैक्ट्रर्स	हजार	Nil	205
10. मोटर साइकिल-स्कूटर्ज आदि	हजार	Nil	3,932
11. शुद्ध तांबा	हजार टन	7.1	38

(*Source :* Ecnomic Survey 2003)

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि योजनाओं के लागू होने से पहले देश में कई वस्तुओं जैसे मशीनरी, ट्रैक्टर्स, स्कूटर्स आदि का बिल्कुल भी उत्पादन नहीं होता था परन्तु अब इन वस्तुओं का उत्पादन देश में पर्याप्त मात्रा में किया जाने लगा है तथा इस योजनाकाल की अवधि में होने वाले औद्योगिक के फलस्वरूप संसार में औद्योगिक उत्पादन के द ष्टिकोण से भारत का दसवां स्थान है।

दुर्बलताएं
(Weakness)

स्वतन्त्रता से पहले भारतीय अर्थव्यवस्था विकास के अत्यन्त निम्न स्तर पर टिकी हुई थी, उद्योगों में संव द्धि दर की बहुत कम थी, तथा औद्योगिक संरचना का ढांचा बहुत छोटा था। इन बातों को देखते हुए योजनाकाल में भारत की औद्योगिक प्रगति बहुत प्रभावशाली लगती है। जहां आजादी के समय औद्योगिक ढांचा कृषि पर आधारित था वहां अब यह अत्यन्त विस्त त और जटिल हो चुका है और भारत अब उच्चकोटि की उच्च तकनीकी वाली औद्योगिक वस्तुएं बना सकने में सक्षम है। परन्तु अभी भी कुछ समस्याएं ऐसी हैं जिनका सामना औद्योगिक क्षेत्र को करना पड़ रहो है और जिन पर ध्यान देने की आवश्यकता है। ये दुर्बलताएं निम्नलिखित हैं-

1. **लक्ष्यों और उपलब्धियों में अन्तर** **(Gaps between Targets and Achievements)**– पूरे योजनाकाल पर विचार करें तो केवल अस्सी के दशक में ही औद्योगिक क्षेत्र में निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है। अन्य सभी दशकों में उपलब्धि लक्ष्य की तुलना में कम रही है। यद्यपि तीसरी योजना के अन्त तक की अवधि को औद्योगिक विकास की द ष्टि से सन्तोषजनक माना जाता है तथापि इस अवधि में भी उपलब्धि लक्ष्यों से कम रही। लक्ष्यों तथा उपलब्धियों में अन्तर का मुख्य कारण कच्चे माल, बिजली एवं पूंजी का अभाव तथा विदेशी विनिमय संकट रहे हैं। सार्वजनिक क्षेत्र अपनी अकुशलता के कारण लक्ष्यों को प्राप्त करने में असफल रहा जबकि हमारी अर्थव्यवस्था में सुधार पूंजीपतियों का अपव्ययी प्रदर्शन, उपभोग को रोककर, बचत और निवेश की दरों को ऊंचा उठा पाने में असमर्थ रही है।

2. **क्षमता का अपूर्ण प्रयोग** **(Under-utilisation of Capacity)**– बहुत सारे उद्योग अपनी स्थापित क्षमता का बहुत कम प्रयोग कर पाने में सफल हुए हैं। क्योंकि 'क्षमता' को परिभाषित करना आसान नहीं होता अतः क्षमता के अपूर्ण उपयोग के बारे में पूरी जानकारी उपलब्ध नहीं है। विभिन्न अनुमानों के अनुसार 20-30 प्रतिशत से लेकर 60-70 प्रतिशत तक ही उत्पादन क्षमता का उपयोग नहीं हो पाया है। NCAER के अनुसार इन्जीनियरिंग उद्योग के उत्पादन में 30 प्रतिशत और रासायनिक उद्योग के उत्पादन में 50 प्रतिशत की व द्धि की गुजाइश थी। क्षमता के अपूर्ण प्रयोग के मुख्य कारण-कम मांग, बिजली व कच्चे माल की कमी, सरकारी नीतियां व श्रम-असन्तोष आदि थे।

3. **उच्च आय वर्गों के लिए उत्पादन** **(Elite oriented Consumption)**– जहां पिछले कुछ वर्षों से आम लोगों के उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन अपेक्षाकृत कम बढ़ा है वहीं उच्च आय वर्गों के उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन बहुत तेजी से बढ़ा है।

उदाहरण के लिए कारों, स्कूटरों, फ्रिजों, एयरकण्डीशनरों, सिगरेटों, शराब, गलीचों व बढ़िया फर्नीचर इत्यादि के उत्पादन में तेज व द्धि हुई है वहीं आम उपयोग की वस्तुओं के उत्पादन में बहुत कम व द्धि हुई है।

4. **सार्वजनिक क्षेत्र का अकुशल कार्यप्रणाली** (Inefficient Performance of Public Sector)– यद्यपि इस क्षेत्र उद्योगों को कई सामाजिक आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति करनी पड़ती है इसलिए इनके कई उत्पादों की कीमत बहुत कम कर रखी जाती है। परन्तु इस नीति से लाभ निजी क्षेत्र के उद्यमों को होता है। इनके उत्पादन का प्रयोग आगतों के रूप में करते हैं। अतः सार्वजनिक क्षेत्र की कीमत पर निजी के लाभ बढ़ते हैं।

5. **क्षेत्रीय असमानता में व द्धि** (Growth of Regional Imbalance)– भारत में औद्योगिक विकास कुछ ही विकसित राज्यों जैसे-महाराष्ट्र, गुजरात, पश्चिमी बंगाल तथा तमिलनाडु तक सीमित रहा है। इन राज्यों में 1996-97 में कुल फैक्ट्रियों का 44.3 प्रतिशत, निवेशित पूंजी का 47.4 प्रतिशत तथा कुल उत्पादन का 49.2 प्रतिशत केन्द्रित था। आर्थिक विकास की प्रक्रिया औद्योगिक विकास के साथ जुड़ी हुई होती है परन्तु आर्थिक विकास की इस प्रक्रिया में कइ गरीब राज्यों को विशेष लाभ नहीं हुआ। यद्यपि पिछड़े हुए राज्यों-बिहार, उड़ीसा एवं मध्य प्रदेश आदि में सार्वजनिक क्षेत्र में भारी निवेश किए गए फिर भी इनका औद्योगिक विकास नहीं हो पाया।

6. **एकाधिकारी शक्ति में व द्धि** (Much Increase in Monopoly Power)– यद्यपि सरकार की नीति एकाधिकार को नियन्त्रित करने और आर्थिक शक्ति के केन्द्रियकरण को रोकने की रही है परन्तु योजना काल की अवधि में एकाधिकारी तत्वों की शक्ति में बहुत व द्धि हुई है जिसके लिए सरकार की औद्योगिक लाइसैंसिंग नीति तथा औद्योगिक वित्त प्रदान करने वाली राष्ट्रीयकृत वित्तीय संस्थानों की साख नीति जिम्मेदार रही है।

7. **नीची प्राथमिकता क्रम वाले उद्योगों में पूंजी निवेश** (Capital Investment in Low Priority Industries)– पूंजीपति अनेक उद्यमों में भारी पूंजी लगा रहे हैं जिनका योजनाओं द्वारा निर्धारित प्राथमिकता क्रम से नीचा स्थान है तथा भारी मात्रा में आर्थिक आधिक्य भी उद्योगों में नहीं लगाया जाता था तो उसे सट्टेबाजी में लगा दिया जाता है या प्रदर्शन उपभोग पर ही व्यय कर दिया जाता है। अतः औद्योगिक क्षेत्र में समुचित मात्रा में और वांछित दिशा में निवेश नहीं होते।

8. **औद्योगिक उत्पादन में अनियमित व द्धि** (Unregulated Increase in Industrial Production)– योजनाकाल की अवधि में औद्योगिक उत्पादन में व द्धि की दर बहुत ही अनियमित रही है। प्रथम योजना में औद्योगिक विकास की दर 7.4 प्रतिशत थी, जो तीसरी योजना में बढ़कर 9 प्रतिशत हो गई परन्तु चौथी योजना में घटकर केवल 2.5 प्रतिशत ही रह गई।

9. **औद्योगिक रुग्णता** (Industrial Sickness)– भारत में औद्योगिक रुग्णता बढ़ती जा रही है। सन् 1981 में बीमार इकाइयों की संख्या 81 हजार थी, मार्च 1998 के अन्त तक 2.24 लाख हो गई तथा इनमें बैंकों की बकाया ऋण राशि 15,682 करोड़ रुपए थी।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के कारण उद्योगों की स्थापना के समय 'लागत' पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। तकनीकी में सुधार और वस्तुओं की किस्म में सुधार की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। औद्योगिक विकास ढांचा 'लागत' के मापदण्ड पर निर्धारित नहीं किया गया है।

भारत में औद्यौगिक नीति
(Industrial Policy of lndia)

"औद्यौगिक नीति से अर्थ सरकार के उस चिन्तन से है जिसके अन्तर्गत औद्योगिक विकास का स्वरूप निश्चित किया जाता है तथा जिसको प्राप्त करने के लिए नियम व सिद्धान्तों को लागू किया जाता है" दूसरे शब्दों में, इस प्रकार भी कह सकते हैं कि औद्योगिक नीति से अर्थ सरकार की उस औपचारिक घोषणा से है जिसमें उद्योगों के प्रति अपनायी जाने वाली नीतियों का उल्लेख होता है। अतः औद्योगीक नीति उन विभिन्न सिद्धान्तों एवं क्रियाओं से है जो देश में औद्योगिकरण की सहायता के लिए बनाई तथा अपनाई जाती हैं। इससे कर प्रणाली, संरक्षण नीति, श्रम व पूंजी, कुटीर एवं लघु उद्योग विदेशी पूंजी व उनसे सम्बन्धित सभी बातों का अध्ययन किया जाता है।

औद्योगिक नीति विशेष रूप से भावी उपयोगों के विकास, प्रबन्ध व स्थापना से सम्बन्धित होती है। इस नीति को बनाते समय देश का आर्थिक ढांचा, सामाजिक व्यवस्था, उपलब्ध प्राकृतिक व तकनीकी साधन तथा सरकारी नियन्त्रण का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है।

औद्योगिक नीति का महत्व (Importance of Industrial Policy)– ोप्रत्येक राष्ट्र के लिए औद्योगिक नीति निम्ननिलिखित रूप से महत्वपूर्ण होती है-

(1) वह देश के औद्योगिक विकास को सुनियोजित कर देश व अर्थव्यवस्था को सुद ढ़ करती है।

(2) राष्ट्र को मार्ग दर्शन व निर्देशन देती है।

(3) सरकार को निश्चित कार्यक्रम बनाने में मदद करती है।

(4) जन साधारण को अपनी निश्चित आजीविका का साधन बनाने में सहायता करती है।

भारत जैसे देशों में तो औद्योगिक नीति अनेक कारणों से महत्वपूर्ण है। यहां नियोजित अर्थव्यवस्था के माध्यम से औद्योगिक विकास हो रहा है। देश में प्राकृतिक साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। परन्तु उनका उचित प्रयोग नहीं हो पा रहा है। यहां प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण पूंजी निर्माण की दर कम है। तथा उपलब्ध पूंजी सीमित मात्रा में है अतः यह महत्वपूर्ण है कि औद्योगिक नीति इन बातों में मदद करे। वे क्षेत्र जहां व्यक्तिगत उद्यमी पहुंचने में समर्थ नहीं हैं, सार्वजनिक क्षेत्र में रखे जाएं और सरकार उनका उत्तरादायित्व अपने ऊपर ले। साथ ही यह भी आवश्यक है कि निजी क्षेत्र पर उचित नियन्त्रण भी होना चाहिए जिससे कि विकास योजनाएं भी ठीक प्रकार से चलती रहें तथा अति आवश्यक उद्योगों का विकास सबसे पहले हो सकें। यह बात भी औद्योगिक नीति के महत्व को दर्शाती है। घरेलू व विदेशी व्यापार उचित प्रकार से चले, इसके लिए भी औद्योगिक नीति महत्वपूर्ण है।

स्वतन्त्र भारत में औद्योगिक नीति
(The Industrial Policy in Free India)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अब तक पांच बार औद्योगिक नीति की घोषणा हो चुकी है जो निम्नलिखित है-

(1)	औद्योगिक नीति	1948
(2)	औद्योगिक नीति	1956
(3)	औद्योगिक नीति	1973
(4)	औद्योगिक नीति	1980
(5)	औद्योगिक नीति	1991

प्रथम दो 1948 व 1956 की तो वास्तव में नीतियां है जबकि 1977 व 1980 की नीतियों न होकर 1956 की नीति के आधार पर विस्त त दिशा निर्देशक हैं।

सन् 1948 की औद्योगिक नीति
(Industrial Policy of 1948)

स्वतन्त्रता से पूर्व देश का औद्योगिक ढांचा उचित नहीं था। देश में औद्योगिक वातावरण अनिश्चित था। स्वतन्त्रता के बाद हमारी सरकार ने मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रणाली को अपनाया जिसके अन्तर्गत सरकार को देश की उन्नति में सक्रिय हिस्सा लेना था जिसके तहत निजी एवं सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों के लिए विकास का अवसर था। इन सभी परिस्थितियों के आधार पर 6 अप्रैल, 1948 को तत्कालीन उद्योग एवं पूर्ति मन्त्री डॉ. श्यामप्रसाद मुखर्जी ने प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसकी मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं।

1. **उद्योगों का वर्गीकरण** (Classification of Industries)– उद्योगों को चार भागों में विभाजित किया गया।

   (i) **सार्वजनिक क्षेत्र** (Public Sector)– पहले वर्ग में वे उद्योग शामिल किए गए जिन की स्थापना एवं विकास का उत्तरदायित्व पूर्णरूप से सरकार के एकाधिकार में होगा। इसमें अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण, अणुशक्ति का निर्माण, रेलवे व डाकघर विभाग शामिल किए गए। संकटकालिन स्थिति में राज्य किसी भी विशेष महत्व वाले उद्योग को अपने अधिकार में ले सकता है।

   (ii) **सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र** (Public-Cum-Private Sector)– दूसरे वर्ग में 6 मुख्य उद्योग रखे गए जैसे- लोहा एवं इस्पात, कोयला, हवाई जहाज निर्माण, खनिज तेल, टेलीफोन, टेलीग्राफ व बेतार के उपकरणों का निर्माण। इन उद्योगों को विद्यमान इकाइयों को तो निजी क्षेत्र मे रखा गया लेकिन नवीन इकाइयों की स्थापना के लिए क्षेत्र राज्य के लिए सुरक्षित छोड़ दिए गए। साथ ही साथ यह भी घोषणा की गई कि इन इकाइयों को अगले दस वर्षों तक राष्ट्रीयकरण नहीं किया जाएगा।

   (iii) **नियन्त्रित निजी क्षेत्र** (Controlled Private Sector)– तीसरे वर्ग से राष्ट्र महत्व के कुछ आधारभूत उद्योग एवं कुछ उपभोक्ता उद्योगों को शामिल किया गया जिनकी संख्या 18 थी (जैसे- सूती वस्त्र, सीमेंट, चीनी, कागज, रबर, भारी रसायन, ट्रैक्टर, मोटरगाड़ियों, समुद्री परिवहन, खनिज आदि), जिनके बारे में नियमन एवं नियन्त्रण की व्यवस्था करने को उचित बताया गया।

   (iv) **निजी तथा सहकारी क्षेत्र** (Private and Coopertive Sector)– चौथे वर्ग में शेष सब उद्योग सम्मिलित किए गए जिनके बारे में कहा गया कि निजी एवं

सरकारी क्षेत्रों के लिए सुरक्षित रहेंगे लेकिन कुछ समय तक इसके लिए भी राज्य द्वारा निर्देश जाने की व्यवस्था की गई।

2. **कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास (Development of cottage and small scale Industries)**– इस नीति में विशेष रूप से कुटीर व लघु उद्योगों का उल्लेख किया गया जिन के विकास का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों को सौंपा गया और जिनकी सहायता के लिए विभिन्न स्तरों पर विशेष संस्थाओं के निर्माण पर जोर दिया गया। इस नीति में यह भी बताया कि सरकार कुटीर एवं लघु उद्योगों के बीच समन्वय स्थापित करेगी।

3. **विदेशी पूंजी का महत्व (Importance to Foreign Capital)**– इस नीति में यह व्यवस्था की गई कि विदेशी पूंजी व तकनीकी ज्ञान को देश के आने पर उसका स्वागत किया जाएगा। लेकिन यदि किसी ऐसे उद्योग का राष्ट्रीकरण किया जाएगा, जिसमें विदेशी पूंजी लगी हो, तो उसकी क्षतिपूर्ति का आश्वासन दिया गया। विदेशी पूंजी व तकनीकी ज्ञान लगाते समय इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि अन्त में भारतीय विदेशी विशेषज्ञों का स्थान ग्रहण कर लें।

4. **श्रमिकों के हितों की सुरक्षा (Security of Interest of Labourers)**– इस नीति में यह स्वीकार किया गया कि श्रम व प्रबन्ध के बीच मधुर सम्बन्ध होने चाहिए। इसके लिए श्रमिकों को उनके कार्य के लिए उचित मजदूरी, उनके कल्याण के लिए योजनाएं, एवं लाभ तथा प्रबन्ध में श्रमिकों का हिस्सा दिलाने का आश्वासन दिया गया। इसमें यह भी आश्वासन दिया गया कि श्रमिकों को आवास समस्या को हल करने के लिए सरकार अगले दस वर्षों से दस लाख मकान बनाएगी।

5. **प्रशुल्क एवं कर नीति (Tariff and Tax Policy)**– सरकार की प्रशुल्क नीति अनावश्यक विदेशी स्पर्द्धा को रोकने की होगी जिससे कि उपभोक्ता पर अनुचित भार डाले बिना विदेशी साधनों को उपयोग किया जा सके। पूंजीगत विनिवेश करने, बचत में व द्धि करने एवं कुछ व्यक्तियों को हाथों में सम्पत्ति का केन्द्रियकरण रोकने के लिए कर-प्रणाली के आवश्यक सुधार किए जाएंगे।

औद्योगिक नीति, 1948 की आलोचनात्मक समीक्षा (Critical Appraisal of the Industrial Policy, 1948)– इस नीति की प्रक्रियाा मिश्रित थी। कुछ व्यक्तियों ने इसका स्वागत किया तो कुछ ने कटु आलोचना। समाजवादी विचारधारा वाले व्यक्तियों ने इसकी देश के हित में बताया और उनके अनुसार देश में मिश्रित एवं नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था (mixed and controlled economy) की नींव रखी गयी। कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास एवं श्रमिकों के हितों की सुरक्षा के आश्वासन ने जनसाधारण को अत्यन्त प्रभावित किया।

उधोगपतियों व पूंजीपतियों ने इसकी दोषपूर्ण बताया और उनके अनुसार (1) यह नीति निजी क्षेत्र के हितों के विरूद्ध थी। (2) विद्यमान उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की बात की भी आलोचना की गयी। इससे उन उद्योगों में पूंजी का नया विनियोग रुक गया। (3) इस नीति में उद्योगों के विकास की प्राथमिकता को भी निश्चित नहीं किया गया।

औद्योगिक नीति, 1956
(Industrial Policy, 1956)

भारत की नवीन औद्योगिक नीति 30 अप्रैल, 1956 को घोषित की गयी। इस नवीन नीति को घोषित करने के कारणों का उल्लेख करते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने संसद में कहा था कि "आठ वर्षों में भारत में काफी विकास तथा परिवर्तन हुए हैं। नवीन संविधान बना है। मौलिक अधिकार एवं राज्य नीति के निर्देशक सिद्धानत घोषित किए गए हैं। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि इन सभी बातों तथा आदर्शों को प्रतिबिम्बित करते हुए एक नवीन औद्योगिक नीति घोषणा की जाए।"

औद्योगिक नीति, 1956 के मुख्य उद्देश्य (Main Objectives of the Industrial Policy, 1956)

इस नीति के मुख्य उद्देश्य थे - (1) औद्योगीकरण की गति में तीव्र व द्धि करना; (2) भारी उद्योगों का विकास करना; (3) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करना; (4) कुटीर, ग्राम व लघु उद्योगों का विस्तार करना; (5) सन्तुलित औद्योगिक विकास; (6) एकाधिकार एवं आर्थिक केन्द्रीयकरण को रोकना; (7) आय तथा धन के वितरण की असमानता; को कम करना; (8) रोजगार अवसरों में व द्धि तथा श्रमिकों की कार्य एवं रहने की दशा में सुधार।

औद्योगिक नीति, 1956 की मुख्य विशेषताएं (Main Features of Industrial Policy, 1956)

इस नति के मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित प्रकार हैं-

1. **उद्योगों का वर्गीकरण (Classification of Industries)**– इस नीति में उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया-
   (i) वर्ग 'अ' में 17 उद्योग रखे गये जिनके विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य पर होगा लेकिन वर्तमान नीजी क्षेत्र की इकाइयों को विकास करने की छूट दे दी गयी। इस वर्ग में अस्त्र, अणु-शक्ति, लोहा एवं इस्पात को पिण्डों की ढलाई, भारी मशीन, भारी बिजली के यन्त्र, कोयला, खनिज तेल, खनिज लोहा, तांबा, सीसा, जस्ता या अन्य महत्वपूर्ण खनिज, हवाई जहाज निर्माण समुद्री जहाज बनाना, वायु परिवहन, रेल परिवहन, टेलीफोन एवं उसके तार तथा बेतार का सामान, बिजली का उत्पादन एवं वितरण।
   (ii) द्वितीय वर्ग 'ब' में वे उद्योग रखे गये हैं जिनके विकास में सरकार उत्तरोत्तर अधिक भाग लेगी। अतः सरकार इनकी स्थापना स्वयं करेगी लेकिन निजी क्षेत्र में भी आशा की गयी कि वह इसमें योग देगा। इस वर्ग में 12 उद्योग शामिल किए गए- अन्य खनिज, एल्युमिनियम एव अन्य अलौह धातुएं, मशीनी -औजार, लोहा मिश्रित धातुएं एवं औजारी इस्पात, रसायन उद्योग, औषधियां, उर्वरक, कृत्रिम रबर, कोयले का कार्बनीकरण, रासायनिक घोल, सड़क परिवहन व समुद्री परिवहन।
   (iii) त तीय वर्ग 'स' में शेष उद्योगों को रखा गया तथा जिनके विकास व स्थापना का कार्य निजी क्षेत्र पर छोड़ दिया गया। लेकिन सरकार को भी यह अधिकार दिया गया कि वह चाहे तो इन श्रेणी के उद्योगों की भी स्थापना कर सकती है।
2. **लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास (Development of Small and Cottage Industries)**– इस नीति में लघु एवं कुटीर उद्योगों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया तथा यह स्पष्ट रूप से कहा गया कि कुटीर एवं लघु उद्योगों को सरकार

प्रोत्साहित करेगी जिसके लिए बड़े पैमाने उद्योगों को उत्पादन सीमित किया जाएगा। विभेदात्मक कर लगाएं जाएंगें व प्रत्यक्ष सहायता दी जाएगी। सरकार द्वारा इसको अपने पैरों पर खडा होने के योग्य बनाया जायेगा। बड़े उद्योगों में समन्वय स्थापित किया जायेगा। लघु एवं कुटीर उद्योगों में आधुनिक तकनीक प्रोत्साहित की जायेगी। सरकारी औद्योगिक समितियों को प्रोत्साहित किया जायेगा।

3. **क्षेत्रीय असमानताओं को कम करना (Reduction in Regional Disparities)** सन्तुलित क्षेत्रीय विकास के आदर्श को अपनाया जायेगा जिससे कि औद्योगीकरण का लाभ पूरी अर्थ-व्यवस्था को हो सके। पिछड़े इलाकों को पानी, बिजली व परिवहन की सुविधाएं दी जाएगी।

4. **तकनीकी एवं प्रबन्धकीय सेवाएं (Technical and managerial Services)** देश में औद्योगिक विकास का कार्यक्रम चलाने से तकनीक एवं प्रबन्धकीय कर्मचारियों की मांग बढ़ेगी जिसके लिए सरकारी एवं निजी दोनों प्रकार के उद्योगों में प्रशिक्षण सुविधाएं देने की व्यवस्था की जाएगी तथा व्यावसायिक प्रबन्ध प्रशिक्षण सुविधाओं को विश्वविद्यालयों व अन्य संस्थाओं में विस्तार किया जायेगा। देश में प्रबन्ध्कीय व तकनीकी कैडर (Cadre) की स्थापना की जायेगी।

5. **औद्योगिक सम्बन्ध एवं श्रम कल्याण (Industrial Relations and Labour Welfarfe)** औद्योगिक सम्बन्धों को अच्छे बनाये रखने एवं श्रमिकों को आवश्यक सुविधाएं एवं प्रोत्साहन देने पर जोर दिया गया। कार्य-दशाओं में सुधार तथा उत्पादकता बढ़ाने पर जोर दिया गया।

6. **विदेशी पूंजी (Foreign Capital)** इस नीति में 1949 में प्रधानमंत्री ने जो वक्तव्य दिया था उसको अपनाया गया। इस वक्तव्य में कहा गया है कि सरकार देशी व विदेशी प्रतिष्ठानों में कोई भेदभाव नहीं बरतेगी। लाभ को बाहर ले जाने या पूंजी को वापस ले जाने की छूट होगी। यदि राष्ट्रीयकरण किया जायेगा तो उचित और न्यायपूर्ण मुआवजा दिया जायेगा।

7. **निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में पारस्परिक सहयोग (Mutual Co-operation between Private and Public)** इस नीति में यह स्पष्ट किया गया है कि उद्योगों का वर्गीकरण पूर्णतः प थक-प थक नहीं है। विशेष परिस्थितियों में उपयुक्त विभाजन में परिवर्तन किया जा सकता है। कुछ उद्योगों को दो या दो से अधिक श्रेणियों में रखा जा सकता है। कुछ निजी इकाइयां भी प्रथम वर्ग में वर्णित वस्तुओं का उत्पादन कर सकती हैं। इसी प्रकार सरकारी क्षेत्र के अधीन भारी उद्योग निजी क्षेत्र पर निर्भर रह सकते हैं।

औद्योगिक नीति, 1948 व 1956 का तुलनात्मक अध्ययन
(Comparative Study of Industrial Policy, 1948 and 1956)

दोनों औद्योगिक नीतियों के अध्ययन से निम्नलिखित अन्तर दिखायी देते हैं-

1. **सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार (Expansion of Public Sector)** 1948 की नीति में उद्योगों का 4 वर्गों में विभाजित किया गया था जबकि 1956 की नीति में इनको 3 वर्गों में विभाजित क्षेत्र का विस्तार किया गया।

2. **सहकारी क्षेत्र (Co-operative Sector)** 1948 की नीति में सहकारी क्षेत्र पर जोर नहीं दिया गया था जबकि 1956 की नीति में सहकारी क्षेत्र के विकास पर जोर दिया गया।

3. **राष्ट्रीयकरण (Nationalisation)**– 1948 की नीति में यह कहा गया था कि द्वितीय वर्ग के उद्योग का अगले 10 वर्षों तक राष्ट्रीयकरण नहीं किया जायेगा जबकि 1956 की नीति में ऐसा कोई आश्वासन नहीं दिया गया।

5. **उद्योगों के वर्गीकरण में शिथिलता (Looseness in the Classification of Industries)** 1956 की नीति में कहा गया है कि देश की आवश्यकतानुसार किसी उद्योग की स्थापना किसी भी क्षेत्र में हो सकती है जबकि 1948 की नीति में ऐसी बात नहीं थी।

6. **क्षेत्रीय असन्तुलन (Regional Imbalance)** 1956 की नीति में क्षेत्री असन्तुलन को दूर करने की बात कही गयी जबकि 1948 की नीति में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया था।

औद्योगिक नीति, 1956 की आलोचनात्मक समीक्षा
(Critical Appraisal of the Industrial Policy, 1956)

औद्योगिक नीति, 1956 के बारे में भी मिश्रित प्रतिक्रिया हुई-

(i) इसको संविधान के अनुरूप बताया गया अतः इसको आर्थिक संविधान (Economic Constitution) माना गया।

(ii) समाजवादी समाज की स्थापना में एक महत्वपूर्ण कदम बताया गया क्योंकि इसमें सरकारी क्षेत्र को अधिक व्यापक बनाया गया था।

(iii) पिछली नीति में उद्योगों का वर्गीकरण कटट्र था लेकिन इसमें लचीलापन था।

(iv) राष्ट्रीयकरण न करने के आश्वासन को उचित माना गया।

(v) प्रबन्ध एवं दूर करने के लिए इनको उचित बताया गया।

(vi) कुटीर एवं लघु उद्योगों के महत्व को स्वीकार कर बेकारी को दूर करने के लिए इनको उचित बताया गया।

(vii) श्रमिकों को सुविधाएं देने की बात भी समयानुकूल बतायी गयी।

लेकिन इस नीति के आलोचना भी की गयी–

1. **सरकारी पूंजीवाद को प्रोत्साहन (Incentive to State Capitalism)**– इस नीति की आलोचना इस आधार पर की गयी कि इससे सरकारी पूंजीवाद को प्रोत्साहन मिलेगा।

2. **निजी क्षेत्र के लिए प्रतिकूल (Unfavourable to Private Sector)**– निजी क्षेत्र ने इस आधार पर आलोचना की कि इस नीति से 29 (17 + 12) उद्योग निजी क्षेत्र के हाथों से निकल गए और इस प्रकार निजी क्षेत्र का कार्य-क्षेत्र संकुचित हो गया।

3. **अस्पष्ट व अनिश्चित (Not Clear & Uncertain)**– यह नीति अस्पष्ट व अनिश्चित है। इसमें कुछ वाक्यों को जोड़कर उद्योगों का वर्गीकरण निरर्थक कर दिया गया है।

4. **सैद्धान्तिक पक्ष को अधिक महत्व (More Emphasis on Principles)**– इस नीति में व्यावहारिक पहलू की उपेक्षा की गयी है। सैद्धान्तिक द ष्टिकोण को अधिक महत्व दिया गया है। समाजवादी के जोश में वास्तविकता को भुला दिया गया है।

5. **कठिन दायित्व (Dificult Liability)**– सरकारी क्षेत्र का विस्तार करके सरकार के लिए दायित्व की कठिन समस्या उत्पन्न कर दी है जिसको कुशलता से निभाना सरकार के लिए कठिन होगा।

6. **औद्योगिक विकास में अस्थिरता (Uncertainty in Industrial Development)**– औद्योगिक नीति में बार-बार परिवर्तन करना देश के औद्योगिक विकास में अस्थिरता लाता है। निजी व्यक्ति के साहस को ठेस पहुंचती और धारणा बनती है कि सरकार कभी भी नीति घोषित कर उद्योग को ले सकती है।

औद्योगिक नीति, 1977
(Industrial Policy, 1977)

22 नवम्बर, 1977 को इस नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी जिसमें कहा गया कि गत बीस वर्षों में औद्योगिक विकास आशा के अनुरूप नहीं हुआ है। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय गत वर्षों से 1.5 प्रतिशत सके लगभग बढ़ी है जो अपर्याप्त है। बेकारी बढ़ी है। ग्रामीण व शहरी अन्तर में भी व द्धि हुई है। वास्तविक विनियोग की दर लगभग स्थायी रही है। औद्योगिक विकास गत 10 वर्षों में औसतन 4 प्रतिशत तक ही बढ़ा है। औद्योगिक क्रियाओं की शहरों से दूर होने में प्रगाति धीमी रही है। अतः नवीन औद्योगिक नीति का उद्देश्य गत कमियों को पूरा करना है। जिससे कि लोगों की भावनाओं के अनुकूल निश्चित समय सीमा में आर्थिक विकास किया जा सके। औद्योगिक नीति, 1977 की मुख्य बातें निम्नवत् हैं :

1. **कुटीर एवं लघु उद्योगों का प्रभावी विकास ञ(Effective Promotion of Cottage and Small-Scale Industries)**– कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा जो कुछ भी उत्पादित किया जा सकता है उसके उत्पादित करने की अनुमति दी जायेगी

   (i) इस उद्देश्य से इस क्षेत्र के लिए सुरक्षित वस्तुओं की संख्या को 180 से बढ़कर 504 कर दिया है। उस सूची का भी प्रति वर्ष पुनरावलोकन किया जाता रहेगा जिससे कि नवीन प्रक्रिया को अपनाया जा सके।

   (ii) इस नीति में लघु उद्योगों की परिभाषा में तो कोई परिवर्तन नहीं किया गया है लेकिन बहुत छोटी इकाइयों (Tiny units) को सहायता देने का आस्वासन दिया गया है जिनका मशीनरी व उपकरण में विनियोग एक लाख रुपये तक है और जो ऐसे क्षेत्रों में हैं जहां 1971 की जनगणना के अनुसार आबादी 40 हजार से कम है।

   (iii) कुटीर एवं ग ह उद्योग की सुरक्षा के लिए एक विशेष कानून बनाया जायेगा जिससे कि अधिक संख्या में व्यक्तियों को स्वयं रोजगार (self employment) व औद्योगिक विकास में उचित स्थान मिल सके।

   (iv) लघु एवं कुटीर उद्योगों की प्रत्येक प्रकार की सहायता एवं सेवा के लिए प्रत्येक जिले में जिला उद्योग केन्द्र खोले जायेंगे। इन केन्द्रों का काम कच्चे माल एवं मशीनों की पूर्ति, साख सुविधाएं उपलब्ध कराना एवं विपणन में सहायता के लिए क्वालिटी नियन्त्रण करना होगा।

   (v) लघु एवं कुटीर उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए औद्योगिक विकास बैंक व अन्य वित्तीय संस्थाओं में अलग से विभाग स्थापित किये जायेंगे

जिससे इस क्षेत्र की आवश्यकताओं की अनदेखी न की जा सकेगी।

(vi) आजकल 22 ग्रामीण उद्योग हैं। खादी एवं ग्राम उद्योग आयोग इनके विकास के लिए योजनाएं बनायेगा एवं उनका विकास करेगा।

(vii) हथकरघा उद्योग का विकास किया जायेगा तथा उचित मात्रा में सूत देने की व्यवस्था की जाएगी।

2. **व हद उद्योग के क्षेत्र (Areas of Large Scale Industries)**– व हत उद्योग के क्षेत्र में चार प्रकार के उद्योगों को रखा गया है-

(i) आधारभूत उद्योग (Basic Industries) जैसे स्टील, नोन-पैरस धातु, सीमेंट, तेल शोधक कारखाने,

(ii) पूंजीगत माल उद्योग (Capital Goods Industries)

(iii) उच्च तकनीकी उद्योग (High Technology Industries) जैसे कीटनाशक दवाइयों व पैट्रोकेमीकल्स आदि

(iv) अन्य उद्योग (Other Industries) जो लघु उद्योग क्षेत्र के लिए सुरक्षित सूची में नहीं आते हैं।

3. **बड़े घराने (Large House)**– बड़े घराने के लोगों का विस्तार तीन सिद्धान्तों पर आधारित होगा-

(i) एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यवहार अधिनियम के अनुसार ही पुराने एवं नये उद्योगों के विकास करने की अनुमति दी जायेगी। इस अधिनियम के प्रावधान प्रभावी उपक्रम (dominant undertaking) से सम्बन्धित बातें प्रभावी ढंग से लागू की जायेंगी।

(ii) वर्तमान इकाइयों को नवीन पंक्तियों में विकास करने की अनुमति विशेष रूप से लेनी होगी।

(iii) बड़े घराने के उद्योगों को अपने विकास के लिए आर्थिक साधनों पर ही निर्भर रहना होगा लेकिन कुछ उद्योगों में ऋण व पूंजी के अनुमति दे दी जायेगी।

वे उद्योग अब लघु कुटीर उद्योगों के लिए सुरक्षित सूची में जोड़ दिये गये हैं उन्हें अपने विस्तार की अनुमति नहीं दी जायेगी चाहे वे बड़े घराने से सम्बद्ध हों अथवा नहीं।

4. **सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector)**– इस क्षेत्र का विकास किया जायेगा। यह क्षेत्र उपभोक्ता को आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति के लिए एक स्थिरिकरण शक्ति के रूप में काम में लाया जायेगा। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को इस प्रकार चलाया जायेगा कि वे समाज में उपयुक्त पारितोषण दे सकें। इस क्षेत्र के लिए प्रबन्धकों का पेशेवर कैडर (Professional of Managers) बनाया जायेगा।

5. **देशी एवं विदेशी तकनीकी (Indigeneous and Foreign Technology)**– इस नीति में इस बात पर जोर दिया गया है कि देश का भावी औद्योगिक विकास देशी तकनीक पर आधारित होना चाहिए जिसके लिए पूर्ण विकास की सुविधाएं दी जायेंगी। तकनीक के क्षेत्र में आत्मनिर्भर होने के लिए किसी तकनीक को भारत में आने की वर्तमान नीति को उन क्षेत्रों में जारी रखा जायेगा जहां भारतीय तकनीक अभी विकसित नहीं हो पायी है। जो संस्थाएं विदेशी तकनीक को आयत करेंगी उन्हें

'अनुसंधान एवं विकास' को बढावा देना होगा जिससे कि देशी तकनीक का विकास किया जा सके।

6. **विदेशी विनियोग (Foreign Investment)**– वर्तमान विदेशी कम्पनियों पर विदेशी विनिमय नियन्त्रण कानून कड़ाई से लागू किया जायेगा और जब विदेशी कम्पनियों की सामान्य अंश पूंजी (विदेशियों के पास) 40 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी तो इन कम्पनियों को भारतीय कम्पनियों के समान माना जायेगा। विदेशी विनियोग व तकनीक की आवश्यकता नहीं है, उनके समझौतों के नवीनीकरण की अनुमति नहीं दी जायेगी। सभी अनुमति प्राप्त विदेशी विनियोगों के सम्बन्धों, लाभों, रायल्टी व लाभांशों को भारत से बाहर भेजने की अनुमति होगी। शत प्रतिशत निर्यात आधार पर एक पूर्ण विदेशी कम्पनी (Fully owned company) को अनुमकित दी जा सकती है।

7. **संयुक्त साहस (Joint Ventures)**– भारत से बाहर जो संयुक्त साहस स्थापित किये जायेंगे वे मुख्य रूप से मशीनरी, उपकरण, तकनीकी ज्ञानव प्रबन्धकीय अनुभव पर आधारित होंगे। यदि इसके लिए कुछ नकद विनियोग की आवश्यकता होगी तो सरकार इसके लिए एक अधिकतम सीमा तक अनुमति देगी जिसको अभी सरकार द्वारा निर्धारित किया जाना है।

8. **आयात स्वतन्त्रता एवं निर्यात (Import Liberalisation and Exports)**– यदि वर्तमान आयात नियन्त्रण से उद्योगों को हानि हो रही है तो ऐसे प्रतिबन्धों में छूट दी जा सकती है। वे पूर्ण-निर्यात पर आधारित (Wholly export based) है इन्हें सरकार करों में छूट दे सकती है बशर्ते कि उसके निर्यात की एक अच्छी रकम मिलती हो तथा वह प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से अतिरिक्त रोजगार देता हो। जिन उद्योगों के लाइसेंस देते समय निर्यात करने की शर्त लगायी जाती है उन उद्योगों पर उचित नियन्त्रण व्यवस्था अपनायी जायेगी जिससे कि वे अपने दायित्व (Obligation) से पीछे रहें।

9. **पिछड़े क्षेत्रों का विकास (Development)**– जिन शहरों की आबादी 1971 की जनगणना के अनुसार 10 लाख से अधिक है या वे शहर जिनकी आबादी 5 लाख से अधिक है, उन शहरों की सीमाओं में नये उद्योग स्थापित करने के लिए नए लाइसैंस नहीं दिये जायेंगे। यदि इन शहरों में ऐसी नवीन इकाइयां स्थापित होती हैं। जिन्हें लाइसेंस लेना आवश्यक नहीं है, उन्हें राज्य सरकारों व वित्तीय संस्थाओं से कोई सहायता नहीं दी जायेगी। इसके लिए उनसे केंद्रीय स्थानान्तरित करना चाहेंगी तो उनकी सहायता देने की प्रार्थना पर विचार किया जायेगा।

10. **विनियोग पर उचित प्रतिफल (Adequate Return on Investment)**– जिन वस्तुओं पर मूल्य नियन्त्रण लागू है उन वस्तुओं में सरकार की नीति विनियोग पर उचित प्रतिफल देने की है बशर्ते कि उद्योग अपनी क्षमता का उच्च उपयोग कर रहा है तथा उचित तकनीकी आहार्या (norms) हैं।

11. **श्रमिक भागीदारी (Workers Prarticipation)**– उद्योगों में परिवार-नियन्त्रण का होना अराजकता (anarchism) है। इस सम्बन्ध की नीति पेशेवर प्रबन्ध पर जोर देने की होगी। सरकार श्रमिकों को भागीदारी देने के प्रश्न मूल्यांकन कर रही है जिससे कि वे अंशधारी बन सकें और उद्योग के प्रबन्ध में उचित हिस्सा ले सकें।

12. **बीमार उद्योग** (Sick Industry)– बीमार उद्योगों को सरकार द्वारा अपने अधिकार में लेकर चलाया जाता है लेकिन फिर भी वे हानि पर चलते हैं जिससे जनता का टैक्स के रूप में छिपा हुआ काफी धन इसमें लगाना पड़ता है। यह स्थिति अनिश्चित काल तक नहीं चल सकती है। भविष्य में ऐसे बीमार उद्योगों को उचित देखभाल के बाद ही सरकारी नियन्त्रण में लिया जायेगा। सरकार ने रिजर्व बैंक के सहयोग से यह व्यवस्था की है बीमार उद्योगों का पता शीघ्र ही लगाया जा सके और उनकी ठीक करने की व्यवस्था की जा सके।

13. **लाइसैंसिंग तरीको को सुलभ करना** (Streamlinig of Procedures)– सरकार उद्योगों को लाइसैन्स देने का कार्य सरल बनायेंगी। इसके लिए सरकार ने कई उच्च अधिकार प्राप्त समितियां बना दी जाती हैं जो शीघ्र ही अपनी रिपोर्ट देंगी।

इस नीति में अन्त में कहा गया है कि इस नवीन औद्योगिक नीति के उद्देश्य (1) औद्योगिक विकास की गति तेज करना; (2) रोजगार स्तरों में तीव्र व द्धि करना; (3) उत्पादकता एवं औद्योगिक श्रमिकों की आय में व द्धि करना; (4) लघु एवं ग्राम उद्योगों का स्थान-स्थान पर विकास को प्राप्त करना है तो औद्योगिक ट्रेड यूनियन, प्रबन्धनक, साहसी, आर्थिक संस्थाएं, सरकारी अधिकारियों आदि की इच्छा एवं सहयोग की आवश्यकता होगी। लेकिन इन सब में श्रमिकों व प्रबन्धकों का योगदान महत्वपूर्ण होगा।

औद्योगिक नीति, 1977 की आलोचनात्मक समीक्षा (Critical Appraisal of the Industries Policy, 1977)

इस नीति के बारे में भी मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। इस नीति के समर्थकों का कहना था कि इससे (1) शहारों में उद्योगों के विस्तार की प्रव त्ति पर प्रतिबंध लगेगा, पिछड़े क्षेत्रों का विकास होगा (2) लघु कुटीर उद्योगों के विकास पर भी भारी जोर देने से देश में इनका विस्तार होगा जिससे कृषकों, श्रमिकों व सरकार सभी को लाभ होगा तथा सभी की आय में व द्धि होगी, (3) कम पूंजी से उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिलेगी। कुल राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ेगा जिससे प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी, (4) बड़े घराने के उद्योगों के विस्तार पर कड़े प्रतिबन्ध लगाने से उनका एकाधिकार समाप्त होगा जो राष्ट्रहित में ही होगा। (5) कुल मिलाकर यह नीति व्यापक व व्यावहारिक है।

लेकिन इस नीति व्यापक की भी आलोचना की गयी और कहा गया है कि (1) देश में पहले से वस्तुओं का अभाव है। बड़े उद्योगां को विस्तार की अनुमति न देकर सरकार ने गलती की। इससे तो वस्तुओं की और कमी हो जायेगी जबकि लघु कुटीर उद्योगों को अपना उत्पदना बढ़ाने में समय लगेगा। अतः सरकार का चाहिए कि वह लघु एवं व हत सभी उद्योगों को उत्पादन की अनुमति दे। (2) बड़े घराने के व्यक्ति प्रतिबन्धीय योग्यता में निपुण हैं अतः उनको हटाना राष्ट्रहित में नहीं होगा जब तक कि वैकल्पिक व्यवस्था उतनी ही निपुण एवं कुशल न हो।

नवीन औद्योगिक नीति, 1980
(New Industries Policy, 1980)

मार्च 1980 में केन्द्रीय उद्योग मन्त्री ने संसद् को बताया कि सरकार औद्योगिक नीति में परिवर्तन करने का विचार रखती है। अतः 23 जुलाई, 1980 को नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी जो 1956 की औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अनुरूप है।

उद्देश्य
(Objectives)

इस नीति के मुख्य उद्देश्य हैं-

(1) उपलब्ध उत्पादन क्षमता का सर्वोत्तम उपयोग

(2) उत्पादन एवं उत्पादकाता में व द्धि करना

(3) औद्योगिक द ष्टि से पिछड़े क्षेत्रों के विकास को प्राथमिकता देकर क्षेत्रीय असन्तुलन समाप्त करना

(4) कृषि आधार को मजबूत करने के लिए कृषि उद्योगों को प्राथमिकता देना

(5) निर्यात संबर्द्धन व आयात प्रतिस्थापन उद्योगों को तीव्र गति से विकास करना

(6) रोजगार अवसरों को बढ़ाना

(7) ऊंचे मूल्यों व घटिया किस्मों की वस्तुओं से उपभोक्ता की रक्षा करना

(8) सार्वजनिक क्षेत्र में विश्वसनीयता को पुनः स्थापित करना व

(9) सभी वर्गों एवं क्षेत्रों के सहयोग से आत्मनिर्भर व गतिशील बनान व अर्थ-व्यवस्था का क्रमिक विकास करना।

विशेषताएं
(Features)

इस नीति की विशेषताएं हैं-

1. **सार्वजनिक क्षेत्र** (Public Sector)– इस नीति की मुख्य बात सार्वजनिक क्षेत्र की उन्नति करना था वर्तमान सार्वजनिक उपक्रमों की कार्यकुशलता में व द्धि करना, एवं प्रबन्धकीय व्यवस्था (Managerial Cadre) बनाना है।

2. **निजी उपक्रम** (Private Sector)– निजी उद्योग को राष्ट्रीय योजनाएं एवं नीतियों को अन्दर विकास का अवसर दिया जायेगा लेकिन एकाधिकार प्रव त्ति या आर्थिक शक्ति केन्द्रीयकरण की अनुमति नहीं दी जायेगी।

3. **लघु उद्योग**– लघु उद्योग के विकास के लिए सक्षम इकाइयों (tiny) की पूंजी सीमा 1 लाख से 2 लाख, लघु उद्योग की सीमा 10 लाख से 20 लाख रु. तथा सहायक इकाइयों की सीमा 15 लाख से 25 लाख रुपये बढ़ा दी गयी है। सरकार लघु उद्योगों के लिए वे सभी प्रयास करेगी जिससे उन्हें अधिक संस्थागत आर्थिक सहायता मिल सके। कच्चे माल के लिए बफर स्टॉक बनाया जायेगा।

3. **क्षेत्रीय असंतुलन** (Regional Imbalance)– क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर करने के लिए सरकार उन सभी उद्योगों को स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन देगी जो पिछड़े हुए हैं।

4. **स्वतः विकास** (Automatic Growth)– उन सभी उद्योगों को स्वतः विकास की अनुमति दी जायेगी जो औद्योगिक विकास एवं नियमन अधिनियम, 1951 की प्रथम अनुसूची में दिये हैं। सरकार उन उद्योगों की स्थापना या वर्तमान उद्योगों के विकास पर भी सहानुभूति विचार करेगी जो अपना 100 प्रतिशत उत्पादन का निर्यात करेंगे।

5. **उन्नत तकनीक** (Advanced Technology)– सरकार उन उद्योगों को आधुनिकतम तकनीकी को भी अपनाने की अनुमति देगी जो निर्यात में भारी व द्धि करेंगे।

6. **लासेन्स तरीका (Licensing Procedure)–** औद्योगिक लाइसेन्स का तरीका और सरल किया जायेगा। एक सांख्यिकी बैंक (Data Bank) खोला जायेगा। बीमार होने वाली इकाइयों की पूर्व सूचना देने के लिए Check List तरीका अपनाया जायेगा।

7. **विलय एवं अधिग्रहण (Merger and Take-overs)–** बीमार इकाइयों को सुद ढ़ इकाइयों के साथ मिलाने की अनुमति दी जायेगी। सरकार बीमार इकाइयों को विशेष परिस्थितियों में ही जनहित में अपने अधिकार में लेगी।

8. **औद्योगिक सम्बन्ध (Industrial Relation)–** उद्योगों में औद्योगिक सम्बन्ध अच्छे बने रहें इस उद्देश्य से त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन किये जायेंगे।

9. **उद्योग के सामाजिक दायित्व पर विशेष बल (Stress on Social Responsibilities of Industries)–** उद्योगों को सामाजिक उत्तरदाायित्व निभाना होगा, मूल्य स्थिर रखने होंगे, परिकल्पना व जमाखोरी का त्याग करना होगा, उत्पादन को कुशलतापूर्वक बढ़ाना होगा।

नवीन औद्यौगिक नीति, 1980 की आलोचनाएं (Criticism of New Industrial Policy, 1980)

नवीन औद्योगिक नीति की आलोचना निम्नलिखित प्रकार की जाती है-

1. **आधारभूत परिवर्तन का अभाव (Lack of Fundamental Change)–** औद्योगिक नीति, 1980 में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं किया गया है। इसका आधार 1956 की ही नीति है जो लागू है। जनता सरकार की 1977 की नीति भी 1956 की नीति के आधार पर ही थीं।

2. **निजी क्षेत्र कें पक्ष में (Pro-private Sector)–** इस नवीन नीति का झुकाव निजी क्षेत्र के पक्ष में है। इसमें निजी क्षेत्र के स्वतः विकास की सुविधा दी गयी है। अनाधिकृत अतिरिक्त क्षमता को नियमित करने की बात कही गयी है। उनमें निवेश सीमा को बढ़ाने, राष्ट्रीयकरण के भय से मुक्ति व निर्यातोन्मुख उत्पादन को प्रोत्साहन देने व मितव्ययिता के लिए तकनीकी विकास आदि की सुविधा भी निजी क्षेत्र को दी गयी है।

3. **लाइसैंसिंग नियमों के उल्लंघन को प्रोत्साहन (Incentive to Inringement of Licensing Regulations)–** नवीन नीति में अनाधिकृत अतिरिक्त क्षमता को नियमित करने की बात कही गयी है। इसे नियमों के उल्लंघन को प्रोत्साहन मिलेगा व एकाधिकारी प्रव त्ति को बल मिलेगा।

4. **पूंजी गहन उद्योग (Capital Intensive Industries)–** नवीन नीति में उन्नत तकनीक अपनाने का अनुमति देने की बात कही गयी है। इससे पूंजी गहन उद्योगों की ओर झुकाव बढ़ेगा जिसका प्रभाव रोजगार (employment) पर पड़ेगा।

5. **स्पष्ट दिशा निर्देश का अभाव (Lack of Clear Direction)–** नवीन नीति में स्पष्ट दिशा निर्देश का अभाव है। इसमें यह नहीं बताया गया कि "क्या उत्पादन किया जाय व किन के लिए किया जाए।"

6. **राजनीति पर आधारित (Politics Based)–** यद्यपि यह नीति व्यवहारिक है लेकिन फिर भी इसे राजनीति से प्रेरित या राजनीति पर आधारित बताया जाता है।

संक्षेप में, यह नीति व्यावहारिक व सामाजिक है। उत्पादन क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग व नियमित करने के भावी बचतों को विकास होगा। आय, उत्पादन व रोजगार भी बढ़ेगा। निर्यातोन्मुख उद्योगों के विकास से विदेशी व्यापार असन्तुलन में कमी होगी। उन्नत तकनीक

अपनाने में न केवल लागत में मितव्ययताएं ही मिलेंगी बल्कि वस्तु की क्वालिटी में भी सुधार होगा जिससे टूट-फूट कम होगी। गरीबी मिटाने या कम करने में भी सहायता मिलेगी। अर्थ-व्यवस्था में भी सुधार होगा।

भारत की नई औद्योगिक नीति
(New Industrial Policy in India)

नई औद्योगिक नीति 1991 (New Industrial Policy)– श्री नरसिम्हा सरकार के नेत त्व में 24 जुलाई, 1991 को नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति के अन्तर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था में उदारीकरण की शुरूआत करनी थी ताकि विश्व अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत एकीकरण किया जा सके। इस नीति का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक अर्थव्यवस्था को अनावश्यक नियन्त्रणों से मुक्त कराना है।

(New Inustrial Policy aims to unshakle Indian Industry from administrative and legal controls)

इस नीति के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

(1) उत्पाद योजनाकाल की उपलब्धियों को मजबूत बनाना तथा विकास की गति को आगे बढ़ाना।

(2) योजनाकाल के दौरान औद्योगिक ढांचे में जो कमियां रह गई हैं, उन्हें दूर करना।

(3) रोजगार के अवसरों तथा उत्पादकता में व द्धि करना

(4) सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक लाभप्रद बनाना।

(5) निजी क्षेत्र को अधिक स्वतन्त्रता देना।

(6) भारतीय उद्योगों की अन्तर्राष्ट्रीय बजारों में प्रतिस्पर्धा शक्ति में व द्धि करना।

भारतीय नई औद्योगिक नीति में लिए गए निर्णयों को निम्नलिखित पांच हिस्सों में बांटा भारतीय कृषि एवं औद्योगिक स्वरूप

(i) औद्योगिक लाइसैसिंग नीति (Industrial Licensing Policy)

(ii) विदेशी पूंजी निवेश (Foreign Technology Agreement)

(iii) विदेशी प्रौद्योगिक से जुड़े समझौते (Foreign Sector Technology)

(iv) सार्वजनिक क्षेत्र से सम्बन्धित नीति (Public Sector Policy)

(v) एकाधिकार एवं प्रतिबंधात्मक व्यापार कानून (MRTP Act.)

मुख्य विशेषताएं (Main Features)

नई औद्योगिक नीति की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **लाइसैंस की समाप्ति (Delicensing)–** इस नीति में 6 उद्योगों को छोड़ कर अन्य सब उद्योगों के लिए औद्योगिक लाइसैंसिंग समाप्त कर दिया गया है। ये 6 उद्योग है- शराब, सिगरेट, खतरनाक रसायन, सुरक्षा का सामान, औद्योगिक विस्फोटक तथा दवाइयां। इन उद्योगों के अतिरिक्त बाकी उद्योगों को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतियोगी और आधुनिक बनाने के अवसर प्रदान किए जाएंगे।

2. **सार्वजनिक क्षेत्र का संकुचन (Contraction of Public Sector)–** इस नीति के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों की संख्या 17 से घटकर केवल

4 उद्योग कर दी गई है। ये उद्योग है अस्त्र-शस्त्र तथा सुरक्षा सामान, परमाणु ऊर्जा, खनन कोयला, खनिज तेल तथा रेल परिवहन।

सार्वजनिक क्षेत्र में प्रतियोगिता बढ़ाने के लिए, सार्वजनिक क्षेत्र के शेयरों को कुछ भाग म्यूचउल फण्ड (Mutual Fund) विक्रय संस्थाओं एवं कर्मचारियों और आम जनता को देने की पेशकश का प्रावधान किया गया है। नई औद्योगिक नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान बना रहेगा, मगर सरकार यह सुनिश्चित करेगी की इनका संचालन, व्यावसायिक आधार पर हो सार्वजनिक उद्योगों पर हो सार्वजनिक उद्योगों को उन क्षेत्रों में भी उद्योग स्थापित करने के लिए अनुमति दी जाएगी जो उसके लिए सुरक्षित नहीं है।

3. **एकाधिकारी कानून से छूट (Concession from Monopolices Act)–** एकाधिकारी कानून के अन्तर्गत आने वाली बड़ी कम्पनियों को भारी छूट दी गई है एकाधिकारी कानून लागू होने के लिए निर्धारित पूंजी निवेश सीमा ही समाप्त कर दी गई है। इसके फलस्वरूप बड़ी कम्पनियों और औद्योगिक घरानों पर उद्योगों की स्थापना, विस्तार, विलयन, समामेलन (Amalgamiation) तथा अधीनीकरण (Takeover) के लिए नवेशकों की नियुक्ति के लिए कोई पाबन्दी नही होगी। परन्तु इसके अन्तर्गत नए अधिकार प्राप्त एकाधिकार बोर्ड अपनी इच्छा से किसी भी मामले जांच कर सकेगा तथा यह जांच किसी भी उपभोक्ता की शिकायत पर की जा सकती है।

4. **पंजीकरण की समाप्ति (Abolition of Registration)–** इस नीति के अनुसार सभी पंजीकरण योजनाएं समाप्त कर दी जाएंगी। अब उद्यमियों को नई परियोजनाओं तथा पर्याप्त विस्तार के लिए केवल एक सूचना ज्ञापन ही देना पड़ेगा।

5. **बोर्डों का गठन (Organisation of Boards)–** इस नीति में यह भी प्रावधान किया गया है कि चुनिंदा क्षेत्रों में सीधे विदेशी पूंजी के लिए एक विशेषाधिकार प्राप्त बोर्डों का गठन किया जाएगा जो भारत में उपक्रम लगाने के बारे में बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों के साथ सारी बातें तय करेगा। यह एक विशेष कार्यक्रम के अन्तर्गत किया जाएगा ताकि भारी मात्रा में विदेशी पूंजी को आकर्षित किया जा सके। आधुनिकतम तकनीकी प्राप्त की जा सके और भारत की पहुंच विश्व भर की मण्डियों तक हो सके।

6. **विदेशी पूंजी (Foreign Capital)–** नई नीति के अनुसार विदेशी पूंजी निवेश में की सीमा में व द्धि के फलस्वरूप, 40 प्रतिशत से बढ़ाकर 51 प्रतिशत तक कर दी गई है। उच्च प्राथमिकता के 47 उद्योगों में 57 प्रतिशत तक पूंजी-निवेश की इजाजत बिना किसी रोक-टोक के और लाल-फीताशही (Red-Tapism) के दी जाएगी तथा 9 उद्योगों से 74 प्रतिशत तक की विदेशी पूंजी निवेश की इजाजत दी गई है। यह सुविधा उन मामलों में ही होगी, जहां विदेशी पूंजी निवेश उत्पदन मशीनों के लिए जरूरी होगा। निर्यात करने वाले व्यापारिक घरानों में भी 51 प्रतिशत तक विदेशी पूंजी निवेश की अनुमति दी जाएगी। इससे सम्बन्धित विदेशी मुद्रा नियमन कानून (FERA) में भी आवश्यक संशोधन किए जाएंगे। इस प्रकार की विदेशी पूंजी निवेश इकाइयों पर पूर्जे, कच्चे माल एवं तकनीकी जानकारी के आयात के बारे में सामान्य नियम लागू होंगे, लेकिन रिजर्व बैंक विदेशों भेजे गए लाभांशों पर नजर रखेगा ताकि बाहर भेजी गई विदेशी मुद्रा और उस कम्पनी की निर्यात आय के बीच सन्तुलन बना

रहे। इस नीति के अर्न्तगत विदेशी पूंजी के अन्य मामलों के लिए पहले स्वीकृति लेनी पड़ेगी।

7. **घाटे वाले सरकारी उद्योग (Public Enterprises Incurring Losses)**– इस नीति के अनुसार लगातार घाटा देने वाले सरकारी उद्योगों की जांच औद्योगिक एवं वित्तीय बोर्ड (Board of Industrial and Financial Reconstruction) या इसी प्रकार का अन्य विशेष संस्थान करेगा। जो उद्योग गम्भीर रूप से बीमार है तथा जिनके ठीक होने की सम्भावना नहीं है और जिनके बारे में सरकार अलग से योजना तैयार करेगी। इसके कारण जो कर्मचारी प्रभावित होते हैं उनके हितों की रक्षा का प्रयत्न किया जाएगा।

8. **तकनीकी विशेषज्ञ (Technical Experts)**– नई औद्योगिक नीति के अनुसार विदेशी तकनीकी विशेषज्ञ नियुक्त करने अथवा विकसित तकनीकों का विदेशों में परीक्षण कराने के लिए विदेशी मुद्रा भुगतान की इजाजत लेने की आवश्यकता समाप्त कर दी गई है।

9. **कर्मचारियों की सुविधाएं (Facilities to Labourers)**— छँटनी किए गये कर्मचारियों और श्रमिकों के पुनर्वास के लिए सामाजिक सुरक्षा योजना बनाई जाएगी। श्रमिकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय नवीनीकरण निधि (National Renewal Fund) बनाई जाएगी। यह निधि तकनीकी परिवर्तन के दौरान प्रभावित श्रमिकों को सहायता प्रदान करेगी।

10. **सरकारी प्रोत्साहन (Government Encouragement)**– नई नीति के अनुसार क्षेत्रीय विषमता (Regional Disparity) को कम करने के उद्देश्य से पिछड़े क्षेत्रों में लगने वाले उद्योगों को विशेष सरकारी प्रोत्साहन दिए जाएंगे।

11. **उध्योगों की स्थापना (Establishment of Industries)**– नई नीति के अनुसार दस लाख तक की आबादी वाले शहरों को छोड़कर अन्य नगरों में ऐसे उद्योगों के लिए लाइसैंस जरूरी हैं, उद्योग लगाने के लिए केन्द्रीय सरकार से इजाजत लेने की आवश्यकता नहीं होगी। दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों के लिए इलैक्ट्रोनिक्स और किसी तरह के गैर-प्रदूषणकारी उद्योगों के छोड़कर सभी इकाइयां नगर की सीमा से 20 किलोमीटर दूर लगेंगी।

12. **प्रशासनिक नियन्त्रणों से मुक्ति (Freedom from Administrative Control)**– नए उद्योगों को बिना किसी अतिरिक्त पूंजी निवेश के अपने लाइसैंस प्राप्त क्षेत्र की किसी भी वस्तु के उत्पादन में छूट होगी।

13. **लघु उद्योगों को आरक्षण (Reservation for Small Scale Industries)**– नई नीति में लघु उद्योगों के लिए विशेष व्यवस्था की गई है। इस सम्बन्ध में घोषणा अलग से की जाएगी। वस्तुओं का उत्पादन सुरक्षित रखा जाएगा। इनका उत्पादन बड़े उद्योग नहीं कर सकेंग।

14. **आयात की सुविधाएं (Facilities of Import)**– नई नीति के अनुसार दो करोड़ रुपये से अथवा कुल पूंजी के 25 प्रतिशत के कम की उत्पादन मशीनों का बिना किसी अनुमति के आयात किया जा सकेगा। उत्पादन मशीनों के आयात के अन्य मामलों में विदेशी मुद्रा उपलब्धि के अनुसार औद्योगिक विकास मंत्रालय का औद्योगिक अनुमति सचिवालय आयात की आज्ञा देगा।

मूल्यांकन
(Evaluation)

नई औद्योगिक नीति उदारवादी नीति है जिसका मुख्य उद्देश्य भारतीय उद्योगों को अनावश्यक प्रशासनिक एवं कानूनी नियन्त्रणों से स्वतन्त्र कराना है। इस नीति के फलस्वरूप भारतीय औद्योगिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी एवं आधारभूत परिवर्तन होने की सम्भावना है। इस नीति को लागू करने से फलस्वरूप निम्नलिखित परिवर्तन होंगे जैसे-भारतीय उद्योग आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अधिक प्रतियोगी हो सकेंगे, विदेशी पूंजी का देश में और अधिक आवागमन बढ़ेगा, निवेश को और प्रोत्साहन मिलगा, लघु उद्योगों का अधिक विकास हो सकेगा, सार्वजनिक क्षेत्र का घाटा विचार है कि "यह नीति भारतीय अर्थव्यवस्था में सुधार करके इसे आगे की और ले जाएगी" (The Policy would give a forward thrust to improve the nations economy)

गुण
(Merits)

नई औद्योगिक नीति के निम्नलिखित हैं-

1. **उदारवादी अर्थव्यवस्था (Liberalisation)**– नई औद्योगिक नीति के मुख्य गुण निम्नलिखित हैं-

    1. **उदारवादी अर्थव्यवस्था (Liberalisation)**– नई औद्योगिक नीति का मुख्य उद्देश्य अनावश्यक नौकरशाही नियन्त्रण की जकड़ से मुक्त करना था और भारतीय अर्थव्यवस्था में उदारीकरण की प्रक्रिया को शुरू करना था। इस पूर्व निर्धारित उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए केवल 6 महत्वपूर्ण को छोड़कर बाकी सभी उद्योगों के लिए लाइसैंस प्रणाली समाप्त कर दी गई है तथा MRTP कम्पनियों की परिसम्पत्तियों की सीमा भी समाप्त कर दी गई है।

    2. **कार्यकुशलता में व द्धि (Increase in Efficiency)**– औद्योगिक लाईसैंसिंग नीति, विदेशी नीति, विदेशी तकनीकी समझौते तथा MRTP कानून में किए जाने वाले परिवर्तनों के कारण, केवल 6 महत्वपूर्ण उद्योगों को छोड़कर बाकी उद्यागों की स्थापना हेतु किसी भी प्रकार की पूर्व स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं होगी। फलस्वरूप उनसे सम्बन्धित परियोजना लागू करने में कम समय व कम लागत आएगी। जिसके कारण अधिक उत्पाद कार्यों के लिए सीमित साधनों का प्रयोग किया जा सकेगा और इनकी कार्यकुशलता में व द्धि होगी।

    3. **उत्पादन में व द्धि (Increase in Production)**– विदेशी तकनीकी समझौते तथा विदेशी पूंजी निवेश का मुख्य उद्देश्य विदेशी पूंजी, तकनीकी, विपणन (Marketing) तथा प्रबन्धकीय कुशलता को आकर्षित करना है। इस सारी प्रक्रिया के कारण अर्थव्यवस्था के सीमित साधनों में व द्धि के फलस्वरूप इन साधनों की कुशलता होने के कारण हमारे देश के उत्पादन में व द्धि होगी।

    4. **प्रतियोगिता में व द्धि (Increases in Competition)**– नई औद्योगिक नीति से भारतीय उद्योग भी प्रतियोगिता शक्ति में व द्धि होगी। MRTP तथा उचित

व्यापार के नियमन तथा नियन्त्रण को अधिक महत्व दिए जाने के फलस्वरूप बाजार में एकाधिकारी एवं अलापाधिकारी प्रव त्तियां भी कम होंगी। जिसके कारण कुशलता में व द्धि के कारण उत्पादन बढ़ता है वही दूसरी ओर कीमतें भी कम होने लगती हैं।

5. **सार्वजनिक क्षेत्र की कार्यकुशलता में व द्धि (Separate policy to Small Scale Industris)**– सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित 17 उद्योगों को कम करके 4 किए जाने और बीमार इकाइयों को बन्द करने के कारण सार्वजनिक क्षेत्र की कार्यकुशलता में व द्धि होगी।

6. **लघु उद्योगों के लिए अलग नीति (Separate policy to Small Scale Industries)**– इस नीति के आधार पर पहली बार लघु स्तर के उद्योगों के विकास के लिए अलग नीति की घोषणा की गई। यह नीति 6 अगस्त, 1991 को घोषित की गई, जिसमें देश के लघु, कुटीर एव अति उद्योगों के विकास के लिए कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए हैं। लघु उद्योगों की तकनीकी कुशलता बढ़ाने के लिए सरकार उन्हें पूर्ण सहयोग देगी। सन् 1999 में लघु उद्योगों की निवेश सीमा बढ़ाकर 1 करोड़ रुपये कर दी गई है। तथा अति लघु इकाइयों (Tiny Industries) के लिए 25 लाख रुपये कर दी गई है।

7. **श्रमिको के कल्याण में व द्धि (Increase in Welfare of Laboures)**– नई नीति में श्रमिकों के कल्याण में व द्धि तथा उनकी कुशलता में व द्धि करने के लिए प्रयास जारी रखे जाएंगे। देश के विकास में श्रमिकों को भागीदारी बनाने का भी प्रावधान रखा गया है।

दोष/कमियां
(Demerites/Short comings)

नई नीति के गुण होते हुए भी कई अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों ने इसकी आलोचना की है। श्री मधु दण्डवते के अनुसार, "इस नीति ने एकाधिकारी घरानों की सीमा समाप्त कर दी है। फलस्वरूप लघु उद्योगों को हानि उठानी पड़ेगी। बेरोजगारी तथा निर्धनता बढ़ेगी।" श्री चन्द्रशेखर के अनुसार "यह नीति गांधीवादी नीति से बिल्कुल अलग है।" इस नीति की मुख्य कमियां निम्नलिखित हैं-

1. **निजी क्षेत्र को अधिक महत्व (More Importance to privatization)**– नई नीति में निजीकरण को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है क्योंकि इस नीति की यह मान्यता है कि निजीकरण के फलस्वरूप उद्योगों की कुशलता में स्वयं व द्धि होगी। प्रणव बर्धन व जान ई. रोईयर के अनुसार "प्रभावी व कार्यकुशल अर्थव्यवस्था के लिए प्रतिस्पर्धात्मक बाजारों का होना आवश्यक है, परन्तु निजी स्वामित्व ही प्रतिस्पर्धात्मक बाजारों को जन्म दे सकता है, यह सोचना गलत है क्योंकि अभी तक न तो इतिहास ही ने और न ही आर्थिक सिद्धान्तों ने गलत सिद्ध किया है।" सच तो यह है कि जिस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में कुशल तथा अकुशल इकाइयां है उसी प्रकार नीति क्षेत्र में भी कुशल तथा अकुशल दोनों ही तरह की इकाईयां है। अकुशल इकाइयों की कुशलता में सुधार लाने के लिए एक प्रतियोगी बाजार का होना बेहद जरूरी है। कुशलता में सुधार स्वामित्व पर निर्भर न होकर इस बात पर निर्भर होता है कि प्रतियोगी बाजार व्यवस्था का विकास किस हद तक हो पाया है।

2. **सार्वजनिक क्षेत्र के महत्व मे कमी (Reduction in the Role of Public Sector)–** इस नीति में सार्वजनिक क्षेत्र के आकार को अनावश्यक रूप से संकुचित कर दिया है। सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित उद्योगों की संख्या को 17 से कम करके 6 किया जाना, उद्योगों का निजीकरण करना, तथा कई उद्योगों को बन्द किया जाना ही सार्वजनिक क्षेत्र के घटते हुए महत्व का सूचक है। इसके परिणामस्वरूप आधारभूत एवं भारी उद्योगों में विकास दर के घटने की सम्भावना है। अर्थव्यवस्था में अभी भी 26 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे रहती है। यह तथ्य इस प्रव त्ति को उजागर करता है कि जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की अभी भी अहम भूमिका बनी रहनी चाहिए।

3. **रोजगार के अवसरों पर प्रतिकूल प्रभाव (Adverse effect on Employment opportunities)–** देश में जनसंख्या दर की गति तेज होने के कारण, बेरोजगारी की एक अत्यन्त गम्भीर समस्या है इस नीति में रोजगार स जन की ओर समूचित ध्यान नहीं दिया गया है। (विशेष तौर पर बड़े और मझले उद्योगों के सम्बन्ध में), क्योंकि अधिक ध्यान संव द्धि दर पर ही रही। जैसा कि आठवें दशक में रोजगार स जन की गति धीमी पड़ गई थी। तथा विदेशी निवेश और तकनीकी के प्रवेश से सम्भव है कि रोजगार स्थिति पर और प्रतिकूल प्रभाव पड़े। लघु क्षेत्र के अनेक कमजोर उद्योग कड़ी प्रतियोगिता का सामना कर पाने में असमर्थ पाएंगे परिणामस्वरूप बेरोजगारी की समस्या और भी गम्भीर रूप धारण कर लेगी।

4. **आर्थिक शक्ति के केन्द्रियकरण में व द्धि (Increase in concentration of Economic Power)–** एकाधिकारी कम्पनियों की परिसिम्पत्तियों को ऊपरी सीमा हटाने तथा अनेक उद्योगों पर से लाइसैंस व्यवस्था समाप्त करने से डर है कि चन्द निजी घरानों में आर्थिक शक्ति का केन्द्रियकरण बढ़े और क्षेत्रीय असन्तुलन तथा असमान वांछित गति से कम न हो पाए। मात्र निजीकरण से वितरण आबंटन कुशलता (Allocative Effectivey) में सुधार नहीं होता इसका कारण सम्भवतः यह है कि आर्थिक केन्द्रियकरण रोकने के लिए आगर कारगार उपाय न किए गए तो एकाधिकारी शक्तियों को बल मिलता है और एकाधिकारी निजी लाभों को अधिकतम करने के उद्देश्य में वास्तवितक उत्पादन को इष्टतम (Optimal) उत्पादन से कम रखता है।

5. **क्षेत्रीय असमानता में व द्धि (Increase in Regional Inequality)–** आलोचकों के अनुसार नई औद्योगिक नीति के फलस्वरूप क्षेत्रीय असमानता में और भी व द्धि होगी। लाइसैंसिंग नीति मे उदारवादी होने के कारण तथा उद्योगों की स्थापना पर लगे प्रतिबन्ध हटने से उद्यमी नए उद्योगों केवल विकसित क्षेत्रों में ही लगाना पसन्द करेंगे, क्षेत्रीय असमानता में व द्धि होगी क्योंकि पिछड़े इलाकों में अपेक्षाकृत कम उद्योग स्थापित किए जाएंगे।

6. **आर्थिक प्रभुसत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव (Adverse Eeffect on Economic Sovereignity)–** बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अत्यधिक स्वतन्त्रता देने के कारण हमारी आर्थिक प्रभुसत्ता के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है और इससे देश ऋण-जाल (Debt Trap) में और अधिक ग्रस्त हो सकता है, जोकि निराशावादी भविष्यवाणी है, परन्तु यह कठोर सत्य है।

7. **लघु स्तर के उद्योगों पर विपरीत प्रभाव (Adverse Effect on Small Scale Industries)**– इस नीति के अनुसार नई उदारवादी नीतियों, विदेशी पूंजी को छूट, बड़ी कम्पनियों को अधिक स्वतन्त्रता के कारण देश में प्रतियोगिता बढ़ेगी। परन्तु लघु क्षेत्र के अनेक कमजोर उद्योग इस कड़ी प्रतियोगिता का सामना कर पाने में अपने को असमर्थ पाएंगे, परिणामस्रूप लघु उद्योगों पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

8. **सामाजिक उद्देश्यों की अवहेलना (Ignores Social Objectives)**– इस नीति ने हमारी योजनाओं में निर्धारित उद्देश्यों की अवहेलना भी की है। योजनाओं के सामाजिक उद्देश्यों जैसे आर्थिक शक्ति के केन्द्रियकरण में कमी, आधारभूत असमानता में कमी, निजी क्षेत्र की तुलना में सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक महत्व तथा लघु उद्योगों को प्रोत्साहन आदि की नई औद्योगिक नीति में अवहेलना की गई है। फलस्वरूप देश में आर्थिक असमानताएं और भी बढ़ेंगी।

9. **केन्द्रिय और राज्य सरकारों के बीच में समन्वय की अवहेलना (Ignorance of Coordination between Central and State Governments)**– नई औद्योगिक उदारवादी नीति को अमल में लाने का कार्य केवल केन्द्रिय सरकार पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि राज्य एवं स्थानीय सरकारों को सक्रिय सहयोग की भी कम आवश्यकता नहीं होती। भूमि, पानी, बिजली आदि की आधारभूत सुविधाएं इन्हीं सरकारों द्वारा उपलब्ध होती है। इस नीति में इसकी समुचित व्यवस्था नहीं है फलस्वरूप इस दिश से अढ़चने उठ सकती हैं।

नई औद्योगिक नीति के अन्तर्गत किए गए सुधार
(Improvement made under New Industrial Policy)

सरकार द्वारा उठाए गए कदम (Steps taken by Government under New Industrial Policy)

1. **अनिवार्य लाइसैंस की कमी (Reduction in Compulsory Licensing)**– नई औद्योगिक नीति में सन् 1999 से अनिवार्य लाईसैंसिंग केवल 6 (six) उद्योगों के लिए ही कर दिया गया है।

2. **सार्वजनिक क्षेत्र का संकुचन (Contraction of Public Sector)**– इस नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की संख्या में कमी हो गई है इनकी संख्या केवल 4 रह गई है। ये उद्योग हैं

   (i) रक्षा उत्पादन

   (ii) परमाणु ऊर्जा

   (iii) परमाणु खनिज (कोयला) खनिज तेल

   (iv) रेलवे, परिवहन। शेष सभी उद्योग निजी क्षेत्र के अन्तर्गत शामिल किए गए हैं।

3. **उद्योगों की ऋण सीमा में व द्धि (Increase in the Limits of lending of Industries)**– नई नीति में उद्योगों की ऋण सीमा में व द्धि कर दी गई है। उद्योग के लिए पहले ऋण 5 करोड़ रुयये तक दिया जाता था अब उसे बढ़ाकर 50 करोड़ रुपये कर दिया गया है।

4. **बड़े उद्योगों का विस्तार (Expansion of large Scale Industries)**– बड़े उद्योगों का काफी विस्तार किया गया है जैसे सिले-सिलाये (Ready-made) कपड़ों का उत्पादन

केवल लघु उद्योगों तक ही सीमित सुरक्षित होता था अब बड़े उद्योगों के लिए भी खोल दिया गया है। परन्तु उन्हें अपने उत्पादन का 50 प्रतिशत भाग निर्यात करना पड़ेगा या मशीनरी आदि में उनका अथक पूंजी निवेश 1 करोड़ रुपये से अधिक होना चाहिए।

5. **निर्यात को प्रोत्साहन (Encouragement to Export)–** निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए निर्यात-सम्बन्धी क्षेत्रों (Export Promotion Areas) में विकास कमिश्नर (Development commission) को 100 प्रतिशत उत्पादन का निर्यात करने वाले यूनिटों के सम्बन्ध में जून 1993 में विशेष अधिकार दिए गये थे जो पहले वित्त मन्त्रालय (Finance Ministry) के पास थे। इसके फलस्वरूप निर्यात उद्योमों की कठिनाइयां कम हो जाएंगी।

6. **प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को प्रोत्साहन (Encouragement to Foreign Direct Investment-FDI)–** नई नीति में औद्योगिकरण के लिए प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को विशेष प्रोत्साहन दिया गया, जिसके लिए उन्हें विशेष रियायतें (जैसे- विदेशी निवेश को पूंजी लाभ पर लगाये जाने वाले कर की रियायती दर 30 प्रतिशत कर) दी गई। परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में व द्धि हुई। सन् 1991 तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश 351 करोड़ रुपये का था जो सन् 2001 से बढ़कर 16,127 करोड़ रुपये हो गया। इसी प्रकार 1991 से 2000 तक 1,05,413 करोड़ रुपये का विदेशी निवेश हुआ। इस अवधि के दौरान प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में 46 गुणा व द्धि हुई।

7. **शुल्कों में कमी (Reduction in Duties)–** पूंजीगत वस्तुओं पूंजीगत वस्तुओं पर उत्पादन शुल्कों को क्या किया गया तथा पूंजी सम्बन्धी लागतों को कम करने और निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए आयात शुल्कों में भी कटौती की गई।

8. **ब्याज की दर में कमी (Reduction in the Rate of Interest)–** पहले उद्योगों के ऊंची ब्याज दर पर ऋण दिया जाता था। अब न्यूनतम ब्याज की दर को काफी कम कर दिया गया है। जैसे उद्योगों को दिए जाने वाले उच्चतम ऋण स्लेब पर न्यूनतम उधार देने की दर को घटा कर 15 प्रतिशत तक कर दिया है।

9. **निर्यात ऋण पुनर्वित सीमाओं में व द्धि (Increase in Export Credit Refinance)–** इस नीति में निर्यात ऋण पूनर्वित ऋण का 90 प्रतिशत तक अमरीकी डालर में उपलब्ध होगा।

10. **पिछड़े इलाकों में करों की छूट (Concessions in taxes in Backward Areas)–** देश में कुछ इलाके औद्योगिक द ष्टि से पिछड़े हुए हैं। ऐसे राज्यों में नए उद्योगों की स्थापना करने पर विशेष तौर पर बिजली उत्पादन करने पर 5 वर्ष तक के करों की छूट दे दी गई है।

11. **रुग्ण औद्योगिक एक्ट में संशोधन (Ammendment in Sick Industries Act)–** 1985 के बीमार औद्योगिक कम्पनी एक्ट का सन् 1993 में संशोधन कर दिया गया जिसके दो मुख्य उद्देश्य थे-

    (1) कम्पनियों की रुग्णता का आरम्भ में ही ज्ञान प्राप्त करना।

    (2) उपचार के उपायों को शीघ्रता से लागू करना इन दो उद्देश्यों भी प्राप्ति के लिए एक्ट में संसाधन किया गया था।

संक्षेप में, केंद्रीय सरकार की औद्योगिक नीति का राज्य सरकारों ने भी स्वागत किया। राज्य सरकारों ने औद्योगिक नीति के विभिन्न उपायों को भी प्रभावपूर्ण ढंग से लागू करने का प्रयत्न किया।

नई औद्योगिक नीति के औद्योगिक उत्पादन पर प्रभाव
(Impact of New Industrial Policy on Industrial Production)

जुलाई, 1991 की औद्योगिक नीति एक उदारवादी नीति थी। इस नीति के औद्योगिक उत्पादन पर निम्नलिखित प्रभाव पड़े-

1. **औद्योगिक व द्धि पर प्रभाव**– नई औद्योगिक नीति के फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन की व द्धि दर में होने वाले परिवर्तन को निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है।

तालिका

औद्योगिक उत्पादन की व द्धि दर

वर्ष (Year)	व द्धि दर (Growth rate) (प्रतिशत)
1991-92	0.2
1992-93	2.3
1993-94	6.0
1994-95	9.1
1995-96	13.0
1996-97	6.1
1997-98	6.7
1998-99	4.1
1999-2000	6.7
2000-2001	5.5
2001-2002	2.8

Source– Economic Survey, Govt. of India 1994-95, 2001-2002

उपरोक्त वितरण से स्पष्ट हो जाता है कि नई औद्योगिक नीति के कारण पहले दो वर्षों 1991-92 तथा 1999-93 में औद्योगिक व द्धि दर में बहुत कम व द्धि 0.2% हुई 1993 के बाद यह बढ़ना शुरू हो गई तथा 1995-96 में औद्योगिक व द्धि सबसे अधिक 12.1 प्रतिशत रही। इसके पश्चात् यह कम हो गई, परन्तु इस नई नीति के कारण ही आठवीं पंचवर्षीय योजना में वार्षिक दर 7.3 प्रतिशत रही। इसके पश्चात नौवीं पंचवर्षीय योजना में व द्धि दर कम होती गई सह व द्धि दर 5.0 प्रतिशत रही। 2001-2002 में यह व द्धि दर बहुत ही कम 2.8 प्रतिशत रही, इसके मुख्य कारण निम्नलिखित है आधारभूत क्षेत्रों जैसे बिजली, यातायात आदि की अड़चने (Constraints of Infrastructure) ऋण उपलब्धता की कमी, निर्यात की मांग में कमी, खनन तथा खनिज उद्योगों के उत्पादन में कमी, बचन एवं निवेश की दर में कमी, ब्याज की ऊंची दर तथा मांग में सामान्य कमी आदि।

2. **प्रत्यक्ष विदेशी निवेश पर प्रभाव** (Impact on Foreign Direct Investment–FDI)– नई औद्योगिक नीति के कारण प्रत्यक्ष विदेशी निवेशी में काफी व द्धि हुई। सन् 1951 में 351 करोड़ रुपये हो गया। इस प्रकार अब तक 46 गुणा व द्धि हुई। 1991 से 2001 तक 16,127 करोड़ रुपये का प्रत्यक्ष विदेशी निवेश हुआ, जबकि स्वीकृति केवल,

2,70,064 करोड़ रुपये की थी। अतः इस नीति का प्रत्यक्ष विदेशी निवेश पर बहुत अच्छा प्रभाव रहा।

3. **लघु एवं कुटीर उद्योग पर प्रभाव (Impact on Cottage and Small Scale Industries)**– नई औद्योगिक नीति के कारण लघु एवं कुटीर उद्योग की संख्या में व द्धि हुई। 1992-93 में इनकी संख्या 22 लाख थी जो 2000-2001 में बढ़कर 33.7 लाख हो गई। इस प्रकार सन् 1992 से सन् 2001 में लघु उद्योगों की संख्या में 53 प्रतिशत, उत्पादन में 20.8 प्रतिशत तथा रोजगार में 0.4 प्रतिशत की व द्धि हुई। संख्या की द ष्टि से देखा जाए तो लघु उद्यागों की संख्या में 1½ गुणा, उत्पादन में 3 गुणा तथा रोजगार में लगभग 1½ गुणा, व द्धि हुई। परन्तु यदि व द्धि दर को देखा जाए तो इसमें काफी कमी हुई है। इन कम्पनियों की आय में लघु उद्योगों की प्रतियोगिता में व द्धि का मुख्य कारण बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अधिक महत्व देना है। इन कम्पनियों की आय में लघु उद्योगों की प्रतियोगिता में व द्धि हो गई। परिणामस्वरूप लघु उद्योगों के उत्पादन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।

संक्षेप में, उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि जुलाई, 1991 की नीति के कारण भारतीय उद्योग में उसकी संरचना तथा कार्यकरण (Structure and functioning) में आधारभूत परिवर्तन आया। नई नीति में नियम काफी आसान बना दिये गये हैं। परिणास्वरूप औद्योगिक लाइसैंसिंग नीति में काफी कमी हुई। सार्वजनिक क्षेत्र में आकार में कमी की गई है। सार्वजनिक क्षेत्र के कई उद्योगों के शेयर पूंजी का विनिवेश (Dis-investment) किया गया हैं विदेशी भागीदारी की सीमाओं में व द्धि की गई है। शुल्कों में कमी की गई। लघु, कुटीर उद्योग की ओर ध्यान दिया गया। निर्यात उद्योगों को प्रोत्साहन करने के लिए सुविधाएं दी गई। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को विशेष महत्व दिया गया जिसके फलस्वरूप निर्यात की दर में व द्धि हुई है।

भारत में लघु उद्योग
(Small Scale Industries in India)

भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु एवं कुटीर उद्योगों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि उद्योग बेरोज़गारी और निर्धनता की समस्या को हल करने में बहुत सहायक होते हैं।

भारतीय औद्योगिक संरचना को मुख्य रुप से तीन भागों में बांटा जा सकता है। (1) कुटीर एवं लघु उद्योग (2) मध्यम स्तर के उद्योग (3) बड़े स्तर के उद्योग।

कुटीर उद्योग (Cottage Industries)– वो उद्योग जिन्हें बहुत कम पूंजी के प्रयोग के साथ, व्यक्ति अपने घरों में परिवार के सदस्यों की सहायता से चलाता है। कुटीर उद्योग, वह उद्योग है जो पूर्णतया या आंशिक रुप से परिवार के सदस्यों की सहायता से पूर्णकालीन या अंशकालीन व्यवसाय के रुप में चलाया जाता है।

पी० एन० धर तथा एच० एफ० लिंडाल के शब्दों में ''कुटीर उद्योग वे उद्योग हैं जो पुरी तरह घरेलू होते हैं। इसमें किराये के मज़दूरों का बहुत कम या बिल्कुल ही प्रयोग नहीं किया जाता। ये उद्योग कच्चा माल स्थानीय बाज़ारों से प्राप्त करते हैं और अपना अधिकांश उत्पादन स्थानीय बाज़ारों में ही बेचते हैं। यह लघु आकार के ग्रामीण, स्थानीय एवं पिछड़ी तकनीकी वाले उद्योग होते हैं।

अतः भारत में गांवों में तथा शहरों में चलने वाले परम्परागत उद्योग जैसे काफी उद्योग, हस्तकला उद्योग आदि कुटीर उद्योग कहलाते हैं।

लघु उद्योग (Small Scale Industries)– भारत में वर्तमान में लघु उद्योगों की परिभाषा के अन्तर्गत वे समस्त इकाइयां शामिल की जाती हैं। जिसमें स्थिर परिसम्पत्तियों के रुप में पलान्ट एवं मशीनरी पर पूंजी की मात्रा 1 करोड़ रुपये से अधिक नहीं है। लेकिन उच्च तकनीकी व निर्माण उद्योग के लिए यह सीमा 5 करोड़ रुपये है। जिन औद्योगिक इकाइयों में 25 लाख रुपये तक का निवेश होना है। उन्हें अति लघु इकाइयाँ (Tiny Sector Units) कहा जाता है। सहायक उद्योग (Ancillary Industries) में पूंजी की सीमा 75 लाख रुपये हैं।

सामान्य रुप से लघु उद्योग शक्तिचालित मशीनों तथा उत्पादन की नवीनतम तकनीकों एवं विधियों तथा किराये के श्रम का प्रयोग करते हैं। बाज़ारों के लिए उत्पादन करने के साथ-साथ वे निर्यात सम्बन्धित वस्तुओं का उत्पादन करतें हैं। वे पर्याप्त मात्रा में पूंजी निवेश कर स्थायी रुप से खर्च करते हैं। इनमें हौजरी के कारखाने, दरी एवं चदर बनाने वाले कारखाने, रेडियो, टेलीविज़न और वैज्ञानिक यन्त्र बनाने वाले कारखानों को शामिल किया जाता हैं।

कुटीर एवं लघु उद्योगों में अन्तर
(Difference between Cottage and Small Scale Industries)

कुटीर एवं लघु उद्योगों में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं-

1. कुटीर उद्योगों में हस्त क्रियाओं की प्रधानता रहती है। जबकि उद्योगों के लिए यह आवश्यक नहीं है।
2. कुटीर उद्योगों में प्रायः परम्परागत वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है और सामान्यतः स्थानीय बाज़ार की मांग की पूर्ति की जाती है जबकि लघु उद्योगों में यान्त्रिक प्रक्रियाओं द्वारा अपेक्षाक त व्यापक बाज़ार की मांग की पूर्ति की जाती है।
3. कुटीर उद्योगों में मज़दूरी या वेतन पर कम लोग लगाए जाते हैं और अधिकतर कार्य परिवार के सदस्यों द्वारा ही किया जाता हैं जबकि लघु उद्योगों में मज़दूरी या वेतन पर पर्याप्त व्यक्ति लगाए जाते हैं।
4. कुटीर उद्योगों में पूंजी का निवेश नाम-मात्र ही होता है जबकि लघु उद्योगों में अपेक्षाक त अधिक पूंजी लगाई जाती है।
5. कुटीर उद्योगों में स्थानीय कच्चे माल एवं कुशलता का प्रयोग होता है। जबकि लघु उद्योगों में कच्चा माल एवं तकनीकी कुशलता बाहर से भी प्राप्त की जा सकती है।

कुटीर उद्योगों का वर्गीकरण (Classification of Cottage Industries)– (i) ग्रामीण कुटीर उद्योग (Rural Cottage Industries) (ii) शहरी कुटीर उद्योग (Urban Cottage Industries)

1. **ग्रामीण कुटीर उद्योग (Rural Cottage Industries)**– ये उद्योग ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित किए जाते हैं। ग्रामीण कुटीर उद्योग भी दो श्रेणियों में उप-विभाजित किए जा सकते हैं- एक वे हैं जो किसानों द्वारा सहायक धन्धे के रुप में चलाए

जाते हैं। जैसे- मुर्गी पालन, करघों पर बुनाई, गाय-भैस पालना, सुअर व भेड़-बकरी पालना, टोकरियां बनाना, रेशम के कीड़े पालना, रस्सी बनाना, मधु मक्खियां पालना, मछली पालन आदि। दूसरे वे हैं जो ग्रामीण कला कौशल से सम्बन्धित होते हैं। जैसे- मिट्टी के बर्तन बनाना, चमड़े के जूते बनाना, धानी से तेल निकालना आदि।

2. **शहरी कुटीर उद्योग (Urban Cottage Industries)**– वे उद्योग जो शहरों में स्थापित किए जाते हैं। इनके अन्तर्गत खिलौने बनाना, कपड़ों पर कढ़ाई करना, लकड़ी के फर्नीचर बनाना, साबुन बनाना, हथकरघा पर कपड़े बुनना आदि को शामिल किया जाता है।

वर्तमान स्थिति (Present Position)– भारत में 2002–03 में 35 लाख 70 हज़ार लघु उद्योगों की इकाईयां थीं। देश में 199.65 लाख लोगों को लघु उद्योगों में रोज़गार दिया गया है। इन लघु उद्योगों का कुल उत्पादन 2001-02 में 6,90,316 करोड़ रुपये का था तथा सन् 2001-02 में 69,797 करोड़ रुपये का निर्यात किया गया। देश के निर्यात में इनका लगभग 35 प्रतिशत भाग है।

भारत में कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्त्व
(Importance of Cottage and Small Scale Industries)

भारतीय अर्थव्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में जहां पूंजी का अभाव, गरीबी और बेराज़गारी का साम्राज्य है वहां कुटीर एवं लघु उद्योग आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सभी पहलुओं से औद्योगिक विकास की आधारशिला हैं। **गाँधी जी के अनुसार,** ''भारत का मोक्ष उसके कुटीर धन्धों में निहित है।'' **मोरारजी देसाई के अनुसार,** ''ऐसे उद्योगों से ग्रामीण लोागों को जो अधिकांश समय बेरोज़गार रहते हैं, पूर्ण अथवा अंशकालिक रोज़गार प्राप्त होता है।'' भारत में कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्त्व निम्नलिखित तथ्यों से समझा जा सकता है।

1. **रोज़गार में व द्धि (Increase in Employment)**– भारत में जनाधिक्य के कारण बेरोज़गारी की समस्या पाई जाती है। कुटीर एवं लघु उद्योग श्रम प्रधान होते हैं तथा इन उद्योगों में कम पूंजी के निवेश से भी रोज़गार में पर्याप्त व द्धि की जा सकती है। वर्तमान में, रोज़गार में इन उद्योगों का योगदान 34 प्रतिशत है।

2. **ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अनुकुल (Suitable for Rural Economy)**– भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहां की लगभग 58.4 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या कृषि पर निर्भर करती है। लेकिन किसानों को पूरे साल रोज़गार प्राप्त नहीं होता। इस द ष्टि से कुटीर एवं लघु उद्योग अत्यन्त उपयोगी हैं तथा हमारी अर्थव्यवस्था के अनुकूल हैं। कृषि व्यवसाय से सम्बद्ध व्यक्ति खाली समय में इस तरह के धन्धों में अपने को लगाकर आय में व द्धि कर सकते है। और देश की राष्ट्रीय आय में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

3. **आय वितरण में समानता (Equal Distribution in Income)**– कुटीर एवं लघु उद्योगों का स्वामित्व अधिक से अधिक लोगों के हाथों में होता है। जिससे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण नहीं होता। इसके अतिरिक्त इन उद्योगों में श्रमिकों का शोषण नहीं होता। फलस्वरुप राष्ट्रीय आय का वितरण अधिक समान होता है।

4. **उद्योगों के विकेन्द्रीकरण में सहायता (Helpful in the Decentralization of Industries)**– बड़े उद्योग केवल कुछ औद्योगिक केन्द्रों में ही स्थापित हो पाते

हैं। क्योंकि उनके लिए कुछ विशेष परिस्थितियों और सुविधाओं की आवश्यकता होती है। परन्तु लघु एवं कुटीर उद्योगों को गांवों में छोटे-छोटे कस्बों में भी स्थापित किया जा सकता है। जिससे निम्नलिखित लाभ होते हैं। (i) स्थानीय प्रतिभा तथा स्थानीय साधनों का उचित प्रयोग हो जाता है। (ii) औद्योगिक नगरों में पाई जाने वाली भीड़ की समस्याका समाधान हो जाता है। (iii) विदेशी आक्रमण के समय यह उद्योग सुरक्षित रहते हैं। (iv) ये उद्योग प्रादेशिक वे क्षेत्रीय असमानता को कम करने में सहायक होते हैं।

5. **कृषि पर जनसंख्या के भार में कमी (To Reduce Pressure of Population on Agriculture)**– भारत में कृषि पर जनसंख्या का भार बढ़ता जा रहा है। प्रति वर्ष लगभग 30 लाख व्यक्ति खेती पर आश्रित होने के लिए बढ़ जाते हैं। फलस्वरूप कृषि का उपविभाजन और विखण्डन की समस्या उत्पन्न हो जाती है। अतः इस समस्या के समाधान की द ष्टि से लघु एवं कुटीर उद्योग अत्यन्त उपयोगी हैं।

6. **परम्परागत एवं कलात्मक उद्योगों को संरक्षण (Protection to Traditional and Artistic Industries)**– कुटीर एवं लघु उद्योग परम्परागत एवं कलात्मक वस्तुओं को संरक्षण प्रदान करते हैं। कलात्मक वस्तुएं जैसे-बनारसी साड़ियां, हाथी दाँत का कार्य आदि में भारत प्राचीन समय से ही ख्याति अर्जित करता रहा है और इन वस्तुओं के निर्यात से विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती है।

7. **कम तकनीकी प्रधान (Skill light)**– कुटीर एवं लघु उद्योगों की स्थापना में कम पूंजी के साथ-साथ कम तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है तथा कर्मचारियों को प्रशिक्षण भी कम मात्रा में देकर काम चलाया जा सकता है। अतः यह भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए सर्वोत्तम है।

8. **निर्यात में सहायक (Helpful in Exports)**– पिछले कुछ वर्षों से भारत में कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं का निर्यात बढ़ रहा है। 1999-2000 में लघु एवं कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित 54,200 करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया गया तथा वर्ष 2000-01 में लघु उद्योगों द्वारा निर्मित 69,797 करोड़ रुपये की मूल्य की वस्तुओं का निर्यात किया गया जो गत वर्ष की तुलना में 28.78 प्रतिशत अधिक है।

9. **कम परिपक्व अवधि (Less Gestation Period)**– एक उद्योग को स्थापित करने तथा उत्पादन आरम्भ करने में जितना समय लगता है उसे **परिपक्व अवधि** कहते हैं। यह अवधि जितनी कम होगी, उत्पादन उतनी तेजी से बढ़ेगा तथा कीमतों में व द्धि नहीं होगी। लघु उद्योगों की परिपक्व अवधि कम होती है। क्योंकि इन्हें स्थापित करने और चालू करने में बहुत कम समय लगता है।

10. **आयात पर कम निर्भर (Less Dependence on Imports)**– बड़े उद्योग स्थापित करने में कभी तकनीकी के लिए तो कभी मशीनों के लिए, कभी कच्चे माल के लिए, विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है और उनसे आयात करना पड़ता है। जबकि लघु एवं कुटीर उद्योगों के लिए न तो मशीनों, न तकनीकी और न ही कच्चा माल आयात करना पड़ता है। अतः इन उद्योगों में आयात पर निर्भरता कम रहती है।

11. **बड़े उद्योगों के लिए सहायक/पूरक (Complementary to Large Scale Industries)**– लघु एवं कुटीर उद्योग, बड़े उद्योगों के लिए सहायक या पूरक के

रूप में कार्य करते हैं। अर्द्धनिर्मित माल, लघु एवं कुटीर उद्योग बना सकते हैं। जिनका उपयोग बड़े उद्योग निर्मित माल के उत्पादन हेतु कर सकते हैं।

12. **औद्योगिक समस्याओं से मुक्ति (Free From Industrial Problems)**– बड़े उद्योगों में बहुत-सी औद्योगिक समस्याएं बनी रहती हैं जो देश में अशान्ति के साथ-साथ उत्पादन को कम करने में सहायक होती हैं। जैसे-श्रमिकों की हड़तालें, मालिकों की तालाबन्दी, श्रमिकों की छंटनी, वेतन व द्धि व बोनस की मांग, सेवा शर्तों में सुधार आदि। कुटीर एवं लघु उद्योगों में इस प्रकार की समस्याएं नहीं होतीं और यदि कहीं होती भी हैं तो उनको मिल-बैठकर सुलझा लिया जाता है।

13. **स्थानीय साधनों का उपयोग (Using Local Resources)**– कुटीर एवं लघु उद्योग स्थानीय साधनों का उपयोग करते हैं। यदि ये लघु एवं कुटीर उद्योग न हों तो स्थानीय साधन व्यर्थ हो जाएंगे। ये उद्योग ग्रामीण व छोटे व्यक्तियों को उद्यमी बनाने में सहायक होते हैं। साथ ही ये उद्योग ग्रामीण बचत को भी निवेश करने में सहायक होते हैं।

अतः लघु एवं कुटीर उद्योगों ने देश के सामाजिक और आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। लघु उद्योगों के महत्त्व को इसी बात से समझा जा सकता है कि ये उद्योग निर्माण क्षेत्र के कारोबार का 40 प्रतिशत, विनिर्माण निर्यात का लगभग 45 प्रतिशत तथा कुल निर्यात के 13 प्रतिशत से अधिक का योगदान करते हैं। लघु एवं कुटीर उद्योगों के महत्त्व के कारण इन्हें औद्योगिक नीतियों में प्रमुख स्थान दिया गया है तथा 674 वस्तुओं का उत्पादन इनके लिए सुरक्षित रखा गया है। इनके हितों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए एक विशेष कानून बनाए जाने की व्यवस्था की गई है।

कुटीर एवं लघु उद्योगों की समस्याएं (Problems of Cottage and Small Scale Industries)– यद्यपि पंचवर्षीय योजनाओं में लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास हेतु अनेक महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं। फिर भी ये उद्योग कुछ आधारभूत समस्याओं से ग्रसित हैं। जिनके कारण वांछित प्रगति नहीं कर पा रहे हैं। इन उद्योगों की प्रमुख समस्याएं निम्नलिखित हैं-

1. **कच्चे माल की समस्या (Problem of Raw Material)**– कच्चे माल की समस्या इन उद्योगों की प्रमुख समस्या है। इन उद्योगों को उचित समय व उचित मूल्य पर आवश्यकतानुसार कच्चा माल नहीं मिल पाता। इन उद्योगों को घटिया माल उपलब्ध होता है तथा कीमत भी अधिक चुकानी पड़ती है। परिणामस्वरूप इनकी एक ओर तो उत्पादन लागत भी बढ़ जाती है दूसरी ओर तैयार माल भी घटिया किस्म का बनता है।

2. **वित्त की समस्या (Problems of Finance)**– यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकारी प्रयासों के कारण लघु उद्योगों की वित्त सम्बन्धी समस्याएँ है कुछ कम हुई हैं लेकिन उन्होंने अपने छोटे आकार के कारण अब भी वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन्हें व्यापारिक बैंकों तथा सहकारी समितियों से बहुत कम पूँजी उधार पर मिलती है। अतः इन्हें वित्त के लिए मुख्यतः साहुकारों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। जो ऊंची ब्याज की दर लेते हैं तथा निर्मित माल भी इन्हें ही सस्ते मूल्य पर बेचना पड़ता है।

3. **तकनीकी की समस्या (Problems of Technique)**– शिक्षा का अभाव, वित्त की कठिनाई तथा सीमित बाज़ार के कारण देश के कुटीर एवं लघु उद्योगों के द्वारा

उत्पादन की परम्परागत तकनीकों का ही प्रयोग किया जाता है। जिससे उत्पादन घटिया किस्म का तथा लागत अधिक पड़ती है।

4. **विपणन की कठिनाइयां (Difficulty in Marketing)**– कुटीर एवं लघु उद्योगों की विपणन समस्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है। जनता की रुचि, आदत, फैशन में परिवर्तन, विज्ञापन और प्रचार के सीमित साधन, बड़े उद्योगों की मशीन निर्मित वस्तुओं से प्रतियोगिता आदि के कारण इन उद्योगों को अपने उत्पादन को बेचने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

5. **बड़े उद्योगों से प्रतियोगिता (Competition with Large Scale Industries)**– बड़े उद्योगों द्वारा निर्मित माल अपेक्षाकृत सस्ता, अच्छी किस्म का और आकर्षक होता है। बड़े पैमाने के उद्योग उत्पादन की आधुनिक विधियों का प्रयोग तो करते ही हैं, साथ ही विपणन, आदि क्षेत्रों में भी साधन सम्पन्न होते हैं। जिसके कारण लघु उद्योग प्रतियोगिता में टिक नहीं पाते और परिणामस्वरूप उन्हें अपने उत्पाद को बेचने में कठिनाई होती है।

6. **प्रमापीकरण का अभाव (Lack of Standardisation)**– इन उद्योगों द्वारा निर्मित माल का निश्चित प्रमाप नहीं होता जिसके परिणामस्वरूप इन्हें अपने उत्पाद का उचित मूल्य नहीं मिल पाता।

7. **सूचना व परामर्श सेवाओं का अभाव (Lack of Information and Consultancy Services)**– इन उद्योगों को अपने व्यवसाय से सम्बन्धित उचित सूचनाएं समय से नहीं मिल पाती हैं और साथ ही परामर्श देने वाली सेवाएं तथा संस्थाओं की भी कमी है। इन कारणों से ये उद्योग उन्नति नहीं कर पाते हैं।

8. **विद्युत् शक्ति की कमी (Lack of Power)**– कुटीर एवं लघु उद्योगों की प्रमुख समस्या शक्ति की कमी है। क्योंकि इन्हें उचित मात्रा में सस्ती दर पर विद्युत् शक्ति नहीं मिल पाती जिसके अभाव में ये उद्योग ठीक से उत्पादन नहीं कर पाते।

9. **प्रबन्ध योग्यता में कमी (Lack of Managerial Skill)**– लघु उद्योग प्रायः छोटे-छोटे व्यवसायियों द्वारा स्थापित किए जाते हैं। जिन्हें प्रबन्ध एवं संगठन सम्बन्धी कोई विशेष प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता है। जिसका प्रभाव इन उद्योगों के विकास पर पड़ता है।

10. **योग्य उद्यमियों की कमी (Lack of able Entrepreneurs)**– इन उद्योगों को चलाने के लिए योग्य उद्यमियों की कमी है। इनमें काम करने वाले कारीगर अधिकतर अशिक्षित, अज्ञानी एवं रूढ़िवादी होते हैं। शिक्षा की कमी के कारण उन्हें नए औज़ारों और उत्पादन विधि की जानकारी नहीं होती। परिणामस्वरूप वे अपने उद्योगों को उचित ढंग से संगठित भी नहीं कर पाते।

11. **बीमार इकाइयां (Sick Units)**– भारत के लगभग 30.6 प्रतिशत लघु उद्योग बीमार उद्योग हैं तथा इन उद्योगों को काफ़ी हानि उठानी पड़ रही है।

12. **संगठन का अभाव (Lack of Organisation)**– भारत में कुटीर एवं लघु उद्योगों के कारीगरों में संगठन की बहुत कमी है। संगठन के अभाव के कारण इनको कच्चा माल, उन्नत औज़ार व उपकरण आदि महंगे मूल्यों पर खरीदने पड़ते हैं।

इसके साथ ही वे अपनी निर्मित वस्तुओं को देश विदेशों में लाभकारी मूल्यों पर नहीं बेच पाते।

सुधार के उपाय (Suggestions for Improvement)– देश की केन्द्रीय एवं राज्य सकारें लघु एवं कुटीर उद्योगों की समस्याओं की और उचित ध्यान दे रही हैं और योजनाकाल में इस द ष्टि से अनेक कदम उठाए गए हैं, लेकिन भावी विकास की द ष्टि से निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं।

1. **उत्पादन तकनीकी में सुधार** (Improvement in Technique of Production)– भविष्य में इन उद्योगों की उत्पादन तकनीकी में सुधार के लिए उचित ध्यान दिया जाना चाहिए तभी ये उद्योग बड़े उद्योगों की प्रतियोगिता का सामना करते हुए उपभोक्ताओं को उचित दामों पर अच्छी किस्म (गुणवत्ता) की वस्तुएं प्रदान कर सकेंगे। इस द ष्टि से सरकार को यह व्यवस्था करनी चाहिए कि प्रत्येक लघु उद्योग इकाई अपनी वार्षिक आय का 10 प्रतिशत एक विशेष कोष में हस्तान्तरित करेगी तथा इस कोष का उपयोग आधुनिकीकरण कार्यक्रम पर करेगी तथा यह कोष कर मुक्त रहेगा।

2. **प्रबन्ध सम्बन्धी सलाह** (Management Consultant)– लघु उद्योगों की स्थापना करने, विकास करने और मशीन आदि के प्रयोग के लिए प्रबन्ध सलाहकारों की सेवाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए। क्योंकि लघु उद्योगों की सफलता के लिए प्रबन्ध सलाह की अति आवश्यकता होती है।

3. **लघु उद्योग सहकारी समितियों का विकास** (Promotion of Small Scale Industrial Cooperative Societies)– लघु उद्योग सहकारी समितियों का अधिक से अधिक विकास किया जाना चाहिए तथा इन सहकारी समितियों को अपने सदस्यों को उचित मूल्यों पर उन्नत किस्मों के उपकरण और कच्चा माल उपलब्ध कराना चाहिए।

4. **बड़े और लघु उद्योगों में समन्वय** (Coordination between Large Scale and Small Scale Industries)– जहाँ तक सम्भव हो, बड़े और लघु उद्योगों में समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए क्योंकि मूलभूत तौर पर दोनों प्रकार के उद्योगों में पूरकता का सम्बन्ध होता है न कि प्रतिस्थापकता का।

5. **अनुसंधान कार्यक्रमों की विस्त त व्यवस्था** (Broader System for Research Programmes)– लघु उद्योगों की उत्पादकता और उत्पादन क्षमता बढ़ाने तथा किस्म सुधारने के लिए अनुसन्धान कार्यक्रमों की विस्त त व्यवस्था की जानी चाहिए। इन कार्यक्रमों में तकनीकी कार्यक्रमों को भी अवश्य शामिल किया जाना चाहिए।

6. **प्रचार तथा प्रदर्शनियां** (Publicity and Exhibitions)– लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए देश और विदेशों में विज्ञापन, नुमाइशें तथा प्रदर्शनियां लगाई जानी चाहिए। फलस्वरूप उपभोक्ता इन उद्योगों के उत्पादन के सम्बन्ध में विस्त त जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

7. **उत्पादन की किस्म पर उचित नियन्त्रण** (Quality Control of the Product)– लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का निर्यात करने और उपभोक्ता में विश्वास बनाए रखने के लिए इन उद्योगों की उत्पादन की किस्म पर उचित नियन्त्रण रखा जाना चाहिए।

8. **औद्योगिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था** (Provision for Industrial Education and Training)– लघु उद्योगों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि इन उद्योगों से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए उचित शिक्षण और प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि वे आधुनिक वैज्ञानिक विधियों का सहजता से प्रयोग कर सकें। इसके लिए गांवों एवं कस्बों में औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किए जाने चाहिएं।

9. **वित्त एवं साख व्यवस्था** (Financial & Credit Facilities)– लघु एवं कुटीर उद्योगों की वित्तीय एवं साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वित्तीय संस्थाओं का ग्रामीण क्षेत्रों एवं कस्बों में विस्तार किया जाना चाहिए। बैंकों एवं अन्य साख संस्थाओं को अधिक उदार शर्तों पर लघु उद्योगों को कर्ज़े देने चाहिएं।

10. **बिक्री सम्बन्धी सुविधाएँ** (Marketing Facilities)– इन उद्योगों के विकास के लिए बिक्री एवं विपणन सम्बन्धी सुविधाओं का होना भी अति आवश्यक है। यदि उत्पादित माल बाज़ारों में उचित मूल्य पर नहीं बिक पाता तो उत्पादकों में व्यापक निराशा होती है। जिससे उत्पादन प्रभावित होता है।

    अतः इन उद्योगों के उत्पादों की बिक्री के लिए एक केन्द्रीय विक्रय संस्था की स्थापना की जानी चाहिए जो विभिन्न संस्थाओं से निश्चित प्रमाप के अनुसार माल तैयार कराएं तथा उनको बेचने की व्यवस्था करें।

11. **कच्चे माल की पूर्ति** (Supply of Raw Material)– लघु उद्योगों को कच्चे माल की निरन्तर पूर्ति मिलती रहनी चाहिए और इसके लिए विशेष प्रयत्न किए जाने चाहिएं। बड़े उद्योगों की तरह ही इन उद्योगों को कच्चे माल का कोटा उनकी स्थापित क्षमता के आधार पर दिया जाना चाहिए।

12. **करों से छूट** (Exemption from Taxes)– इन उद्योगों द्वारा उत्पादित माल पर सरकार द्वारा लगाए गए करों में छूट की जानी चाहिए। सरकार को इन उद्योगों के निर्मित माल की बिक्री को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष वित्तीय सहायता भी देनी चाहिए।

कुटीर और लघु उद्योगों के विकास हेतु सरकारी प्रयास (Government Efforts for the Promotion of Small Scale and Cottage Industries)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कुटीर एवं लघु उद्योगों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए सरकार ने इन उद्योगों के विकास हेतु विशेष बल दिया। यह महसूस किया गया कि ये उद्योग बेरोज़गारी और निर्धनता को दूर करने एवं असमानताओं को कम करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। 1948, 1956, 1980 तथा 1991 की औद्योगिक नीतियों में इन उद्योगों के महत्त्व को स्वीकार किया गया। इन उद्योगों की उन्नति एवं विकास हेतु सरकार विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करते हुए निरन्तर प्रयत्नशील है। सरकार ने इन उद्योगों के विकास के लिए तरह-तरह के राजकोषीय, मौद्रिक तथा प्रशासनिक उपाय किए हैं। इसमें निम्नलिखित उपाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं-

1. **विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना** (Establishment of Specialised Institutions)– लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास की जिम्मेदारी को निभाते हुए केन्द्रीय सरकार ने इन उद्योगों के विकास के लिए एक अलग विभाग की स्थापना की है। इस विभाग के निर्देशन और परामर्श के लिए एक **अखिल भारतीय कुटीर उद्योग** बोर्ड

स्थापित किया गया। इसके अतिरिक्त सरकार ने इन उद्योगों को सरकारी सहायता और प्रोत्साहन करने के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की है। इनमें प्रमुख हैं- अखिल भारतीय हथकरघा एवं दस्तकारी बोर्ड, अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम, लघु उद्योग विकास बोर्ड, ज़िला उद्योग केन्द्र आदि। ये संस्थाएं लघु एवं कुटीर उद्योगों की विविध एवं विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाएं एवं दिशा निर्देशन प्रदान करती हैं। राज्य सरकारों ने भी अपने-अपने क्षेत्रों में इन उद्योगों के विकास हेतु अनेक संस्थाओं की स्थापना की है।

2. **वित्त सम्बन्धी सुविधाएँ** **(Financial Help Related Facilities)**– इन उद्योगों को पूंजी एवं अन्य आर्थिक सहायता प्रदान करने के क्षेत्र में भी सरकार ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राज्य सरकारों ने राज्य उद्योग सहायता अधिनियमों के अन्तर्गत इन उद्योगों के लिए ऋण सुविधाओं को काफ़ी बढ़ा दिया है। परिणामस्वरूप इन उद्योगों को अपेक्षाकृत अधिक आसान शर्तों पर आसानी से राज्य सरकारों द्वारा ऋण उपलब्ध कराया जाने लगा है।

   आजकल इन संस्थाओं को **स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम, राज्य वित्त निगम सहकारी एवं व्यापारिक बैंकों** तथा राज्य सरकारों द्वारा वित्तीय सुविधा उपलब्ध कराई जाती है। 1 जुलाई, 1990 से रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया ने भी गारण्टी योजना लागू की है। इसके अतिरिक्त इन उद्योगों को ऋण प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना की गई है जो भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की सहायक संस्था है।

3. **विपणन सुविधाएँ** **(Marketing Facilities)**– केन्द्रीय एवं 5 राज्य सरकारों द्वारा विशिष्ट निगमों द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री के लिए स्थान-स्थान पर शोरूम अथवा इम्पोरियम स्थापित किए गए हैं। जिनके माध्यम से देशी व विदेशी बाज़ारों में माल बेचे जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में सरकारी विपणन समितियां एवं विपणन संघों की स्थापना की गई है। एक राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना की गई है। जो इन उद्योगों से माल प्राप्त करके सरकार एवं अन्य सरकारी विभागों तथा समितियों को बेचती है तथा उचित मूल्य पर उपभोक्ताओं तक पहुंचाती है। लगभग 400 ऐसी वस्तुएं हैं जिन्हें सरकार केवल लघु उद्योगों से ही खरीदती है। इसके साथ ही यह राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम विदेशों से भी ऑर्डर प्राप्त करने का प्रयास करता है तथा प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करता है।

4. **तकनीकी सहायता** **(Technical Assistance)**– सरकार द्वारा लघु उद्योगों को पर्याप्त तकनीकी सहायता प्रदान की जाती है। इसके लिए लघु उद्योग विकास संगठन की स्थापना की गई है जिसके अन्तर्गत 30 लघु सेवा संस्थान, 28 शाखा संस्थान, तथा 4 क्षेत्रीय प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किए गए हैं। सरकार द्वारा विदेशों में प्रशिक्षण हेतु उद्यमियों को भेजा जाता है तथा विदेशी विशेषज्ञों को भी भारत में प्रशिक्षण देने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। ये संस्थाएं प्रबन्ध और तकनीकी अनुसंधान सम्बन्धी शिक्षा भी देती हैं।

5. **करों में रियायत** **(Subsidies in Taxes)**– सरकार द्वारा लघु एवं छोटे उद्योगों को करों में छूट प्रदान की जाती है। इन उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर उत्पादन

या अन्य कर नहीं लगाए जाते और यदि कहीं लगाए भी जाते हैं तो इनकी दरें अत्यधिक कम रहती हैं।

6. **औद्योगिक सहकारी समितियां (Industrial Cooperative Societies)**– सरकार और योजना आयोग इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकारते हैं कि लघु एवं कुटीर उद्योगों के स्वरूप एवं तीव्र विकास में औद्योगिक सहकारी समितियां काफ़ी सहायक सिद्ध हो सकती हैं और मुख्तया इन्हीं के माध्यम से ये उद्योग सहकारी सहायता से लाभ उठा सकते हैं। यही कारण है कि 1960-61 में देश में 33,266 औद्योगिक सहकारी समितियां थीं जिनकी संख्या अब बढ़ कर 45,154 हो गई है। 1965-66 में औद्योगिक सहकारिताओं का राष्ट्रीय संघ भी स्थापित किया गया जिसका उद्देश्य औद्योगिक सहकारी समितियों द्वारा उत्पादित माल के थोक व्यापार और निर्यात में सहायता प्रदान करना है।

7. **औद्योगिक बस्तियों की स्थापना (Establishment of Industrial Estates)**– लघु एवं कुटीर उद्योगों को सभी सुविधाएं एक स्थान पर देने तथा उनका क्रमबद्ध विकास करने के लिए औद्योगिक बस्तियों की स्थापना के लिए केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों को ऋण उपलब्ध कराती हैं। मार्च 1995 में देश में 1,765 ऐसी बस्तियाँ कार्य कर रही थीं जिसमें 26 लाख लोग कार्यरत थे।

8. **बड़े उद्योगों की प्रतियोगिता से बचाव (Safety from the Competition of Large Scale Industries)**– इन उद्योगों के विकास के सम्बन्ध में सरकार ने एक और महत्त्वपूर्ण कदम उठाते हुए बड़े उद्योगों की अनुचित प्रतियोगिता से बचाने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में सरकार ने कुछ क्षेत्रों को लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित रखा है। सरकार ने 674 वस्तुओं का उत्पादन केवल लघु एवं कुटीर उद्योगों के लिए सुरक्षित रखा है-

9. **भारतीय लघु विकास बैंक की स्थापना (Establishment of Small Scale Development Bank of India)**– 2 अप्रैल, 1990 को भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की सहायक संस्था के रूप में भारतीय लघु विकास बैंक की स्थापना की गई। जिसका मुख्य उद्देश्य लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इस बैंक की पूंजी 450 करोड़ रुपये है तथा इसकी 30 शाखाएं विभिन्न राज्यों में स्थापित की गई हैं।

10. **लघु उद्योग बोर्ड (Small Industries Board)**– जून 1992 में प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक लघु उद्योग बोर्ड का गठन किया गया, जिसका मुख्य कार्य, लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकार को सलाह देना है। इस बोर्ड के 130 सदस्य हैं जो विभिन्न मन्त्रालयों व संगठनों से लिए गए हैं।

11. **ग्रामीण औद्योगिक परियोजनाएं (Rural Industrial Projects)**– यह योजना केन्द्रीय सरकार द्वारा 1961-62 में प्रारम्भ की गई जिसका उद्देश्य ग्रामीण वातावरण में लाभदायक इकाइयों की स्थापना करने की तकनीकी का विकास रखना एवं विभिन्न क्षेत्रों में विकास स्तर पर रहने वाली असमानताओं को कम करना है।

12. **लघु उद्योगों के लिए गारन्टी फन्ड योजना (Guarantee Fund Programme for Small Scale Industries)**– ऋण गारण्टी स्कीम वाणिज्यिक बैंकों, सही तरीके से काम करने वाले क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा दिए गए

10 लाख रुपये तक के लिए गारण्टी प्रदान करने के लिए जिसमें तीसरे पक्ष द्वारा दी गई गारण्टी सहित अन्य कोई गारण्टी नहीं होगी।

13. **लघु उद्यमी क्रेडिट कार्ड योजना (Credit Card Programme for small Scale Entrepreneurs)**– छोटे व्यापारियों, दस्तकारों, उद्यमियों आदि को आसानी से साख उपलब्ध करवाने के लिए 2002-2003 के बजट प्रस्तावों में लघु उद्यमी क्रेडिट कार्ड योजना लागू की गई है।

14. **एकीकृत ढांचागत विकास केन्द्रों की स्थापना (Establishment of Integrated Structural Development Centres)**– लघु उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा देशभर में 71, I.I.T केन्द्रों की स्थापना की गई है तथा इस योजना पर अब तक सरकार 145 करोड़ रुपये आबंटित कर चुकी है। इस योजना के अन्तर्गत एक औद्योगिक परिसर में विकसित स्थान, बिजली, पानी, दूरसंचार निकासी व्यवस्था जैसी आधारभूत सुविधाओं के साथ-साथ बैंक, कच्चा माल, भण्डारण, विपणन, प्रौद्योगिक तथा अन्य बुनियादी सुविधाएं भी उपलब्ध कराई जाती हैं।

15. **कच्चा माल (Raw Material)**– इन उद्योगों को विदेशों से कच्चा माल खरीदने की सुविधाएं दी गई हैं। **राज्य व्यापार निगम** (STC) खनिज तथा धातु निगम (Mineral and Metal Trading Corporation) आदि संस्थाओं द्वारा लघु उद्योगों के लिए कच्चा माल विदेशों से आयात किया गया। इन उद्योगों को कच्चे माल के आयात के लिए अन्य सुविधाएं भी दी जाती हैं।

16. **निर्यात (Exports)**– इन उद्योगों द्वारा निर्मित तैयार माल के निर्यात बढ़ाने के लिए सरकार विशेष रूप से प्रयत्नशील है। राजकीय व्यापार निगम (State Trading Corporation), लघु उद्योगों को निर्यात व्यापार के सम्बन्ध में सलाह देता है तथा उनकी आर्थिक सहायता भी करता है।

योजनाकाल में लघु एवं कुटीर उद्योग
(Small Scale and Cottage Industries During Plans)

पंचवर्षीय योजनाओं में लघु एवं कुटीर उद्योगों को उनके महत्त्व के अनुरूप उचित स्थान प्रदान किया गया है। योजनाओं के अन्तर्गत लघु एवं कुटीर उद्योगों एवं कुटीर उद्योगों के विकास कार्यक्रम तथा प्रगति का विवरण निम्न है-

प्रथम पंचवर्षीय योजना में लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास पर लगभग 43 करोड़ रुपए खर्च किए गए तथा इन उद्योगों के विकास के लिए कुछ विशिष्ट संस्थाएं स्थापित की गईं जैसे **अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड** एवं अखिल **भारतीय हथकरघा** बोर्ड और लघु उद्योग बोर्ड **द्वितीय पंचवर्षीय योजना** में इन उद्योगों पर लगभग 187 करोड़ रुपये खर्च किए गए; औद्योगिक बस्तियों की स्थापना की गई तथा इन उद्योगों को तकनीकी वित्तीय एवं मार्किटिंग की सुविधाएं देने की व्यवस्था की गई।

त तीय पंचवर्षीय योजना, में चतुर्थ, पांचवी एवं छठी पंचवर्षीय योजना में इन उद्योगों के विकास पर 240.75 करोड़ रुपये, 242.6 करोड़ रुपये 592.5 करोड़ रुपये तथा 1945 करोड़ रुपये खर्च किए गए। इन योजनाओं में लघु उद्योगों की उत्पादकता बढ़ाने और प्रतियोगिता शक्ति में सुधार करने की कोशिशें की गईं।

सातवीं योजना में इन उद्योगों के विकास पर 3,249 करोड़ रुपये खर्च किए गए। इस योजना में इन उद्योगों की उत्पादन क्षमता का अधिकतम प्रयोग करने के लिए उपयुक्त मात्रा में साख, कच्चे माल बिजली आदि की पूर्ति करने, उद्यमियों को प्रशिक्षण देने, निर्यात प्रेरित उद्योगों को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया है। **आठवीं योजना, नौवीं योजना तथा दसवीं योजना** में इन उद्योगों पर क्रमशः 7.094 करोड़ रुपए, 8812 करोड़ रुपये (पहले वर्ष में, 2002-03 में 1213 करोड़ रुपये खर्च किए गए)।

लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के लिए नई नीति, 1991
(New Policy for Small Scale and Village Industries, 1991)

भारत सरकार ने 6 अगस्त, 1991 को नई लघु औद्योगिक नीति घोषित की है।

उद्देश्य (Objectives)

1. लघु-स्तरीय क्षेत्र के विकास को प्रेरित करना, ताकि अर्थव्यवस्था के विकास, विशेष रूपय से उत्पादन, रोज़गार और निर्यात को बढ़ाने में अपना योगदान दे सकें,
2. इस क्षेत्र के स्वाभाविक विकास के लिए सभी प्रकार के प्रशासनिक प्रतिबन्धों को समाप्त करना,
3. इन उद्योगों को अधिक प्रतियोगी बनाने के लिए आधुनिकीकरण एवं प्रौद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करना।

विशेषताएं (Features)– नई लघु उद्योग नीति की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **उद्योगों का वर्गीकरण (Classification of Industries)**– इस नीति के अनुसार जिन उद्योगों में मशीनरी में पूंजी निवेश की सीमा 2.5 लाख रुपये तक है उन्हें लघुत्तर (अति लघु) उद्योग अर्थात् Tiny Industries कहा जाएगा। लघु उद्योगों में निवेश की सीमा 1 करोड़ रुपये तक की गई है।
2. **वित्तीय सहायता (Financial Assistance)**– नई औद्योगिक नीति के अन्तर्गत राष्ट्रीय समता कोष योजना के क्षेत्र को बढ़ाने के लिए निश्चय किया गया। अब यह योजना 10 लाख रुपये तक की परियोजनाओं में 15 प्रतिशत तक समता सहयोग कर सकेगी। इसके अतिरिक्त एकल खिड़की योजना (Single Window System) 20 लाख रुपये तक की परियोजनाओं, जिनकी कार्यशील पूंजी 10 लाख रुपये है, लागू कर दी गई है।

   लघु स्तरीय उद्योगों को पूंजी बाज़ार तक पहुँच और उनकी प्रौद्योगिक बढ़ोतरी को सम्भव बनाने में अन्य उद्योगों को लघु उद्योगों में 24 प्रतिशत तक समता भागीदारी लघु उद्योगों के विकास को गति प्रदान कर सकती है।

   अल्पकालीन एवं दीर्घकालिक कोषों की कमी लघु क्षेत्र की एक प्रमुख समस्या रही है। अतः नई नीति ने सस्ते ऋण की उपलब्धता एवं उनकी सुपुर्दगी पर भी विशेष बल दिया गया है। सरकार द्वारा अप्रैल 1997 में घोषित नई साख नीति में बैंकों को यह सुनिश्चित करने को निर्देश दिया है कि लघु उद्योगों की सभी श्रेणियों के लिए उपलब्ध कोषों का 40 प्रतिशत भाग ऐसी लघु इकाइयों को उपलब्ध करवाया जाए जिनमें प्लान्ट एवं मशीनरी में निवेश 5 लाख रुपये तक हो। 5 लाख से 25 लाख रुपये तक निवेश करने वाली इकाइयों को लघु

उद्योग क्षेत्र के ऋणों का 20 प्रतिशत तथा शेष इकाइयों को 40 प्रतिशत कोष उपलब्ध करवाया जाए।

3. **विपणन एवं निर्यात् में सहायता** **(Assistance in Marketing and Exports)**– लघु क्षेत्र के विपणन सम्बन्धी समस्याओं के निराकरण के सम्बन्ध में कदम उठाते हुए राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम द्वारा लघु उद्योग की वस्तुओं को बड़े पैमाने पर क्रय करने की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त NSIC एवं SSIDC के मध्य समुचित तालमेल बनाए रखने का भी प्रबन्ध किया गया है।

   लघु क्षेत्र की निर्यात सम्भावनाओं का उपयोग करने के लिए **लघु उद्योग विकास संगठन** को लघुस्तरीय उद्योगों को निर्यात् प्रोत्साहन के लिए एक शीर्ष संस्था स्वीकार किया गया है।

4. **संरचनात्मक सहायता** **(Structural Assistance)**– लघु उद्योगों को संरचनात्मक सुविधा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से लघु उद्योग विकास संगठन के अधीन तकनीकी विकास संघ का गठन किया गया है। जिसका उद्देश्य लघु उद्योगों में उत्पादकता तथा प्रतियोगी प्रव त्ति को बढ़ावा देना है।

5. **तकनीकी उच्चीकरण** **(Technical Upgradation)**— नई लघु उद्योग नीति के अन्तर्गत लघु क्षेत्र में उत्पादकता, कार्यकुशलता तथा आगत प्रभावीकरण में सुधार के उद्देश्य के तकनीकी उच्चीकरण कार्यक्रम पर विचार किया गया है। इसके लिए भारतीय तकनीकी संस्थाएं एक चुने हुए इन्जीनियरिंग कालेजों का अपने-अपने क्षेत्रों में प्रौद्योगिकी सूचना, डिजाइन एवं विकास केन्द्रों की जिम्मेवारी निभाने की बात कही गई है।

6. **उद्यमशीलता विकास** **(Promotion of Entrepreneurship)**– लघु उद्योगों के सामान्य संचालन के लिए सरकार तरह-तरह के उद्यमों के सम्बंध में उद्यमशीलता विकास कार्यक्रम चलाती है। देश के विभिन्न भागों एवं समाजों में उद्यमशीलता विकास को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न उद्योग संगठनों से भी कार्यक्रम में सहयोग लेने का विचार किया गया।

   औद्योगिक क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए महिला उद्यमियों को प्रशिक्षण देने के लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम संचालित करने का प्रावधान किया गया है।

प्रश्नावली
(Questions)

I. निबन्ध रूपी प्रश्न (Eassay Type Questions)

1. कृषि से क्या अभिप्राय है? भारत के आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका का वर्णन करें।

   (What is agriculture? Discuss the role of agriculture in economic development of India).

2. **भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्त्व बताइए। क्या भारतीय कृषि पिछड़ी हुई है? यदि है, तो इसकी उत्पादकता में किस प्रकार सुधार हो सकता है?**

(Discuss the importance of agriculture in Indian economy. Is Indian agriculture backward? If so, how can its productivity be improved?)

3. **भारत में कृषि का क्या महत्व है? इसे विकसित करने के लिए कौन से कदम अपनाए गद है?**

(What is the importance of agriculture in India? What steps have been taken to develop it?)

अथवा

भारत के आर्थिक विकास में कृषि का बहुत अधिक महत्त्व है। कथन की विवेचना कीजिए।

(Agriculture has the greatest importance in the economic development of India. Explain the statement thoroughly.)

अथवा

भारतीय अर्थव्यवस्थाओं में कृषि के महत्त्व की व्याख्या करें।

(Explain the importance of agriculture in Indian Economy.)

4. **भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के कारण बताओ। आप इसके सुधार के लिए क्या सुझाव देंगे?**

(Account for backwardness of India Agriculture. What measure would you suggest for its improvement?)

अथवा

भारतीय कृषि की उत्पादकता कम क्यों है? यदि ऐसा है तो इसकी उत्पादकता में सुधार करने के लिए कौन से उपाय अपनाए जा सकते हैं?

(Why is the productivity of Indian agriculture low? If, so what measurement can be taken to improve its productivity?)

अथवा

भारत में कृषि की कम उत्पादकता के क्या कारण हैं। इन कारणों को दूर करने के क्या उपाय हैं?

(What are the causes of low productivity in Indian agriculture? Suggest some measures to remedy the problem.)

5. **भारत में सरकार ने 1947 के बाद से कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के लिए कौन-कौन से पग उठाए हैं?**

(What are the various steps taken by the government to improve agricultural productivity in India since 1947?)

6. **भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के कारण बताइये। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर सरकार ने कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के लिए कई कदम उठाए हैं। उनका वर्णन कीजिए।**

(Account for the Backwardness of India's agriculture. Discuss the various steps taken by the government to improve agricultural productivity in India since independence).

7. **किन आधारों पर भारतीय कृषि अभी भी पिछड़ी हुई कहा जाता है? इसके पिछड़ेपन के कारण बताएं।**

(On what grounds Indian agriculture is still regarded to be backward? Mention causes for its backwardness).

8. **कृषि उत्पादकता से क्या अभिप्राय है? कृषि उत्पादकता को प्रभावित करने वाले तत्त्व क्या हैं? भारत में कृषि उत्पादकता की क्या स्थिति है?**

(What is meant by 'Agriculture Productivity'? What are the factors that determine agricultural productivity? Tell the position of agricultural productivity in India.)

9. **कृषि का अर्थ तथा इसकी आवश्यकता की व्याख्या कीजिए। पिछले 50 वर्षों में कृषि की प्रव त्ति किस प्रकार रही है?**

(Explain the meaning and need of agriculture. Give trends of agriculture, during 50 years of planning.)

10. **देश में कृषि उत्पादन में व द्धि करने हेतु भारत सरकार ने नियोजन की अवधि के अन्तर्गत कौन-कौन से कदम उठाए हैं?**

(Discuss the main steps taken by the Government of India during the planning period for speeding up agricultural production in country.)

11. **भारत में वर्तमान कृषि वित्त प्रणाली के दोषों का वर्णन करें। सहकारी संस्थाओं ने इस स्थिति में कितना सुधार किया है?**

(Explain the shortcoming of present system of Agriculture finance in India. What improvement have been made by co-operative agencies in this regards?)

12. **''सहकारी ऋण विकास के बावजूद कृषि वित्त के एक स्त्रोत के रूप में महाजनों की प्रधानता बनी हुई है।'' व्याख्या कीजिए।**

("Inspite of the development of co-operative loans as asource of agricultureal finance, the importance of money lenders still prevail." Discuss.)

13. **भारत में कृषि वित्त प्रणाली की क्या कमजोरियां हैं? इस दिशा में रिजर्व बैंक ने क्या योगदान दिया है?**

(What are the weaknesses of Agricultural Finance in India? What contribution has been made by RBI in this regards?)

14. **भारत में कृषि उपज की बिक्री का वर्णन करें। इस क्षेत्र में सहकारी समितियों द्वारा किये गये कार्यों का वर्णन करें।**

(Give a brief account of agricultural marketing in India. What is the role of co-operative societies in this respect?)

15. **भारतीय कृषि क्रय-विक्रय प्रणाली की विशेषताओं तथा कमियों का वर्णन करें। सुझााव दें।**

(Give the main features and defects of Agricultural Marketing in India. Suggest remedies).

16. **कृषि विपणन का कार्य तथा दोष बताइए। सरकार ने कृषि विपणन के दोषों को दूर करने के क्या प्रयत्न किए हैं?**

(Give the meaning and defects of agriculturalmarketing in India. What steps have been taken by the Government to improve agricultural marketing?)

17. **भारत में औद्योगिक विकास में नई प्रव त्तियों की व्याख्या कीजिए। क्या आप उन्हें हितकर समझते हैं?**

(Explain the new trends in India's industrial development. Do you consider them beneficial ?)

18. **भारत में औद्योगिक विकास में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन करें। इन्हें दूर करने के सुझाव दें।**

(Explain the main obstacles in the path of Industrial Development in India. Give suggestions to remove them.)

19. **स्वतन्तत्रता के पश्चात् की अवधि में औद्योगिक विकास की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।**

(Explain the main characteristics of India's Industrial Development after Independence.)

20. **आयोजन काल में भारत में हुए औद्योगिक विकास की समीक्षा कीजिए।**

(Critically examine the Industrial Development of India during the plans.)

21. **पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक विकास की समीक्षा कीजिए।**

(Explain the development of industries during five year plans.)

22. **भारत में स्वतन्त्रता के बाद उद्योगों की प्रगति की व्याख्या कीजिए। औद्योगिक विकास की धीमी गति के क्या कारण हैं?**

(Explain the progress of industrialisation in India since independence. What have been the main causes of slow growth?)

23. सन् 1956 की औद्योगिक नीति के विशेषताएं बताइये। वर्तमान नीति में कौन से परिवर्तन किये गये हैं?

(Discuss the main features of industrial policy of 1956. What are important changes introduced in the present industrial policy?)

24. भारत सरकार की 1991 की वर्तमान औद्योगिक नीति के प्रमुख लक्षण बताइये। इस नीति में आप किन परिवर्तनों का सुझाव देंगे जिनसे यह अधिक उत्पादन की द ष्टि से उपयोगी हो सके?

(Describe the main features of the present of the Industrial Policy of 1991 of the Government of India. What changes would you suggest in it to make it more useful for higher production?)

25. सन् 1991 की औद्योगिक नीति प्रस्ताव की व्याख्या करें। इसमें क्या नये परिवर्तन किये गये हैं? इसका मूल्याकंन कीजिए।

(Explain the Industrial Policy Resolution of 1991. What new changes have been introduced in it? Evaluate.)

26. 1991 की नई औद्योगिक नीति की व्याख्या करें।

(Explain the Industrial Policy of 1956.)

27. सन् 1956 की औद्योगिक नीति की व्याख्या करें।

(Explain the Industrial Policy of 1956.)

28. स्वतन्त्रता के पश्चात् से भारत की औद्योगिक नीति पर एवं विस्त त टिप्पणी लिखिये।

(Write an analytical note on the Industrial Policy of the Govt. of India since Indepenence.)

29. 1991 की औद्योगिक नीति की प्रमुख खामियां बताएं।

(Outline major drawbacks of 1991 industrial policy.)

30. कुटीर एवं लघु उद्योगों में अन्तर बताइए। भारत के आर्थिक विकास में लघु उद्योगों के महत्त्व का वर्णन कीजिए।

(Distinguish between Cottage and Small Scale Industries. Describe the importance of these industries in India's economy.)

31. भारत में लघु उद्योगों की प्रमुख समस्याएं क्या हैं? इनका समाधान कैसे किया जा सकता है?

(What are the main problems of small scale industries in India? How can these be solved?)

32. भारत की विकासशील अर्थव्यवस्था में लघु पैमाने के उद्योगों के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। इनको विकसित करने के लिए सरकार ने कौन से कदम उठाए हैं?

(Examine the role of small scale industries in India's developing economy. What steps have been taken by the government to develop them?

II. वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

(i) बताइए कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत

[State whether the following statements are true (right) or false (wrong)]

1. देश के अन्य क्षेत्रों की तुलना में कृषि का भारत की राष्ट्रीय आय में योगदान काफी अधिक है।

(The contribution of Agriculture in national Income is much greater than other sectors in India.)

2. राष्ट्रीय आय में कृषि प्रतिशत भाग कम हो रहा है।

(The percentage part of Agriculture in national income is decreasing.)

3. कृषि उत्पादकता, कृषि उत्पादन तथा कृषि साधनों के बीच सम्बन्ध को प्रकट करती है।

(Agriculture is productivity reflects relationship between agricultural production and agricultural resources.)

4. भारतीय कृषि में क्षेत्रीय समानता काफी अधिक पाई जाती है।

(There is vast regional disparity in Indian agriculture.)

5. भारत में योजनाओं की अवधि में व्यापारिक फसलों के उत्पादन में काफी कमीं आई है।

(There has been a steep decrease in production of cash crops during the plan period in India.)

6. योजनाओं की अवधि में भारतीय कृषि की विकास दर काफी स्थिर रही है।

(The agriculture growth rate has been quite stable during the plan period.)

7. प्राथमिक कृषि साख समितियाँ कृषि को अल्पकालीन ऋण प्रदान करती हैं।

(Primary agricultural credit societies provide short term loans)

8.. कृषि साख का सबसे महत्त्वपूर्ण परम्परागत साधन महाजन हैं।

(The most important traditional source of agricultural credit is Mahajan.)

9. राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) की स्थापना 12 जुलाई, 1982 को की गई।

(NABARD was established on 12th of July 1982.)

10. व्यापारिक बैंक मुख्य रूप से दीर्घकालीन ऋण देता है।

(Commercial bank provides mainly long term loan.)

11. **किसान क्रेडिट कार्ड स्कीम** 1998 **में शुरू की गई।**

(Kisan credit card scheme was started in 1998.)

12. **राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना** 1999-2000 **में शुरु की गई।**

(National agricultural insurance scheme was started in 1999-2000.)

13. **भारत में गांव में मण्डी तक फसल ले जाने के लिए उत्तम सड़कों तथा रेलों का अभाव है।**

(There is scarcity of Railways and good road forcrops transportation from village to main Grain-market).

14. **कृषि उपज की अच्छी बिक्री व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि संग्रह की काफी सुविधा है।**

(There should be sufficient storage facilities for a good marketing system of Agricultural Produce.)

15. **स्वतन्त्रता से पूर्व भारत को औद्योगिक ढांचा अल्प तथा विस्त त तथा अल्प विकसित था।**

(The industrial structure was underdeveloped prior to independance)

16. **पहली योजना उद्योग प्रेरक थी।**

(The first plan was industry oreiented.)

17. **भारत में औद्योगिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण पूंजी में कमी है।**

(The main reason for indusrital backwardness has been the deficiency of capital.)

18. **राष्ट्रीय आय में उद्योगों को भाग बढ़ता जा रहा है।**

(The share of industry in national icome is increasing.)

19. **भारत की प्रथम लघु एवं कुटीर उद्योग नीति** 6 **अगस्त,** 1991 **को घोषित हुई।**

(The first small and cottage industry policy was declared on 6th of August, 1991.)

20. **लघु उद्योगों में उत्पादन तकनीक अभी भी पुरानी है।**

(The production technique in small scale industries is old.)

21. **रोज़गार की द ष्टि से लघु उद्योगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।**

(The role of small scale industries is important in relation to generation of employment.)

22. **लघु उद्योग पूँजी प्रधान होते हैं?**

(The small scale industries are capital intensive.)

23. **लघु उद्योग प्रतियोगिता को अधिक प्रोत्साहन देते हैं।**

(The small scale encourage competition.)

24. लघु उद्योगों में उत्पादन लागत काफी नीची होती है।

(The cost of production is very low in small scale industries.)

III. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct alternative)

1. भारत की राष्ट्रीय आय में कृषि तथा सम्बन्धित सेवाओं का योगदान है-

(a) 60 प्रतिशत (b) 50 प्रतिशत

(c) 32 प्रतिशत (d) 27 प्रतिशत

2. कृषि उत्पादन में व द्धि करने के लिए निम्नलिखित में कौन-सा तकनीकी उपाय नहीं है -

(a) बहुफसल खेती (b) सिंचाई सुविधाओं का विस्तार

(c) साख सुविधाएं (d) यन्त्रीकरण।

3. कृषि उत्पादकता की आवश्यकता निम्नलिखित किसके लिए है-

(a) उत्पादकता में आय व द्धि (b) औद्योगिक विकास

(c) पूंजी निर्माण (d) उपरोक्त सभी।

4. निम्नलिखित में से कौन-से तत्त्वों पर कृषि का पिछड़ापन निर्भर नहीं करता-

(a) मानवीय (b) मौद्रिक

(c) संस्थागत (d) तकनीकी।

5. पिछले 52 वर्षों में खाद्यान्न का उत्पादन लगभग बढ़ा है-

(a) दो गुणा (b) तीन गुणा

(c) चार गुणा (d) पांच गुणा।

6. निम्नलिखित में से कृषि उपज का कौन-सा दोष नहीं है।

(a) संगठन का अभाव (b) ग्रेडिंग का अभाव

(c) मध्यस्थों का अभाव (d) विवशतापूर्ण बिक्री

7. निम्नलिखित में से उपज की सन्तोषजनक बिक्री की कौन-सी शर्त नहीं है।

(a) महाजनों से छुटकारा (b) मध्यस्थों को बढ़ावा

(c) संग्रह की सुविधा (d) यातायात की सुविधा

IV. उपयुक्त शब्द छांटकर दिए हुए वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति करें-

(Fill up the blanks with appropriate words)

1. योजनाओं की अवधि में भारतीय कृषि की विकास दर काफी ..... रही है।

(The growth rate of Indian agriculture has been quite _____ during the plan period.)

2. **कपास ..... फसल है।**

(Cotton is _____ crop.)

3. **प्रति हैक्टेयर उत्पादकता किस क्षेत्र की शब्दावली है ..... ।**

(Per hectare productivity is nomenclature of _____ sector.)

4. **सिंचाई की अपर्याप्त सुविधाएं, पुराने औजार, खाद की कमी कृषि के पिछड़ेपन के ..... तत्त्व हैं।**

(In sufficient irrigation facilities, old instruments, deficiency of fertilizers are _____ elements of backwardness Indian agriculture.)

5. **आठवीं योजना में कृषि उत्पादन की व द्धि दर ..... प्रतिशत थी।**

(Agriculture growth rate of eighth plan was _____ percent.)

6. **क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की स्थापना_____का हुई।**

(2 अक्तूबर, 1975, 2 **अक्तूबर,** 10980)

(Regional Rural Bank was established on _____)

(2nd October, 1975 2nd October, 1980)

7. **भूमि विकास बैंक कृषि को _____ ऋण प्रदान करते हैं।**

(दीर्घकालीन, अल्पकालीन)

(Land development banks advance _____ loans to agriculture.)

(long term, short term)

8. **कृषि वित्त में _____ स्रोतों की व द्धि हुई है।**

(संस्थागत, परम्परागत)

(_____ sources have increased in agricultural credit.)

(Institutional, non-institutional)

9. **सहकारिताएं कृषि साख प्रदान करने का _____ साधन हैं।**

(संस्थागत, गैर-संस्थागत)

(Co-operatives are _____ sources of providing agricultural credit.)

(traditional, non-traditional)

10. **भारत में कृषि साख की _____ उपलब्धता है।**

(पर्याप्त, अपर्याप्त)

(Availability of Agricultural credit is _____ in India.)

(Sufficient, unsufficient)

11. कृषि ऋणों की _____ वसूली होती है।

(कम, अधिक)

(The recovery of agricultural loans is _____ (low, high)

12. मण्डी में किसानों को लूटने के लिए कई प्रकार के _____तरीकों का प्रयोग किया जाता है।

(उचित, अनुचित)

(In order to look in farmers in Mandis, Various types of _____ practices are used.

(Fair, Unfair)

13. निम्नलिखित स्तम्भों का परस्पर मिलान कीजिए–

(Match the following)

	A		B
(i)	भिलाई इस्पात प्लॉट (Bhilai steel plant)	(A)	बिहार (Bihar)
(ii)	राउरकेला इस्पात प्लॉट (Rourkela steel plant)	(B)	मध्य प्रदेश (Madhya Pradesh)
(iii)	दुर्गापुर इस्पात प्लॉट (Durgapur steel plant)	(C)	उड़ीसा (Orissa)
(iv)	बेकारो इस्पात प्लॉट (Bokaro steel plant)	(D)	पं. बंगाल (West Bangal)

14. औद्योगिक उत्पादन सूचकांक की नई श्रंखला.....शुरू होती है।

(1980-81, 1993-94)

(The new series of industrial production index starts in.....(1980-81, 1993-94)

15. देश में औद्योगिक मंदी का दौर.....योजना में शुरू हुआ। (दूसरी, तीसरी)

(The industrial stagnation started in .....plan.) (second, third)

16. 1976-77 ई. में आपात्काल (Emergency) के दौरान औद्योगिक विकास-दर..... स्तर पर पहुंच गई थी। (नीचे, सर्वोच्च)

(The industrial growth rate reached its.....during emergency in 1976-77)
(minimum, maximum)

17. देश में 'आयात प्रतिस्थापन' और 'निर्यात प्रोत्साहन' की नीति.....योजना में अपनाई गई।

(तीसरी, चौथी)

(The policy of 'Import substitution' and 'Export promotion was started in.....plan.)
(third, fourth)

18. लघु उद्योग उद्योगों के _____ प्रोत्साहित करते हैं।
(केन्द्रीयकरण, विकेन्द्रीयकरण)

(Small scale Industries, encourages _____ of Industries.)
(centralisation, decentralisation)

19. लघु उद्योगों _____ पदार्थों के लिए अधिक उपयोगी है।
(कलात्मक, पूँजीगत)

(Small scale Industries are more useful for _____ goods.)
(Artistic, Capital)

20. भारत के कुल निर्यातों में लघु उद्योगों का योगदान _____ है।
(35%, 50%)

(In Industrial Exports, the share of small scale Industries is _____)
35%, 50%)

21. कुटीर उद्योगों को _____ उद्योग भी कहा जाता है।
(ग हस्थ, मध्यम)

(The cottage Industries are also known as _____ Industries.)
(Household, Medium)

22. लघु उद्योग _____ होते हैं। (पूँजी प्रधान, श्रम प्रधान)

(Small Scale Industries are _____ .
(Capital intensive, labour intensive)

V. लघु/परिभाषा रूपी प्रश्न (Short/Definitional Type Questions)

1. कृषि की परिभाषा दें।
(Define agriculture.)

2. कृषि के पिछड़ेपन से क्या अभिप्राय है?
(What is backwardness of agriculture?)

3. कृषि उत्पादकता की परिभाषा दें।
(Define agricultural productivity.)

4. मजदूरी पदार्थों से क्या अभिप्राय है?
(What are wage goods?)

5. **भूमि की उच्चतम सीमा से क्या अभिप्राय है?**

(What is maximum cealing of land?)

6. **कृषकों को ऋण होने वाले दो स्त्रोत कौन-कौन से हैं?**

(What are the two sources of Rural Credit for the farmers?)

7. **किसानों द्वारा लिए गए ऋणों को समयावधि के आधार पर वर्गीकृत करें।**

(Classify agricultural debt on the basis of time.)

8. **भारत में ग्रामीण ऋण के दो उद्देश्य लिखें।**

(Write two purposes of Rural Debt.)

9. **भारत में स्वतन्त्रता के बाद संस्थागत कृषि साख की प्रगति की समीक्षा करें।**

(Examine the progress of institutional Agricultural Credit in India since independence.)

10. **भारत में संस्थानिक और गैर-संस्थानिक ग्रामीण ऋण के स्त्रोतों में अन्तर बताएँ।**

(Distinguish between Institutional and Non-Institutional sources of rural debt.)

11. **संक्षिप्त टिप्पणी लिखें** (Write a short note on)—

भारत में ग्रामीण वित्त में साहूकारों का महत्त्व।

(Importance of moneylenders for Rural Finance in India)

12. **ग्रामीण साख की समस्याओं का वर्णन करें।**

(Explain problems of Rural Credit)

13. **क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक पर संक्षिप्त नोट लिखें।**

(Write short note on Regional Rural Bank.)

14. **ग्रामीण साख की कमियों को दूर करने के सुझाव दें।**

(Give suggestions to remove the short comings of Rural Credit.)

15. **राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (नाबार्ड) पर नोट लिखें।**

(Write note on NABARD.)

16. **ग्रामीण ऋण के स्रोत क्या हैं?**

(What are the sources of Rural Credit?)

17. **भारत कृषि साख का ग़ैर-संस्थगत साधन कौन-सा है?**

(Which is the non-institutional source of agricultural credit?)

18. **ग्रामीण साख का उद्देश्यों के आधार पर वर्गीकरण करें।**

(Classify rural credit on the basis of purpose of borrowing.)

19. **कृषि साख के संस्थगत स्रोत हैं?**

(What are the Institutional Soruces of Agricultural Credit?)

20. **महाजनों की अनुचित कार्यवाइयाँ क्या हैं?**

(What are the unwarranted activities of Mahajan?)

21. **कृषि साख में महाजन की प्रधानता के दो कारण बताइएं।**

(Give two reasons of the predominance of Mahajan.)

22. **व्यापारिक बैंक कितनी अवधि के लिए ऋण देते हैं।**

(For how much period the Commercial Banks give credit?)

23. **भूमि विकास बैंक कितनी अवधि के लिए ऋण देते हैं।**

(For how much period do the Land Development Banks give loan?)

24. 2 **अक्टूबर,** 1975 **का किन बैंकों की स्थापना की गई थी?**

(Which banks were established on 2 October, 1975?)

25. **कृषक सेवा समितियाँ क्या हैं?**

(What are FSS-Farmers Service Societies?)

26. **समया विधि के अनुसार ग्रामीण ऋणों को वर्गीकृत करें।**

(Classify rural credit on hte basis of time period.)

27. _**कृषि साख की दो समस्यायें बतलाएं।**

(Give two main problem of Agricultural credit.)

28. _**कृषि साख जाचँ समिति की दो सिफारिशें बतलाएं।**

(Name two recommendations of Agricultural Credit Review Committee.)

29. **किसान क्रेडिट कार्ड स्कीम क्या है?**

(What is Kisan Credit Card Scheme?)

30. 12 **जुलाई,** 1982 **को किस बैंक की स्थापना हुई थी?**

(Which bank was established on 12th July, 1982 ?)

31. **सहकारी विपणन से क्या तात्पर्य है?**

(What is Agricultural Marketing?)

32. **विवशतापूर्ण क्रिया क्या है?**

(What do you forced sale?)

33. **दूसरी योजना में तीन इस्पात के कारखाने कहां स्थापित किए गए?**

(Where were the three Iron & Steel Plants established during 2nd Plan.)

34. **योजनाकाल में औद्योगिक विकास की तीन कमियां बताइये।**

(Explain three weakness of Industrial Development during Planning.)

35. **दसवीं योजना में औद्योगिक विकास की दर कितनी है?**

(How much was the Industrial growth rate in 10th Plan.)

36. **उद्योगों को अधिक प्रतियोगी बनाने के लिए आठवीं योजना में किसको अधिक महत्व दिया गया?**

(What was done in the Eighth Plan to make industries more competitive?)

37. **योजनाकान में औद्योगिक विकास की तीन दुर्बलताएं बतलाएं।**

(Give three points of weaknesses in idustrial development during the planning period.)

38. **नौवीं योजना में औद्योगिक विकास के लिए किसको अधिक महत्व दिया गया?**

(Which has given more importance for the industrial development in the Ninth Plan?)

39. **दूसरी योजना में तीन इस्पात के कारखाने कहां स्थापित किए गए थे?**

(Where were are three steel plants established in the Second Plan?)

40. **प्रथम योजना में उद्योगों के लिए क्या किया गया?**

(What was done for industries during the First Plan?)

41. **योजना आयोग के अध्ययन दल ने लघु उद्योगों को कितनी श्रेणियों में वर्गीकृत करने का सुझाव दिया?**

(The Planning Commission study group has suggested to classify small industries into how many classes?)

42. **लघु उद्योगों से क्या अभिप्राय है?**

(What is meant by Small Scale Industries?)

43. **कुटीर उद्योगों तथा लघु उद्योगों में दो मुख्य अन्तर बताइए।**

(Tell two points of difference between Cottage and Small Scale Industries.)

44. **लघु उद्योगों के सुधार के लिए कुछ उपाय सुझाएँ।**

(Give a few suggestions for improvement of Small Scale Industries.)

45. **अति-लघु उद्योगों के क्या अभिप्राय है?**

(What is meant by Tiny Industries?)

46. **कुटीर उद्योगों से क्या अभिप्राय है?**

(What is meant by Cottage Industries?)

47. **लघु उद्योगों की मुख्य समस्याएँ क्या हैं?**

(What are the main problems of Small Scale Industries?)

48. **सरकार द्वारा लघु उद्योगों को क्या वित्तीय सहायता दी जाती है?**

(What financial help is provided to small industries by the Government?)

49. **लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकार ने किन बोर्डों की स्थापना की है?**

(Which Boards have been established by Government for the development of Small Scale Industries?

50. **कौन-सी संस्था लघु उद्योगों की बिक्री सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करती है?**

(Which institution provides marketing facilities to small industries?)

51. **लघु उद्योगों की परिभाषा दीजिए।**

(Define Small Scale Industries.)

52. **लघु व कुटीर उद्योगों में क्या अन्तर है?**

(What is the difference between Small & Cottage Industries?)

53. **भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु उद्योगों का क्या महत्त्व है?**

(What is the importance of Small Scale Industries in Indian Economy?)

54. **लघु उद्योगों की किन्हीं तीन समस्याओं का उल्लेख करें।**

(Explain any three problems of Small Scale Industries.)

55. **लघु उद्योगों की रूग्णता को दूर करने के लिए उपाय सुझाइए।**

(Suggest remedies to remove the weaknesses of Small Scale Industries)